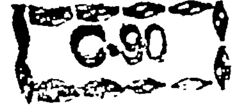
॥ श्रीः ॥

सनातन-धर्मोद्धारः

भाषा-भाव प्रभा टीका समेतः

(सामान्यकाण्डस्य उत्तरार्द्धः)



चतुर्थ खण्डः

श्रीमन्महर्षि गौतमवंशोत्पन्न सरयूपारीण पण्डितेन

श्री काशी वासिना

उमापति द्विवेदिना (नकछेदराम शर्मणा) विरचितः ।

पण्डित मदनमोहन मालवीयस्य आदेशानुसारं

श्री रामकृष्णदासेन मुद्रितः प्रकाशितश्च ।

THE

SANATANA DHARMODDHARA

BEING

A SANSKRIT TREATISE ON

THE ETERNAL RELIGION OF INDIA

WITH A FREE RENDERING IN HINDI

BY

PANDIT UMAPATI DVIBEDI

ALIAS

PANDIT NAKCHED RAM DUBE

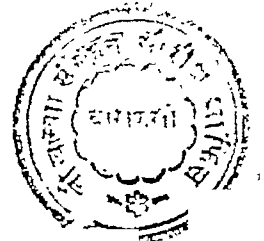
PRINTED AND PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF

PANDIT MADAN MOHAN MALAVIYA

BY

RAM KRISHNA DAS,

AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY, PRESS.



धर्मो रक्षित रक्षितः

भूमिका

जब काशी में विश्वविद्यालय के स्थापन करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था, उस समय विश्वविद्यालय का एक प्रधान उद्देश्य यह प्रकाश किया गया था कि धार्मिक तथा नीति सम्बन्धी शिक्षा देकर नवयुवकों में मानसिक बल के साथ साथ धर्मबल और चरित्र-बल बढ़ाया जाय। प्रस्ताव के प्रकाश होने पर कई मित्रों ने यह पूछा कि हिन्दू जाति में कितने ही सम्प्रदाय हैं और सभी अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार अपना धार्मिक जीवन बनाते हैं। ऐसा कौन ग्रन्थ है जिसको पढ़ाने में सब सम्प्रदाय वालों की सम्मति हो जावेगी। मैंने यह उचित समझा कि सनातनधर्म का एक ऐसा संग्रह बनाया जाय जिसको सब सम्प्रदाय स्वीकार करें और जिसके द्वारा नवयुवकों को धर्म के सिद्धान्तों की और प्रधान उपदेशों की शिक्षा मिले।

ऐसा एक संग्रह बनाया गया और जनवरी १९०६ में प्रयाग में अखिल-भारतवर्षीय सनातनधर्म महासभा के सामने कुम्भ मेले के अवसर पर प्रूफ के रूप में रक्खा गया। १९०६ के कुम्भ के अवसर पर सनातनधर्म महासभा के सभापति पूज्यपाद गोवर्धन मठ के श्री शंकराचार्य जी थे। सभा में और भी बड़े बड़े विद्वान् और तपस्वी उपस्थित थे। एक सहस्र के लगभग संग्रह की प्रतियाँ विद्वानों के सामने रक्खी गई। विद्वानों ने संग्रह को बहुत अच्छा माना और यह सम्मति प्रकट की कि संग्रह पूरा करके प्रकाशित किया जाय। उन विद्वानों में मेरे मित्र पण्डित उमापति द्विवेदी, उपनाम पण्डित नकछेद राम दुबे भी थे। उनकी यह सम्मति थी कि संग्रह एक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया जाय जिसमें पूर्वापर का सम्बन्ध हो और जिसमें सनातनधर्म के जटिल प्रश्नों का विचार भी हो।

याज्ञवल्क्य जी ने विद्या और धर्म के चौदह स्थान लिखे हैं—

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्ग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पंडित उमापति जी इन विद्याओं के निधि थे, विशेष कर दर्शन शास्त्र के वे बड़े भारी विद्वान् थे। मैंने पंडित जी से निवेदन किया कि आप के समान दूसरा कौन विद्वान् है जिससे ऐसा ग्रन्थ लिखने को कहा जाय—आप स्वयं इस कार्य को उठाइये। पंडित जी ने ग्रन्थ का लिखना अङ्गीकार किया और बहुत परिश्रम से बहुमूल्य "सनातनधर्मोद्धार" नाम का ग्रन्थ बना दिया। पंडित उमापति जी के उत्तराधिकारियों ने यह ग्रन्थ हिन्दू विश्वविद्यालय को दे दिया है जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

ग्रन्थ बड़ी प्रौढ़ संस्कृत भाषा में लिखा गया है और ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी सरल और स्वच्छ भाषा में कर दिया है जिससे केवल हिन्दी जानने वालों को भी ग्रन्थ का अभिप्राय विदित हो जाय। परन्तु ग्रन्थ के महत्व को पूर्णरूप से वे ही विद्वान् समझ सकते हैं जो याज्ञवल्क्य जी के ऊपर लिखे वचन के अनुसार विद्या और धर्म के चौदह स्थानों से परिचय रखते हों।

ग्रन्थ के दो भाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। और प्रत्येक भाग के दो दो खण्ड हैं। पहिले पूर्वार्द्ध को छपे कई वर्ष हो गए। अनेक कारणों से ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के छपवाने में बहुत विलम्ब हुआ है, इसका मुझको खेद है। किन्तु विश्वनाथ जी के अनुग्रह से अब इस ग्रन्थ के तीसरे और चौथे भाग भी छप गए हैं और यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विद्वानों के सामने शीघ्र पहुँच जावेगा। यह ग्रन्थ न केवल

विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा में बड़ा भारी साधन होगा, किन्तु सर्व-साधारण को भी धार्मिक ज्ञान और सन्तोष देने में सहायक होगा।

ग्रन्थ के पहिले भाग में ग्रन्थकार ने सारे अध्यायों की सूची अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में छापी थी। मैं विद्वानों की दृष्टि उस सूची पर आकर्षित करता हूँ। सूची को देखने से ही यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थ के पहिले व दूसरे भागों में सनातनधर्म के अनेक बड़े बड़े गम्भीर प्रश्नों का ग्रन्थकार ने विवेचन किया है और पूर्ण पाण्डित्य से प्रमाण पूर्वक सनातनधर्म के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। उसमें जो देशी और विदेशी विद्वानों ने प्रचलित भाष्य व टीका से मतभेद प्रकट किया है और उस पर आक्षेप किया है उसका बड़ा पाण्डित्य पूर्ण उत्तर दिया गया है।

उत्तरार्द्ध के दोनों खण्डों में सामान्य धर्म का बहुत अच्छा निरूपण किया गया है। इसमें सनातनधर्म संग्रह में छापे गए सामान्य धर्म का उपदेश विपुल रीति से आ गया है, और ग्रन्थकार ने उसको कई अंशों में उपबृंहित किया है। जो विद्वान् इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे, उनको विदित होगा कि धर्मोपदेश का ऐसा दूसरा ग्रन्थ दुर्लभ है। पाठशाला और विद्यालय के विद्यार्थियों को इसका ज्ञान अत्यन्त उपकारी होगा और मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा न केवल हिन्दू युवकों को, किन्तु सर्वसाधारण में जैसे जैसे यह ग्रन्थ पढ़ा व पढ़ाया जायगा, व कथा और उपदेश के द्वारा जनता में इसके सिद्धान्तों का ज्ञान फैलेगा, उतना ही इसके पढ़ने वालों की संख्या बढ़ेगी और पढ़नेवालों में सत्य धर्म का ज्ञान और उसमें श्रद्धा बढ़ेगी। उस समय कृष्णधार के इस कथन की सत्यता समझ में आएगी कि—

पृथ्वीं रत्नपूर्णामहद्वा रत्न सञ्चयम्।

मद्भक्त नाहमिच्छामि भवेदेषतु धार्मिकः॥

रत्न से भरी पृथ्वी अथवा बड़ा रत्नों का ढेर मैं अपने भक्त के लिये नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि वह धार्मिक हो। और नीचे लिखे दूसरे वचन की भी सत्यता का विश्वास लोगों के हृदय में जड़ पकड़ेगा—

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता।

राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वधर्मादवाप्यते॥

अर्थात् विद्या, रूप, धन, वीरता, कुलीनता, निरोगपन, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष, यह सब धर्म से प्राप्त होता है। इसी लिये महाभारत और पुराण पुकार पुकार कर यह कहते हैं कि "यतो धर्मस्ततो जयः"—जहाँ धर्म है वहाँ जय है।

यह ग्रन्थ सनातनधर्म के ज्ञान का उत्तम प्रदीपक है। सब सभा, पाठशाला और विद्यालय के अधिकारियों को चाहिये कि इसकी एक एक प्रति अपने पाठशाला या विद्यालय और सभा में रक्खें और इसके द्वारा अपनी अपनी संस्थाओं में सनातनधर्म के उपदेशों का प्रचार करें। जिस परमात्मा के अनुग्रह से यह ग्रन्थ बनाया गया है, उसी से प्रार्थना है कि इसके द्वारा सनातनधर्म के लोकोपकारी सिद्धान्तों का सारे देश में प्रचार हो और समस्त जगत का हित हो।

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

प्रयाग
वैशाख १० २
सं० १९९९

मदनमोहन मालवीय

सूचीपत्र

उत्तरार्द्ध चतुर्थखण्ड

(ग) जम्बूद्वीप में भी वर्णधर्म और आश्रमधर्म रूपी विशेष धर्मों का कारण यो भारतवर्ष ही है और उसमें भी ब्रह्मावर्त आदि देश (भूमि) उक्त विशेष धर्मों में अधिक उपकारी हैं । इन देशों के परस्पर में भी न्यूनता और महत्त्व है तथा आर्यावर्त देश, म्लेच्छ देश तथा दुष्ट देशों का प्रमाण ।

(घ) गङ्गा के संयुक्त सब देशों (चाहे वे दुष्ट से भी दुष्ट क्यों न हों) में और कुरुक्षेत्र, प्रयाग, काशी आदि में (मरण को कौन कहे) निवास भी धर्म है और पूर्वजन्म के धर्मों से मिलता है ।

(ङ) भारतवर्ष, सत्यभाषण आदि सामान्य धर्म तथा वर्णाश्रमधर्म रूपी विशेष धर्म, दोनों की जन्मभूमि है और इससे अतिरिक्त मनुष्य लोक की भूमि केवल सामान्य धर्म ही की जन्मभूमि है ।

(च) तीर्थानुसरण के सामान्यधर्म होने में युक्तियाँ ।

(छ) जलतीर्थों में वेद वाक्य प्रमाण ।

(ज) स्थल (भूमि) तीर्थों (प्रयाग आदि) में वेदवाक्य प्रमाण ।

(झ) काशी तीर्थ और उसमें मरे सब प्राणियों की श्री परमेश्वर (श्री शिवजी) के तारकोपदेश से मुक्ति में प्रमाण ।

(ञ) तारक मन्त्र के स्वरूप का निर्णय ।

(ट) काशी में पाप कर उसका प्रायश्चित्त बिना किये काशी में मरे मनुष्यों को भी क्या मरण ही के समय तारकोपदेश होता है ? अथवा भैरवीय यातना भोगने के पश्चात् ? इस संदेह पर श्री वासुदेवाचार्य का सिद्धान्त ।

(ठ) इसी पर काशी के हरिकृष्ण व्यास आदि पंडितों का सिद्धान्त ।

(ड) काशी जी के केदारेश्वर जी के अन्तर्गृह में मरे पापियों के विषय में सिद्धान्त ।

(ढ) पूर्वोक्त सन्देह का यह उत्तर कि गङ्गाजल के सेवन के कारण भैरवीय यातना में अति अल्पता होती है ।

(ण) उक्त सन्देह का पूर्ण रूप से नाशक वेदव्यास भगवान् कृष्ण द्वैपायन का सिद्धान्त ।

(त) काशी, वाराणसी, महाश्मशान, आनन्दवन और अविमुक्त इन पाँच नाम के अर्थ ।

(थ) काशी मरण में उत्तरायण आदि कालकृत विशेष वा सर्पादिकृत दुर्मरणादि दोष नहीं है । काशी में अनशन (उपवास) अग्निप्रवेश से अन्य उपाय के द्वारा आत्मघात न करना चाहिये । छोटा पापी वा धर्मात्मा काशी वासी यदि काशी से अन्यत्र मरे तो उसका काशी में जन्म और मृत्यु होता है और काशी का महापातकी यदि अन्यत्र मरे तो काशी ही में भैरवीय यातना से छूट हो काशी में जन्म और मृत्यु पाता है ।

(द) काशी के भीतर वाराणसी, अविमुक्त, अन्तर्गृह रूपी तीन क्षेत्रों का परिमाण ।

(ध) काशी मरण में इन क्षेत्रों के भेद से कुछ विशेष नहीं है किन्तु दानादि धर्म ही में ।

(न) काशी के विषय में सम्वर्त्त मरुत्तीय उपाख्यान ।

(प) काशी से अन्य मुक्ति क्षेत्रों में मरने से जन्मान्तर में काशी मरण होता है ।

(फ) कलियुग में काशी के गुप्त होने की शङ्का और उसका समाधान ।

(ब) तीर्थों के विषय में स्मृति प्रमाण और उपाख्यान तथा जल से अन्य नदी देवता की सिद्धि ।

(भ) गङ्गा जी की महिमा ।

(८८) धर्म्म युद्ध (३६) इसके सामान्य धर्म होने में प्रमाण ।

(८९) भगवद्भक्ति (३७) ।

(क) भगवद्भक्ति के सामान्य धर्म होने में प्रमाण ।

(ख) भक्ति के स्वरूप का निर्णय ।

(ग) भक्ति का लक्षण, फल, और यह निर्णय कि भक्ति, अनुराग रूपी होने पर भी अन्य विषयों में अनुराग के ऐसा त्यागने योग्य नहीं है ।

(घ) मोक्ष के उपायों में मुख्य भक्ति ही है ।

(ङ) भक्ति के दृढ़ता के चिह्न ।

(च) भक्ति, परब्रह्म और उनके अवतारों में भी होती है ।

(छ) मुख्य दया परमेश्वर ही की है और अन्य अर्थात् जीवों में भक्ति करने से मुक्ति नहीं होती, मत्स्य आदि, ईश्वर के अवतार जीव नहीं हैं ।

(ज) कीर्त्तन आदि रूपी गौणी भक्ति ।

(झ) भक्ति के विषय में अति स्पष्ट विचार जिसमें यह निर्णय है कि वेदों और गीता शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है कि भगवद्भक्ति से मोक्ष होता है और गीता रूपी कृष्णार्जुन संवाद सचमुच हुवा न कि केवल आख्यायिका मात्र है तथा गीता शास्त्र का अन्तिम उपसंहार भक्ति ही पर है ।

(ञ) प्रह्लाद की की हुई भगवान की स्तुति ।

(ट) भीष्म पितामह की की हुई भगवान की स्तुति ।

(ठ) यह विचार कि मोक्ष के तीन उपायों (ज्ञान, योग, भक्ति) में कौन उपाय इस समय (कलियुग) के मनुष्यों के लिये कठिन और कौन सहज है और यह निश्चय कि पूर्वोक्त गौणीभक्ति ही इस काल के सब मनुष्यों के लिए सहज हैं तथा इसके विरोधी स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत दूर ही से त्यागने के योग्य है । इति भगवद्भक्ति ।

विशेष काण्ड और दर्शन काण्ड बनाने में अपनी अनिच्छा प्रकट कर उनके बदले में (१) विधवा विवाह, (२) ब्राह्मणादि वर्णभेद, (३) वेदाद्यधिकार, (४) समुद्र यात्रा—इन चार विषयों पर चार छोटे छोटे ग्रन्थों की रचना करने की इच्छा का प्रकाश ।

सामान्य काण्ड की समाप्ति ।



PART IV.

CONTENTS.

(*o*) Opinion of Krishna Dvaipayana on the above
(*p*) The efficacy of death at Kashi independent of time, place, and manner
(*q*) Limits of Baranasi, Avimukta and Antargriha in Kashi
(*r*) The meaning of Kashi, Baranasi, Mahasmasan, Anandban and Avimukta
(*s*) The relative efficacy of the above
(*t*) Anecdote of Samvarta and Matura
(*u*) Rebirth in Kashi after death at other salvation-giving places
(*v*) Doubts about the disappearance of Kashi in Kaliyuga
(*w*) Glory of the Ganges.

(88) Battle of Dharma (86).

(89) Devotion to God (87)
(*a*) Devotion to God as a general Dharma
(*b*) Nature of devotion
(*c*) Definition, result and its obligation
(*d*) Devotion as the best means of salvation
(*e*) Characteristics of firm devotion
(*f*) Devotion to God and also his incarnation
(*g*) God alone can show disinterested mercy and He and His incarnation alone and not human being is the proper object of devotion
(*h*) Minor kinds of Devotion
(*i*) Devotion in Veda and Gita
(*j*) Hymn by Prahlad
(*k*) Hymn by Bhishma Pitamaha
(*l*) The compositive efficacy of the three means of salvation (Gyana, Karma and Bhakti) and Dayanand's opinion criticised
(*m*) Author's reasons for not writing Vishesha-Kanda and Darshana-Kanda and for the substitution in their stead of the subjects, widow-marriage, caste, Vedic study and sea voyage
The end of Samanya Kanda.

सनातनधर्मोद्धारः

चतुर्थखण्डः

अथ सामान्यधर्मनिरूपणमुत्तरार्द्धम्

३३—अथ ब्राह्मणपूजनम्

तत्र ब्राह्मणत्वं तावत् वृक्षत्वादिवत् प्रत्यक्षसिद्धो जातिविशेष एवेति वेददुर्गसज्जनेऽर्थवादप्रामाण्यनिरूपणे 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इति सूत्रव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादितम्। उपपादयिष्यते च भूयोऽपि वर्णनिरूपणप्रकरणे दर्शनकाण्डे। तद्वाची चायं ब्राह्मणशब्दो वृक्षत्वादिवाचकवृक्षादिशब्दवत्।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" "पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य" "ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै" "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम" "जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे राजन्यः

भाषा

३३—ब्राह्मणपूजन का निरूपण

वेददुर्गसज्जन के 'अर्थवाद प्रामाण्य' प्रकरण में "*शास्त्रदृष्टविरोधाच्च*" (पू० मी० द० अ० १ पा० १० सू० २) इस सूत्र के व्याख्यान में पूर्ण रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि वृक्षत्व आदि जाति की नाईं ब्राह्मणत्व आदि जाति प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं। और दर्शन काण्ड के वर्णनिरूपण प्रकरण में भी ब्राह्मणत्व जाति के प्रत्यक्ष सिद्ध होने की उपपत्ति की जायगी। इससे 'ब्राह्मण' शब्द उसी ब्राह्मणत्व जाति का बोधक वैसा ही है जैसा कि वृक्षत्व आदि जाति के बोधक 'वृक्ष' आदि शब्द हैं। ऐसे ही "*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०*" प्रथम २ प्रजापति के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न होता है। "*पयो व्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य०*" (यज्ञ की दीक्षा में ब्राह्मण के लिये दुग्ध, क्षत्रिय के लिये यवागू (लपसी) और वैश्य के लिये आमिक्षा (दधि विशेष) के भोजन का नियम है) "*ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै*" (ब्राह्मण, यज्ञ में ऐसा शब्द न बोले जो कि व्याकरण से शुद्ध न हो) "*विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम०*" (प्रथम २ ब्राह्मण ही के समीप विद्या आती है) "*जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते०*" (ब्राह्मण उत्पन्न होते ही देवता, पितर और ऋषियों का ऋणी उत्पन्न होता है) "*तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति०*" (ब्राह्मण वेदाध्ययन के द्वारा परब्रह्म को जाने) "*परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्०*" (कर्मों से प्राप्त होने वाले सुखों को अनित्य समझ कर ब्राह्मण वैराग्य को धारण करे) "*वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे*

शरदि वैश्यः" इत्यादि वाक्येभ्यो वेदे सहस्रशो ब्राह्मणानां प्राथम्यं प्राधान्यं च भूयत एव। एवं क्षत्रिययोनित्वमपि ब्राह्मणस्य । तथा च श्रुतिः—

'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म' (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ४ वा० ११) इति ।

स्मृतिश्च—अथवा ब्राह्मणश्रेष्ठमनुभूतानुपालकम् ।
कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्ज्ञानन्विपृच्छसे ॥ १४ ॥
तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभुरव्ययः ।
येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम् ॥ १५ ॥
(म० भा० अनु० प० अ० १५२) इति ।

एवं स्मर्यते च सर्वक्षत्रोत्तमेन मनुना १ अध्याये—

ऊर्द्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमन्त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ॥ ९२ ॥
उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥
तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

भाषा

राजन्यः शरदि वैश्यः०" (ब्राह्मण वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि का आधान करे) इत्यादि सहस्रों वेदवाक्यों से ब्राह्मणों की प्रथमता और मुख्यता सुनी जाती है। तथा ब्राह्मण का क्षत्रिय के प्रति योनि (पिता) होना "सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म" (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ४ वा० ११) में कहा है। इसका यह अर्थ है कि यह ब्राह्मण जो है सो क्षत्रिय का योनि है, तात्पर्य यह है कि जिस (ब्रह्मा) की बाहु से क्षत्रिय की उत्पत्ति है वह ब्रह्मा ब्राह्मण ही है। तथा सब क्षत्रियों के शिरोमणि और आदि पुरुष श्री मनु जी की स्मृति के प्रथम अध्याय में ये श्लोक हैं।

" ऊर्द्ध्वं नाभेः " ब्रह्मदेव ने स्वयं कहा है कि पुरुष का शरीर पवित्र होता है, उसमें भी नाभी से ऊपर अति पवित्र है, उसमें भी मुख भाग अति पवित्र से पवित्र है ॥ ९२ ॥

प्रश्न—इस कहने का क्या अभिप्राय है !

उत्तर—यह अभिप्राय है कि " उत्तमाङ्गो०" उत्तम अङ्ग अर्थात् मुख से उत्पन्न होने और क्षत्रियादि की अपेक्षा प्रथम होने तथा वेदादि शास्त्रों के पढ़ाने और व्याख्यान करने के द्वारा सत्य निश्चय करने के कारण सब जगत् का धर्मानुशासन के अनुसार ब्राह्मण प्रभु है ॥ ९३ ॥

प्र०—किसके मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ जिससे कि जगत् का प्रभु है !

उ०—"तं हि०" देवताओं को हव्य और पितरों को कव्य पहुँचाने और सब जगत् की रक्षा करने के लिये तप कर क्षत्रिय आदि से प्रथम ब्रह्मदेव ने अपने मुख से ब्राह्मण को उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकन्ततः ॥ ६५ ॥

भूतानाम्प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ६७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ६८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये ॥ ६६ ॥

तथा तत्रैव २ अध्याये—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयात् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥१३५॥

भाषा

प्रश्न—ब्राह्मण को उत्पन्न करने से देवता को हव्य और पितरों को कव्य कैसे पहुँचता है?

उत्तर—"*यस्यास्येन०*" जिस ब्राह्मण के मुख से यज्ञ, श्राद्ध आदि में देवता हव्य और पितर कव्य सदा भोजन करते हैं, उनसे अन्य कौन प्राणी उत्तम हो सकता है? ॥ ६५ ॥

"*भूतानां०*" सब स्थावरों और जङ्गमों में कीट आदि प्राणी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनको भी कदाचित् सुख का लेश मात्र हो जाता है और उनसे भी स्वार्थ के स्थान पर जाने और भय के स्थान से भागने वाले पशु आदि श्रेष्ठ हैं, और उनसे भी ज्ञान अधिक होने के कारण मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में भी सर्वपूज्य होने से ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ ६६ ॥ "*ब्राह्मणेषु०*" ब्राह्मणों में भी जो विद्वान् हैं वे श्रेष्ठ हैं और उनमें भी कृतबुद्धि अर्थात् विचारपूर्वक शास्त्रोक्त कार्यों के जानने वाले श्रेष्ठ हैं और उनसे उक्त कार्यों के करने वाले ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, और उनकी अपेक्षा भी जो ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी हैं वे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे ही मोक्षभागी होते हैं ॥ ६७ ॥ "*उत्पत्तिरेव०*" ब्राह्मण जाति वाले देह का उत्पन्न होना ही धर्म का अविनाशी शरीर है। क्योंकि ब्राह्मण धर्म के लिये उत्पन्न होकर आत्मज्ञान से मोक्ष फल पाने का अधिकारी होता है ॥ ६८ ॥

"*ब्राह्मणो जाय०*" ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथिवी में सबसे श्रेष्ठ होता है तथा धर्मसमूह और सब प्राणियों की रक्षा के लिये समर्थ भी होता है ॥ ६६ ॥

"*ब्राह्मणं०*" ब्राह्मण दश वर्ष का बालक और क्षत्रिय शत वर्ष का वृद्ध अन्योन्य में पिता और पुत्र है, अर्थात् इनमें बालक ब्राह्मण भी (अपनी अनादि ब्राह्मणत्व जाति ही से) वृद्ध क्षत्रिय का पिता अर्थात् पिता तुल्य माननीय है ॥ १३५ ॥

एवं तत्रैव ६ अध्याये—

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥३१२॥

इति स्तेनदण्डोपायानुपसंहृत्य राजधर्मप्रकरणे—

परामप्यापदम्प्राप्तो ब्राह्मणांश्च प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥३१४॥
लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान् कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥३१५॥
यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ॥३१६॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥३१७॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ॥३१८॥

भाषा

"पराम०" राजा को चाहिये कि किसी दशा में ब्राह्मणों का प्रकोप न कराये क्योंकि यदि वे रुष्ट हो जायें, तो तुरत ही सैन्य और वाहनादि के सहित राजा को समूल नष्ट कर दें। समझना चाहिये कि ॥ ३१२ ॥ ३१३ ॥

जिन ब्राह्मणों ने अग्नि को सर्वभक्षी, समुद्र को खारा और क्षयरोगी चन्द्रमा को पूर्ण कर दिया, उनके कोप से कौन नहीं नष्ट हो सकता है ॥ ३१४ ॥ अर्थात् ब्राह्मण यदि कुपित हों, तो वर्तमान लोकों तथा इन्द्रादि लोकपालों से अन्य लोकों को और लोकपालों की नवीन सृष्टि कर डालें तथा देवताओं को भी देवत्व से च्युत कर दें। उन ब्राह्मणों को दुःख देकर कौन सुख पा सकता है ! कोई नहीं ॥ ३१५ ॥ तथा यज्ञादि के द्वारा जिन ब्राह्मणों के आश्रित हो सब लोक और सब देवता सदा स्थित रहते हैं तथा जिन ब्राह्मणों का वेद ही धन है, ऐसा कौन है जो अपना जीवन चाह कर उनकी हिंसा करे ॥ ३१६ ॥

यदि यह कहा जाय कि तब तो विद्वान् ही ब्राह्मण सेवनीय है न कि मूर्ख, तो इसका उत्तर यह है कि "अविद्वांश्चैव०" जैसे वैदिक मन्त्रों से संस्कार किया हो या न हो परन्तु अग्नि (अपनी अग्नित्व जाति से महान् देवता है, वैसे ब्राह्मण, पण्डित हो या मूर्ख, परन्तु वह (अपनी अनादि ब्राह्मणत्व जाति ही से) महान् देवता है, क्योंकि ॥ ३१७ ॥

जैसे श्मशान के मृतकों को जलाने से भी अग्नि दुष्ट नहीं होते, किन्तु अपनी अग्नित्व जाति के कारण पुनः यज्ञों में पवित्र और प्रज्वलित होते हैं, वैसे ही यद्यपि निन्दित कर्म करता हुआ ब्राह्मण

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥३१९॥
क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वतः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥

भार० अनु० अ० १५१—

युधि०—के पूज्याः के नमस्कार्याः कथं वर्तेत केषु च ।
किमाचारः कीदृशेषु पितामह न रिष्यते ॥ १ ॥
भीष्म०—ब्राह्मणानां परिभवः सादयेदपि देवताः ।
ब्राह्मणानां नमस्कृत्य युधिष्ठिर न रिष्यते ॥ २ ॥
ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत् ।
ते हि लोकानिमान्सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥

भाषा

दण्डभागी है, परन्तु दण्ड से अन्य कार्यों के लिये उस समय में भी ब्राह्मण अपनी अनादि ब्राह्मणत्व जाति से पूज्य ही है, क्योंकि अग्नि के समान वह (अपनी ब्राह्मणत्व जाति ही से) बड़ा देवता है, अर्थात् उसके कर्मों के निन्दनीय होने पर भी उसकी ब्राह्मणत्व जाति सदा पूज्य ही है ॥ ३१८ ॥ ३१९ ॥

यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मणों को (निरपराध) दुःख दे तो शाप और आभिचारिक (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि) कर्मों के द्वारा ब्राह्मण ही उस क्षत्रिय के स्वतन्त्र दण्डदाता हैं। और वह क्षत्रिय उनके दिये हुये दण्ड का वारण कदापि नहीं कर सकता क्योंकि ब्रह्मदेव रूपी ब्राह्मण ही के बाहु से क्षत्रियों की उत्पत्ति है, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियों की योनि (कारण) है और यह विषय प्रसिद्ध है कि कार्य का प्रताप कारण पर नहीं सफल होता, किन्तु नष्ट ही हो जाता है। जैसे अग्नि का तेज (दाहशक्ति) सब पर चलता है परन्तु अग्नि की योनि (कारण) रूपी जल में नष्ट हो जाता है और शस्त्र का तेज (छेदन शक्ति) सब पर चलता है परन्तु शस्त्र की योनि रूपी पाषाण पर वैसा नहीं चलता ? ऐसे ही क्षत्रिय का प्रताप सब पर चलता है परन्तु क्षत्रिय की योनि रूपी ब्राह्मण पर वह शान्त (नष्ट) हो जाता है । ॥ ३२० ॥ ३२१ ॥

उपाख्यान

युधि०—हे पितामह (भीष्म) ! कौन पूज्य हैं ? कौन नमस्कार के योग्य हैं ? और उनके साथ कैसा वर्ताव करै अर्थात् उनके साथ कैसा वर्ताव करने से पुरुष हानि से बचता है ? ॥ १ ॥

भीष्म०—हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणों का तिरस्कार देवताओं को भी नष्ट कर सकता है और ब्राह्मणों को नमस्कार करने से पुरुष हानियों से बचता है। ब्राह्मण पूज्य हैं और नमस्कार के योग्य हैं। उनके साथ उनके पुत्र के ऐसा वर्ताव करना चाहिये, क्योंकि वे पण्डित इन सब लोकों को धारण करते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः ।
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये ॥ ४ ॥
रमणीयाश्च भूतानां निधानञ्च धृतव्रताः ।
प्रणेतारश्च लोकानां शास्त्राणाञ्च यशस्विनः ॥ ५ ॥
तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ६ ॥
धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृते धर्मसेतवः ।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ॥ ७ ॥
पन्थानः सर्वनेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा ॥ ८ ॥
धुरि ये नावसीदन्ति विषमे सद्गवा इव ।
पितृदेवातिथिमुखा हव्यकव्याग्रभोजिनः ॥ ९ ॥
भोजनादेव लोकांस्त्रींस्त्रायन्ते महतो भयात् ।
दीपः सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ॥ १० ॥
सर्वशिक्षाश्रुतिधना निपुणाः सूक्ष्मदर्शिनः ।
गतिज्ञाः सर्वलोकानामध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥ ११ ॥

भाषा

जो ब्राह्मण धनों के त्याग और वचन के संयम में रत रहते हैं वे ब्राह्मण सब लोकों के लिये धर्म के बड़े सेतु (सड़क) हैं ॥ ४ ॥ तथा यशस्वी, व्रत के करने वाले वे ब्राह्मण रमणीय तथा सब प्राणियों को आश्रय देने वाले तथा शास्त्रों की रचना करने वाले हैं ॥ ५ ॥

जिन धर्मज्ञ और सूक्ष्मदर्शी ब्राह्मणों का सदा तपस्या ही धन है तथा वचन ही बड़ा बल है और वे सब धर्मों के प्रभु हैं ॥ ६ ॥ तथा वे धर्म ही को चाहते और धर्म ही करते हैं और धर्म के सेतु हैं, जिनके आश्रय से सब प्रजाओं का जीवन होता है ॥ ७ ॥ वे ब्राह्मण कल्याण के मार्ग हैं तथा सबके सनातन नेता हैं और पिता, पितामहादि से चली आती हुई धर्म की भारी धुरा को सदा वहन करते हैं ॥ ८ ॥

जैसे अत्यन्त ऊँचे नीचे देश में उत्तम वृषभ धुरा से चलने से नहीं हटते, ऐसे ही पितर, देवता और अतिथि के मुख रूपी होकर हव्य और कव्य के प्रथम भोजन करने वाले ये ब्राह्मण भी धर्म की धुरा के ले चलने से नहीं हटते ॥ ९ ॥ केवल स्वयं भोजन करने से वे तीनों लोक को बड़े भय से बचाते हैं तथा सब लोगों के लिये वे दीपक के ऐसे और नेत्र इन्द्रिय के ऐसे प्रकाशक हैं ॥ १० ॥ और वे ब्राह्मण सबकी शिक्षा और वेद पढ़ने ही को अपना धर्म मानते हैं और उसमें निपुण तथा सूक्ष्मदर्शी तथा सब लोकों की गति के जानने वाले और अध्यात्मगति की चिन्ता करने वाले होते हैं ॥ ११ ॥ तथा सब वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त को ये जानते हैं और सब

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशयाः ।
परावरविशेषज्ञा गन्तारः परमां गतिम् ॥ १२ ॥
विमुक्ता धूतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
मानार्हा मानिता नित्यं ज्ञानविद्भिर्महात्मभिः ॥ १३ ॥
चन्दने मलपङ्के च भोजनेऽभोजने समाः ।
समं येषां दुकूलश्च तथा क्षौमानि कानि च ॥ १४ ॥
तिष्ठेयुरप्यभुञ्जाना बहूनि दिवसान्यपि ।
शोषयेयुश्च गात्राणि स्वाध्याये संयतेन्द्रियाः ॥ १५ ॥
अदेवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
लोकानन्यान्सृजेयुस्ते लोकपालांश्च कोपिताः ॥ १६ ॥
अपेयः सागरो येषामपि शापान्महात्मनाम् ।
येषां कोपाग्निरद्यापि दण्डकेनोपशाम्यति ॥ १७ ॥
देवानामपि ये देवाः कारणं कारणस्य च ।
प्रमाणस्य प्रमाणञ्च कस्तानभिभवेद्बुधः ॥ १८ ॥
येषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति ।
तपोविद्याविशेषात्तु मानयन्ति परस्परम् ॥ १९ ॥

भाषा

सन्देहों का नाश करते हैं तथा सबमें छोटे और बड़े के विशेष को जानते हैं और मोक्ष पर्यन्त उत्तम गति के जानने वाले हैं ॥ १२ ॥ तथा इन्हीं में प्रायः निर्द्वन्द्व, निष्पाप, जीवन्मुक्त संन्यासी होते हैं और ये मान के योग्य हैं। और ज्ञानी महात्माओं से माने भी जाते हैं जो चन्दन और मलिनपङ्क तथा भोजन और उपवास तथा चीर और उत्तम वस्त्र को तुल्य ही समझते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥ तथा बहुत दिनों तक भोजन किये बिना ये रह सकते हैं, अपने शरीर को शुष्क कर सकते हैं और जितेन्द्रिय होकर वेद का अभ्यास कर सकते हैं ॥ १५ ॥ तथा यदि ब्राह्मण कोप करें तो जो देवता नहीं हैं उनको भी देवता बना दें और जो देवता हैं उनका देवत्व नष्ट कर दें और अन्य लोकों तथा अन्य लोकपालों को भी उत्पन्न कर दें ॥ १६ ॥ तथा जिन ब्राह्मण महात्माओं के शाप से समुद्र का जल खारा हो गया और जिनका कोप रूपी अग्नि दण्डक क्षत्रियों का नाश कर उनके देश को दण्डक वन बना दिया ॥ १७ ॥

ब्राह्मण देवताओं के भी देवता, कारण के भी कारण और प्रमाण के भी प्रमाण हैं। बुद्धिमान् होकर कौन पुरुष उन ब्राह्मणों का अनादर कर सकता है ? ॥ १८ ॥

जिन ब्राह्मणों में अवस्था के कारण कोई विशेष नहीं होता, अर्थात् बाल और वृद्ध सब ही ब्राह्मण मान और सत्कार के योग्य हैं परन्तु अन्योन्य में तप और विद्या के अधिक होने के कारण वे मान करते हैं ॥ १९ ॥ जो ब्राह्मण विद्वान् नहीं हैं वे देवता हैं तथा मान और सत्कार के योग्य हैं

अविद्वान् ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत् ।
विद्वान् भूयस्ततो देवः पूर्णसागरसन्निभः ॥ २० ॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ २१ ॥
श्मशाने अपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हविर्यज्ञे च विधिवत् गृह एव विशोभते ॥ २२ ॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम् ॥ २३ ॥

अ० १५२, युधि०—कांतु ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा नराधिप ।
कं वा कर्मोदयं मत्वा तानर्चसि महामते ॥ १ ॥

भीष्म०—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पवनस्य च संवादमर्जुनस्य च भारत ॥ २ ॥
सहस्रभुजभृत् श्रीमान् कार्तवीर्य्योऽभवत्प्रभुः ।
अस्य लोकस्य सर्वस्य माहिष्मत्यां महाबलः ॥ ३ ॥
स तु रत्नाकरवतीं सद्वीपां सागराम्बराम् ।
शशास पृथिवीं सर्वां हैहयः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥

भाषा

और अन्यों को पूर्ण पवित्र करने वाले हैं तथा विद्वान् ब्राह्मण उनके भी देवता और पूर्ण सागर के समान हैं ॥ २० ॥

जैसे अग्नि मन्त्रों से यज्ञ में स्थापित हों अथवा घर की चूल्हे में प्रज्वलित हों परन्तु वह बड़े देवता हैं वैसे ही ब्राह्मण पण्डित हो या मूर्ख, परन्तु वह अपनी जाति ही से बड़ा देवता है ॥ २१ ॥

जैसे तेजस्वी अग्नि श्मशान में प्रज्वलित होने पर भी अपवित्र नहीं होते और गृह में भी यज्ञों के समय उनकी शोभा होती है, वैसे यद्यपि ब्राह्मण सब अनिष्ट कर्मों में प्रवृत्त ही क्यों न हों तथापि वे सब प्रकार से माननीय हैं, इसलिये हे युधिष्ठिर! तुम ब्राह्मण को परम देवता समझो ॥ २२ ॥ २३ ॥

युधि०—हे महामते नराधिप! ब्राह्मणों के पूजन का कौन फल देख कर और ब्राह्मणों में किस अपूर्व धर्म का उदय देख कर आप ब्राह्मणों का पूजन करते हैं? ॥ १ ॥

भीष्म०—हे भारत! इस विषय में वायुदेव और कार्तवीर्य अर्जुन के सम्वाद रूपी प्राचीन इतिहास को महात्मा लोग कहते हैं, जिसे मैं तुमको सुनाता हूँ ॥ २ ॥

नर्मदा के तीर माहिष्मती नगरी में इस समग्र भूलोक का राजा, सहस्रभुज वाले बड़े बलवान् श्रीमान् राजा कृतवीर्य्य के पुत्र अर्जुन हुये ॥ ३ ॥

और वह सब द्वीप और उपद्वीप तथा समुद्रों के सहित समग्र पृथिवी पर अपना शासन इस कारण करते थे कि ॥ ४ ॥ उन्होंने किसी कारण से अपने क्षात्रधर्म, विनय और वेदाध्ययन के अनुसार

स्ववित्तं तेन दत्तन्तु दत्तात्रेयाय कारणे ।
क्षत्रधर्म्मं पुरस्कृत्य विनयं श्रुतमेव च ॥ ५ ॥
आराधयामास च तं कृतवीर्यात्मजो मुनिम् ।
न्यमन्त्रयत सन्तुष्टो द्विजश्चैनं वरैस्त्रिभिः ॥ ६ ॥
स वरैश्छन्दितस्तेन नृपो वचनमब्रवीत् ।
सहस्रबाहुर्भूयां वै चमूमध्ये गृहेऽन्यथा ॥ ७ ॥
मम बाहुसहस्रन्तु पश्यन्तां सैनिका रणे ।
विक्रमेण महीं कृत्स्नां जयेयं संशितव्रत ॥ ८ ॥
ताञ्च धर्मेण सम्प्राप्य पालयेयमतन्द्रितः ।
चतुर्थन्तु वरं याचे त्वामहं द्विजसत्तम ॥ ९ ॥
तं ममानुग्रहकृते दातुमर्हस्यनिन्दित ।
अनुशासन्तु मां सन्तो मिथ्योद्वृत्तं त्वदाश्रयम् ॥ १० ॥
इत्युक्तः स द्विजः प्राह तथास्त्विति नराधिपम् ।
एवं समभवंस्तस्य वरास्ते दीप्ततेजसः ॥ ११ ॥
ततः स रथमास्थाय ज्वलनार्कसमद्युतिम् ।
अब्रवीद्वीर्यसम्मोहात्कोन्वस्ति सदृशो मम ॥ १२ ॥
धैर्य्ये वीर्य्ये यशः शौर्य्ये विक्रमेणौजसापि वा ।
तद्वाक्यान्तेऽन्तरिक्षे वै वागुवाचाशरीरिणी ॥ १३ ॥

भाषा

अपना वित्त (धन) दत्तात्रेय योगीश्वर महर्षि को दे डाला ॥ ५ ॥ और चिरकाल पर्यन्त उन मुनि की विशेष सेवा किया । अन्त में सन्तुष्ट होकर मुनि ने कार्तवीर्य से तीन वर माँगने की आज्ञा दी ॥ ६ ॥

तदनन्तर राजा ने इन तीन वरों को माँगा कि (१) अपने गृह में मेरी दो ही भुजा रहे परन्तु युद्ध में मैं सहस्रबाहु हो जाया करूँ (२) सब द्वीप और उपद्वीप के सहित पृथिवी को अपने पराक्रम से विजय कर लूँ (३) और उस विजय की हुई सब पृथिवी को धर्म के अनुसार पालन करूँ । और यह भी कहा कि यह चतुर्थ वर मैं अपनी इच्छा से माँगता हूँ और हे अनिन्दित ! आप मुझ पर अनुग्रह कर मुझे इस वर को भी दें कि (४) यदि किसी समय मैं अपने धर्म का अतिक्रम करने लगूँ तो उस समय अच्छे लोग मुझे शिक्षा दिया करें ॥ ७–१० ॥

तदनन्तर ब्राह्मण दत्तात्रेय ने राजा से तथास्तु कह दिया । इस रीति से इन वरों का प्रताप कार्तवीर्य अर्जुन में आया ॥ ११ ॥ तदनन्तर एक समय में अग्नि और सूर्य्य के समान जाज्वल्यमान रथ पर चढ़े हुये कार्तवीर्य अर्जुन ने अपने वीर्य के अभिमान से यह कहा कि धीरता, वीरता, शूरता, पराक्रम, तेज और कीर्ति में कौन मेरे तुल्य है ? इतने ही में यह आकाशवाणी हुई कि ॥ १२ ॥ १३ ॥

न त्वं मूढ विजानीषे ब्राह्मणं क्षत्रियाद्वरम् ।
सहितो ब्राह्मणेनेह क्षत्रियः शास्ति वै प्रजाः ॥ १४ ॥
अर्जुन०—कुर्यां भूतानि तुष्टोऽहं क्रुद्धो नाशन्तथाऽनघे ।
कर्मणा मनसा वाचा न मत्तोऽस्ति वरो द्विजः ॥ १५ ॥
पूर्वो ब्रह्मोत्तरो वादो द्वितीयः क्षत्रियोत्तरः ।
त्वयोक्तौ हेतुयुक्तौ तौ विशेषस्तत्र दृश्यते ॥ १६ ॥
ब्राह्मणाः संश्रिताः क्षत्रं न क्षत्रं ब्राह्मणाश्रितम् ।
श्रिता ब्रह्मोपधा विप्राः खादन्ति क्षत्रियान् भुवि ॥ १७ ॥
क्षत्रियेष्वाश्रितो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।
क्षत्राद्वृत्तिर्ब्राह्मणानां तैः कथं ब्राह्मणो वरः ॥ १८ ॥
सर्वभूतप्रधानांस्तान् भैक्षवृत्तीनहं सदा ।
आत्मसम्भावितान् विप्रान् स्थापयाम्यात्मनो वशे ॥ १९ ॥
कथितं ह्यनया सत्यं गायत्र्या कन्यया दिवि ।
विजेष्याम्यवशान्सर्वान् ब्राह्मणांश्चर्मवाससः ॥ २० ॥
न च मां च्यावयेद्राष्ट्रात्त्रिषु लोकेषु कश्चन ।
देवो वा मानुषो वाऽपि तस्माज्ज्येष्ठो द्विजादहम् ॥ २१ ॥
अद्य ब्रह्मोत्तरं लोकं करिष्ये क्षत्रियोत्तरम् ।
न हि मे संयुगे कश्चित्सोढुमुत्सहते बलम् ॥ २२ ॥

भाषा

हे मूर्ख ! तू यह नहीं जानता कि क्षत्रिय से बड़ा ब्राह्मण है और इस लोक में ब्राह्मण के सहित क्षत्रिय प्रजाओं का पालन करता है ॥ १४ ॥

अर्जुन०—मैं यदि प्रसन्न हो जाऊँ तो दूसरे जगत् को उत्पन्न और यदि कुपित हो जाऊँ तो इस जगत् का नाश कर दूँ । मन, वचन और कर्म से मेरे तुल्य ब्राह्मण नहीं है । और हे आकाशवाणी ! पूर्व पक्ष यह है कि ब्राह्मण ही सबसे ऊपर हैं, परन्तु सिद्धान्त यह है कि क्षत्रिय ही सबके ऊपर हैं । और तुमने भी उचित समझ कर यह कहा कि "ब्राह्मण के सहित क्षत्रिय प्रजाओं का पालन करता है" । परन्तु यह विशेष यहाँ प्रत्यक्ष है ॥ १५ ॥ १६ ॥ कि ब्राह्मण क्षत्रिय के आश्रित होते हैं न कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के । और इस लोक में वेद के व्याज से ब्राह्मण क्षत्रियों से भोजन पाते हैं ॥ १७ ॥ प्रजा का पालन रूपी धर्म क्षत्रियों के अधीन है और ब्राह्मणों की जीविका क्षत्रियों से है, तब कैसे ब्राह्मण क्षत्रिय से बड़ा है ! ॥ १८ ॥ सब प्राणियों को प्रधान मानने वाले, भिक्षा से जीने वाले और अपने मन से अपने को बड़ा मानने वाले ब्राह्मणों को अब मैं अपने वश में स्थापित करता हूँ ॥ १९ ॥ आकाश में इस गायत्री कन्या ने असत्य ही कहा, मैं मृगचर्म धारण करने वाले इन स्वाधीन ब्राह्मणों को विजय करूँगा ॥ २० ॥ तीनों लोक में देवता वा मनुष्य, कोई मुझे राज्यच्युत नहीं कर सकता, इससे मैं ब्राह्मण से बड़ा हूँ । आज तक यह लोक ब्रह्मोत्तर (जिसमें

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा वित्रस्ताऽभून्निशाचरी ।
अथैनमन्तरिक्षस्थस्ततो वायुरभापत ॥ २३ ॥
त्यजैनं कलुषं भावं ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुरु ।
एतेषां कुर्वतः पापं राष्ट्रक्षोभो भविष्यति ॥ २४ ॥
अथवा त्वां महीपालं शमयिष्यन्ति वै द्विजाः ।
निरसिष्यन्ति ते राष्ट्राद्धतोत्साहं महाबलाः ॥ २५ ॥
तं राजा कस्त्वमित्याह ततस्तं प्राह मारुतः ।
वायुर्वै देवदूतोऽस्मि हितं त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥
अर्जुन०—अहो त्वयाद्य विप्रेषु भक्तिरागः प्रदर्शितः ।
यादृशं पृथिवीभूतं तादृशं ब्रूहि वै द्विजम् ॥ २७ ॥
वायोर्वा सदृशं किञ्चिद्ब्रूहि त्वं ब्राह्मणोत्तमम् ।
अपां वै सदृशं वह्नेः सूर्यस्य नभसोऽपि वा ॥ २८ ॥
अ० १५२, वायु०—शृणु मूढ गुणान् कांश्चिद्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
ये त्वया कीर्तिता राजंस्तेभ्योऽथ ब्राह्मणो वरः ॥ १ ॥
त्यक्त्वा महीत्वं भूमिस्तु स्पर्द्धयाऽङ्गनृपस्य ह ।
नाशं जगाम तां विप्रो व्यष्टम्भयत कश्यपः ॥ २ ॥

भाषा

सबसे बड़े [ब्राह्मण हैं) था और अब मैं इसको क्षत्रियोत्तर करूँगा, क्योंकि युद्ध में कोई मेरे बल को सहन करने का उत्साह नहीं कर सकता ॥ २१ ॥ २२ ॥

अर्जुन के इस वचन को सुन कर आकाश सरस्वती डर कर चुप हो गई। तदनन्तर आकाश में खड़े होकर मूर्तिधारी वायुदेव ने कहा कि ॥ २३ ॥ हे अर्जुन ! इस अपने निन्दित भाव को छोड़ो और ब्राह्मणों को नमस्कार करो। क्योंकि इस पाप से या तो तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ॥ २४ ॥ अथवा ब्राह्मण लोग तुम्हारा ही नाश कर देंगे अर्थात् तुम्हारे इस अभिमान को भङ्ग कर ब्राह्मण लोग राज्य से तुमको निकाल देंगे, क्योंकि वे बड़े बलवान् हैं ॥ २५ ॥

राजा—तुम कौन हो ?

वायु—मैं देवताओं का दूत वायु हूँ और तुम्हारे हित के लिये कहता हूँ ॥ २६ ॥

अर्जुन—आश्चर्य है कि आज तुमने अपनी बात से ब्राह्मणों में अपनी भक्ति और अनुराग दिखला दिया, परन्तु जैसे पृथिवी, वायु, जल, अग्नि, सूर्य और आकाश प्रत्यक्ष और सत्य हैं, ऐसी ही अब ब्राह्मण की भी प्रत्यक्ष और सत्य कोई बात तुम कहो ॥ २७ ॥ २८ ॥

हे मूढ़ राजन् ! ब्राह्मण महात्माओं के कुछ गुणों को मैं कहता हूँ। तुम सुनो, जिससे तुमको निश्चय होगा कि क्षत्रियों से ब्राह्मण बड़ा है ॥ १ ॥ राजा अङ्ग के ऊपर कोप कर पृथिवी अपने इस शरीर को नाश करने लगी परन्तु कश्यप महर्षि अपने तेज से उसे नष्ट नहीं होने दिया ॥ २ ॥

अजेया ब्राह्मणा राजन् दिवि चेह च नित्यदा ।
अपिबत्तेजसा ह्यापः स्वयमेवाङ्गिराः पुरा ॥ ३ ॥
स ताः पिबन् क्षीरमिव नातृप्यत महामनाः ।
अपूरयन्महौघेन महीं सर्वाञ्च पार्थिव ॥ ४ ॥
तस्मिन्नहञ्च क्रुद्धे वै जगत्यक्त्वा ततो गतः ।
व्यतिष्ठमग्निहोत्रे च चिरमङ्गिरसो भयात् ॥ ५ ॥
अथ शप्तश्च भगवान् गौतमेन पुरन्दरः ।
अहल्यां कामयानो वै धर्मार्थञ्च न हिंसितः ॥ ६ ॥
तथा समुद्रो नृपते पूर्णो मृष्टेन वारिणा ।
ब्राह्मणैरभिशप्तः सन् बभूव लवणोदकः ॥ ७ ॥
सुवर्णवर्णो निर्धूमः संहतोर्द्ध्वशिखः कविः ।
क्रुद्धेनाङ्गिरसा शप्तो गुणैरेतैर्विवर्जितः ॥ ८ ॥
मरुतश्चूर्णितान् पश्य ये ह्यासन्त महोदधिम् ।
सुवर्णधारिणा नित्यमवशप्तान् द्विजातिना ॥ ९ ॥
समो न त्वं द्विजातिभ्यः श्रेयो विद्धि नराधिप ! ।
गर्भस्थान् ब्राह्मणान् सम्यङ्नमस्यति किल प्रभुः ॥ १० ॥

भाषा

हे राजन् ! स्वर्ग में और यहाँ भी सदा ब्राह्मण किसी के जीतने योग्य नहीं होते । प्रसिद्ध है कि पूर्व समय में अङ्गिरा महर्षि अपने तेज से संसार के सब जलों को स्वयं पी गये ॥ ३ ॥ और पीते समय जैसे कोई दूध पीवे, ऐसे ही पीने से तृप्त न हुये और पुनः बड़ी बड़ी जलधाराओं से पृथिवी को पूर्ण कर दिया ॥ ४ ॥ तथा मैं भी उनके कोप के समय में उनके भय से जगत् को छोड़ भागा और बहुत वर्षों तक अग्निहोत्र में स्थित रहा ॥ ५ ॥

अहल्या की इच्छा करने वाले इन्द्र भगवान् को गौतम ने शाप मात्र देकर धर्म मात्र के ध्यान से मार नहीं डाला, छोड़ दिया ॥ ६ ॥ हे राजन् ! स्वादु जल से पूर्व ही समुद्र पूर्ण थे परन्तु ब्राह्मणों के शाप से उनका जल खारा हो गया ॥ ७ ॥ तथा अग्नि का वर्ण पूर्व ही सुवर्ण के ऐसा था और उनसे धूम नहीं उठता था तथा उनकी शिखा ऊपर को बड़ी दूर तक एकसार जाती थी, परन्तु कोपयुक्त अङ्गिरा महर्षि के शाप से उनके ये तीनों गुण नष्ट हो गये ॥ ८ ॥ सागर के खोदने वाले राजा सगर के साठ सहस्र पुत्रों को ब्राह्मण कपिल महर्षि के शाप से भस्म हुये, देखो ॥ ९ ॥

हे नराधिप ! तुम ऐसा ही समझने में अपना कल्याण जानो कि तुम ब्राह्मणों के तुल्य नहीं हो और जो कोई राजा होता है वह माता के गर्भस्थित ब्राह्मण को भी नमस्कार करता है ॥१०॥

दण्डकानां महद्राज्यं ब्राह्मणेन विनाशितम् ।
तालजंघं महाक्षत्रमौर्वेणैकेन नाशितम् ॥ ११ ॥
त्वया च विपुलं राज्यं बलं धर्मं श्रुतं तथा ।
दत्तात्रेयप्रसादेन प्राप्तं परमदुर्लभम् ॥ १२ ॥
अग्निं त्वं यजसे नित्यं कस्माद्ब्राह्मणमर्जुन ।
स हि सर्वस्य लोकस्य हव्यवाट् किं न वेत्सि तम् ॥ १३ ॥
अथवा ब्राह्मणश्रेष्ठमनुभूतानुपालकम् ।
कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्ञानन् विमुह्यसे ॥ १४ ॥
तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभुरव्ययः ।
येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम् ॥ १५ ॥
अण्डजातन्तु ब्रह्माणं केचिदिच्छन्त्यपण्डिताः ।
अण्डाद्भिन्नाद्बभुः शैला दिशोऽम्भः पृथिवी दिवम् ॥ १६ ॥
द्रष्टव्यं नैतदेवं हि कथं जायेदजो हि सः ।
स्मृतमाकाशमण्डन्तु तस्माज्जातः पितामहः ॥ १७ ॥
तिष्ठेत्कथमिति ब्रूहि न किञ्चिद्धि तदा भवेत् ।
अहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोगतः प्रभुः ॥ १८ ॥

भाषा

दण्डक क्षत्रियों के महाराज को ब्राह्मणों ने ही नाश किया और तालजङ्घ नामक क्षत्रियों के उतने बड़े कुल को एक ब्राह्मण और्व महर्षि ने नाश कर दिया। (जिनका कोप रूपी अग्नि तालजङ्घ नामक क्षत्रियों के नाश के अनन्तर ब्रह्मदेव की आज्ञानुसार समुद्र में डाल दिया गया जो आज तक बड़वानल प्रसिद्ध है) और समुद्र के उस प्रान्त में अब तक भय से महापोत (जहाज) भी नहीं जा सकते। और उसके विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

"तन समुद्र मन लहर है, नयन कहर दरियाव।
वे सर भुजा सिकन्दरी यहाँ न आव न आव" ॥ ११ ॥

तुमने भी तो स्वयं दत्तात्रेय महर्षि ब्राह्मण ही के प्रसाद से अति दुर्लभ, इतना बड़ा राज्य और बल तथा धर्म और ज्ञान पाया है ॥ १२ ॥ हे अर्जुन ! अग्नि भी तो ब्राह्मण ही हैं। तुम क्यों होम आदि से प्रति दिन उनकी पूजा करते हो? क्या तुम इतने प्रसिद्ध वार्ता को भी नहीं जानते कि अग्नि ही सबके दिये हुये द्रव्य को हम देवताओं के लिये पहुँचाते हैं? ॥ १३ ॥ वास्तविक में तुम स्वयं इस बात को जानते ही हो कि सब प्राणियों के पालन करने वाले और जीवलोक के कर्ता धर्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तो जान बूझ कर तुम क्यों मूढ़ होते हो? ॥ १४ ॥ अर्थात् प्रजाओं के पति जिस ब्रह्मदेव ने स्थावर और जङ्गम रूपी इस जगत् की सृष्टि किया वह ब्राह्मण ही हैं ॥१५—१८॥

कस्याण्डादुत्थितो ब्रह्मा स राजन् लोकभावनः ।
इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥

अ० १५४, वायु०—इमां भूमिं द्विजातिभ्यो दित्सुर्वै दक्षिणां पुरा ।
अङ्गो नाम नृपो राजंस्ततश्चिन्तां मही ययौ ॥ १ ॥
धारिणीं सर्वभूतानामयं प्राप्य वरो नृपः ।
कथमिच्छति मां दातुं द्विजेभ्यो ब्रह्मणः सुताम् ॥ २ ॥
साऽहं त्यक्त्वा गमिष्यामि भूमित्वं ब्रह्मणः पदम् ।
अयं सराष्ट्रो नृपतिर्माभूदिति ततोऽगमत् ॥ ३ ॥
ततस्तां कश्यपो दृष्ट्वा व्रजन्तीं पृथिवीं तदा ।
प्रविवेश महीं सद्यो मुक्त्वात्मानं समाहितः ॥ ४ ॥
ऋद्धा सा सर्वतो जज्ञे तृणौषधिसमन्विता ।
धर्मोत्तरा नष्टभया भूमिरासीत्ततो नृप ॥ ५ ॥
एवं वर्षसहस्राणि दिव्यानि विपुलव्रतः ।
त्रिंशतः कश्यपो राजन् भूमिरासीदतन्द्रिता ॥ ६ ॥
अथागम्य महाराज नमस्कृत्य च कश्यपम् ।
पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
एष राजन्नीदृशो वै ब्राह्मणः कश्यपोऽभवत् ।
अन्यं प्रब्रूहि वा त्वञ्च कश्यपात् क्षत्रियं वरम् ॥ ८ ॥

भाषा

इतना सुन कर अर्जुन चुप हो गये और वायु ने पुनः कहना आरम्भ किया ॥ १६ ॥ पूर्व समय में राजा अङ्ग ने इस सम्पूर्ण पृथिवी को ब्राह्मणों के लिये दक्षिणा में देना चाहा। इससे पृथिवी को यह चिन्ता हुई कि ब्रह्मा की पुत्री और सब प्राणियों को धारण करने वाली मैं हूँ और यह राजा मुझे पाकर भी कैसे ब्राह्मण को दिया चाहता है। तदनन्तर पृथिवी ने यह निश्चय किया कि अब मैं अपने इस भूमि शरीर को छोड़ कर ब्रह्मलोक चली जाऊँगी। जिससे यह राजा और इसका राज्य सब नष्ट हो जाय। ऐसा निश्चय कर अपने भूमिशरीर को छोड़ चलने लगी ॥ १—३ ॥

इतने ही में कश्यप महर्षि ने पृथिवी को जाते देख अपने योगबल से निज शरीर को छोड़ उस निर्जीव भूमि शरीर में प्रवेश कर उसको सजीव कर दिया ॥ ४ ॥ और भूमि अपने धर्मबल से ब्रह्मलोक में जाकर निर्भय हो बैठी ॥ ५ ॥

हे राजन्! ऐसे ही देव वर्षों से सहस्र वर्ष तक कश्यप महर्षि ने भूमि शरीर को धारण कर प्रजाओं की रक्षा किया। (यदि वह ऐसा न करते तो यह पृथिवी विशीर्ण अर्थात् चूर्ण चूर्ण हो कर नष्ट हो जाती) ॥ ६ ॥ हे महाराज! तदनन्तर ब्रह्मलोक से आकर पृथिवी ने कश्यप को प्रणाम किया और उनकी पुत्री बनी, तब से पृथिवी को "काश्यपी" कहते हैं ॥ ७ ॥ हे राजन्! कश्यप ब्राह्मण ऐसे थे। तुम भी किसी ऐसे क्षत्रिय को कहो जो कश्यप से बड़ा हो ॥ ८ ॥ यह सुन

तूर्णीं बभूव नृपतिः पवनस्त्वब्रवीत् पुनः।
शृणु राजन्नुतथ्यस्य जातस्याङ्गिरसे कुले ॥ ९ ॥
भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता।
यस्यास्तुल्यं पतिं सोम उतथ्यं समपश्यत ॥ १० ॥
सा च तीव्रं तपस्तेपे महाभागा यशस्विनी।
उतथ्यार्थे तु चार्वङ्गी परं नियममास्थिता ॥ ११ ॥
तत आहूय सोतथ्यं ददावत्रिर्यशस्विनीम्।
भार्य्यार्थे स तु जग्राह विधिवत् भूरिदक्षिणः ॥ १२ ॥
तान्त्वकामयत श्रीमान् वरुणः पूर्वमेव ह।
स चागम्य वनप्रस्थं यमुनायां जहार ताम् ॥ १३ ॥
जलेश्वरस्तु हृत्वा तामनयत् स्वपुरं प्रति।
परमाद्भुतसङ्काशं षट्सहस्रशतहृदम् ॥ १४ ॥
न हि रम्यतरं किञ्चित्तस्मादन्यत् पुरोत्तमम्।
प्रासादैरप्सरोभिश्च दिव्यैः कामैश्च शोभितम् ॥ १५ ॥
तत्र देवस्तया सार्द्धं रेमे राजन् जलेश्वरः।
अथाख्यातमुतथ्याय, ततः पत्न्यवमर्दनम् ॥
तत् श्रुत्वा नारदात् सर्वमुतथ्यो नारदं तदा ॥ १६ ॥
प्रोवाच गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणं परुषं वचः।
मद्वाक्यान्मुञ्च मे भार्य्यां कस्मात्तां हृतवानसि ॥ १७ ॥

भाषा

अर्जुन चुप हो गये और वायु देव ने पुनः कहा कि हे राजन्! अङ्गिरा के कुल में उत्पन्न उतथ्य महर्षि का वृत्तान्त सुनो ॥ ९ ॥ चन्द्रमा की पुत्री अद्वितीय सुन्दरी 'भद्रा' थी। चन्द्रमा ने उतथ्य महर्षि ही को उसके पति होने योग्य समझा ॥ १० ॥ और भद्रा ने भी उतथ्य से विवाह होने के लिये बड़े नियम से घोर तपस्या किया ॥ ११ ॥ तदनन्तर चन्द्रमा के पिता अत्रि महर्षि ने उतथ्य को बुलाकर भद्रा का कन्यादान किया और उतथ्य ने भी बहुत सी दक्षिणा (दायज) लेकर भद्रा को स्वीकार किया ॥ १२ ॥

परन्तु पूर्व ही से उस कन्या को जलों के स्वामी वरुण देव चाहते थे। इसलिये यमुना नदी में स्नान करते समय वरुण देव स्वयं वहाँ आकर भद्रा को हर ले गये ॥ १३ ॥ और ले जाकर अपने उस पुर में रखा, जिसमें छः सहस्र विद्युत् (बिजुली) हैं ॥ १४ ॥ और जिस पुर की अपेक्षा दूसरा कोई पुर उत्तम नहीं है और वह जल के भीतर है ॥ १५ ॥ तदनन्तर उतथ्य महर्षि से नारद देवर्षि ने आकर यह कहा कि आप की पत्नी को वरुण हर ले गये हैं और उतथ्य महर्षि ने भी नारद महर्षि से कहा कि आप मेरी ओर से जाकर वरुण से यह मेरा तीक्ष्ण वचन कहिये कि ॥१६॥१७॥

लोकपालोऽसि लोकानां न लोकस्य विलुम्पकः ।
सोमेन दत्ता मे भार्य्या त्वया चापहृताऽद्य वै ॥ १८ ॥
इत्युक्तो वचनात्तस्य नारदेन जलेश्वरः ।
मुञ्च भार्य्यामुतथ्यस्य कस्मात्त्वं हृतवानसि ॥ १९ ॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्य ततस्तं वरुणोऽब्रवीत् ।
ममैषा सुप्रिया भीरुर्नैनामुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ २० ॥
इत्युक्तो वरुणेनाथ नारदः प्राप्य वै मुनिम् ।
उतथ्यमब्रवीद्वाक्यं नातिहृष्टमना इव ॥ २१ ॥
गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽसि वरुणेन महामुने ।
न प्रयच्छति ते भार्य्यां यत्ते कार्य्यं कुरुष्व तत् ॥ २२ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलदङ्गिराः ।
अपिबत्तेजसा वारि विष्टभ्य सुमहातपाः ॥ २३ ॥
पीयमाने तु सर्वस्मिंस्तोये वै सलिलेश्वरः ।
सुहृद्भिः क्षोभ्यमाणो वै नैवामुञ्चत तां तदा ॥ २४ ॥
ततः क्रुद्धोऽब्रवीद्भूमिम् उतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः ।
दर्शयस्व स्थलं भद्रे षट्सहस्रशतह्रदम् ॥ २५ ॥
ततस्तदीरिणं जातं समुद्रश्चापसर्पितः ।
तस्माद्देशान्नदीं चैव प्रोवाचासौ द्विजोत्तमः ॥ २६ ॥

भाषा

हे वरुण ! मेरे वाक्य से तुम मेरी भार्या को छोड़ दो । क्यों उसको तुम हर ले गये ? क्योंकि तुम लोकपाल हो न कि लोक के लोपक ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की दी हुई यह मेरी भार्या है जिसको आज तुम हर ले गये हो । नारद देवर्षि ने उसी समय जाकर वरुण से ऐसा ही कहा और वरुण ने यह उत्तर दिया कि यह मेरी बड़ी प्रिया है । मैं इसे नहीं छोड़ सकता । यह सुन कर नारद महर्षि ने तुरत ही पलट कर उतथ्य महर्षि से खेदपूर्वक यह कहा कि ॥ १९—२१ ॥

हे महामुने ! वरुण ने गले में हाथ लगा कर तुमको फेंक दिया । तुम्हारी भार्या को नहीं देते । अब तुमको जो करना हो करो ॥ २२ ॥ यह सुन कर क्रोध से प्रज्वलित हो उतथ्य महर्षि ने अपने योगबल से तीनों लोकों के सम्पूर्ण जलों को पान कर लिया ॥ २३ ॥ और पान करते समय जलराज वरुण को उनके मित्रों ने बहुत समझाया परन्तु वरुण ने भद्रा को नहीं छोड़ा ॥ २४ ॥ तदनन्तर उतथ्य ने पृथिवी से कहा कि मुझे वरुण के उस पुर को दिखलाओ जिसमें छः सहस्र विद्युत हैं ॥ २५ ॥ तत्पश्चात् समुद्र ने अपने जल को खींचा और सरस्वती नदी से उतथ्य ने कहा कि तुम्हारे नीचे वरुण का पुर है, इसलिये तुम 'मरु' (मणि वार) में चली जाओ, क्योंकि तुम्हारे

अदृश्या गच्छ भीरु त्वं सरस्वति मरून् प्रति ।
अपुण्य एष भवतु देशस्त्यक्तस्त्वया शुभे ॥ २७ ॥
तस्मिन् संशोषिते देशे भद्रामादाय वारिपः ।
अददात् शरणं गत्वा भार्यामाङ्गिरसाय वै ॥ २८ ॥
प्रतिगृह्य तु तां भार्यामुतथ्यः सुमनाऽभवत् ।
मुमोच च जगद्दुःखाद्वरुणञ्चैव हैहय ॥ २९ ॥
ततः स लब्ध्वा तां भार्यां वरुणं प्राह धर्मवित् ।
उतथ्यः सुमहातेजा यत्तत् शृणु नराधिप ॥ ३० ॥
मयैषा तपसा प्राप्ता क्रोशतस्ते जलाधिप ।
इत्युक्त्वा तामुपादाय स्वमेव भवनं ययौ ॥ ३१ ॥
एष राजन्नीदृशो वै उतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमुतथ्यात् क्षत्रियं वरम् ॥ ३२ ॥

अ० १५५, भीष्म०—इत्युक्तः स नृपस्तूष्णीमासीद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन्नगस्त्यस्य माहात्म्यं ब्राह्मणस्य ह ॥ १ ॥
असुरैर्निर्जिता देवा निरुत्साहाश्च ते कृताः ।
यज्ञाश्चैषां हृताः सर्वे पितृणाञ्च स्वधास्तथा ॥ २ ॥
कर्मेज्या मानवानाञ्च दानवैर्हैहयर्षभ ।
भ्रष्टैश्वर्य्यास्ततो देवाश्चेरुः पृथ्वीमिति श्रुतिः ॥ ३ ॥

भाषा

जाने से यह देश जिसमें पाप देश हो जाय। और जब वह देश भी सूख गया तब भयभीत होकर भद्रा को लेकर वरुण देव उतथ्य महर्षि के शरण आये और चरणों में गिर भद्रा को दे दिया ॥२६–२८॥

भार्य्या को पाकर प्रसन्न हो उतथ्य महर्षि ने जगत् को और वरुण को उक्त दुःख से छुड़ा दिया ॥ २९ ॥ हे नराधिप ! तदनन्तर धर्मज्ञ उतथ्य महर्षि ने वरुण से जो कहा सो सुनो ॥ ३० ॥

उतथ्य०—हे जलराज ! तुम चिल्लाते ही रह गये परन्तु मैंने अपने तपोबल से इस भद्रा को ले ही लिया। ऐसा कह भद्रा को साथ ले उतथ्य मुनि अपने आश्रम को चले गये ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण में उत्तम यह उतथ्य ऐसे हैं, जिनको मैं कह रहा हूँ। तुम भी किसी क्षत्रिय का नाम लो जो उतथ्य से श्रेष्ठ हो ॥ ३२ ॥

यह सुन कर अर्जुन चुप रहा और वायु ने पुनः कहा कि हे भीष्म राजन् ! अगस्त्य महर्षि ब्राह्मण का माहात्म्य सुनो ॥ १ ॥ पूर्व समय में देवता लोग असुरों से हार गये और असुरों ने देवताओं का यज्ञ भाग, पितरों का श्राद्ध भाग और मनुष्यों का कर्म फल सब हरण कर लिया और ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो देवता पृथिवी में इधर उधर भ्रमण करते थे ॥ २ ॥ ३ ॥ तदनन्तर किसी समय देव-

ततः कदाचित्ते राजन् दीप्तमादित्यवर्चसम् ।
ददृशुस्तेजसा युक्तमगस्त्यं विपुलव्रतम् ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तु तं देवाः पृष्ट्वा कुशलमेव च ।
इदमूचुर्महात्मानं वाक्यं काले जनाधिप ॥ ५ ॥

दानवैर्युधि भग्नाः स्म तथैश्वर्याच्च भ्रंशिताः ।
तदस्मान्नो भयात्तीव्रात्त्राहि त्वं मुनिपुङ्गव ॥ ६ ॥

इत्युक्तः स तदा देवैरगस्त्यः कुपितोऽभवत् ।
प्रजज्वाल च तेजस्वी कालाग्निरिव संक्षये ॥ ७ ॥

तेन दीप्तांशुजालेन निर्दग्धा दानवास्तदा ।
अन्तरिक्षान्महाराज निपेतुस्ते सहस्रशः ॥ ८ ॥

दह्यमानास्तु दैत्यास्ते तदाऽगस्त्यस्य तेजसा ।
उभौ लोकौ परित्यज्य ययुः काष्ठान्तु दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

बलिस्तु यजते यज्ञमश्वमेधं महीं गतः ।
येऽन्येऽधःस्था महीस्थाश्च ते न दग्धा महासुराः ॥ १० ॥

ततो लोकाः पुनः प्राप्ताः सुरैः शान्तभयैर्नृप ।
अथैनमब्रुवन् देवा भूमिष्ठानसुरान् जहि ॥ ११ ॥

इत्युक्तः प्राह वै देवान्न शक्तोऽस्मि महीगतान् ।
दग्धुं तपो हि क्षीयेन्मे न शक्ष्यामीति पार्थिव ॥ १२ ॥

भाषा

ताओं ने तपस्वी और सूर्य के तुल्य प्रकाशमान अगस्त्य महर्षि को देखा ॥ ४ ॥ उनको प्रणाम कर कुशल प्रश्न के अनन्तर अवसर पाकर देवताओं ने उन महर्षि से यह निवेदन किया कि ॥५॥ हे मुनिपुङ्गव ! हम दैत्यों से हार गये और ऐश्वर्य्य से भ्रष्ट हो गये, इसलिये इस महाभय से आप हमारी रक्षा करें ॥ ६ ॥ इस निवेदन को सुनते ही अगस्त्य मुनि को कोप उत्पन्न हुआ और प्रलय काल के अग्नि की जितनी ऊँची ज्वाला होती है, उतनी ऊँची ज्वाला उनके शरीर से निकलने लगी । उसी ज्वाला से जल २ कर अनेक सहस्रों दैत्य आकाश से गिरने लगे । यहाँ तक कि अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक दैत्यों से खाली हो गया और देवताओं का राज्य उन लोकों में हो गया ॥ ७—९ ॥

उस समय इस भूलोक में राजा बलि अश्वमेध यज्ञ करते थे । और भी बहुत से दैत्य इस लोक में थे तथा पाताल लोक में भी बहुत से दैत्य थे । वे जलने से बच गये ॥ १० ॥ तदनन्तर पुनः देवताओं ने अगस्त्य मुनि से यह प्रार्थना किया कि भूलोक और पाताल लोक के दैत्यों को भी मारिये । अगस्त्य महर्षि ने कहा कि मैं इनको नहीं मार सकता, क्योंकि यदि ऐसा करूँ तो अधिक व्यय होने के कारण मेरा तपोबल बहुत कम हो जायगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ हे राजन् ! अगस्त्य

एवं दग्धा भगवता दानवाः स्वेन तेजसा ।
अगस्त्येन तदा राजन् तपसा भावितात्मना ॥ १३ ॥
ईदृशश्चाप्यगस्त्यो हि कथितस्ते मयाऽनघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमगस्त्यात् क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

भीष्म०—इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् वसिष्ठस्य मुख्यं कर्म यशस्विनः ॥ १५ ॥
आदित्याः सत्रमासन्त सरो वै मानसं प्रति ।
वसिष्ठं मनसा गत्वा ज्ञात्वा तत्तस्य गौरवम् ॥ १६ ॥
यजमानांस्तु तान् दृष्ट्वा सर्वान् दीक्षानुकर्शितान् ।
हन्तुमैच्छन्त शैलाभाः खलिनो नाम दानवाः ॥ १७ ॥
अदूरात्तु ततस्तेषां ब्रह्मदत्तवरं सरः ।
हता हता वै तत्रैते जीवन्त्याप्लुत्य दानवाः ॥ १८ ॥
ते प्रगृह्य महाघोरान् पर्वतान् परिघान् द्रुमान् ।
व्यक्षोभयन्त सलिलमुत्थितं शतयोजनम् ॥ १९ ॥
अभ्यद्रवन्त देवांस्ते सहस्राणि दशैव हि ।
ततस्तैरर्दिता देवाः शरणं वासवं ययुः ॥ २० ॥
स च तैर्व्यथितः शक्रो वसिष्ठं शरणं ययौ ।
ततोऽभयं ददौ तेभ्यो वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २१ ॥

भाषा

भगवान् ने अपने तपोबल से दैत्यों को ऐसे जला कर नाश कर दिया जैसा कि मैंने तुमसे कहा और यह अगस्त्य महर्षि ब्राह्मण ऐसे हैं जैसा कि मैं कहता हूँ। तुम भी किसी क्षत्रिय का नाम लो जो अगस्त्य महर्षि से श्रेष्ठ हो। भीष्म के इस वचन को सुनकर अर्जुन चुप रहे और वायु ने पुनः कहा कि हे राजन्! वसिष्ठ महर्षि का मुख्य कर्म सुनो ॥ १३—१५ ॥

मानस सरोवर के समीप अदिति के पुत्रों ने सत्र नामक यज्ञ आरम्भ किया ॥ १६ ॥ यज्ञ की दीक्षा से थके हुए उन यजमानों को खलिन नामक दैत्यों ने मारना चाहा क्योंकि जहाँ वे यज्ञ करते थे वहाँ से थोड़ी ही दूर पर वह सरोवर था जिसमें ब्रह्मा के वर के अनुसार मरे २ दैत्य डाल दिये जाते थे और वे पुनः जीवित होकर निकल आते थे ॥ १७ ॥ १८ ॥

उस सर के भीतर से खलिन नामक दश सहस्र दैत्य निकले जिनके वेग से उस सर का जल चार सौ कोस ऊपर तक लहर खाने लगा और बड़े भयानक पर्वतों और वृक्षों तथा परिघों को हाथों में ले लेकर उन सबने उन देवताओं को मारा और वे देवता इन्द्र को अगाड़ी कर भगवान् वसिष्ठ महर्षि के शरण गये और उन्होंने उन देवताओं को अभय दिया ॥ १९—२१ ॥

तदा तान् दुःखितान् ज्ञात्वा आनृशंस्यपरो मुनिः।
अयत्नेनादहत् सर्वान् खलिनः स्वेन तेजसा ॥ २२ ॥
कैलासं प्रस्थितांश्चैव नदीं गङ्गां महातपाः।
आनयत्तत् सरो दिव्यं तया भिन्नञ्च तत्सरः ॥ २३ ॥
सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत्।
हताश्च खलिनो यत्र स देशः खलिनोऽभवत् ॥ २४ ॥
एवं सेन्द्रा वसिष्ठेन रक्षितास्त्रिदिवौकसः।
ब्रह्मदत्तवराश्चैव हता दैत्या महात्मना ॥ २५ ॥
एतत् कर्म वसिष्ठस्य कथितं हि मयाऽनघ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं वसिष्ठात् क्षत्रियं वरम् ॥ २६ ॥

अ० १५६, भीष्म०—इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत्।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ कर्मात्रेः सुमहात्मनः ॥ १ ॥
घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥
अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः।
देवा नृपतिशार्दूल सहैव बलिभिस्तदा ॥ ३ ॥
असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणप्राणा दिवौकसः।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥

भाषा

उन देवताओं को दुःखित देख कर दयालु वसिष्ठ मुनि ने अपने तपोबल से सहज में उन सब खलिन दैत्यों का नाश कर दिया ॥ २२ ॥ और कैलास को गई हुई गङ्गा नदी को वहाँ से लाकर उस नदी से दैत्यों के उस सर को तोड़वा डाला और दैत्यों के उसी सर के तोड़ने से उस नदी का नाम सरयू पड़ा और खलिन वहाँ मारे गये, इसी से उस देश का नाम खलिन प्रसिद्ध हुआ। इससे सरयू नदी को आज तक वासिष्ठी कहते हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ इस प्रकार से इन्द्र सहित देवता वसिष्ठ से रक्षित हुये और ब्रह्मा से वर पाने वाले दैत्य मारे गये ॥ २५ ॥ हे राजन्! इस वसिष्ठ के कर्म को मैंने कहा और ब्राह्मण के अन्य कर्मों को भी कहता हूँ अथवा आप ही किसी क्षत्रिय को कहिये जो वसिष्ठ से श्रेष्ठ हो ॥ २६ ॥

अ० १५६, भीष्म०—वायु का ऐसा वचन सुन अर्जुन चुप रहे और वायु ने पुनः कहा कि हे राजन्! महात्मा अत्रि महर्षि का कर्म सुनो ॥ १ ॥

एक समय घोर अन्धकार में देवता और दैत्य घोर युद्ध करते थे अर्थात् उस समय स्वर्भानु नामक दैत्य ने चन्द्रमा और सूर्य को बाणों से मारकर प्रकाश से हीन कर दिया और तदनन्तर अन्धकारप्रिय दैत्यों ने देवताओं को ऐसा मारा कि क्षीण प्राण होकर भागे और आगे जाकर तपस्या करते हुये अत्रि महर्षि को देखा ॥ २—४ ॥ उनसे कहा कि हे प्रभो! दैत्यों ने सूर्य और चन्द्रमा

अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम् ।
असुरैरिपुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ ॥ ५ ॥
वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते ।
नाधिगच्छाम शान्तिञ्च भयात्त्रायस्व नः प्रभो ॥ ६ ॥
अत्रि०—कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्तदाऽत्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ।
अभवत् सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा जातिप्रभं सोमं तथा सूर्यञ्च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥
जगद्वितिमिरं चापि प्रकाशमकरोत्तदा ।
व्यजयच्छत्रुसङ्घांश्च देवानां स्वेन तेजसा ॥ १० ॥
अत्रिणा दह्यमानांस्तान् दृष्ट्वा देवा महासुरान् ।
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यत्यघ्नन्नत्रिरक्षिताः ॥ ११ ॥
उद्भासितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः ।
अत्रिणा त्वथ सामर्थ्यं कृतमुत्तमतेजसा ॥ १२ ॥
द्विजेनाग्निद्वितीयेन जपता चर्मवाससा ।
फलभक्षेण राजर्षे पश्य कर्मात्रिणा कृतम् ॥ १३ ॥
अस्यापि विस्तरेणोक्तं कर्मात्रेः सुमहात्मनः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमत्रितः क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

भाषा

को वाणों से मार कर मूर्च्छित कर दिया । हम लोग इस अन्ध असूझ अन्धकार में दैत्यों के हाथ से अनाथ से मारे जा रहे हैं । कोई दूसरा शरण नहीं सूझ पड़ता । इस महाभय से आप हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥ ६ ॥

अत्रि०—आपकी मैं किस प्रकार से रक्षा करूँ ? देवता०—आप सूर्य और चन्द्रमा होकर हमारे शत्रुहन्ता हो जायँ । तदनन्तर अत्रि महर्षि ने सूर्य और चन्द्रमा को मन्द देख कर अपने तपोबल से अन्धकार को नाश कर गगन को प्रकाशित कर दिया और इतना ही नहीं किन्तु उस प्रकार के सन्ताप से दैत्यों को जलते देख देवताओं ने अपने पराक्रम से भी दैत्यों को मारा और तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्य में भी प्रकाश आ गया ॥ ७—१२ ॥

हे राजन् ! अग्नि के समीप जप करते हुये फलों के खाने वाले और मृगचर्म ओढ़ने वाले अकेले अत्रि महर्षि ब्राह्मण ने सहज में यह काम कर दिया जो कि मैंने तुमसे कहा और पुनः भी कहता हूँ अथवा तुम्हीं उस क्षत्रिय को कहो जो अत्रि से श्रेष्ठ हो ॥ १३ ॥ १४ ॥

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् महत् कर्म च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम् ।
प्रोवाच सहितो देवैः सोमपावश्विनौ कुरु ॥ १६ ॥

इन्द्र०—अस्माभिर्वर्जितावेतौ भवेतां सोमपौ कथम् ।
देवैर्न संसितावेतौ तस्मान्मैवं वदस्व नः ॥ १७ ॥
अश्विभ्यां सह नेच्छामः सोमं पातुं महाव्रत ।
यदन्यद्वक्ष्यसे विप्र तत् करिष्यामि ते वचः ॥ १८ ॥

च्यवन०—पिबेतामश्विनौ सोमं भवद्भिः सहिताविमौ ।
उभावेतावपि सुरौ सूर्यपुत्रौ सुरेश्वर ॥ १९ ॥
क्रियतां मद्वचो देवा यथा वै समुदाहृतम् ।
एतद्वः कुर्वतां श्रेयो भवेन्नैतदकुर्वताम् ॥ २० ॥

इन्द्र०—अश्विभ्यां सह सोमं वै न पास्यामि द्विजोत्तम ।
पिबन्त्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे ॥ २१ ॥

च्यवन०—न चेत्करिष्यसि वचो मयोक्तं बलसूदन ।
मया प्रमथितः सद्यः सोमं पास्यसि वै मखे ॥ २२ ॥

भाषा

ऐसा सुन अर्जुन चुप रहे और वायु ने पुनः कहा कि हे राजन् ! च्यवन महात्मा का महान् कर्म सुनो कि ॥ १५ ॥ उन्होंने अश्विनी कुमार अर्थात् स्वर्ग के दोनों वैद्यों से यह प्रतिज्ञा किया कि मैं तुमको सोमप अर्थात् यज्ञों में देवताओं के साथ सोमलता के अभिमन्त्रित रस का पान करने वाला कर दूँगा क्योंकि वैद्य होने के कारण ये दोनों देवता सोमप न थे। और तदनन्तर इन्द्र से कहा कि आप सब देवताओं को साथ लेकर अश्विनी कुमारों को सोमप कर लीजिये ॥ १६ ॥

इन्द्र०—हे महाव्रत ! हम लोगों में ये दोनों निन्दित हैं। तथा देवताओं के तुल्य नहीं हैं, इसलिये आप ऐसा न कहिये। इन दोनों के साथ हम सोम पीना नहीं चाहते। हे विप्र ! जो अन्य काम आप कहेंगे उसमें हम आपका वचन पालन करेंगे ॥ १७ ॥ १८ ॥

च्यवन०—हे सुरेश्वर ! ये दोनों भी देवता और सूर्य के पुत्र हैं। आप के साथ ये भी सोमपान करें। हे देवगण ! इतना हमारा कहा किया जाय क्योंकि इसके करने में आप का कल्याण है और न करने में नहीं ॥ १९ ॥ २० ॥

इन्द्र०—हे द्विजोत्तम ! मैं तो इन दोनों के साथ सोम न पीऊँगा और अन्य देवता चाहे पीवें परन्तु मैं नहीं पी सकता ॥ २१ ॥

च्यवन०—हे बलसूदन यदि आप मेरा कहा न करेंगे तो आप को थोड़े ही दिनों में दुर्दशा के साथ यज्ञ में इनके साथ सोम पीना पड़ेगा ॥ २२ ॥

वायु०—ततः कर्म समारब्धं हिताय सहसाश्विनोः ।
च्यवनेन ततो मन्त्रैरभिभूताः सुराऽभवन् ॥ २३ ॥
तत्तु कर्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोधमूर्च्छितः ।
उद्यम्य विपुलं शैलं च्यवनं समुपाद्रवत् ॥ २४ ॥
तथा वज्रेण भगवानमर्षाकुललोचनः ।
तमापतन्तं दृष्ट्वैव च्यवनस्तपसान्वितः ॥ २५ ॥
अद्भिः सिक्त्वास्तम्भयत्तं सवज्रं सहपर्वतम् ।
अथेन्द्रस्य महाघोरं सोऽसृजच्छत्रुमेव हि ॥ २६ ॥
मदं नामाहुतिमयं व्यादितास्यं महामुनिः ।
तस्य दन्तसहस्रन्तु बभूव शतयोजनम् ॥ २७ ॥
द्वियोजनशतास्तस्य दंष्ट्राः परमदारुणाः ।
हनुस्तस्याऽऽविशद्भूमावेका चास्याविशद्दिवम् ॥ २८ ॥
जिह्वामूले स्थितास्तस्य सर्वे देवाः सवासवाः ।
तिमेरास्यमनुप्राप्ता यथा मत्स्या महार्णवे ॥ २९ ॥
ते संमन्त्र्य ततो देवा मदस्यास्यसमीपगाः ।
अब्रुवन् सहिताः शक्रं प्रणमास्मै द्विजातये ॥ ३० ॥
अश्विभ्याम् सह सोमञ्च पिबामो विगतज्वराः ।
ततः स प्रणतः शक्रश्चकार च्यवनस्य तत् ॥ ३१ ॥

भाषा

वायु०—ऐसा कहकर च्यवन महर्षि ब्राह्मण ने अश्विनीकुमारों के हित के लिये यज्ञ को आरम्भ ही तो कर दिया और मन्त्रों के प्रताप से देवताओं को अपने वश में न रहने दिया ॥ २३ ॥

उस यज्ञ को आरम्भ होता हुआ देख क्रोध से मूर्च्छित होकर एक हाथ में वज्र और दूसरे हाथ से पर्वत लेकर च्यवन के ऊपर इन्द्र दौड़े। च्यवन ने उनको देख कर उन पर मन्त्र से जल का छींटा मारा जिससे पर्वत और वज्र लिये हाथों को उठाये इन्द्र चित्रलिखित ऐसे स्तम्भित हो गये। अनन्तर मन्त्रपूर्वक अग्नि में आहुति देकर महा भयानक और मुख बाये हुए 'मद' नामक इन्द्र के शत्रु को महामुनि ने उत्पन्न कर दिया जिसके मुख में चार २ सौ कोश के सहस्र दन्त थे और चौभड़ आठ २ सौ कोश की। उस मुख के नीचे का हनु पृथ्वी में था और ऊपर का हनु स्वर्गलोक का स्पर्श करता था ॥ २४—२८ ॥ और जैसे महा समुद्र में तिमि (महामत्स्य) के मुख में क्षुद्र मत्स्य पड़ते हैं वैसे ही उस मुख के जिह्वामूल में इन्द्रसहित सब देवता पड़ गये ॥ २९ ॥

तदनन्तर सब देवताओं ने इन्द्र से कहा कि आप इस ब्राह्मण को प्रणाम कीजिये और हम हर्षपूर्वक अश्विनीकुमारों के साथ सोम को पीवेंगे। तत्पश्चात् इन्द्र ने वैसा ही किया ॥३०॥३१॥ तदनन्तर

च्यवनः कृतवानेतावश्विनौ सोमपायिनौ ।
ततः प्रत्याहरत् कर्म मदञ्च व्यभजन्मुनिः ॥ ३२ ॥
अक्षेषु मृगयायाञ्च पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ।
एतैर्दोषैर्नरा राजन् क्षयं यान्ति न संशयः ॥ ३३ ॥
तस्मादेतान्नरो नित्यं दूरतः परिवर्जयेत् ।
एतत्ते च्यवनस्यापि कर्म राजन् प्रकीर्तितम् ॥ ३४ ॥
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं क्षत्रियं ब्राह्मणाद्वरम् ॥ ३५ ॥
अनु० १५७, भीष्म०—तूष्णीमासीदर्जुनस्तु पवनस्त्वब्रवीत् पुनः ।
शृणु मे ब्राह्मणेष्वेव मुख्यं कर्म जनाधिप ॥ १ ॥
मदस्यास्यमनुप्राप्ता यदा सेन्द्रा दिवौकसः ।
तदेव च्यवनेनेह हृता तेषां वसुन्धरा ॥ २ ॥
उभौ लोकौ हृतौ मत्वा ते देवा दुःखिता भृशम् ।
शोकार्त्ताश्च महात्मानं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ ३ ॥
देवा०—मदास्यव्यतिषिक्तानामस्माकं लोकपूजित ।
च्यवनेन हृता भूमिः कपैश्चैव दिवं प्रभो ॥ ४ ॥
ब्रह्मो०—गच्छध्वं शरणं विप्रानाशु सेन्द्रा दिवौकसः ।
प्रसाद्य तानुभौ लोकाववाप्स्यथ यथा पुरा ॥ ५ ॥

भाषा

अश्विनीकुमारों को सोमप बनाकर उस यज्ञ को महामुनि ने समाप्त किया और मद के अंशों को भी द्यूत, मृगया, मद्यपान और स्त्रियों में विभाग कर दिया क्योंकि इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि इन दोषों से मनुष्यों का नाश होता है । इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि दूर ही से इन दोनों का परिहार करें ॥ ३२—३४ ॥ हे राजन् ! च्यवन महर्षि का भी यह कर्म मैंने तुमसे कह दिया और पुनः कहता हूं अथवा तुम ब्राह्मण से श्रेष्ठ किसी क्षत्रिय को कहो ॥ ३५ ॥

अ० १५७, भीष्म०—यह सुनकर अर्जुन चुप रहे और वायु ने पुनः कहा कि हे जनाधिप ! ब्राह्मणों ही का मुख्य कर्म सुनो कि ॥ १ ॥ जिस समय इन्द्रसहित देवता पूर्वोक्त मद के मुख में पड़ गये थे उसी समय च्यवन महर्षि ने देवताओं के दोनों लोक अर्थात् भूलोक और स्वर्गलोक के राज्य को हरण कर लिया और (कप) नामक दैत्यों ने इन लोकों को अपने वश में कर लिया ॥ २ ॥ मद के मुख से बचने के अनन्तर देवताओं ने इस कर्म को देखा और शोकयुक्त हो श्री ब्रह्मदेव की शरण में गये ॥ ३ ॥

देवता०—हे लोकपूज्य ! मद के मुख में पड़ हुये हम लोगों के दोनों लोकों को च्यवन ने हरण कर लिया और उन लोकों को कपों ने अपने वश कर लिया ॥ ४ ॥

ब्रह्म०—हे इन्द्रसहित देव ! तुम तुरित ही ब्राह्मणों की शरण में जाव, उनको प्रसन्न कर पुनः अपने लोकों को पाओगे ॥ ५ ॥ तत्पश्चात् वे देवता ब्राह्मणों के शरण गये और उनको प्रसन्न कर

ते ययुः शरणं विप्रानूचुस्ते कान् जयामहे।
इत्युक्तास्ते द्विजान् प्राहुर्जयतेह कृपानिति॥ ६ ॥
भूगतान् हि विजेतारो वयमित्यब्रुवन् द्विजाः।
ततः कर्म समारब्धं ब्राह्मणैः कृपनाशनम्।
तच्छ्रुत्वा प्रेषितो दूतो ब्राह्मणेभ्यो धनीकृपैः॥ ७ ॥
भूगतान् ब्राह्मणानाह धनीकृपवचो यथा।
भवद्भिः सदृशाः सर्वे कृपाः किमिह वर्तते॥ ८ ॥
सर्वे वेदविदः प्राज्ञाः सर्वे च क्रतुयाजिनः।
सर्वे सत्यव्रताश्चैव सर्वे तुल्या महर्षिभिः॥ ९ ॥
श्रीश्चैव रमते तेषु धारयन्ति श्रियञ्च ते।
वृथा दारान्न गच्छन्ति वृथा मांसं न भुञ्जते॥ १० ॥
दीप्तमग्निं जुह्वते च गुरूणां वचने स्थिताः।
सर्वे च नियतात्मानो बालानां संविभागिनः॥ ११ ॥
उपेत्य शनकैर्यान्ति न सेवन्ति रजस्वलाम्।
स्वर्गतिश्चैव गच्छन्ति तथैव शुभकर्मिणः॥ १२ ॥
अभुक्तवत्सु नाश्नन्ति गर्भिणीवृद्धकादिषु।
पूर्वाह्णेषु न दीप्यन्ति दिवा चैव न शेरते॥ १३ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्गुणैर्युक्तान् कथं कृपान्।
विजेष्यथ निवर्तध्वं निवृत्तानां शुभं हि वः॥ १४ ॥

भाषा

पूछा कि हम किनको विजय करें ? ब्राह्मणों ने कहा कि स्वर्गलोक के कृपों को तुम विजय करो और भूलोक के कृपों को हम विजय करेंगे और ऐसा कह कृपों के नाश के लिये ब्राह्मणों ने यज्ञ प्रारम्भ किया॥ ६ ॥ ७ ॥

इस समाचार को सुन कृपों ने धनी नामक दूत को प्रेषण किया। उसने आकर ब्राह्मणों से कहा कि॥ ८ ॥ जैसे आप हैं वैसे ही सब कृप हैं, क्योंकि वे सब वेद जानते हैं और पण्डित हैं, यज्ञ करते हैं, और सत्य ही बोलते हैं। लक्ष्मी उन पर प्रसन्न हैं और वे लक्ष्मी को धारण करते हैं। ऋतुकाल से अन्य काल में अपनी स्त्रियों के पास नहीं जाते। यज्ञ से अन्यत्र मांस नहीं खाते, अग्निहोत्र प्रतिदिन करते हैं, गुरुओं के वचन में स्थित रहते हैं, इन्द्रियों के वश में नहीं रहते और बालकों तक सबके अंशों का उचित विभाग करते हैं। रजस्वलाओं के समीप गमन नहीं करते और अपने शुभ कर्मों से स्वर्ग का फल भोग रहे हैं। गर्भिणी, वृद्ध, बाल आदि को भोजन कराये बिना अपने भोजन नहीं करते। दिन के प्रथम पहर में क्रीड़ा नहीं करते किन्तु अपना धर्म कर्म ही करते हैं। दिन को शयन नहीं करते, और ऐसे ऐसे बहुत से अन्यान्य गुण भी कृपों में हैं। तब कैसे आप कृपों को विजय करेंगे ? इसलिये यदि आप इस कर्म से निवृत्त हो जायँ तभी आपको सुख है॥९—१४॥

ब्राह्मणा०—कपान् वयं विजेष्यामो ये देवास्ते वयं स्मृताः ।
तस्माद्वध्याः कपास्माकं धनिन् याहि यथाऽऽगतम् ॥ १५ ॥
धनी गत्वा कपानाह न वो विप्राः प्रियङ्कराः ।
गृहीत्वाऽस्त्राण्यतो विप्रान् कपाः सर्वे समाद्रवन् ॥ १६ ॥
समुदग्रध्वजान् दृष्ट्वा कपान् सर्वे द्विजातयः ।
व्यसृजन् ज्वलितानग्नीन् कपानां प्राणनाशनान् ॥ १७ ॥
ब्रह्मसृष्टा हव्यभुजः कपान् हत्वा सनातनाः ।
नभसीव यथाभ्राणि व्यराजन्त नराधिप ॥ १८ ॥
हत्वा वै दानवान् देवाः सर्वे सम्भूय संयुगे ।
ते नाभ्यजानन् हि तदा ब्राह्मणैर्निहतान् कपान् ॥ १९ ॥
अथागम्य महातेजा नारदोऽकथयद्विभो ।
यथा हता महाभागैस्तेजसा ब्राह्मणैः कपाः ॥ २० ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा प्रीताः सर्वे दिवौकसः ।
प्रशशंसुर्द्विजांश्चापि ब्राह्मणांश्च यशस्विनः ॥ २१ ॥
तेषां तेजस्तथा वीर्यं देवानां ववृधे ततः ।
अवाप्नुवंश्चामरत्वं त्रिषु लोकेषु पूजितम् ॥ २२ ॥
इत्युक्तवचनं वायुमर्जुनः प्रत्युवाच ह ।
प्रतिपूज्य महाबाहो यत्तच्छृणु नराधिप ॥ २३ ॥
अर्जुन०—जीवाम्यहं ब्राह्मणार्थे सर्वथा सततं प्रभो ।
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणेभ्यश्च प्रणमामि च नित्यशः ॥ २४ ॥

भाषा

ब्राह्मण—हम कपों को विजय करेंगे । वे हमारे वध्य हैं क्योंकि जो देवता हैं वह हम हैं । हे धनी ! तू वैसे आया चला जा ॥ १५ ॥ धनी ने जाकर कपों से कहा कि ब्राह्मण लोग तुम्हारे हितकारी नहीं हैं । तदनन्तर वे सब अस्त्रों को ले ले कर ब्राह्मणों पर दौड़े ॥ १६ ॥ उनको देख सब ब्राह्मणों ने कपों के प्राणनाश के लिये प्रज्वलित अग्नियों को उत्पन्न किया और अग्नियों ने कपों को भस्म कर दिया ॥ १७ ॥ १८ ॥ और देवताओं ने भी स्वर्गलोक के कपों को युद्ध में मारा । तदनन्तर नारद महर्षि के मुख से भूलोक के कपों के भस्म होने का समाचार सुनकर देवताओं ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की ॥ १९—२१ ॥

तत्पश्चात् देवताओं के तेज, वीर्य्य आदि की वृद्धि हुई जिससे उनका अमर होना तीनों लोक में प्रसिद्ध है ॥ २२ ॥

भीष्म०—हे युधिष्ठिर ! ऐसा सुन वायु का पूजन कर अर्जुन ने वायु से जो कहा वह सुनो ॥ २३ ॥

अर्जुन०—हे प्रभो ! सदा मेरा जीवन ब्राह्मणों ही के लिये है । मैं ब्राह्मणों का भक्त हूँ और सदा ब्राह्मणों को प्रणाम करता हूँ और मेरा यह व्रत लोक में बड़ी कीर्ति और यह धर्म का आचरण

दत्तात्रेयप्रसादाच्च मया प्राप्तमिदं बलम् ।
लोके च परमा कीर्तिर्धर्मश्चाचरितो महान् ॥ २५ ॥
अहो ब्राह्मणकर्माणि मया मारुत तत्वतः ।
यथा प्रोक्तानि कार्त्स्न्येन श्रुतानि प्रयतेन च ॥ २६ ॥
वायु०—ब्राह्मणान् क्षात्रधर्मेण पालयस्वेन्द्रियाणि च ।
भृगुभ्यस्ते भयं घोरं तत्तु कालाद्भविष्यति ॥ २७ ॥
अध्या०१५८,युधि०—ब्राह्मणानर्चसे राजन् सततं संशितव्रतान् ।
कन्तु कर्मोदयं दृष्ट्वा तानर्चसि जनाधिप ॥ १ ॥
कां वा ब्राह्मणपूजायां दृष्ट्वा व्युष्टिं महाव्रत ।
तानर्चसि महाबाहो सर्वमेतद्वदस्व मे ॥ २ ॥
भीष्म०—एष ते केशवः सर्वमाख्यास्यति महामतिः ।
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां दृष्टव्युष्टिर्महाव्रतः ॥ ३ ॥
बलं श्रोत्रे वाङ्मनःचक्षुषी च ज्ञानं तथा सविशुद्धं ममाद्य ।
देहन्यासो नातिचिरान्मतो मे न चातितूर्णं सविता प्रयाति ॥ ४ ॥
उक्ता धर्मा ये पुराणे महान्तो राजन् विप्राणां क्षत्रियाणां विशाञ्च ।
तथा शूद्राणां धर्ममुपासते च शेषं कृष्णादुपशिक्षस्व पार्थ ॥ ५ ॥
अहं ह्येनं वेद्मि तत्वेन कृष्णं योऽयं हि यच्चास्य बलं पुराणम् ।
अमेयात्मा केशवः कौरवेन्द्र सोऽयं धर्मं रक्षति संशयेषु ॥ ६ ॥

भाषा

जो कुछ है वह सब भगवान् दत्तात्रेय ब्राह्मण ही के प्रसाद से है ॥ २४ ॥ २५ ॥ हे मारुत ! आपने जो आश्चर्य रूप ब्राह्मणों के कर्म को कहा उसको मैंने सावधानी से सब सुना ॥ २६ ॥

वायु०—अपने क्षत्रिय धर्म से ब्राह्मणों की और अपने इन्द्रियों की रक्षा करो । भृगुवंश से तुमको बड़ा भय है परन्तु काल पाकर वह होगा ॥ २७ ॥

अ० १५८, युधि०—हे राजन् (भीष्म) ! आपने जो अपना सुना हुआ ब्राह्मणपूजा का फल और ब्राह्मणों का महत्व कहा वह मैंने सुना । अब ब्राह्मणपूजा का अपना देखा हुआ फल कहिये ॥ १ ॥ २ ॥

भीष्म०—यह महामति केशव (कृष्ण भगवान्) ब्राह्मणपूजा का अपना देखा हुआ फल तुमसे कहेंगे क्योंकि ॥ ३ ॥ यद्यपि इस समय मेरा बल, कर्ण, वचन, नेत्र और ज्ञान शुद्ध हैं तथापि अब मैं थोड़े ही काल में इस शरीर को छोड़ना चाहता हूँ और इसी से अब मुझे यह ज्ञात होता है कि सूर्य्य की गति अब उतनी तेज नहीं है अर्थात् थोड़ा काल भी मुझे बड़ा ज्ञात होता है ॥ ४ ॥

हे राजन् ! पुराण में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के बड़े २ धर्म कहे थे उनको मैंने सब कह दिया । अब अवशिष्ट धर्मों को तुम कृष्ण से सीखो ॥ ५ ॥ क्योंकि मैं इन कृष्ण को तत्व से जानता हूँ कि जो यह हैं और जो इनका सनातन बल है । हे कौरवेन्द्र ! यह केशव

कृष्णः पृथ्वीमसृजत् खं दिवञ्च कृष्णस्य देहान्मेदिनी सम्बभूव ।
वराहोऽयं भीमबलः पुराणः स पर्वतान् व्यसृजद्वै दिशश्च ॥ ७ ॥

अ० १५६, युधि०—ब्रूहि ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं त्वं मधुसूदन ।
वेत्ता त्वमस्य चार्थस्य वेद त्वां हि पितामहः ॥ १ ॥

वासुदेव०—शृणुष्वावहितो राजन् द्विजानां भरतर्षभ ।
यथा तत्वेन वदतो गुणान् वै कुरुसत्तम ॥ २ ॥
द्वारवत्यां समासीनं पुरा मां कुरुनन्दन ।
प्रद्युम्नः परिपप्रच्छ ब्राह्मणैः परिकोपितः ॥ ३ ॥
किं फलं ब्राह्मणेष्वस्ति पूजायां मधुसूदन ।
ईश्वरत्वं कुतस्तेषामिहैव च परत्र च ॥ ४ ॥
सदा द्विजातीन् संपूज्य किं फलं तत्र मानद ।
एतद्ब्रूहि स्फुटं सर्वं सुमहान् संशयोऽत्र मे ॥ ५ ॥
इत्युक्ते वचने तस्मिन् प्रद्युम्नेन तथा त्वहम् ।
प्रत्यब्रुवं महाराज यत्तच्छृणु समाहितः ॥ ६ ॥
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां रौक्मिणेय निबोध मे ।
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु ॥ ७ ॥
देवतापितृपूजासु सन्तोष्यास्चैव नो द्विजाः ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

भाषा

अमेय-आत्मा (जिनके किसी बात का थाह किसी को नहीं मिलता) हैं इसलिये यह तुम्हारे धर्मसंशयों को दूर करेंगे। यह कृष्ण बड़े बलवान् वराह रूपी पुराने ईश्वर हैं। इन्होंने पृथिवी, स्वर्ग, पर्वत और दिशाओं को उत्पन्न किया है ॥ ६ ॥ ७ ॥

अ० १५८, युधि०—हे मधुसूदन ! ब्राह्मणपूजा का आपने जो फल देखा है वह कहिये क्योंकि पितामह आपको तत्त्व से जानते हैं ॥ १ ॥

वासुदेव०—हे भरतर्षभ ! ब्राह्मणों के गुणों को मैं तत्त्व से कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनिये ॥ २ ॥

एक समय द्वारका में मैं बैठा था और किसी कारण से ब्राह्मणों पर कुपित होकर मेरे ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न ने मुझसे पूछा कि ॥ ३ ॥ ब्राह्मणों की पूजा में क्या फल है ? और क्यों ब्राह्मण इस लोक और परलोक के स्वामी हैं ? तथा ब्राह्मणों का सदा पूजन करने से क्या फल होता है ? यह बड़ा संदेह हमको है, इसको स्पष्ट रूप से आप मुझसे कहिए ॥ ४ ॥ ५ ॥

इस प्रश्न का उत्तर जो मैंने दिया वह सावधान होकर आप सुनें ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण०—हे रुक्मिणी के पुत्र ! ब्राह्मणपूजा का फल सुनो । ये ब्राह्मण, सोमराजक (चन्द्रमा जिनके राजा हैं) दोनों लोकों के सुख और दुःख के स्वामी हैं । हे पुत्र ! इसमें मुझको

अस्मिन् लोके रौक्मिणेय तथाऽमुष्मिंश्च पुत्रक ।
ब्राह्मणप्रभवं सौम्यं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ९ ॥
ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥ १० ॥
तत्कथं वै नाद्रियेयमीश्वरोऽस्मीति पुत्रक ।
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान्प्रति ॥ ११ ॥
ब्राह्मणा हि महद्भूतमस्मिन् लोके परत्र च ।
भस्म कुर्य्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः ॥ १२ ॥
अन्यानपि सृजेयुश्च लोकां लोकेश्वरांस्तथा ।
कथं तेषु न वर्तेरन् सम्यग् ज्ञानाः सुतेजसः ॥ १३ ॥
अवसन्मे गृहे तात ब्राह्मणो हरिपिङ्गलः ।
चीरवासा बिल्वदण्डी दीर्घश्मश्रुः कृशो महान् ॥ १४ ॥
दीर्घेभ्यश्च मनुष्येभ्यः प्रमाणादधिको भुवि ।
सर्वान्संचरतो लोकान् ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ १५ ॥
इमां गाथां गायमानाश्चत्वरेषु सभासु च ।
दुर्वाससं वासयेद् को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ॥ १६ ॥
रोषणः सर्वभूतानां सूक्ष्मोऽप्यपकृते कृते ।
परिभाषाश्च मे श्रुत्वा को नु दद्यात् प्रतिश्रयम् ॥ १७ ॥

भाषा

कुछ भी संदेह नहीं है कि जो कुछ कल्याणकारी पदार्थ है उसमें ब्राह्मण ही प्रधान हैं और ब्राह्मण की पूजा से आयु, कीर्ति और बल होता है। सब लोक और सब लोकपाल ब्राह्मणों के पूजक हैं ॥ ९ ॥

त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम,) अपवर्ग (मोक्ष) के कर्मों में और यश, लक्ष्मी, रोगशान्ति तथा देवता और पितर की पूजाओं में इन ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना हमारा कार्य है। हे पुत्र! तब कैसे "मैं ईश्वर हूँ" इस कारण से मैं इन ब्राह्मणों का आदर न करूँ? और तुम भी ब्राह्मणों पर कोप न करो क्योंकि ॥ १० ॥ ११ ॥ ब्राह्मण दोनों लोकों में सब प्राणियों से बड़े हैं, इनको सब प्रत्यक्ष है। ये यदि क्रोध करें तो इस पूर्ण जगत् को भस्म कर दें तथा अन्य लोकों को तथा लोकों के लोकपालों को उत्पन्न कर दें, तो बड़े २ ज्ञानी और तेजस्वी लोग कैसे न इनकी पूजा करें? हे तात! इस विषय में हमारे यहाँ का समाचार सुनो।

एक ब्राह्मण कुछ दिन तक हमारे गृह में रहे। वह हरे और पीले थे तथा लम्बे मनुष्यों से भी अधिक लम्बे, दुबले, बड़ी २ दाढ़ी बढ़ाये, बेल का दण्ड लिये, स्वतन्त्र होकर इस लोक और स्वर्ग लोक में जहाँ चाहते थे स्वतन्त्र विचरते थे और सब चौराहों और सभाओं में यह कहते घूमते थे कि दुर्वासा ब्राह्मण (मुझ) को अपने गृह में कौन सत्कारपूर्वक रख सकता है? क्योंकि थोड़े से भी अपराध पर मुझको बड़ा कोप होता है। और मेरी इस परिभाषा (नियम) को सुन कौन

यो मां कश्चिद्वासयीत न स मां कोपयेदिति ।
यस्मान्नाद्रियते कश्चिचतोऽहं समवासयम् ॥ १८ ॥
स संभुङ्क्ते सहस्राणां बहूनामन्नमेकदा ।
एकदा स्वल्पकं भुङ्क्ते न चैवेति पुनर्गृहान् ॥ १९ ॥
अकस्माच्च प्रहसति तथाऽकस्मात्प्ररोदिति ।
न चास्य वयसा तुल्यः पृथिव्यामभवत्तदा ॥ २० ॥
अथ स्वावसथं गत्वा स शय्यास्तरणानि च ।
कन्याश्चालङ्कृता दग्ध्वा ततो व्यपगतः पुनः ॥ २१ ॥
अथ मामब्रवीद्भूयः स मुनिः संशितव्रतः ।
कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः ॥ २२ ॥
सदैव तु मया तस्य चित्तज्ञेन गृहे जनः ।
सर्वाण्यन्नानि पानानि भक्ष्याश्चोच्चावचास्तथा ॥ २३ ॥
भवन्तु सत्कृतानीह पूर्वमेव प्रचोदितः ।
ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम् ॥ २४ ॥
तं भुक्त्वैव तु स क्षिप्रं ततो वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह ॥ २५ ॥
अविमृश्यैव च ततः कृतवानस्मि तत्तथा ।
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम् ॥ २६ ॥

भाषा

मुझे स्थान दे सकता है ? जो कोई अपने गृह में मुझे वास करावे वह मुझसे कोप न करावे इति । उनकी इस बात को सुन कर कोई उनको अपने यहाँ स्थान नहीं देता था, इसलिये मैंने उनको अपने गृह में रक्खा ॥ १२—१८ ॥

उनकी यह दशा थी कि किसी समय अनेक सहस्रों मनुष्यों के भोज्य अन्नों को भोजन कर जाते थे और किसी समय बहुत अल्प ही भोजन करते थे, किसी दिन वे निकल जाते थे तो मेरे गृह आते ही न थे और कई दिन गृह ही में रातदिन बने रहते थे । अकस्मात् हँसते और अकस्मात् रोते थे और उस समय उनकी अवस्था का वृद्ध कोई, पृथिवी में नहीं था ॥ १९ ॥ २० ॥

एक समय जिस गृह में वे रहते थे उस गृह को, शय्या और आस्तरण (बिछौना) सहित और जो अलङ्कृत कन्यायें उनकी सेवा में रहती थीं उनको भी जलाकर आप चले गये और पुनः आकर मुझसे कहा कि हे कृष्ण ! मैं अभी उष्ण खीर खाया चाहता हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥ मैं उनका मन जानता था, इसी से गृह में सब प्रकार की वस्तुओं को सदा प्रस्तुत रखता था और उसी समय मैंने उष्ण खीर उनके सामने रख दिया । उन्होंने थोड़ा खाकर मुझसे कहा कि इस जूठी खीर को अभी अपने सब शरीर में लेप करो और मैंने बिना विचारे उस समय वैसाही किया । तदनन्तर तुम्हारी माता रुक्मिणी मुस्कराती हुई वहाँ खड़ी थी, उसको देख मुनि ने उसके सर्वाङ्ग में भी मुझसे वस

स ददर्श तदाभ्याशे मातरन्ते शुभाननाम् ।
तामपि स्मयमानां स पायसेनाभ्यलेपयत् ॥ २७ ॥
मुनिः पायसदिग्धाङ्गीं रथे तूर्णमयोजयत् ।
तमारुह्य रथञ्चैव निर्ययौ च गृहान्मम ॥ २८ ॥
अग्निवर्णो ज्वलन् धीमान् स द्विजो रथधुर्य्यवत् ।
प्रतोदेनातुदद्बालां रुक्मिणीं मम पश्यतः ॥ २९ ॥
न च मे स्तोकमप्यासीदुःखमीर्ष्याकृतं तदा ।
तथा स राजमार्गेण महता निर्ययौ बहिः ॥ ३० ॥
तत् दृष्ट्वा महदाश्चर्य्यं दाशार्हा जातमन्यवः ।
तत्राजल्पन् मिथः केचित् समाभाष्य परस्परम् ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणा एव जायेरन् नान्यो वर्णः कथञ्चन ।
को ह्येनं रथमास्थाय जीवेदन्यः पुमानिह ॥ ३२ ॥
आशीविषविषं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णतरो द्विजः ।
ब्रह्माशीविषदग्धस्य नास्ति कश्चित् चिकित्सकः ॥ ३३ ॥
तस्मिन् व्रजति दुर्द्धर्षे प्रास्खलद्रुक्मिणी पथि ।
तन्नामर्षयत श्रीमांस्ततस्तूर्णमचोदयत् ॥ ३४ ॥
ततः परमसंक्रुद्धो रथात् प्रस्कन्द्य स द्विजः ।
पदातिरुत्पथेनैव प्राद्रवद्दक्षिणामुखः ॥ ३५ ॥
तमुत्पथेन धावन्तमन्वधावं द्विजोत्तमम् ।
तथैव पयसा दिग्धः प्रसीद भगवन्निति ॥ ३६ ॥

भाषा

जूठी खीर का लेप करवाया और तुरित ही उसको ले आकर रथ में जोत दिया और उस रथ पर चढ़ मेरे गृह से निकले ॥ २३—२८ ॥

अग्नि के समान प्रज्वलित और बुद्धिमान् उस ब्राह्मण ने तुम्हारी माता बाला रुक्मिणी को मेरे देखते घोड़े की नाईं कोड़ों से मार कर हाँका परन्तु उस समय मेरे मन में कुछ भी क्रोध न आया और वह ब्राह्मण बड़े राजमार्ग से रथ पर निकले ॥ २९ ॥ ३० ॥ इस बड़े आश्चर्य को देख मेरे भाई-बन्धु क्रोध से अन्योन्य में कहने लगे कि जब हो तब ब्राह्मण ही का जन्म हो और अन्य वर्ण का जन्म कभी न हो क्योंकि ब्राह्मण से अन्य कौन पुरुष यहाँ इस रथ पर चढ़ कर जीवन धारण कर सकता है। उग्र सर्पों का विष सबसे तीक्ष्ण होता है और उससे भी बड़ा तीक्ष्ण ब्राह्मण है क्योंकि ब्राह्मण के विष से जले हुए का कोई चिकित्सक नहीं है ॥ ३१—३३ ॥ कुछ दूर जाकर मार्ग में रुक्मिणी गिर पड़ी और श्रीमान् ब्राह्मण ने पुनः उसको कोड़े लगाया। जब इस पर भी नहीं चल सकी तो बड़ा क्रोध कर वह ब्राह्मण रथ से कूद दक्षिण दिशा की ओर बिना मार्ग ही के चरणों से दौड़े और मैं भी "भगवन्! प्रसन्न होइये" ऐसा कहते उनके पीछे दौड़ा ॥ ३४—३६ ॥

ततो विलोक्य तेजस्वी ब्राह्मणो मामुवाच ह ।
जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज ॥ ३७ ॥
न तेऽपराधमिह वै दृष्टवानस्मि सुव्रत ।
प्रीतोऽस्मि तव गोविन्द वृणु कामान् यथेप्सितान् ॥ ३८ ॥
प्रसन्नस्य च मे तात पश्य व्युष्टिं यथाविधि ।
यावदेवमनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति ॥ ३९ ॥
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति ।
यावच्च पुण्या लोकेषु त्वयि कीर्तिर्भविष्यति ॥ ४० ॥
त्रिषु लोकेषु तावच्च वैशिष्ट्यं प्रतिपत्स्यसे ।
सुप्रियः सर्वलोकस्य भविष्यसि जनार्दन ॥ ४१ ॥
यत्ते भिन्नञ्च दग्धञ्च यच्च किञ्चिद्विनाशितम् ।
सर्वं तथैव द्रष्टासि विशिष्टं वा जनार्दन ॥ ४२ ॥
यावदेतत् प्रलिप्तन्ते गात्रेषु मधुसूदन ।
ततो मृत्युभयं नास्ति यावदिच्छसि चाच्युत ॥ ४३ ॥
न तु पादतले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै ।
नैतन्मे प्रियमित्येव स मां प्रीतोऽब्रवीत्तदा ।
इत्युक्तोऽहं शरीरं स्वं ददर्श श्रीसमायुतम् ॥ ४४ ॥
रुक्मिणीञ्चाब्रवीत्प्रीतः सर्वस्त्रीणां परं यशः ।
कीर्तिञ्चानुत्तमां लोके समवाप्स्यसि शोभने ॥ ४५ ॥
न त्वां जरा वा रोगाश्च वैवर्ण्यञ्चापि भाविनि ।
स्प्रक्ष्यन्ति पुण्यगन्धा च कृष्णमाराधयिष्यसि ॥ ४६ ॥

भाषा

तदनन्तर मुझको देख उस तेजस्वी ब्राह्मण ने कहा कि हे कृष्ण ! तुमने अपने स्वभाव ही से क्रोध को जीत लिया है, इतने दिनों में मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं देखा, मैं प्रसन्न हूँ, मेरी प्रसन्नता का फल देखो। तुम जो चाहो मुझसे लो।

हे जनार्दन ! जैसे अन्न में सब मनुष्यों का प्रीतिभाव होता है वैसे तुम में भी होगा और तीनों लोक में तुम सबसे बड़े और सबके प्रिय होगे तथा तुम्हारी कीर्ति सदा रहेगी॥३७—४०॥ और जो जो तुम्हारी वस्तु मैंने तोड़ दिया, जला दिया, नाश कर दिया, उन सबको तुम वैसाही और उससे भी अच्छा अपनी आँखों से देखोगे और तुम्हारे जितने शरीर में यह जूठी खीर लगी है उतने में मृत्यु का भय नहीं है। किन्तु हे पुत्र ! तुमने अपने चरणों के तलों में क्यों नहीं खीर को लगाया ? इसका खेद हमको है ॥ ४१—४४ ॥

ऐसा सुन मैंने अपने शरीर को देखा तो उसमें खीर नहीं देख पड़ी और शरीर की दुगुनी शोभा देख पड़ी। तदनन्तर प्रसन्न होकर तुम्हारी माता रुक्मिणी से कहा कि सब स्त्रियों से अधिक

षोडशानां सहस्राणां वधूनां केशवस्य ह ।
वरिष्ठा च सलोक्या च केशवस्य भविष्यसि ॥ ४७ ॥
तव मातरमित्युक्त्वा ततो मां पुनरब्रवीत् ।
प्रस्थितः स महातेजा दुर्वासाग्निरिव ज्वलन् ॥ ४८ ॥
एषैव ते बुद्धिरस्तु ब्राह्मणान् प्रति केशव ।
इत्युक्त्वा स तदा विप्रस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४९ ॥
तस्मिन्नन्तर्हिते चाहमुपांशु व्रतमाचरम् ।
यत्किंचित् ब्राह्मणो ब्रूयात् सर्वं कुर्यामिति प्रभो ॥ ५० ॥
एतद्व्रतमहं कृत्वा मात्रा ते सह पुत्रक ।
ततः परमहृष्टात्मा प्राविशं गृहमेव च ॥ ५१ ॥
प्रविष्टे स्वगृहे सर्वमथ पश्यामि तन्नवम् ।
यद्भिन्नं यच्च वै दग्धं तेन विप्रेण पुत्रक ॥ ५२ ॥
ततोऽहं विस्मयं प्राप्तः सर्वं दृष्ट्वा नवं दृढम् ।
अपूजयश्च मनसा रौक्मिणेय सदा द्विजान् ॥ ५३ ॥
इत्यहं रौक्मिणेयस्य पृच्छतो भरतर्षभ ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यस्य सर्वमाख्यातवांस्तदा ॥ ५४ ॥
तथा त्वमपि कौन्तेय ब्राह्मणान् सततं प्रभो ।
पूजयस्व महाभागान् धनैर्गोभिश्च नित्यदा ॥ ५५ ॥
एवं व्युष्टिमहं प्राप्तो ब्राह्मणानां प्रसादजाम् ।
यच्च मामाह भीष्मस्तु तत् सत्यं भरतर्षभ ॥ ५६ ॥

भाषा

तुम्हारा यश होगा और हे शोभने ! भामिनि ! लोक में तुम्हारी बड़ी कीर्ति होगी और तुम्हारे शरीर में वृद्धता रोग अथवा विवर्णता कदापि नहीं स्पर्श करेगी और उत्तम गन्धवाले अपने शरीर से तुम कृष्ण का आराधन करोगी तथा केशव के सोलह सहस्र रानियों में बड़ी और केशव के लोक जाने वाली तुम होगी इति ।

ऐसा तुम्हारी माता से कह कर अग्नि के ऐसे प्रज्वलित महा तेजस्वी दुर्वासा ने पुनः मुझ से कहा कि हे केशव ! ऐसे ही बुद्धि तुम्हारी ब्राह्मणों में बनी रहे । इतना कहकर मुनि देखते ही देखते अन्तर्हित हुए ॥ ४५—४९ ॥ तदनन्तर मैंने यह मानसिक प्रतिज्ञा किया कि जो ही ब्राह्मण कहेंगे वही मैं करूँगा और रुक्मिणी के साथ बड़े हर्ष से गृह में आते ही उस मुनि के जलाये हुए अपने सब वस्तुओं को पूर्व से भी नवीन और दृढ़ देख मैंने बड़े आश्चर्य से अपने मन में ब्राह्मणों की पूजा की । हे भरतर्षभ ! प्रद्युम्न के पूछने पर ब्राह्मण मुख्य का जो माहात्म्य मैंने प्रद्युम्न से कहा था वह आप से कह दिया और ऐसे ही आप भी सदा वचनों और दानों से महाभाग ब्राह्मणों की सदा पूजा किया करें। मैंने ब्राह्मण के प्रसाद का फल यह पाया है, इसी से इन भीष्म ने मुझसे पूछने के लिये तुमसे कहा॥५०—५६॥

यत्तु केचन स्वार्थान्धाः कैश्चिदाधुनिकैर्ब्राह्मणैः कदाचिद्भग्नमनोरथाः सन्तो द्वेषावेशा-द्वदन्ति—भारतसङ्ग्रामानन्तरं कलिकालिकेषु ब्राह्मणेषु गुणानां ह्रासो दोषाणामुद्रेकश्च जात इति। सेयं तेषामुक्तिरेतदनुसारिणी लिपिश्च तेषामेव स्वार्थान्ध्यमतितरां प्रकाशयन्ती हेयैव। तथाहि—भारतयुद्धस्य ब्राह्मणगुणह्रासकारणता न सम्भवति। तत्रैकस्य द्रोणाचार्यस्यैव ब्राह्मणस्य हतत्वात् अन्यब्राह्मणानां याथापूर्व्यस्थ्यात्, प्रत्युत क्षत्रियादीनामेव ततः शरीरतद्गुणादिह्रासो वास्तविको योऽद्य यावदप्यनुवर्त्तमानोऽनुभूयते। किञ्च भारतयुद्धानन्तरमेव हि ब्राह्मणमाहात्म्य-मुपवर्णितं भीष्मेण यदिहैवानन्तरमुद्धृतमस्माभिः। अथ न भारतयुद्धस्य ब्राह्मणगुणह्रासकता-ऽस्माभिरभिप्रेयते, किन्तु तदनन्तरकालिकस्य कलियुगप्रवेशस्यैवेत्युच्यते तदपि निःसारमेव; युगप्रभावस्य सर्ववर्णसाधारण्येन तमादाय ब्राह्मणान् प्रत्याक्षेपे "यत्रोभयो" रितिन्यायेन वर्णान्तरस्यानधिकारात्। अत एव मनुना सर्वयुगसाधारण्येन ब्राह्मणानां प्रशंसा कृता। तद्वाक्यानि तु पूर्वमिहैवोद्धृतानि। तथा आचारकाण्डे १ अध्याये भगवान् पराशरोऽपि—

भाषा

किसी आधुनिक ब्राह्मण से अपने मनोरथ को न होने या भग्न होते देख अपने स्वार्थ के अभि-निवेश से अन्ध होकर कोई २ स्वार्थान्ध मनुष्य जो ऐसा कहते हैं कि भारतयुद्ध से इधर के ब्राह्मणों में गुणों का अति ह्रास और दोषों की अति वृद्धि हो गयी है यह उनकी वाणी उन्हीं के स्वार्थ की अन्धता को प्रकाश करती हुई त्यागने के योग्य है क्योंकि—

१—भारतयुद्ध, ब्राह्मण गुण के ह्रास का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें एक ही ब्राह्मण अर्थात् द्रोणाचार्य की मृत्यु हुई जो कि वृद्धता के कारण उसके योग्य ही थे और उसमें भी पुत्रपुत्र को अपराध मात्र मिला न कि कोई यश।

२—इस युद्ध में अपने अपने दोष की दुर्घटना से क्षत्रिय जाति निःशेष हो गयी और उनके *गुण के ह्रास को कौन कहे शरीरों का भी नाश हो गया क्योंकि उसी कारण से आज तक कोई ऐसा* क्षत्रिय नहीं हुआ जैसा कि भारतयुद्ध में मारे गये थे।

प्रश्न—यदि पूर्वोक्त कथन का यह तात्पर्य लगाया जाय कि कलियुग के आदि में भारतयुद्ध हुआ और तत्पश्चात् ब्राह्मणों में गुणों का ह्रास और दोषों की वृद्धि हुई तो इस कथन में क्या दोष है?

इस प्रश्न के दश उत्तर हैं—

उ० १—इस कथन में ये दोष हैं कि यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि गुणों का प्रभाव सर्व वर्णों पर पड़ता है न कि एक ही वर्ण पर, तो ऐसी दशा में किसी वर्ण को ब्राह्मणों पर ऐसा आक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

उ० २—क्षत्रिय शिरोमणि वेदोक्त महामान्य स्वायम्भुव मनु ने जब साधारण से सब युगों के लिये ब्राह्मण जाति मात्र (गुणी वा गुणहीन वा दुष्ट) को उत्तमोत्तम ही वर्णन किया है तथा दश वर्ष के बालक के ब्राह्मण को भी सौ वर्ष के वृद्ध क्षत्रिय का पिता कहा है—जैसा कि अनेक श्लोक इसी प्रकरण में पूर्व ही उद्धृत हो चुके हैं तो आधुनिक कीट पतङ्ग के तुल्य मनुष्य की उक्त वाणी उन श्लोकों के विरुद्ध होकर कैसे सत्य हो सकती है?

युगे युगे तु ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः ॥

(परा० स्मृ० अ० १ श्लो० ३३)

अत्र माधवः—इदानीं युगसामर्थ्यवर्णनस्य प्रयोजनमाह—युगे युग इति । अपि च, आधुनिका दुःशीला अपि विप्राः सुशीलेभ्योऽपि शूद्रादिभ्यः श्रेष्ठा एव । तथा च स एव ८ अध्याये—

"दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः ।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेत् शीलवतीं खरीम् ॥

अत्र माधवः—ननु यस्मिन् ग्रामे जितेन्द्रियः शास्त्रोक्तस्वधर्मवर्ती शूद्रो विद्यते तत्र पञ्चेन्द्रियरताद्दुःशीलाद्विप्राद्धरं तस्यैव शूद्रस्य परिपत्वमित्यत आह—दुःशीलोऽपीति । 'कः परित्यज्ये'ति दृष्टान्तः । जातिशीलयोर्मध्ये जातिरेव प्राधान्येनोपादेया शीलन्तु यथा सम्भवम् इति ।

किञ्च—वर्षोपवर्षपाणिनिकात्यायनपतञ्जलयोऽप्याधुनिका एव ब्रह्मर्षयो विप्राः न तु भारतयुद्धात्प्राचीनाः तथा भट्टपादभगवत्पादसुरेश्वरपद्मपादविद्यारण्यमाध्वरामानुजवल्लभादय आचार्या भारतयुद्धादतिनवीना विप्रा एव । एवं चाणक्यशवरवराहप्रभाकरमुरारिवाणमयूराभिनवगुप्तकय्यटमम्मटवाचस्पत्युदयनश्रीहर्षगङ्गेश्वरादयः सहस्रशो देवदर्शनाः पण्डितरूपा आधुनिका विप्रा एव । तत्र शवरः पूर्वमीमांसादर्शनभाष्यकारः, प्रभाकरो मुरारिश्च तद्वार्तिककारौ, वराहः संहितादिकारो देववित्प्रवरः, वाणः कादम्बरीहर्षचरितकारः, मयूरः सूर्यशतककारः।

भाषा

उ० ३—पाराशर स्मृति के आचार काण्ड में यह वाक्य है "युगे युगे तु०" जिस २ युग के जो २ स्वभाव हैं तथा जो २ ब्राह्मण हैं उनकी निन्दा पूर्व युग की अपेक्षा से नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे ब्राह्मण स्वतन्त्र न होकर युगों के अधीन होते हैं ।

उ० ४—यदि थोड़े काल के लिये उक्त ग्रन्थ वाणी मान भी ली जाय तो आधुनिक ब्राह्मणों पर किसी अन्य वर्ण का आक्षेप नहीं हो सकता क्योंकि उक्त काण्ड ही में पराशर महर्षि ने यह कहा है कि "दुःशीलोऽपि" ब्राह्मण यदि दुःशील भी हो तो वह पूज्य ही है और शूद्र जितेन्द्रिय भी हो तो वह पूज्य नहीं है, क्योंकि कौन ऐसा होगा कि जो दुष्टा गौ को छोड़ सूधी गर्दभी को दूहैगा इति। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि वास्तविक में गुणों की अपेक्षा जाति का उत्कर्ष अधिक होता है।

उ० ५—वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि ये महर्षि भी भारतयुद्ध के पश्चात् ही के ब्राह्मण हैं जिनका माहात्म्य सूर्यवत् प्रसिद्ध है ।

उ० ६—भट्टपाद (कुमारिल स्वामी) भगवत्पाद (श्री शंकराचार्य) सुरेश्वर पद्मपाद विद्यारण्य, माध्व, रामानुज, वल्लभ आदि आचार्य भी भारतयुद्ध के पश्चात् के ब्राह्मण हैं जिनके तुल्य अन्य वर्ण का मनुष्य आज तक कोई नहीं हुआ और न कलियुग पर्य्यन्त आगे भी होने की सम्भावना ही है ।

उ० ७—चाणक्य, शवर, वराह, प्रभाकर, मुरारि मिश्र, वाण, मयूर, अभिनवगुप्त कय्यट, मम्मट, वाचस्पति, उदयन, श्रीहर्ष, गङ्गेश्वर आदि सहस्रों विद्वान् बड़े २ देवदृष्टि पण्डित थोड़े दिन हुये कि हो चुके हैं, जिनकी ग्रन्थादि रूपी कीर्ति आँख वालों के लिये सूर्यवत् उपकार करती चमक

तथा च काव्यप्रकाशे द्वितीयसूत्रे 'काव्यं शिवेतरक्षतये' इति वाक्यस्य व्याख्यायाम्— 'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्' इत्यत्र आदित्यादेरिति प्रतीकमादाय बालसुबोधिन्याम् १० पत्रे—

मयूरकवेः कुष्ठरोगप्राप्तौ कारणं तु मधुपक्षेश्वरकृतायां सूर्यशतकटीकायामभिहितम् तथाहि—पुरा किल श्रीविक्रमार्कसमयादष्टसप्तयुगरसहस्रसम्मितेषु १०७८ सम्वत्सरेषु व्यतीतेषु सम्प्राप्तोदयस्य श्रीमद्भोजराजस्य समासभरत्नदीपो महाकविर्मयूरो धारानगरीमधिवसति स्म। तस्य च भगिनीपतिः कादम्बरीगद्यप्रबन्धनिर्माता बाणकविः परममित्रमासीत्। अथ कदाचिन्मयूरकविर्निशः प्रान्ते सम्प्राप्तप्रबोधः कतिचित्पद्यानि कवयाञ्चक्रे। तानि चातीव सरसरमणीयान्याकलय्य तदानीमेवोत्कटसमुत्कण्ठावशाभिजसुहृदे बाणकवये निवेदयितुमनास्तदावासभवनमभिजगाम। तत्र च बाणकविर्निजवल्लभां मयूरस्वसारं मानकलुषितां प्रसादयंस्तत्कालकल्पितं "गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव। प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो" इति पादोनं पद्यं पठित्वा चरमचरणसङ्गतिं कल्पयंस्तावदेव पापठ्यांचक्रे। अत्रावसरे घनस्तनितस्येव गम्भीरस्य बाणकविभाषणस्य श्रवणेन विवशान्तःकरणो मयूरकविः स्वप्रतिभाप्रवाहं निरोद्धुमक्षमस्तत्पद्येऽपेक्षितं सुसङ्गतं चतुर्थचरणं "कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्" इत्येवं रूपं केकानिनाद-

भाषा

रही है और ये सब ब्राह्मण ही थे जिनके समान अन्य वर्णों के किसी मनुष्य का नाम भी नहीं लिया जा सकता, तथा अन्यान्य सब वर्ण इनके चरणों को चूमते ही आये हैं। चाणक्य की नीति, बुद्धि और प्रताप जगत्प्रसिद्ध है। शबर स्वामी मीमांसादर्शन के भाष्यकार थे। प्रभाकर गुरु और मुरारि मिश्र उसके वार्तिककार हैं। वराहने वाराहीसंहिता आदि ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों को बनाया है। बाण ने कादम्बरी और हर्षचरित्र बनाया। मयूर के सूर्यशतक से उनका पाण्डित्य प्रसिद्ध है। तथा काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में "*काव्य शिवेतरक्षतये*" इस वाक्य की व्याख्या में "*आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्*" अनर्थ का निवारण भी काव्य का फल है। जैसे कि सूर्य आदि से मयूर आदि का इस वाक्य को लेकर काव्यप्रकाश की बालबोधिनी नामक टीका में सूर्यशतक की टीका का भाग उद्धृत है कि संवत् १०७८ के अनन्तर श्री भोजराज की सभा के रत्नप्रदीप रूपी महाकवि मयूर धारा नगरी में रहते थे और कादम्बरी गद्यग्रन्थ के कर्त्ता बाण कवि उनके भगिनीपति और मित्र थे। एक समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में मयूर कवि ने कई पद्यों की रचना की और उन पद्यों की रमणीयता को देख हर्ष से बहुत ही उत्सुक हो बाण कवि को सुनाने के लिये उसी समय उनके गृह पर चले गये। संयोग से उस समय बाण कवि अपनी प्रिया अर्थात् मयूर की भगिनी को मनाने के लिये तत्क्षण रचना कर गृह के भीतर ही से एक श्लोक के "*गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव। प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो*" हे कृशतनु, रात्रि बीती सी हो गई, चन्द्रमा विशेष से हो रहे हैं, यह दीपक भी मानो निद्रा के वश होकर झपकी ले रहा है, मान (प्रणयकी कोप) प्रणाम ही तक रहता है आश्चर्य है कि इस पर भी तुम कोप को नहीं छोड़ती हो।

मिव मन्द्रमधुरस्वरेणोदीरयामास । तच्छ्रुत्वा सज्जधनुपस्तूर्णं बाणो लक्ष्यमिवायमपि बाणकविर्निजनाम्नोऽन्वर्थता समर्थनाय (इव) लीलासद्मनो झटिति विनिर्गत्य प्राणाधिकं प्रियं सुहृद्वरं मयूरकविं समाजगाम । ततोऽस्या बाणवनिताया रसभङ्गजनितमनःक्षोभवत्याः पातिव्रत्यप्रभावेणाचिरादेव शापतः स मयूरकविः कुष्ठरोगकवलितसर्वाङ्गः संवृत्तः । अथास्य पापरोगस्य समूलमुन्मूलनाय शतसंख्याकहृद्यतमपद्यघटितकाव्यबन्धेन भगवन्तं भास्करदेवं स्तुत्वा तत्प्रसादमहिम्ना प्रनष्टपापरोगः कनकरुचिरगात्रोऽयं मयूरकविः संबभूवेत्येवं तात्पर्यक इतिहासो मेरुतुङ्गाचार्यकृतप्रबन्धचिन्तामण्यादिग्रन्थे स्थितः" इति ॥

अस्यामेव च ब्राह्मण्यामूढायामुत्पन्नाः वत्सगोत्रा मिश्रोपनामानः पयास्यादिग्रामवास्तव्या ब्राह्मणवराः सरयूपारदेशेऽद्य यावदपि प्रसिद्धाः । विश्वसेनोपाह्वक्षत्रियकन्यायां चोढायामस्मादेव प्रसूतात् मध्यमस्त्री नरपतिप्रभृतयो मातृजातीयाः क्षत्रियवरास्तत्रैव प्रतिवसन्ति येभ्योऽन्ये विश्वसेनाः स्पृहयन्ति तद्भवितुम् । एवमभिनवगुप्तो भरतसूत्रभाष्येश्वरप्रत्यभिज्ञाद्यनेकग्रन्थकारः । कय्यटो महाभाष्यप्रदीपकारः, मम्मटः काव्यप्रकाशकारः, वाचस्पतिर्भामत्याद्यनेकनिबन्धकारः, उदयनो न्यायाचार्यो बौद्धधिकारन्यायकुसुमाञ्जलिकिरणावलीतात्पर्यपरिशुद्ध्यादिकारः, गङ्गेशो न्यायतत्वचिन्तामणिकारः । एवमन्येऽपि प्रसिद्धाः विस्तरभयान्नोदाह्रियन्ते ।

भाषा

इन तीन चरणों को पढ़कर चतुर्थ चरण की कल्पना के लिये विचार करते थे, इतने में मयूर ने बाहर से सुनकर "*कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनं*" (हे चण्डि कोपयुक्ते कुचों के साथ सटने से तुम्हारा हृदय भी कठिन है अर्थात् कुचों की कठिनता उनके साथ सटने से तुम्हारे हृदय में भी आ गई है) इस चतुर्थ चरण को बोल दिया । इसको सुन अपने पत्नी को छोड़ बाण कवि अपने प्राण प्रिय मयूर कवि के समीप बाहर चले आये । और बाण की पतिव्रता स्त्री ने अपने काम दुःख के कारण मयूर कवि को शाप दे दिया जिससे कि मयूर के सर्वाङ्ग में कुष्ठ रोग हो गया और जब वह किसी चिकित्सा से शान्त नहीं हुआ तब मयूर कवि सूर्य्य भगवान की सौ श्लोकों से स्तुति कर उसी के प्रभाव से नीरोग हो गये । यह इतिहास मेरुतुङ्गाचार्यकृत प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में स्थित है इति । और इसी मयूर कवि से विवाहिता ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न वत्स गोत्र वाले मिश्र उपाधि के सहस्त्रों ब्राह्मण सरुआर देश में आज भी प्रसिद्ध हैं । तथा अपनी विवाहिता विश्वसेन उपाधि के क्षत्रिय की कन्या में मयूर ने जिनको उत्पन्न किया उनके वंश में मझौली के राजा आदि अनेक विश्वसेन क्षत्रिय आज भी सरुआर में प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हैं । जिनमें अपनी गणना के लिये अन्य विश्वसेन लोग बहुत चाहते और उद्योग तथा व्यय भी करते हैं । ऐसे ही अभिनवगुप्त भरतसूत्र-भाष्य और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता थे । कय्यट व्याकरण महाभाष्य के प्रदीप नामक टीका के कर्त्ता थे । उदयन न्यायाचार्य्य थे । उन्होंने बौद्धधिकार न्यायकुसुमाञ्जलि किरणावली आदि अनेक ग्रन्थों को बनाया । श्रीहर्ष मिश्र ने लोकविख्यात खण्डनखण्डखाद्य, नैषधकाव्य आदि अनेक ग्रन्थों को बनाया ।

किञ्च अनेकशः क्षत्रवंशो विच्छिन्नोऽपि वसिष्ठभरद्वाजद्वैपायनादिभिर्ब्राह्मणैरेव पुनः प्रवर्तितः इतीतिहासपुराणदर्शिनामपरोक्षमेव । दिङ्मात्रं मुदाह्रियते—

आदि० अ० १-४—जामदग्न्येन रामेण पितुर्वधममृष्यता ।
भीष्म उ०—राजा परशुना पूर्वं हैहयाधिपतिर्हतः ॥ १ ॥
शतानि दश बाहूनां निकृत्तान्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्याचरितो धर्मस्तेनाति किल दुश्चरः ॥ २ ॥
पुनश्च धनुरादाय महास्त्राणि प्रमुञ्चता ।
निर्दग्धं क्षत्रमसकृद्रथेन जयता महीम् ॥ ३ ॥
एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥ ४ ॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ५ ॥
पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः ॥ ६ ॥
लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ।
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा ॥ ७ ॥ इति ॥

भाषा

गङ्गेश ने न्यायतत्त्व चिन्तामणि को बनाया जो आज भी प्रसिद्ध है। ऐसे ही बहुत से अन्यान्य उत्तमोत्तम पण्डित ब्राह्मण और उनके ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं जिनको मैं यहाँ विस्तरभय से नहीं कहता हूँ।

उ० ८—यद्यपि इतिहास और पुराण के देखने वालों से यह बात गुप्त नहीं है कि प्राचीन समय में जब जब क्षत्रिय वंश का विच्छेद होने लगा तब तब वसिष्ठ, भरद्वाज, द्वैपायन आदि ब्राह्मणों ही ने क्षत्रिय वंश को चलाया। जिन ब्राह्मणों के वंश में आधुनिक ब्राह्मण भी हैं। तथापि एक छोटा सा उदाहरण इसका यह है कि—

'भीष्म उ०'—(जामदग्न्येन०) भीष्म ने अपनी विमाता सत्यवती से कहा कि पूर्व समय में अपने पिता (जमदग्नि) के वध को क्षमा न कर उनके पुत्र राम ने परशु से हैहयाधिपति (सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुन) को उनके सहस्रबाहुओं को काट कर मार डाला। यह उनका किया धर्म दूसरे के लिये बड़ा दुष्कर है ॥ १ ॥ २ ॥ पुनः धनु लेकर महास्त्रों का प्रयोग के द्वारा एक रथ से पृथिवी को विजय करते २ परशुराम ने क्षत्रियों का अनेक बार संहार किया। इस प्रकार से पूर्व समय में महात्मा भार्गव (परशुराम) के हाथ से पृथिवी इक्कीस बार क्षत्रियों से शून्य की गयी ॥ ३ ॥ ४ ॥

इस रीति से जब परशुराम महर्षि ने इस लोक को क्षत्रियों से शून्य कर दिया तब क्षत्रिय स्त्रियों वेदों में निश्चय किये हुये धर्म को कि "अपने पति से अन्य का उत्पन्न किया हुआ अपत्य (लड़का वा लड़की) स्त्री के पाणिग्राही पति ही का अपत्य होता है" हृदय में स्थापन कर ब्राह्मणों के समीप गईं और वेदपारग ब्राह्मणों ने (आपत्काल के धर्मानुसार) उन क्षत्रियाओं में अपत्य उत्पन्न किया। और क्षत्रीस्त्रियों का यही धर्माधार वेद में तो स्थित है परन्तु उक्त प्रकार से लोक में भी देखा गया। तदनन्तर कुछ समय के पश्चात् पृथिवी में पुनः क्षत्रियों का बहुत्व हो गया ॥५—७॥

अन्यच्चाद्यापि हि क्षत्रियराज्ये नेपालमण्डले ब्राह्मणपरिणीतानां क्षत्रियाणामपत्यानि क्षत्रियेषूत्तमतया गण्यन्ते ।

अपि च किं बहुना यावता 'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म' इति श्रुत्यैव ब्राह्मणानां क्षत्रिययोनिता स्फुटतरमुटङ्कयते ।

यदा चैवं तदा कैव कथा वैश्यशूद्रादीनां तत्रापि च क्षत्रसाम्राज्योच्छेदेन स्वधर्माद्विचलितानां वाचालितानाञ्चाधुनिकानां तेषामित्यपक्षपातिनः कृतबुद्धय एव विदां कुर्वन्तु ।

३४—अथ पितृश्राद्धम्, तदेव जलेन चेत् तर्पणम्

अत्राचाराध्याये याज्ञवल्क्यः—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥ २६८ ॥
आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥ २६९ ॥ इति ॥

भाषा

उ० ९—क्षत्रिय राज्य नैपाल मण्डल में ब्राह्मणों की अपनी २ विवाहिता क्षत्रिय कन्याओं में जो अपत्य उत्पन्न होते हैं वे आज दिन भी उत्तम क्षत्रिय गिने जाते हैं ।

उ० १०—इस विषय में अधिक क्या वक्तव्य है जब कि बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ३ ब्रा० ४ वा ११ में यह कहा है कि *"सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म"* (यह ब्राह्मण जो है सो क्षत्रिय का कारण है अर्थात् जिसके बाहु से क्षत्रिय उत्पन्न होता है वह ब्रह्मदेव ब्राह्मण हैं) ।

'म० भा० आदिपर्व' जब कि क्षत्रियों से भी अधिक अर्थात् उनके पिता के तुल्य वास्तविक में ब्राह्मणों की यह इतनी बड़ी प्रतिष्ठा है जो कि इस प्रकरण में आरंभ से यहाँ तक भली भाँति दर्शायी गई तो अब पक्षपातशून्य बुद्धिमान् महाशय स्वयं यह समझ सकते हैं कि अपने सर्वोत्तम पिता का निन्दक पुत्र कैसा सुयोग्य गिना जाता है । और वैश्य शूद्र आदिकों की तो कथा ही क्या है, तथा उनमें भी क्षत्रिय साम्राज्य के उच्छेद के कारण ७-८ सौ वर्ष से आर्यावर्त में जो वैश्य आदि वर्णों के कतिपय मनुष्य शास्त्र पढ़ने के बिना ही वक्तावादी और धर्मोपदेशक आप से आप बन बैठे हैं, उन आधुनिकों की तो चर्चा भी नहीं करने के योग्य है । इसलिये यह ब्राह्मणपूजन का प्रकरण अब समाप्त किया जाता है ।

३४—पितरों के श्राद्ध और तर्पण का निरूपण

श्राद्ध का स्वरूप मनु, पैठीनसि और याज्ञवल्क्य इन तीन महाशयों ने कहा है जो स्पष्टता के लिये व्युतक्रम से अर्थात् प्रथम याज्ञवल्क्य महर्षि के, तदनन्तर मनु के, तत्पश्चात् पैठीनसि महर्षि के वाक्य का उपन्यास यहाँ किया जाता है ।

'वसुरुद्रा०' इस वाक्य से पूर्व याज्ञवल्क्य स्मृति में यह कहा है कि "श्राद्ध से तृप्त होकर पिता आदि श्राद्धकर्ता को स्वर्गादि फल देते हैं ।" उस पर यह आक्षेप होता है कि जब पिता आदि अपने लिये भी स्वर्गादि फल पाने में कुछ भी स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु अपने प्रारब्ध कर्मों के अधीन हैं, तब वे दूसरों को कैसे स्वर्गादि फल दे सकते हैं ? इसके समाधान में ये दोनों श्लोक हैं । इससे इन

अत्र मिताक्षरा—सम्भवेऽपि स्वयमात्मनोऽप्यनीशाः कथं स्वर्गादिफलं प्रयच्छन्तीत्यत आह 'वस्विति'। न ह्यत्र देवदत्तादय एव श्राद्धकर्मणि सम्प्रदानभूताः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते, किन्त्वधिष्ठातृवस्वादिदेवतासहिता एव। यथा देवदत्तादिशब्दैर्न शरीरमात्रं नाप्यात्ममात्रं किन्तु शरीरविशिष्टा आत्मान उच्यन्ते। एवमधिष्ठातृदेवतासहिता एव देवदत्तादयः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते। अधिष्ठातृदेवता वस्वादयः पुत्रादिभिर्दत्तेनान्नपानादिना तृप्तास्सन्तस्तानपि देवदत्तादींस्तर्पयन्ति। कर्तृंश्च पुत्रादीन् फलेन संयोजयन्ति। यथा माता गर्भपोषणायान्यदत्तेन दोहदान्नपानादिना स्वयमुपभुक्तेन तृप्ता सती स्वजठरगतमप्यपत्यं तर्पयति, दोहदान्नप्रदायिनश्च प्रत्युपकारफलेन संयोजयति, तद्वद्वसवो रुद्रा अदितिसुताः आदित्या एते पितरः पितृपितामहप्रपितामहशब्दवाच्या न केवलं देवदत्तादय एव श्राद्धदेवताः श्राद्धकर्मणि सम्प्रदानभूताः किन्तु मनुष्याणां पितॄन् देवदत्तादीन् स्वयं श्राद्धेन तर्पितास्तर्पयन्ति अपि तु श्राद्धकारिभ्यः आयुः 'प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च। प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नॄणां पितामहाः' चकारात्तत्र तत्र शास्त्रोक्तमन्यदपि फलं स्वयं प्रीताः पितामहा वस्वादयः प्रयच्छन्ति इति।

मनुरपि अ० ३—वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥२८४॥

भाषा

श्लोकों का भावार्थ ही प्रथम कहा जाता है, जिससे उक्त आक्षेप का उत्तर हो जाय।

'वसुरुद्रा' यदि श्राद्ध कर्म में जिनके लिये अन्न वस्त्रादि दिये जाते हैं, वे अर्थात् श्राद्धकर्ता के लोक प्रसिद्ध पिता, पितामह, प्रपितामह, देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुमित्रादि मरे मनुष्यों के आत्मा ही केवल श्राद्ध मन्त्रों में पिता, पितामह, प्रपितामह शब्द के अर्थ होते "जैसा कि सामान्य मनुष्य आस्तिक वा नास्तिक समझते हैं" तब उक्त आक्षेप ठीक ही था, परन्तु ऐसा नहीं है, किन्तु (जैसे) देवदत्त आदि शब्द का केवल शरीर अर्थ नहीं है क्योंकि यह कहा जाता है कि देवदत्त तो चले गये। उनका मृतक शरीर मात्र पड़ा है, तथा केवल आत्मा मात्र भी देवदत्त आदि शब्द का अर्थ नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो "देवदत्त खाते हैं और नहाते हैं" इत्यादि व्यवहार न हो सकेगा क्योंकि केवल आत्मा साक्षात् स्नान वा भोजन नहीं कर सकता किन्तु शरीर ही के द्वारा स्नान भोजन करता है। इसलिये सामान्य लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में यद्यपि बिना समझाये देवदत्त आदि शब्द के अर्थ का ठीक विवेक नहीं होता तथापि शरीर सहित आत्मा ही उक्त विचार के अनुसार लोक में देवदत्त आदि शब्द का अर्थ होता है। (वैसे) वैदिक श्राद्ध मन्त्रों के पितृ पितामह आदि शब्दों का केवल श्राद्धकर्त्ताओं के मरे बाप दादा ही अर्थ नहीं हैं किन्तु पितृ शब्द का वसु नामक देवताओं के सहित श्राद्धकर्ता का मृत पिता अर्थ है और पितामह शब्द का रुद्र नामक देवताओं के सहित श्राद्धकर्ता का मृत पितामह अर्थ है तथा प्रपितामह शब्द का आदित्यनामक देवताओं के सहित श्राद्धकर्ता का मृत प्रपितामह अर्थ है। और वसु, रुद्र, आदित्य, ये देवता मृत पिता, पितामह और प्रपितामह के अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी हैं। इसी से ये देवता श्राद्ध रूपी अपने पूजन से

अत्र कुल्लूकः—यस्मात् 'पित्रादयो वस्वादय' इति एषा अनादिभूता श्रुतिरस्ति अतः पितॄन् वस्वाख्यदेवान् पितामहान् रुद्रान् प्रपितामहान् आदित्यान् मन्वादयो वदन्ति, ततश्च सिद्धबोधनवैयर्थ्यात् 'श्राद्धे पितादयो वस्वादिरूपेण ध्येया' इति विधिः कल्प्यते अत एव पैठीनसिः—य एवं विद्वान् पितॄन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति इति ।

वस्तुतस्तु 'एषे' ति प्रत्यक्षनिर्देशात्पादत्रयमपि श्रुतिस्वरूपानुकरणमेवेति 'वसून् पितॄन् वदन्ति रुद्रान् पितामहानादित्यान् प्रपितामहानि' त्येव श्रुतेराकारो योऽत्र पादत्रयेणानूद्यते, तत्र च वेदवादिनः सामान्यतः कर्तारो वदत्यर्थस्य । एवं च यस्मादित्यत इति

भाषा

तृप्त होकर अन्य शरीर में वर्तमान श्राद्धकर्ता के पिता, पितामह, प्रपितामह को तृप्त कर देते हैं। और श्राद्धकर्ता पुत्रादि को समय से स्वर्गादि फल भी देते हैं। इस विषय में लौकिक उदाहरण यह है कि गर्भिणी स्त्री दूसरों के दिये हुए मिष्ट और बलकारी अन्न और पान आदि से स्वयं तृप्त होकर अपने गर्भस्थ अपत्य को तृप्त करती है। और अन्न पान आदि देने वालों को उस उपकार के बदले में यथाशक्ति प्रत्युपकार के द्वारा फल भी देती है इति।

यह भावार्थ मिताक्षरा में कहा है और अक्षरार्थ इन श्लोकों का यह है कि वसु, रुद्र, आदित्य रूपी पितर अर्थात् वैदिक पिता, पितामह, प्रपितामह शब्द के अर्थ श्राद्ध के सम्प्रदान हैं। अर्थात् श्राद्धीय वस्तु इन्हीं को दी जाती हैं। श्राद्ध उक्त देवताओं का पूजन है और यही देवता श्राद्ध से तृप्त होकर अपने ज्ञान और शक्ति के अनुसार श्राद्धकर्ता के मृत पिता आदि अर्थात् देवदत्त आदि ही को केवल तृप्त नहीं करते किन्तु ये पितामह (वसु आदि देवता) तृप्त होकर श्राद्धकर्ताओं को भी आयु, प्रजा, धन, विद्या, राज्य, स्वर्ग, मोक्ष तथा शास्त्रोक्त अन्यान्य सुख भी देते हैं इति। और मनु ने भी पूर्व ही से कह रखा है कि '*वसून्वदन्ति*' मनु आदि वसुओं को पिता और रुद्रों को पितामह तथा आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं, क्योंकि "*पित्रादयो वस्वादयः*" यह सनातनी श्रुति है। मन्वर्थ मुक्तावली में कुल्लूक भट्ट ने इस श्लोक का यह तात्पर्य कहा है कि श्राद्धकर्ता अपने मृत पिता आदि को यथाक्रम वसु आदि देवता रूप से ध्यान करे। और इसी बात को पैठीनसि महर्षि ने भी कहा है कि "*य एवं विद्वान्*" जो श्राद्धकर्ता अपने मृत पिता आदि को वसु आदि देवता रूप समझ कर उनका पूजन अर्थात् श्राद्ध करता है, उस श्राद्धकर्ता पर वसु, रुद्र, आदित्य देवता उस श्राद्ध से तृप्त होकर प्रसन्न होते हैं। वस्वादि देवता का यही पूजन (जिसको श्राद्ध कहते हैं) यदि केवल जल से किया जाय तो इसी को तर्पण कहते हैं।

जब कि अनन्तरोक्त प्रकरण में देवतापूजन का पूर्ण वर्णन हो चुका है और पितरों का श्राद्ध भी वसु आदि उक्त देवता का पूजन ही है। केवल विशेष इतना ही है कि अपने मृत पिता आदि रूपी मानसी प्रतिमा में वेदवाक्यों के अनुसार वसु आदि देवताओं का ध्यान इस कारण किया जाता है कि श्राद्ध से तृप्त होकर वे वसु आदि देवता अपने ज्ञान और शक्ति के अनुसार शरीरान्तरधारी उन देवदत्त आदि मृत पिता आदि को तृप्त करें। तब इसमें अधिक विशेष निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि देवपूजन प्रकरण में सब कहा जा चुका है। और "श्राद्ध

च नाध्याहरणीयमिति ज्ञापयम् कुल्लूकोक्तपरोक्षश्रुत्याकारस्वीकारे स्वेपेति निर्देशविरोधो दुर्वारोऽप्याहारद्वयगौरवञ्चेति ध्येयम् ।

वेदबाह्यैरप्यनेकजातीयैर्मृतानामुपकारमुद्दिश्य भगवदाराधनं बान्धवभोजनादिकं च स्वस्वकुलाचारपरम्पराप्राप्तं यदद्याप्यनुष्ठीयमानमनुभूयते तत्सर्वं श्राद्धस्य छायैव । अतः सर्वमनुष्यव्यापी श्राद्धरूपोऽसौ सामान्यधर्मः ।

अत्र श्रौतः प्रमाणपरिकरः 'अपराह्णे ददाति' (श॰२।४।२८) इति श्राद्धविधिः श्रूयते "वचनादिस्यपूर्वत्वात्" (पू॰ मी॰ सू॰ १०।४।२०) इति न्यायात् तच्छेषभूतोऽर्थवादस्तु तत्रैव उक्तविधेरप्यव्यवहितपूर्वम्—

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यंदिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादिति ।

एवमन्या अपि श्रुतयः—प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं च ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः (श॰२।४।२।१)

भाषा

में दी हुई वे ही सब वस्तुयें उठ कर मृत पितरों के समीप चली जाती हैं" यह दृष्टि तो अज्ञानियों की है, जिस पर नास्तिकों के बहुत से आक्षेप हुआ करते हैं ।

इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि वेदबाह्य प्रत्येक जातियों के मनुष्य अपने २ आचार के अनुसार अपने मृत पिता आदि के उपकारार्थ भगवान् का आराधन तथा भाई-बन्धुओं का भोजन अर्थात् "चहलुम, चालीसा" आदि कुछ न कुछ अवश्य ही करते हैं, जो आज भी प्रसिद्ध है और वे सब कर्म पितृ श्राद्ध ही की छाया हैं । इस रीति से यह पितृ श्राद्ध रूपी सामान्य धर्म भी अन्य सामान्य धर्मों की नाईं सर्व मनुष्य व्यापी है । यद्यपि इसमें बहुत प्रमाण देने का प्रयोजन नहीं है तथापि अति दृढ़ता के लिये इस विषय में कुछ वैदिक प्रमाण दिखलाये जाते हैं कि—

(१) "अपराह्णे" अपराह्ण (दिन का तृतीय प्रहर) में (पितरों के लिये) दे (श्राद्ध करे)। (यह वाक्य पितृ श्राद्ध का विधान करता है) और इसका अर्थवाद यह है कि—

(२) "पूर्वाह्णो" क्योंकि देवता की पूजा के लिये पूर्वाह्न (दिन का प्रथम प्रहर और ऋषि आदि मनुष्यों की पूजा के लिये मध्याह्न (द्वितीय प्रहर) तथा पितरों की पूजा के लिये अपराह्ण (तृतीय प्रहर) है । इसलिये "अपराह्ण में पितरों के लिये श्राद्ध करे" इस पूर्वोक्त विधि से इसका सम्बन्ध है क्योंकि वह विधिवाक्य इसके अनन्तर ही कहा है ।

(३) *"प्रजापतिं वै" "अथैनं पितरः" "अथैनं मनुष्याः"* प्रजापति के समीप देवता बायें कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये और दाहिने जानु को दबा कर प्रथम बैठते हैं और प्रजापति उनसे कहते हैं कि यज्ञ तुम्हारा अन्न है इत्यादि । तदनन्तर वसु आदि पितर दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये बायें जानु को दबाये बैठते हैं और प्रजापति उनसे कहते हैं कि मास मास में स्वधा (श्राद्ध) तुम्हारा अन्न है इत्यादि । तदनन्तर मनुष्य लोग पद्मासन लगा कर प्रजापति के समीप बैठते हैं और प्रजापति उनसे कहते हैं कि साय काल और प्रातः काल तुम्हारा भोजन है इत्यादि ।

अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति (श० २।४।२।२)

अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत् सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्ज्योतिः (श० २।४।२।३)

तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः (श० २।३।४।२।३)

तृतीयाह प्रद्योरिति यस्यां पितर आसते (अथर्व० १८।२।४८)

ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः (बृ० उप० ६।३।३३)

इत्याद्या द्रष्टव्याः । मन्त्राश्च सार्था यथा—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषाँल्लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ (य० १६, मं० ४५)

प्रजापतिर्ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः पितरो देवता दक्षिणामुखेनापसव्येन यजमानेन जुह्वा सकृद्गृहीतस्याज्यस्य दक्षिणाग्नौ होमे विनियोगः । अर्थस्तु तुल्यजातिरूपाः तुल्यशीलाः पितरो यमलोके ये सन्ति तेषां "लोकः" भोज्यमिदमाज्यं "स्वधा" दीयते "नमः" तेभ्य इति शेषः । "यज्ञः" अयं "देवेषु" यमेषु "कल्पताम्" तृप्तये पर्याप्तो भवतु इति

"पितॄनेवायं मे ददात्यथो पितृलोकमेव जयति" (श० १२।८।१।१६।४५) इति श्रुतेः ।

तत्रैव—ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिल्लोके शतꣳ समाः ॥ ४६ ॥

भाषा

(४) "*तिर इव*" पितर मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं होते । परन्तु प्रत्यक्ष फल देने से प्रत्यक्ष के तुल्य हैं ।

(५) "*तृतीयाह*" भूलोक और आकाश लोक से तृतीय एक 'प्रद्यो' लोक है जिसमें पितर लोग वास करते हैं ।

(६) "*ये शतं०*" मनुष्य लोक के आनन्द की अपेक्षा पितृ लोक में शतगुण आनन्द है।

ये सब वैदिक वाक्य पूर्वोक्त वैदिक श्राद्ध विधिवाक्य के अर्थवाद हैं । अब श्राद्ध के कतिपय मंत्र और ब्राह्मण अर्थ सहित दिखलाये जाते हैं कि–

(७) "*ये समानाः०*" (मं) यमलोक में जो तुल्य जाति और तुल्य शील के पितर रहते हैं उनके लिये यह भोज्य दिया जाता है और उनको नमस्कार है । यह श्राद्ध रूपी यज्ञ यमराज को तृप्त करे क्योंकि—

(८) "*पितॄनेव०*" (ब्रा०) जो पुरुष मंत्रों के द्वारा पितरों को यमराज के अधीन करता है उसको अन्त में पितृलोक मिलता है ।

(९) "*ये समानाः०*" (मं) सब प्राणियों के विषय में समदर्शी और अन्योन्य में तुल्यशील जो मेरे सपिण्ड (सात पुरुष के भीतर) जीव पितर हैं उनकी कीर्ति इस लोक में सौ वर्ष तक मुझमें रहे ।

विनियोगः पूर्ववत्, अर्थस्तु 'जीवेषु' प्राणिषु 'समानाः' समदर्शिनः 'समनसः' तुल्यशीलाः 'मामका जीवाः' मत्सपिण्डाः पितरः 'तेषां श्रीः' लक्ष्मीः अस्मिँल्लोके शतं समाः मयि कल्पताम् इति ॥

द्वे सृती अशृणवम् पितॄणामहन्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ४७ ॥

अहं 'द्वे सृती' मार्गौ मर्त्यानाम् अशृणवम् श्रुतिभ्य इति शेषः । कौ तावित्याह–देवानामुत पितॄणाम् देवयानं पितृयानं च 'यत्' यौ 'पितरं' द्युलोकं 'मातरञ्च' मातृभूमिं भूलोकं च 'अन्तरा' मध्ये वर्तेते 'इदं विश्वं एजत्' भूलोकवासिनः उपासकाः क्रियावन्तश्च ताभ्यां समेति प्रेत्य क्रमेण ताभ्यां मार्गाभ्यां सम्यगूर्ध्वलोकानाक्रामन्ति इति ।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥
(ऋ० मं० १० अ० १ सू० १५ मं० १ यजु० अ० १९ मं० ४९)

अस्य मन्त्रस्य शङ्ख ऋषिः पितृमेधे चासौ विनियुक्तः ।

भाष्यम्–ये तावत् अवरे पितरः पृथिवीमाश्रिताः ते तावत् उदीरताम् ऊर्ध्वं गच्छन्तु, अथ पुनर्ये 'परासः' परे द्युलोकमाश्रिताः तेऽप्युदीरताम् । तेषामप्रच्युतिरस्तु मुच्यन्तां वा तदधिकारप्रक्षये । 'उन्मध्यमाः' पितरो येऽपि मध्यमाः मध्यस्थानाश्रयाः तेऽप्युदीरताम् उत्तमं लोकमाश्रयताम् 'सोम्यासः' सोमसम्पादिनः कर्मण्यस्माकमुपगच्छन्तो ये सोमं सम्पादयन्ति किं प्रकारा 'असुं य ईयुः' प्राणमात्रमूर्तयः अस्पृष्टविग्रहाः 'अवृकाः' अनमित्राः परं साम्यमुपगताः 'ऋतज्ञाः' यथावत् सत्यवेदितारः यज्ञस्य वा य एवमादिगुणयुक्ताः पितरः ते 'नः' अस्माकं नित्यं 'अवन्तु' आगच्छन्तु । हवेषु आह्वानेषु इत्येतदाशास्महे माध्यमिको यम इत्याहुः नैरुक्ताः । तस्मात् पितॄन् माध्यमिकान् मन्यन्ते स हि तेषां राजेति ।

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ० म० १० अ० १ सू० १४ मं० १)

भाष्यम्—हे मदीयान्तरात्मन् यजमानं वा त्वं राजानं पितॄणां स्वामिनं यमं हविषा

भाषा

(१०) "द्वे सृती०" (भा०) वेद से दो मार्ग मैं सुनता हूँ । एक देवताओं का और दूसरा पितरों का । अर्थात् एक देवयान, दूसरा पितृयान जो कि भूलोक और स्वर्ग लोक के बीच में हैं । भूलोकवासी उपासक शरीर छूटने के अनन्तर देवयान से और कर्मी लोग पितृयान से ऊपर के लोकों को जाते हैं ।

(११) "उदीरता०" जो पितर पृथिवी पर अर्थात् किसी योनि में हैं वे ऊपर के लोकों को जायें और जो पितर स्वर्गलोक में हैं वे वहाँ से च्युत न हों तथा स्वर्गभोग के अनन्तर मोक्ष पावें और जो मध्य के लोक में हैं वे भी ऊपर के लोक को जायें तथा जो पितर यज्ञों में सोमरस का लाभ कराते हैं तथा प्राणमात्र अर्थात् सूक्ष्म जिनका शरीर है और जो कि समदृष्टि और सत्यज्ञानी हैं वे हमारे यज्ञों में नित्य आवें, यह प्रार्थना हमारी है । मध्य लोक में यमराज रहते हैं, इसी से उनको और उनके अधीन पितरों को भी माध्यमिक कहते हैं । यह मन्त्र यमलोक में पितरों की स्थिति बतलाता है ।

पुरोडाशादिना 'दुवस्व' परिचर 'वैवस्वतं' विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं जनानां पापिनां सङ्गमनं गन्तव्यस्थानरूपमिति । अयं मन्त्रो यमस्य पितृराजत्वं प्रतिपादयति, पितॄणां च तदनुवर्तित्वान्मध्यमस्थानत्वरूपं तत्सालोक्यमपि ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।

तेभिर्यमः स ँ रराणो हवी ँष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ (यजु० अ० १९ मं० ५१)

शङ्ख ऋषिः पितरो देवता विनियोगः पूर्ववत्। अर्थस्तु 'सोम्यासः' सोमसम्पादकाः 'वसिष्ठा' वसिष्ठवंशयाः ये नः पूर्वे पितरः 'सोमपीथं' सोमपानं 'अनूहिरे' देवेभ्यः पश्चाच्चक्रिरे 'उशद्भिः' सोममिच्छद्भिः 'तेभिः' तैः सह 'रराणः' प्रसीदन् 'यमः' पितृपतिः 'हवींषि' मद्दत्तानीति शेषः प्रतिकामं यथेच्छम् अत्तु भुङ्क्ताम् इति ।

तत्रैव—त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।

वन्वन्नवातः परिधी ँ अपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवानः ॥ ५३ ॥

शङ्ख ऋषिः सोमो देवता अर्थस्तु हे 'पवमान' शोधकसोम, धीराः नः पूर्वे पितरः त्वया कर्माणि यज्ञान् चक्रुः 'हि' यतः अतः हे 'वन्वन्' कर्मयुक्त 'अवातः' वाताद्युपद्रवरहितः त्वं 'परिधीन्' उपद्रवकारिणः 'अपोर्णु' दूरी कुरु। किं च 'नः' अस्माकम् 'वीरेभिः अश्वैः' वीरैरश्वैरुपलक्षितः मघवा इन्द्रः धनदातेति यावत् 'आ' समन्तात् भवेति ।

तत्रैव—बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।

त आगताऽवशा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ५५ ॥

शङ्ख ऋषिः पितरो देवता, अर्थस्तु हे "बर्हिषदः" कुशासनाध्यासिनः पितरः 'ते' प्रसिद्धा यूयम् 'ऊत्या' रक्षा निमित्तकम् 'अर्वाक्' समीपे 'आगत' आगच्छत "वः इमाः हव्याः" युष्माकम् इमानि हवींषि वयं समस्कार्ष्म इमानि "आजुषध्वम्" सेवध्वम् 'अथ' अनन्तरम् 'शन्तमेन' अतिसुखदायिना 'अवसा' अन्नेन तृप्ता भूत्वा 'नः' अस्मासु "शंयोः" "अरपः" पापनाशनम् 'दधात' स्थापयतेति ।

भाषा

(१२) "*ये नः०*" वसिष्ठगोत्र में उत्पन्न तथा सोम को लाभ करने वाले जो मेरे पूर्व पितर देवताओं से पश्चात् सोमपान करते हैं, सोम चाहते हुये उन पितरों के साथ प्रसन्न होकर यमराज मेरे दिये हुये हवियों को यथेष्ट भोजन करें ।

(१३) "*त्वया हि नः०*" हे शोधन करने वाले कर्मयुक्त सोम ! वायु आदि के उपद्रव से रहित तुम उपद्रव कारियों को यज्ञस्थान से दूर करो तथा वीर अश्वों से युक्त तुम सब ओर से धनदाता हो जाओ, क्योंकि धीर पूर्व पितर तुम्हारे द्वारा यज्ञ कर चुके हैं ।

(१४) "*बर्हिषदः०*" हे कुश के आसन पर बैठने वाले प्रसिद्ध पितर ! तुम रक्षा करने के लिये समीप आओ। तुम्हारे लिये इन हवियों का संस्कार मैंने किया। इस हवि को भोजन करो और इससे तृप्त हो कर हम में पाप नाश को स्थापन करो। जो पितर अग्नि से दाह पा चुके हैं और जो दाह नहीं पाकर अपने पूर्व कर्मों से आनन्द करते हैं उनके लिये यमराज अपनी इच्छा के अनुसार प्राणयुक्त शरीर देते हैं ।

तत्रैव—आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५८ ॥

शङ्ख ऋषिः पितरो देवता, अर्थस्तु 'सोम्यासः' सोमयोग्याः 'अग्निष्वात्ताः' विधिवदग्निदाहेन और्ध्वदैहिककर्मप्राप्ताः नः पितरः देवयानैः, 'पथिभिः' देवयोग्यैर्मार्गैः अस्मिन्यज्ञे आयन्तु 'स्वधया' अत्र यज्ञे मद्दत्तेनान्नेन 'मदन्तः' प्रसीदन्तः 'ते' पितरः अस्मानधिब्रुवन्तु" मन्त्रुपदिशन्तु "अवन्तु" रक्षन्तु इति ।

तत्रैव—ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वङ्कल्पयाति ॥ ६० ॥

ये पितरः "अग्निष्वात्ताः" अग्निदाहेन और्ध्वदैहिकं प्राप्ताः ।
"यानग्निरेव दहनः स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता" ॥ (श०।२।४।५।७) इति श्रुतेः ।

ये अनग्निष्वात्ताः दिवः मध्ये 'स्वधया' स्वोपार्जितकर्मभोगरूपेणान्नेन 'मादयन्ते' हृष्यन्ति 'स्वराट्' राजा यमः 'तेभ्यः' तेषामर्थे 'यथावशम्' स्वेच्छानुसारेण एतां मनुष्योद्दिष्टाम् 'असुनीतिम्' प्राणयुक्ताम् 'तन्वम्' देहम् कल्पयति ददाति इत्यर्थः ।

तत्रैव—आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।
मा हिᳫंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

हे 'विश्वे' सर्वे पितरः यूयम् 'जानु' वामम् 'आच्य' आनमय्य 'दक्षिणतः' दक्षिणामुखस्य मम पुरः 'निषद्य' आसित्वा इमं यज्ञमभिगृणीत वाचाऽभिनन्दत केनचिदपराधेन नः मा हिंसिष्ट 'यत्' यस्मात् 'पुरुषता' स्वाभाविकेनानवधानादिना पुरुषदोषेण "वः आगः वयं कराम" युष्माकम् अपराधं वयं कुर्म इत्यर्थः ।

भाषा

(५९) "आयन्तु नः०" सोम के योग्य और विधिवत् अग्निदाह से श्राद्ध कर्म को प्राप्त मेरे पितर इस यज्ञ में देवयान मार्ग से आवें तथा हमारे दिये अन्न से तृप्त हो हमारे भीतर उपदेश दें और हमारी रक्षा करें ।

(६०) "ये अग्निष्वात्ता०" जिनका अग्निदाह हो चुका है और जिनका अग्निदाह नहीं हुआ परन्तु अपने पुण्य के अनुसार वे सुखी हैं, उन सब के लिये राजा यम अपनी इच्छानुसार मनुष्यों के इष्ट प्राणयुक्त शरीर देते हैं ।

(६१) "यानग्नि०" (श्रा०) जिनको अग्नि ही जलाते हैं वे पितर अग्नि स्वात्त हैं ।

(६२) "आच्या जानु०" हे सब पितरों ! वायें जानु को दबा कर दक्षिण मुख बैठे हुये मेरी दक्षिण दिशा में बैठ कर आप वचन से इस यज्ञ का अभिनन्दन करें । और किसी अपराध के कारण मुझे न मारें क्योंकि पुरुष के स्वाभाविक दोष अर्थात् अवधान न करना आदि के अनुसार हम आप के अपराधी हैं ।

तत्रैव—आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जन्दधात ॥ ६३ ॥

हे पितरः ! 'अरुणीनाम्' अरुणवर्णानाम् रश्मीनाम् सूर्यकिरणानां वा 'उपस्थे' उपरि अङ्के वा 'आसीनासः' आसीना यूयम् "दाशुषे मर्त्याय" हविर्दत्तवते यजमानाय रयिं धनम् 'धत्त' धारयत तस्य पुत्रेभ्यः 'वस्वः' धनानि 'ते' यूयम् 'इह, यज्ञे 'ऊर्जं' रसम् 'दधात' स्थापयतेत्यर्थः ।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः ।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ (य० १९ मं० ३७)

'सोम्यासः' सोमयोग्याः पितरः भवन्तः 'शतायुषा' शतवर्षायुर्दायिना 'पवित्रेण' कुशमयेन पवित्रकेण मा पुनन्तु पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः अत्र मेत्यनुवर्तते पवित्रेण शतायुषेति पूर्ववत् अनयोर्वाक्ययोरभ्यासः स्वपवित्री करणाभिलापातिशयद्योतनार्थः "विश्वमायुर्व्यश्नवै" पूर्णमायुः प्राप्यासमित्याशीः इत्यर्थः ।

आधत्त पितरो गर्भङ्कुमारम्पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषो असत् (यजु० अ० २ मं० ३३)

एवमेव चाश्वलायनोऽपि सूत्रयामास ३ अध्याये मनुरपि—

पतिव्रता धर्मपत्नी पतिपूजनतत्परा ।
मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥
आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥ इति ।

कुल्लूकः—धर्मार्थकामेषु मनोवाक्कायकर्मभिः पतिरेव मया परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा पतिव्रताः धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोढा श्राद्धक्रियाणां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तेषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत् सम्यक् 'आधत्त पितरो गर्भ' मित्यादि गृह्योक्तमन्त्रेण ॥२६२॥इति ।

भाषा

(१९) "*आसीनासो०*" हे पितरो ! रक्त वर्ण वाले सूर्य किरण के ऊपर बैठ कर आप हवि देने वाले मनुष्य और उसके पुत्रों को धन दें और इस यज्ञ में सोमरस का स्थापन करें ।

(२०) "*पुनन्तु मा०*" हे सोमयोग्य पितर ! शत वर्ष का आयु देने वाले आप कुश के पवित्रक से मुझे पवित्र करें तथा हे पितामह ! आप भी वैसे पवित्रक से मुझे पवित्र करें और हे प्रपितामह ! आप उस पवित्रक से मुझे पवित्र करें, मैं पूर्णायु जीऊँ ।

(२१) "*आधात्त०*" आधत्तेति मध्यमम्" इस कात्यायन सूत्र और आश्वलायन सूत्र तथा 'पतिव्रता०' इन मनुवाक्यों के अनुसार पुत्र चाहती स्त्री पार्वण श्राद्ध के मध्य अर्थात् पितामह पिण्ड को इस मन्त्र से भोजन करती है । मन्त्रार्थ यह है कि कमलमाला धारी अर्थात् अश्विनीकुमार के ऐसा पुत्र रूपी गर्भ का आधान आप मुझमें करें जिससे कि पुरुष, देवकार्य्य और पितृकार्य्य के योग्य इसी ऋतु काल में उत्पन्न हो ।

म० मा० का० सू० (४–१–२२) आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति। अथ मन्त्रव्याख्या। गायत्री पितृदेवत्या। हे पितरः यथा इहास्मिन्नेव ऋतौ पुरुषः देवपितृमनुष्याणामपेक्षितार्थस्य पूरयिता भूयात् तथा कुमारं गर्भं पुत्ररूपं गर्भमाधत्त सम्पादयत किम्भूतं कुमारं येन प्रकारेणेह पुष्करस्रजं पुष्कराणां पद्मानां स्रक् माला ययोस्तौ पुष्करस्रजौ अश्वनीकुमारौ पुष्करस्रजौ पद्ममालिनौ देवानां भिषजौ। तदुपरयः कुमारः पुष्करस्रक् तम्। अश्विसाम्यकथनेन रोगहीनं सुन्दरं च पुत्रमाधत्तेति सूचितम् ॥ २३ ॥

ये जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधाराव्युन्दती ॥ अथर्व० १८।४।५६।

ये च अपि जीवाः जीवन्तः ये च मृताः ये जाताः ये च यज्ञियाः यज्ञं कर्तुमर्हाः तेभ्यः तेषां सर्वेषामर्थे व्युन्दती स्रवन्ती घृतस्य 'कुल्या' कृत्रिम सरित् 'मधुधारा' मधुनो धारा च अत्र 'गामश्वं पुरुषं पशु' मितिवत् 'आर्थिकः' समुच्चयः एतु आशिषि लोट् इत्यर्थः।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येनाते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यसि वरुणं च देवम् ॥
(अथर्व० १८।१।५४)

'येना' यैः मार्गैः 'ते' तव पूर्वे पितरः—'परेताः' मृत्वागताः 'तैः' 'पूर्याणैः' आतिवाहिकशरीरयानरूपैः पथिभिः 'प्रेहि प्रेहि' मृतस्त्वं गच्छ गच्छ। 'स्वधया मदन्तौ' स्वधाख्येनान्नेन माद्यमानौ यमं वरुणं च देवम् 'उभा' उभौ राजानौ यथा क्रमं पितॄणामपां च पश्यसि द्रक्ष्यसीत्यर्थः।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ (अथर्व० १८।२। मं० ३४)

हे अग्ने ! ये निखाताः भूमौ ये 'परोप्ताः' अनाथा मृताः कश्चिद्वनादौ त्यक्ताः ये दग्धाः ये च 'उद्धिताः' युधिष्ठिरवत् सशरीरा एव स्वर्गताः तान् सर्वान् 'हविषे' 'अत्तवे' हविर्भोजनाय 'आवह' अत्र पितृकर्मणि आनयेत्यर्थः।

भाषा

(२२) "ये जीवा०" जो जीते हैं और जो मर गये तथा जो उत्पन्न हैं और जो यज्ञ करने योग्य हैं उन सब के लिये मैं चाहता हूँ कि घृत और मधु की धारा आवे।

(२३) "प्रेहि प्रेहि०" जिन मार्गों से तुम्हारे पूर्व पितर मृत होकर गये उन मार्गों से हे मृत ! तुम भी जाव जाव। स्वधा रूपी अन्न से तृप्त पितरों के राजा यमदेव और जलों के राजा वरुण देव को भी देखोगे।

(२४) "ये निखाता०" हे अग्ने ! जो पृथिवी में गाड़ दिये गये अथवा जो अनाथ मृत वन आदि में छोड़ दिये गये और जो अग्नि से दग्ध किये गये तथा जो उद्धृत (राजा युधिष्ठिर के सदृश सदेह ही स्वर्ग को गये) उन सब पितरों को हवि के भोजनार्थ आप इस श्राद्ध में पहुँचाइये।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥
(अथर्व० ३५)

हे जातवेदः अग्ने ! ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः पितरः 'दिवः' द्युलोकस्य 'मध्ये' मध्यमे यमलोके इति यावत् 'स्वधया मादयन्ते' अमृतरूपेणान्नेन मोदन्ते तान् तव द्वारे 'यति' त्वं वेत्थ तदेति शेषः । ते पितरः स्वधया 'स्वधितिं' पितृसम्बन्धिनं यज्ञं यावतः सर्वानिति यावत् इममित्यर्थात् 'जुषन्ताम्' सेवन्तामित्यर्थः ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरूर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षिपन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ (अथर्व० ४६)

ये नः पितुः पितरः ये नः पितुः पितामहाः ये 'उरू' महत् 'अन्तरिक्षम्' पितृलोकम् 'आविविशुः' प्रविष्टवन्तः ये पृथिवीम् 'द्याम्' 'उत' अपि आक्षिपन्ति व्याप्नुवन्ति तेभ्यः पितृभ्यः 'नमसा' नमस्कारम् 'विधेम' विदधीमहीत्यर्थः ।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥ (अ० १८।३।६९)

तिलमिश्राः स्वधावतीः स्वधायुक्ताः याः 'धानाः' तण्डुलान् 'ते' त्वदर्थम् अनुकिरामि ताः विभ्वीः अधिकाः प्रभ्वीः प्रभावयुक्ताः 'ते' त्वदर्थम् सन्तु 'ते' त्वदर्थम् ताः धानाः यमो राजा अनुमन्यताम् इत्यर्थः ।

आरभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य संदहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ (अथर्व० ७१)

हे 'जातवेदः' अग्ने ! आरभस्व ज्वलितुमिति शेषः । ते 'हरः' ज्वाला 'तेजस्वत्' प्रदीप्ता अस्तु । अस्य जीवस्य शरीरं संदह । 'अथ' अनन्तरम् 'एनम्' जीवम् 'सुकृताम् उ' पुण्यात्मनामेव लोके 'धेहि' धारयेत्यर्थः ।

भाषा

(२५) *"ये अग्नि०"* हे अग्ने ! जो पितर अग्नि से दग्ध अथवा नहीं दग्ध होकर आकाश के मध्य अर्थात् यमलोक में स्वधा अर्थात् अमृत रूपी अन्न से हर्ष पाते हैं उनको यदि आप जानते हैं तो वे पितर इस पितृयज्ञ को सेवन करें ।

(२६) *"ये नः पितुः०"* जो मेरे पिता के पितर और मेरे पिता के पितामह तथा जो आकाश के पितृलोक में अथवा पृथिवी वा स्वर्ग में व्याप्त हैं उन पितरों को नमस्कार करता हूँ ।

(२७) *"यास्ते०"* स्वधा शब्द से युक्त जिन तिल मिश्रित अक्षतों को मैं तुम्हारे लिये छीटता हूँ वे तुम्हारे लिये अधिक और प्रभावयुक्त हों और यमराज उन अक्षतों को तुम्हारे लि स्वीकार करें ।

(२८) *"आरभस्व०"* हे अग्ने ! तुम प्रज्वलित होने लगो । तुम्हारी ज्वाला प्रदीप्त के शरीर को दग्ध करो । तदनन्तर पुण्यात्माओं ही के लोक में इस जीव को

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः स्वधापितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः । (अथर्व० १८।४।८०।७६)

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।

तेषां वय ँ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ (यजु० अ० १६ मं० ५०)

ते 'नवग्वा' नवगतयः सोम्यासः सोमयोग्याः "अङ्गिरसः अथर्वाणः भृगवः" एषामृषीणां वंश्याः नः पितरः तेषां यज्ञियानाम् यज्ञकर्मोपयोगिनाम् 'सुमतौ' शुभबुद्धौ कल्याणकारिण्यां मनोवृत्तौ च भद्रे सौमनसे अपि वयं 'स्याम' स्थिता भवेम इत्यर्थः ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।

ताभ्यामेनं परिधेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥

(ऋ० मं० १० अ० १ सू० १५ मं० ११)

हे राजन् ! यम रक्षितारौ तव गृहस्येत्यर्थात् 'चतुरक्षौ' चतुर्नेत्रौ 'पथिरक्षी' त्वन्मार्गरक्षिणौ 'नृचक्षसौ' नृषु प्रसिद्धौ श्वानौ श्यामशबलाविति यावत् ताभ्यामेनं मृतम् 'अनमीवम्' आरोग्यम् 'स्वति च' कल्याणमपि 'धेहि' धारय इत्यर्थः ।

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम् ।

तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ (यजुः अ० १६ मं० ६४)

यह्न अग्निरग्निर्देवता हे अग्ने 'कव्यवाहन' पितृभ्यो दत्तस्यान्नस्य प्रापक 'त्वं चित्' 'त्वमपि यं रयिं मन्यसे' यत् हवीरूपमन्नमुत्तमतया जानासि 'नः गीर्भिः' 'श्रवाय्यम्' अस्माकम् वचनैर्बोधनीयम् 'युजम् तम्' योग्यं तत् धनम् 'देवत्रा' देवाधीनम् देयम् 'आपनय' समन्तात्प्रापयेत्यर्थः ।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितृन्यक्षदृतावृधः ।

प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ६५ ॥

भाषा

(२६) "स्वधा०" स्वर्गवासी पितरों के लिये स्वधा (देता हूँ) आकाश लोकवासी पितरों के लिये स्वधा ।

(३०) "अङ्गिरसो०" सोम के योग्य और नवीन गति वाले अङ्गिरा अथर्वा अथवा भृगु ऋषि के वंश में उत्पन्न जो हमारे पितर हैं उनके यज्ञोपयोगी कल्याणकारिणी भद्र मनोवृत्ति में हम स्थित हों ।

(३१) "यौ ते०" हे यमदेव ! तुम्हारे गृह के रक्षक चार नेत्र वाले तुम्हारे मार्ग के रक्षक और मनुष्यों में प्रसिद्ध जो दो कुत्ते (श्याम और शबल) हैं उनको इस मृत जीव की रक्षा में नियुक्त कीजिये और इस मृत के लिये आरोग्य तथा कल्याण को धारण कीजिये ।

(३२) "यमग्ने०" हे अग्ने ! पितरों को दिये हुए अन्न को पहुँचाने वाले तुम भी जिस हविरूपी अन्न को उत्तम समझते हो, हमारे वचन से बोध के योग्य देवताओं को दिये हुये उस हवि को सब ओर पहुँचा दो ।

(३३) "यो अग्नि०" कव्य (पितरों को दिया हुआ अन्न) के पहुँचाने वाले यज्ञ के वृद्धिकारी जिन अग्नि ने पितरों का यजन किया वे ही अग्नि देवता और पितरों से सब स्थानों में इस हवि का वर्णन करते हैं।

यः कव्यवाहनः 'ऋतावृधः' सत्यस्य यज्ञस्य वा वृद्धिकारी अग्निः पितॄन्यक्षत् इष्टवान् 'उ इत्' स एव देवेभ्यः पितृभ्यश्च हव्यानि हवींषि 'आप्रवोचति' समन्तात् कथयति इत्यर्थः ।

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवी ँ षि ॥ ६६ ॥

हे कव्यवाहन ! अग्ने ! 'ईडितः' ऋत्विग्भिः स्तुतः त्वम् 'हव्यानि सुरभीणि कृत्वी अवाट्' हवींषि सुरभीणि कृत्वा वहसि स्वधया पितृभ्यः प्रादाः पितृदेवत्यैर्मन्त्रैः पितृभ्यः प्रत्तवान् 'ते अक्षन्' भक्षितवन्तः हे 'देव' ! अग्ने 'त्वम्' 'त्वमपि प्रयता हवींषि अद्धि' शुद्धानि हवींषि भुङ्क्ष्वेत्यर्थः ।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यतिते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥६७॥

इह लोके ये पितरो जन्मान्तरमाप्ताः ये च नेह यांश्च वयं 'विद्म' विद्मः यां उ च न प्रविद्मः विदन्तोऽपि क्व ते सन्ति अनेकपुरुषव्यवहितत्वात् किमभिधानास्ते ? इति विशिष्य न विद्मः । हे 'जातवेदः' सर्वज्ञ अग्ने त्वम् 'यतिते' यावन्तस्ते तावत इति शेषः । 'वेत्थ' विशिष्य जानासि स्वधाभिः पितृभ्यो दत्तैरन्नैः 'सुकृतम्' स्वनुष्ठितं यज्ञं जुषस्व सेवस्वेत्यर्थः ।

इदम्पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नून ँ सुवृजनासु विक्षु ॥६८॥

ये पूर्वासः पूर्वे पितरः वस्वादिसंज्ञाः 'ये उ' येऽपि 'परासः' परे अन्ये 'ईयुः' मृत्वा परलोकं प्राप्ताः ये 'पार्थिवे रजसि' स्वर्गादिलोके 'आनिषत्ता' समन्तादुपविष्टा 'वा' अथवा ये 'नूनं' निश्चितम् 'सुवृजनासु विक्षु' धर्मबलयुक्तासु प्रजासु मनुष्यलोक इति यावत् आनिषत्ता इत्यनुषज्यते अद्य तेभ्यः पितृभ्यः इदम् 'नमः' अन्नम् अस्तु इत्यर्थः ।

भाषा

(३४) "त्वमग्न०" हे कव्यवाहन अग्ने ! ऋत्विजों से की हुई स्तुति को सुनकर तुम हवि को सुगन्धित कर पहुँचाते हो और पितरों के मन्त्रों से वह हवि पितरों को तुमने दिया और वे उसको भक्षण कर चुके । हे देव अग्ने ! अब तुम भी शुद्ध हवियों को भक्षण करो ।

(३५) "ये चेह०" जो पितर इस लोक में जन्मान्तर पा चुके हैं तथा जो इस लोक में नहीं हैं और जिनको हम जानते हैं तथा जिनको अनेक पुरुषों के व्यवधान से हम विशेष रूप से नहीं जानते कि उनका क्या नाम है और कहाँ रहते हैं । हे सर्वज्ञ अग्ने ! आप उन सबको विशेष रूप से जानते हो और आप पितरों को दिये हुए अन्न से भली भाँति किये हुये यज्ञ की सेवा करो ।

(३६) "इदम्पितृभ्यो०" जो वसु, रुद्र, आदित्य नामक पुराने पितर हैं तथा जो अन्य पितर नये मृत होकर परलोक गये हैं तथा जो पितर स्वर्गादि लोक में बैठे हैं और जो पितर मनुष्य लोक में जन्मान्तर पाये हैं आज उन सब पितरोंके लिये यह अन्न उपकारी हो ।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥६६॥

हे अग्ने ! 'यथा ऋतमाशुषाणाः' यज्ञं प्राप्तवन्तः 'परासः प्रत्नासः' प्राचीना नवीनाश्च नः पितरः 'अधाः' अधोलोकान् 'शुचि' पवित्रम् 'दीधितिम्' इव सूर्यमण्डलमेव 'अयन्' प्राप्ताः तथा वयमिति शेषः 'उक्थशासः' उक्थनामकसामपाठिनः 'क्षामा' श्राद्धकर्मश्रमेण कृशाः भिन्दन्तः वेद्यादि निर्माणार्थं भूमिम् इत्यर्थात् 'अरुणीः' सूर्यज्योतींषि 'अपव्रन्' प्राप्नुयामेत्यर्थः ।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ७० ॥

हे अग्ने ! 'उशन्तः' कामार्थिनो वयम् 'त्वा' त्वाम् 'निधीमहि' स्थापयामः उशन्तः 'समिधीमहि' त्वां प्रज्वलयामः हे 'उशन्' हविरभिलषन् त्वम् उशतः हविष्कामान् पितॄन् 'हविषे अत्तवे' हविर्भक्षणाय 'आवह' आनयेत्यर्थः ।

अथ स्मार्तः

मनु० अध्या० ३—कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥१९४॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१९५॥

भाषा

(३७) "अधा यथा०" जैसे प्राचीन और नवीन पितर यज्ञ को प्राप्त होकर नीचे के लोक से पवित्र सूर्यमण्डल को प्राप्त हो गये वैसे उक्थ नामक साम मन्त्र के पढ़ने वाले और श्राद्ध के परिश्रम से दुर्बल वेदी आदि बनाने के लिये भूमि को खोदते खोदते हम भी सूर्य की किरणों पर चढ़ जायें।

(३८) "उशन्त०" हे अग्ने! काम के अर्थी हम तुमको स्थापन करते हैं और प्रज्वलित करते हैं। हे हवि के चाहने वाले अग्नि! आप हवि के चाहने वाले पितरों को हवि के भोजनार्थ ले आइये।

यहाँ तक श्राद्ध के विषय में वैदिक प्रमाण दिखलाया गया। अब स्मृति प्रमाण दिखलाया जाता है, अर्थात् मनु अध्याय ३ के २ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं।

"कुर्याद०" पितरों की तृप्ति के लिए प्रतिदिन यथासम्भव अन्न वा जल वा दुग्ध वा मूल वा फल से श्राद्ध करे ॥ ८२ ॥

"मनो०" ब्रह्मा के पुत्र मनु के जो मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा आदि ऋषि पुत्र हैं उन्हीं के पुत्र सोमप आदि पितृगण हैं ॥ १९४ ॥

"विराट्०" विराट के पुत्र सोमसद्गण श्राद्धों के पितर हैं और मरीचि के पुत्र लोकप्रसिद्ध अग्निष्वात्त नामक गण देवताओं के पितर हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयत्ताणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता वर्हिपदोऽत्रिजाः ॥१९६॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥१९७॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यास्थाज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥१९८॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् वर्हिपदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥१९९॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः ।
तेपामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥२००॥
राजतैर्भाजनैरेपामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥२०२॥ इति ।

वा० रा० अयो० का० सर्ग १४—

रामाभिपेकसम्भारैः तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

भाषा

"दैत्यदानव०" अत्रि के पुत्र वर्हिपद् नामक गण दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पक्षी और किन्नरों के पितर हैं ॥ १९६ ॥

"सोमपा०" कवि के पुत्र सोमप नामक गण ब्राह्मणों के और अङ्गिरा के पुत्र हविर्भुज नामक गण क्षत्रियों के तथा पुलस्त्य के पुत्र आज्यप नामक गण वैश्यों के और वसिष्ठ के पुत्र सुकालिन नामक गण शूद्रों के पितर हैं ॥ १९७ ॥ १९८ ॥

"अग्निदग्धा०" अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, वर्हिपद्, अग्निष्वात्त और सौम्य नामक ये अन्य पितर भी ब्राह्मणों ही के हैं ॥ १९९ ॥

"य एते०" पितरों के प्रधान गण जो कहे गये उनके भी पुत्र, पौत्र आदि की परम्परा जगत् में अनन्त है और वे सब भी पितर ही हैं (जो कि वर, वरेण्य आदि पितृगण मार्कण्डेय पुराण आदि में सुने जाते हैं) ॥ २०० ॥

"राजतै०" इन पितरों के लिये रजतपात्र अथवा रजतयुक्त ताम्रादि पात्र से दिया हुआ जल मात्र भी अक्षय सुख का कारण होता है और खीर आदि को कौन कहे ॥ २०२ ॥

अब श्राद्ध के विषय में इतिहास आदि प्रमाण दिये जाते हैं—

वा० रा० अयो० सर्ग० १४—"राम०" राम के राज्याभिषेकार्थ जो सामग्री इकट्ठी की गई उससे मेरे मरने पर मेरे जलाञ्जलि आदि कर्म को राम के द्वारा कराना ॥ १६ ॥

सर्ग० ७७—ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

सर्ग० १०२—उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र! क्रियतामुदकं पितुः।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥
प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

सर्ग० १०३—शीघ्रं स्रोतः समासाद्य तीर्थे शिवमकर्दमम्।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद्भवत्विति ॥ २५ ॥
प्रगृह्य तु महीपालो जलपूरितमञ्जलिम्।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम्।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥
ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥
ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥
इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥ इति।

भाषा

सर्ग० ७७—"ततो दशाहे०" श्री दशरथ के शरीर छूटने के दश दिन बीतने के अनन्तर शुद्ध हो कर १२ वें दिन भरत ने श्राद्ध कर्म किया ॥ १ ॥

सर्ग० १०२—हे पुरुषव्याघ्र (राम)! उठिये! पिता का जलदान कीजिये। मैं और यह शत्रुघ्न भी पूर्व ही जलाञ्जलि दे चुके हैं। हे राघव! अब आप दीजिये क्योंकि ॥ ७ ॥ ऐसा लोग कहते हैं कि प्रिय का दिया हुआ जल पितृलोक में अक्षय होता है और आप पिता के बड़े प्रिय हैं ॥ ८ ॥

सर्ग० १०३—शीघ्र ही नदी के समीप टीघुर (कड़ी जमीन) और शुद्ध घाट पर पहुँच कर राजा दशरथ के लिये जल देने का आरम्भ किया। और रोदन करते श्री राम ने दक्षिण मुख हो जल से पूर्ण अञ्जलि को उठाकर यह कहा कि ॥ २६ ॥ हे राजशार्दूल! पितृलोक में गत आपके लिये यह मेरा दिया हुआ निर्मल जल अक्षय होकर उपस्थित हो ॥ २७ ॥ तदनन्तर मन्दाकिनी के तीर पर श्री राम ने भाइयों के साथ पिता का श्राद्ध किया ॥ २८ ॥ कुशों पर बेर के पत्तों से मिश्रित इङ्गुआ का फल अर्थात् पिण्डी को रख कर दुःखार्त श्रीराम ने कहा कि ॥ २९ ॥ हे महाराज! प्रसन्न हो कर यह भोजन कीजिये जो कि हम भोजन किया करते हैं क्योंकि जिस पुरुष के लिये जो अन्न है वही उसके देवता के लिये भी ॥ ३० ॥

भारते स्त्रीपर्वणि—

अ० २६, धृत०—येऽत्रानाथा जनस्यास्य सनाथा ये च भारत।
कच्चित्तेषां शरीराणि धक्ष्यन्ति विधिपूर्वकम् ॥ २१ ॥
न येषां सन्ति कर्तारो न च येऽत्राहिताग्नयः।
वयं च कस्य कुर्याम वहुत्वात्तात कर्मणः ॥ २२ ॥
यान् सुपर्णाश्च गृध्राश्च विकर्षन्ति ततस्ततः।
तेषान्तु कर्मणा लोका भविष्यन्ति युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
वैशम्पा०—एवमुक्तो महाप्राज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च सञ्जयम् ॥ २४ ॥
विदुरं च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवम्।
इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान् सूतांश्च सर्वतः ॥ २५ ॥
भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्यनेकशः।
यथा चानाथवत् किञ्चिच्छरीरं न विनश्यति ॥ २६ ॥
शासनाद्धर्मराजस्य क्षत्ता सूतश्च सञ्जयः।
सुधर्मा धौम्यसहित इन्द्रसेनादयस्तथा ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत।
घृतं तैलं च गन्धांश्च क्षौमाणि वसनानि च ॥ २८ ॥
समाहृत्य महार्हाणि दारूणां चैव सञ्चयान्।
रथांश्च मृदितांस्तत्र नानाप्रहरणानि च ॥ २६ ॥
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथा मुख्यान्नराधिप।
दाहयामासुरव्यग्रा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

भाषा

म० भा० स्त्री० प० अ० २६—"येऽत्र०" हे युधिष्ठिर ! यहाँ जो मृतक अनाथ हैं। और जो सनाथ हैं क्या उनके शरीरों का विधिवत् दाह होगा ? ॥ २१ ॥ जिनके दाह करने वाले कोई नहीं हैं और वे अग्निहोत्री भी न थे, क्या उनका दाह विधिवत् होगा ? बहुत लोग ऐसे इस युद्ध में मरे हैं, हम किसका २ कर्म करेंगे ? ॥ २२ ॥ जिनको गरुड़ और गीध चोंचों और चंगुलों से इधर उधर खींच रहे हैं उनके अच्छे लोक कर्म करने से होंगे ? ॥ २३ ॥

वैश०—ऐसा सुन महा बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने सुधर्मा और धौम्य पुरोहित तथा सञ्जय और महाबुद्धि विदुर तथा कौरव युयुत्सु और इन्द्रसेन आदि भृत्यों तथा सब सूतों को यह आज्ञा दिया कि आप लोग इन मृतों का ऐसा शास्त्रीय कर्म कराइये जिसमें कि कोई एक भी शरीर अनाथ के ऐसा कर्म से वञ्चित न रह जाय। ॥ २४—२६ ॥

धर्मराज की आज्ञानुसार उन लोगों ने चन्दन, अगर और सामान्य अन्यान्य काष्ठों की राशि तथा घी, तेल और अन्यान्य सुगन्धित वस्तु और बड़े २ मूल्य के रेशमी कपड़े और टूटे फूटे रथ और

दुर्योधनं च राजानं भ्रातॄंश्चास्य शताधिकान् ।
शल्यं शलं च राजानं भूरिश्रवसमेव च ॥ ३१ ॥
जयद्रथं च राजानमभिमन्युं च भारत ।
दौःशासनिं लक्ष्मणं च धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ३२ ॥
बृहन्तं सोमदत्तं च सृञ्जयांश्च शताधिकान् ।
राजानं क्षेमधन्वानं विराटद्रुपदौ तथा ॥ ३३ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
युधामन्युञ्च विक्रान्तमुत्तमौजसमेव च ॥ ३४ ॥
कौशल्यं द्रौपदेयांश्च शकुनिं चैव सौबलम् ।
अचलं वृषकं चैव भगदत्तं च पार्थिवम् ॥ ३५ ॥
कर्णं वैकर्त्तनं चैव सहपुत्रममर्षणम् ।
कैकयांश्च महेष्वासांस्त्रिगर्तांश्च महारथान् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचं राक्षसेन्द्रं बकभ्रातारमेव च ।
अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
अन्यांश्च पार्थिवान् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।
घृतधाराहुतैर्दीप्तैः पावकैः समदाहयन् ॥ ३८ ॥
पितृमेधाश्च केषांचित्प्रावर्तन्त महात्मनाम् ।
सामभिश्चाप्यगायन्त तेऽन्वशोचन्त चापरैः ॥ ३९ ॥
साम्नामृचां च नादेन स्त्रीणां च रुदितस्वनैः ।
कश्मलं सर्वभूतानां निशायां समपद्यत ॥ ४० ॥

भाषा

अनेक प्रकार के शस्त्रों में लगे हुये काष्ठों को इकट्ठा कर चिताओं को प्रयत्न से बना विधिपूर्वक मुख्य २ पुरुषों अर्थात् राजा दुर्योधन और उनके ९९ भ्राता तथा राजा शल्य और शल तथा भूरिश्रवा और जयद्रथ तथा अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु और राजपुत्र लक्ष्मण और राजा धृष्टकेतु तथा सोमदत्त और सृञ्जय नामक सैकड़ों राजे और राजा क्षेमधन्वा, विराट, द्रुपद, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, युधामन्यु, उत्तमौजा और कोशलराज तथा द्रौपदी के पांच पुत्र और गंधार के राजा शकुनि और राजा अचल और वृषक तथा चीन के राजा भगदत्त तथा अपने पुत्रों के सहित कर्ण और केकय और त्रिगर्त देश के प्रसिद्ध २ महारथ तथा राक्षसेन्द्र घटोत्कच और राक्षस अलायुध और राक्षस अलम्बुष तथा राजा जलसन्ध और सैकड़ों तथा सहस्रों अन्यान्य राजाओं को घृतधारा से प्रज्वलित अग्नियों में दाह करवा दिया ॥ ३७—३८ ॥ और बहुतों के पितृयज्ञ भी होने लगे तथा साम मन्त्रों का गान होने लगा और जीते लोग मरों का शोक करने लगे ॥ ३९ ॥ साम मन्त्रों के निर्घोष और स्त्रियों की चिल्लाहट सुन उस रात्रि समय में सब प्राणियों को बड़ा शोक हुआ ॥ ४० ॥

ते विधूमाः प्रदीप्ताश्च दीप्यमानाश्च पावकाः ।
नभसीवान्वदृश्यन्त ग्रहास्तन्वभ्रसंवृताः ॥ ४१ ॥
ये चाप्यनाथास्तत्रासन्नानादेशसमागताः ।
तांश्च सर्वान् समानाय्य राशीन् कृत्वा सहस्रशः ॥ ४२ ॥
चित्वा दारुभिरव्यग्रैः प्रभूतैः स्नेहपाचितैः ।
दाहयामास विदुरो धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४३ ॥
कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गङ्गामभिमुखोऽगमत् ॥ ४४ ॥

स्त्री० प० अ० २७, ते समासाद्य गङ्गान्तु शिवां पुण्यजलोचिताम् ।
वैश०—ह्रदिनीं च प्रसन्नां च महारूपां महाचलाम् ॥ १ ॥
भूषणान्युत्तरीयाणि वेष्टनान्यवमुच्य च ।
ततः पितॄणां पौत्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥ २ ॥
पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः ।
उदकं चक्रिरे सर्वा रुदत्यो भृशदुःखिताः ॥
सुहृदाञ्चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः ॥ ३ ॥
उदके क्रियमाणे तु वीराणां वीरपत्निभिः ।
सूपतीर्थाऽभवद्गङ्गा भूयो वै प्रससार च ॥ ४ ॥

भाषा

जैसे आकाश में पतले मेघ के ओट में ग्रह देख पड़ते हैं वैसे उस युद्धभूमि में निर्धूम और सधूम जाज्वल्यमान वे चिता के सब अग्नि देख पड़ते थे ॥ ४१ ॥ नाना देशों से आये हुये जो अनाथ मृतक थे, उनका भी सहस्रों २ की एक २ राशि कर काष्ठों और घृतों से धर्मराज की आज्ञानुसार विदुर ने दाह करवा दिया अर्थात् एक शरीर भी दाह से नहीं बचा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ (आगे चल कर धर्मयुद्ध प्रकरण में यह भली भाँति दिखलाया जायगा कि अनेक देशों के बहुत से म्लेच्छ वीर भी भारतयुद्ध में मरे और यहाँ से यह स्पष्ट होता है कि धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर ने महापण्डित विदुर के द्वारा म्लेच्छ मृतकों का भी दाह करवाया जो कि म्लेच्छ सम्प्रदाय के विरुद्ध है और इसमें दो ही कारण ज्ञात होता है। एक यह कि युद्धमृत्यु के कारण उनका शरीर पवित्र होकर दाह के योग्य हो गया था, अथवा दूसरा यह कि म्लेच्छ भी सब परम्परा से आर्य्यों ही के सन्तान हैं जैसा कि 'वेददुर्गसज्जन' में कहा जा चुका है । राजा युधिष्ठिर ने मृतकों की क्रिया करा कर धृतराष्ट्र को आगे कर गङ्गायात्रा के लिये प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

अ० २७, वैश०—गङ्गा के तीर पहुँच कर भूषण वैस्त्र आदि उतार कौरवों की स्त्रियाँ सब बड़े दुःख से रोदन करती हुईं अपने २ पिता, पुत्र, पति और भ्राता आदि को जलाञ्जलि देने लगीं और उस समय गङ्गा में थाह हो गया और तत्पश्चात् पुनः गङ्गा बढ़ गईं ॥ १—४ ॥ आनन्द से रहित

तन्महोदधिसङ्काशं निरानन्दमनुत्सवम् ।
वीरपत्नीभिराकीर्णं गङ्गातीरमशोभत ॥ ५ ॥

ततः कुन्ती महाराज सहसा शोककर्षिता ।
रुदती मन्दया वाचा पुत्रान् वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

यः स शूरो महेष्वासो रथयूथपयूथपः ।
अर्जुनेन हतः सङ्ख्ये वीरलक्षणलक्षितः ॥ ७ ॥

यं सूतपुत्रं मन्यध्वं राधेयमिति पाण्डवाः ।
यो व्यराजच्चमूमध्ये दिवाकर इव प्रभुः ॥ ८ ॥

प्रत्ययुध्यत यः सर्वान् पुरा वः सपदानुगान् ।
दुर्योधनबलं सर्वं यः प्रकर्षन् व्यरोचत ॥ ९ ॥

यस्य नास्ति समो वीर्य्ये पृथिव्यामपि कश्चन ।
यो वृणीत यशः शूरः प्राणैरपि सदा भुवि ॥ १० ॥

सत्यसन्धस्य शूरस्य सङ्ग्रामेष्वपलायिनः ।
कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः ॥ ११ ॥

स हि वः पूर्वजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत ।
कुण्डली कवची शूरो दिवाकरसमप्रभः ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तु पाण्डवाः सर्वे मातुर्वचनमप्रियम् ।
कर्णमेवान्वशोचन्त भूयश्चार्त्ततराभवन् ॥ १३ ॥

भाषा

तथा समुद्र से तुल्य और वीर पत्नियों से सकुल वह गङ्गातीर समुद्र की तरह दुर्गम देख पड़ता था ॥ ५ ॥ हे महाराज (जनमेजय) ! इतने ही में शोक से उद्विग्न और रोती हुई कुन्ती ने मन्द वचन से अपने पुत्रों से कहा कि ॥ ६ ॥ जो वह शूर तथा महा धनुर्धर और रथ यूथों के स्वामियों का स्वामी और वीर लक्षणों से युक्त युद्ध में अर्जुन के हाथ से मारा गया और हे पाण्डवो ! जिसको तुम सूत का पुत्र और राधा के गर्भ से उत्पन्न मानते थे तथा जो सैन्यों के मध्य में सूर्य के ऐसा शोभित हो तुम और तुम्हारे सब सैन्यों के साथ अकेला लड़ता था और दुर्योधन के सब सैन्य उसके पीछे चलते थे तथा पृथिवी में जिसके समान कोई वीर न था, जो कीर्ति की अपेक्षा अपने प्राणों को कुछ भी नहीं समझता था उस सत्यवादी और शूर तथा संग्राम से कदापि न भागने वाले अपने धर्मात्मा भाई को तुम जलाञ्जलि दो। क्योंकि ॥ ७—११ ॥ वह तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता सूर्य के तुल्य और शूर, कवच कुण्डल पहिरे सूर्य से मुझमें उत्पन्न हुआ था ॥ १२ ॥

सब पाण्डवों ने माता के इस अप्रिय वचन को सुन, सबका शोक छोड़ कर्ण ही के शोक से बड़े दुःखी हुये ॥ १३ ॥ तदनन्तर क्रुद्ध सर्प के ऐसा श्वास खींचते हुये राजा युधिष्ठिर ने माता

ततः स पुरुषव्याघ्रः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच मातरं वीरो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १४ ॥
यः शरोर्मिध्वजावर्त्तो महाभुजमहाग्रहः ।
तलशब्दानुनदितो महारथमहाह्रदः ॥ १५ ॥
यस्येषुपातमासाद्य नान्यस्तिष्ठेद्धनञ्जयात् ।
भवत्या स कथं पुत्रो देवगर्भः पुराऽभवत् ॥ १६ ॥
यस्य बाहुप्रतापेन तापिताः सर्वतो वयम् ।
तमग्निमिव वस्त्रेण कथं छादितवत्यसि ॥ १७ ॥
यस्य बाहुबलं नित्यं धार्तराष्ट्रैरुपासितम् ।
उपासितं यथाऽस्माभिर्बलं गाण्डीवधन्वनः ॥ १८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां बलं बलवतां वरः ।
नान्यः कुन्तीसुतात्कर्णादगृह्णाद्रथिना रथी ॥ १९ ॥
स नः प्रथमजो भ्राता सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
असूत तं भवत्यग्रे कथमद्भुतविक्रमम् ॥ २० ॥
अहो भवत्या मन्त्रस्य ग्रहणेन वयं हताः ।
निधनेन हि कर्णस्य पीडिताः स्म सबान्धवाः ॥ २१ ॥
अभिमन्योर्विनाशेन द्रौपदेयवधेन च ।
पञ्चालानाञ्च नाशेन कुरूणां पतनेन च ॥ २२ ॥
ततः शतगुणं दुःखमिदं मामस्पृशद्भृशम् ।
कर्णमेवानुशोचन् हि सन्दह्येऽग्नाविवाहितः ॥ २३ ॥

भाषा

से कहा कि जिसके वाण के सामने अर्जुन से अन्य कोई नहीं खड़ा होता था वह देवगर्भ पुत्र तुमसे कैसे हुआ ? ॥ १४—१६ ॥ जिसके बाहुओं के प्रताप से हम सब सन्तप्त रहते थे। जैसे कोई अग्नि को वस्त्र से आच्छादित करे वैसे तुम उसको कैसे आज तक आच्छादित किये रही ? ॥ १७ ॥

जैसे अर्जुन के बल का हम सब भरोसा करते थे वैसे धृतराष्ट्र के पुत्र जिसके बाहुबल का भरोसा रखते थे और जो अकेला बड़े २ महारथों के और अनेक राजाओं के सैन्यों को नाश कर देता था उस मेरे आश्चर्य पराक्रम वाले ज्येष्ठ भाई को कैसे तुमने उत्पन्न किया ? ॥१८—२०॥ ओ ! हो !! तुम्हारे इस मन्त्र गोपन से हम मारे गये क्योंकि कर्ण की मृत्यु से हम सब बहुत ही पीड़ित हुए ॥ २१ ॥

अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँचो पुत्र और पाञ्चालवीरों तथा कुरुवीरों के नाश से जो दुःख हमको हुआ उससे शतगुण दुःख आज हमको हुआ क्योंकि जैसे कोई अग्नि में डाला हुआ जले वैसे कर्ण के शोकाग्नि में हम जल रहे हैं ॥ २२॥ २३ ॥

नेह स्म किञ्चिदप्राप्यं भवेदपि दिवि स्थितम् ।
न चेदं वैशसं घोरं कौरवान्तकरं भवेत् ॥ २४ ॥
एवं विलप्य बहुलं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विनदन् दुःखितो राजा चकारास्योदकं प्रभुः ॥ २५ ॥
ततो विनेदुः सहसा स्त्रियस्ताः खलु सर्वशः ।
अभितो याः स्थितास्तत्र तस्मिन्नुदककर्मणि ॥ २६ ॥
तत आनाययामास कर्णस्य सपरिच्छदाः ।
स्त्रियः कुरुपतिर्धीमान् भ्रातुः प्रेम्णा युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥
स ताभिः सह धर्मात्मा प्रेतकृत्यमनन्तरम् ।
कृत्वोत्ततारगङ्गायाः सलिलादाकुलेन्द्रियः ॥ २८ ॥ इति ।

आश्रमवासिके पर्वणि अ० ११—

वैश०—ततो रजन्यां व्युष्टायां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विदुरं प्रेषयामास युधिष्ठिरनिवेशनम् ॥ १ ॥
स गत्वा राजवचनादुवाचाच्युतमीश्वरम् ।
युधिष्ठिरं महातेजाः सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २ ॥
धृतराष्ट्रो महाराजो वनवासाय दीक्षितः ।
गमिष्यति वनं राजन्नागतां कार्त्तिकीमिमाम् ॥ ३ ॥
स त्वां कुरुकुलश्रेष्ठ किञ्चिदर्थमभीप्सति ।
श्राद्धमिच्छति दातुं स गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

भाषा

यदि यह बात प्रथम ही हमको ज्ञात होती तो कौरवों का नाशकारी यह महाघोर युद्ध कदापि न होता और कर्ण तथा अर्जुन के पराक्रम से स्वर्ग का भी कोई पदार्थ हमको दुर्लभ न होता ॥ २४ ॥ इस प्रकार बहुत विलाप कर दुःखित और चिल्लाते हुये राजा युधिष्ठिर ने कर्ण के नाम से जलाञ्जलि दी । तदनन्तर उस जलाञ्जलि देने में वहाँ की सब स्त्रियाँ एक साथ उच्चस्वर से चिल्लाने लगीं ॥ २५ ॥ २६ ॥ तत्पश्चात् भाई के प्रेम से राजा युधिष्ठिर ने कर्ण की स्त्रियों को समीप बुला कर उनके साथ प्रेतकृत्य कर गङ्गा से बाहर व्याकुल हो निकले ॥ २८ ॥ इति ।

अ० ११, वैश०—तदनन्तर रात्रि बीते धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर के गृह विदुर को प्रेषण किया ॥ १ ॥ और विदुर ने जाकर राजा के वचनानुसार युधिष्ठिर से कहा कि हे राजन् ! इसी आगामी कार्तिकपूर्णिमा को धृतराष्ट्र महाराज वनवास के लिये दीक्षित होकर वन जायँगे ॥ ३ ॥ हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! वह आपसे कुछ धन लिया चाहते हैं । क्योंकि भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, बाह्लीक

द्रोणस्य सोमदत्तस्य वाह्लीकस्य च धीमतः ।
पुत्राणाञ्चैव सर्वेषां ये चान्ये सुहृदो हताः ॥
यदि चाप्यनुजानीषे सैन्धवापसदस्य च ॥ ५ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य युधिष्ठिरः ।
हृष्टः सम्पूजयामास गुडाकेशश्च पाण्डवः ॥ ६ ॥
न तु भीमो दृढक्रोधस्तद्वचो जगृहे तदा ।
विदुरस्य महातेजा दुर्योधनकृतं स्मरन् ॥ ७ ॥
अभिप्रायं विदित्वा तु भीमसेनस्य फाल्गुनः ।
किरीटी किञ्चिदानम्य तमुवाच नरर्षभम् ॥ ८ ॥
भीम राजा पिता वृद्धो वनवासाय दीक्षितः ।
दातुमिच्छति सर्वेषां सुहृदामौर्ध्वदेहिकम् ॥ ९ ॥
भवता निर्जितं वित्तं दातुमिच्छति कौरवः ।
भीष्मादीनां महाबाहो तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥
दिष्ट्या त्वद्य महाबाहो धृतराष्ट्रः प्रयाचते ।
याचितो यः पुरास्माभिः पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ११ ॥
योऽसौ पृथिव्याः कृत्स्नाया भर्ता भूत्वा नराधिपः ।
परैर्विनिहतामात्यो वनं गन्तुमभीप्सति ॥ १२ ॥
मा तेऽन्यत्पुरुषव्याघ्र दानाद्भवतु दर्शनम् ।
अयशस्यमतोऽन्यत्स्यादधर्मश्च महाभुज ॥ १३ ॥

भाषा

और अपने सब पुत्रों तथा जो उनके मित्र युद्ध में मारे गये उनको और सिन्धुराज जयद्रथ को भी यदि आप अनुज्ञा देते हैं तो वह श्राद्ध दिया चाहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

ऐसा सुन युधिष्ठिर और अर्जुन विदुर के इस वाक्य की प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥ परन्तु दुर्योधन के दिये हुये दुःखों को स्मरण कर दृढ़क्रोध भीमसेन ने इस वचन को ग्रहण नहीं किया अर्थात् मौन रहे ॥ ७ ॥ अर्जुन ने उनका अभिप्राय समझ थोड़ा झुक कर उनसे कहा कि ॥ ८ ॥ हे भीम ! वनवास के लिये दीक्षित बड़े पिता राजा, भीष्मादि सब सम्बन्धियों को श्राद्ध देना चाहते हैं और उसमें आपका विजय किया हुआ धन दिया चाहते हैं । उसके विषय में अनुज्ञा आपको देनी चाहिये ॥ ९ ॥ १० ॥ हे महाबाहो ! जिनसे पूर्व ही हम लोग माँगते थे वह धृतराष्ट्र संयोग से आज हमसे माँगते हैं । काल के इस उलटफेर को देखिये ॥ ११ ॥ पूर्ण पृथिवी के स्वामी वह थे और इस समय शत्रुओं के हाथ से अनाथ होकर वन जाया चाहते हैं ॥ १२ ॥

हे महाभुज पुरुषव्याघ्र ! इन बातों पर ध्यान देकर देने से अन्य प्रकार पर आपकी मति न हो क्योंकि ऐसा करने में अपकीर्ति और अधर्म दोनों होंगे ॥ १३ ॥ हे भरतर्षभ ! अपने ज्येष्ठ

राजानमुपशिक्षस्व ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ।
अर्हस्त्वमपि दातुं वै नादातुं भरतर्षभ ॥ १४ ॥
एवं ब्रुवाणं बीभत्सुं धर्मराजोऽप्यपूजयत् ।
भीमसेनस्तु सक्रोधः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ १५ ॥
वयं भीष्मस्य दास्यामः प्रेतकार्यं च फाल्गुन ।
सोमदत्तस्य नृपतेर्भूरिश्रवस एव च ॥ १६ ॥
बाह्लीकस्य च राजर्षेर्द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव सर्वेषां कुन्ती कर्णाय दास्यति ॥ १७ ॥
श्राद्धानि पुरुषव्याघ्र मा प्रादात् कौरवो नृपः ।
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा नो नन्दन्तु शत्रवः ॥ १८ ॥
कष्टात्कष्टतरं यान्तु सर्वे दुर्योधनादयः ।
यैरियं पृथिवी कृत्स्ना घातिता कुलपांसनैः ॥ १९ ॥
कुतस्त्वमसि विस्मृत्य वैरं द्वादशवार्षिकम् ।
अज्ञातवासं गहनं द्रौपदीशोकवर्द्धनम् ॥ २० ॥
क्व तदा धृतराष्ट्रस्य स्नेहोऽस्मास्वभवत्तदा ।
कृष्णाजिनोपसंवीतो हृताभरणभूषणः ॥ २१ ॥
सार्द्धं पाञ्चालपुत्र्या त्वं राजानमुपजग्मिवान् ।
क्व तदा द्रोणभीष्मौ तौ सोमदत्तोऽपि वाऽभवत् ॥ २२ ॥
यत्र त्रयोदशसमा वने वन्येन जीवथ ।
न तदा त्वां पिता ज्येष्ठः पितृत्वेनाभिवीक्षते ॥ २३ ॥

भाषा

भ्राता इन राजा को शिक्षा आप दें क्योंकि आप देने के योग्य हैं न कि लेने के ॥ १४ ॥ इस वचन को सुन धर्मराज ने भी अर्जुन की प्रशंसा की परन्तु भीमसेन ने क्रोध से यह कहा कि हे पुरुषव्याघ्र । मेरी यह बुद्धि है कि भीष्म, सोमदत्त, भूरिश्रवा तथा महात्मा द्रोण और अन्य लोगों को हम श्राद्ध देंगे और कर्ण को कुन्ती देगी । राजा धृतराष्ट्र किसी को श्राद्ध न दें और जिन कुलपांसनों ने पृथिवी भर को मरवा डाला वे दुर्योधनादि हमारे शत्रु कदापि आनन्द न पावें, किन्तु कष्ट से भी अतिकष्ट दशा को प्राप्त हों ॥ १५—१९ ॥ और मैं नहीं समझता कि एक वर्ष अज्ञात वास वाले और द्रौपदी के शोक को बढ़ाने वाले उस बारह वर्षों वाले वैर को तुम कैसे भूल बैठे हो । ॥ २० ॥ तब हममें धृतराष्ट्र का प्रेम और स्नेह कहाँ था ? जब भूषण वस्त्र तुम्हारे सब छीने गये और कृष्ण मृगचर्म धारण कर द्रौपदी के साथ तुम इन्हीं राजा धृतराष्ट्र के समीप गये । उस समय द्रोण, भीष्म और सोमदत्त कहाँ थे ? ॥ २१ ॥ २२ ॥ जब कि तुम वनफल खाकर तेरह वर्ष जीते थे तब तो ये तुम्हारे बड़े पिता तुमको इस दृष्टि से नहीं देखते थे । क्या अर्जुन ! तुमको वह भूल गया कि इस कुलपांसन और दुर्बुद्धि (धृतराष्ट्र) ने इन्हीं विदुर से पूछा कि द्यूत में क्या २ जीता गया ॥२३॥

किं ते तद्विस्मृतं पार्थ यदेष कुलपांसनः ।
दुर्बुद्धिर्विदुरं प्राह द्यूते किं जितमित्युत ॥ २४ ॥
तमेवं वादिनं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच वचनं धीमान् जोपमास्स्वेति भर्त्सयन् ॥ २५ ॥
अ० १२, अर्जुन उ०—भीम ज्येष्ठो गुरुर्मे त्वं नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।
धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिः सर्वथा मानमर्हति ॥ १ ॥
न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि ।
असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ॥ २ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।
विदुरं प्राह धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
इदं मद्वचनात् क्षत्तः कौरवं ब्रूहि पार्थिवम् ।
यावदिच्छति पुत्राणां श्राद्धं तावद्ददाम्यहम् ॥ ४ ॥
भीष्मादीनां च सर्वेषां सुहृदामाप्तकारिणाम् ।
मम कोशादिति विभो मा भूद्भीमः सुदुर्मनाः ॥ ५ ॥
वैश०—इत्युक्त्वा धर्मराजस्तमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ।
भीमसेनः कटाक्षेण वीक्षाञ्चक्रे धनञ्जयम् ॥ ६ ॥
ततः स विदुरं धीमान् वाक्यमाह युधिष्ठिरः ।
भीमसेने न कोपं स नृपतिः कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥
परिक्लिष्टो हि भीमोऽयं हिमवृष्ट्यातपादिभिः ।
दुःखैर्बहुविधैर्धीमानरण्ये विदितन्तव ॥ ८ ॥

भाषा

ऐसा कहते हुये भीम को भर्त्सना दे (धमका) कर राजा युधिष्ठिर ने कहा कि मौन रहो ॥२४॥२५॥

अ० १२, अर्जुन०—हे भीम ! आप मेरे ज्येष्ठ और गुरु हैं, इससे मैं अब अधिक नहीं कह सकता, परन्तु धृतराष्ट्र राजर्षि सर्वथा मान के योग्य हैं, क्योंकि ॥ १ ॥ आर्यों की मर्यादा रखने वाले उत्तम पुरुष अन्यकृत अपराधों को नहीं स्मरण करते किन्तु उपकारों ही को ॥ २ ॥ अर्जुन के इस वाक्य को सुन कर युधिष्ठिर ने विदुर से कहा कि आप जाकर राजा से इस मेरे वाक्य को कहिये कि हे विभो ! आप अपने पुत्रों और भीष्मादिकों को जितना श्राद्ध दिया चाहते हैं उतना धन मैं अपने कोष से देता हूँ । और भीमसेन विमना न हों अर्थात् उनका मन न दुखे ॥ ३—५ ॥

वैश०—ऐसा कह कर राजा युधिष्ठिर ने अर्जुन की प्रशंसा की और भीमसेन ने अर्जुन को कटाक्ष से देखा ॥ ६ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने विदुर से यह कहा कि महाराज को भीमसेन पर कोप नहीं करना चाहिये क्योंकि आप जानते हैं कि वन में भीमसेन ने जाड़ा, पानी, घाम आदि के द्वारा बहुत ही दुःख पाया है ॥ ७ ॥ ८ ॥ किन्तु मेरे इस वचन को राजा से आप कहिये कि हे भरतर्षभ !

किन्तु मद्वचनाद्ब्रूहि राजानं भरतर्षभ ।
यद्यदिच्छसि यावच्च गृह्य तां मद्गृहादिति ॥ ९ ॥
यन्मात्सर्यमयं भीमः करोति भृशदुःखितः ।
न तन्मनसि कर्त्तव्यमिति वाच्यः स पार्थिवः ॥ १० ॥
यन्ममास्ति धनं किञ्चिदर्जुनस्य च वेश्मनि ।
तस्य स्वामी महाराज इति वाच्यः स पार्थिवः ॥ ११ ॥
ददातु राजा विप्रेभ्यो यथेष्टं क्रियतां व्ययः ।
पुत्राणां सुहृदां चैव गच्छत्वानृण्यमद्य सः ॥ १२ ॥
इदं चापि शरीरं मे तवायत्तं जनाधिप ।
धनानि चेति विद्धि त्वं न च तत्रास्ति संशयः ॥ १३ ॥

अ० १३, वैश०—एवमुक्तस्तु राज्ञा स विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धृतराष्ट्रमुपेत्यैवं वाक्यमाह महार्थवत् ॥ १ ॥
उक्तो युधिष्ठिरो राजा भवद्वचनमादितः ।
स च संश्रुत्य वाक्यन्ते प्रशशंस महाद्युतिः ॥ २ ॥
बीभत्सुश्च महातेजा निवेदयति ते गृहान् ।
वसु यस्य गृहे यच्च प्राणानपि च केवलान् ॥ ३ ॥
धर्मराजश्च पुत्रस्ते राज्यं प्राणान् धनानि च ।
अनुजानाति राजर्षे यच्चान्यदपि किञ्चन ॥ ४ ॥
भीमस्तु सर्वदुःखानि संस्मृत्य बहुलान्युत ।
कृच्छ्रादिव महाबाहुरनुजज्ञे विनिश्वसन् ॥ ५ ॥

भाषा

जो २ वस्तु जितनी २ आप चाहें मेरे गृह से लें ॥ ९ ॥ और यह भी कहिये कि पूर्व के अति दुःखित भीमसेन जो कुछ द्वेष से कहते हैं उसको मन में नहीं लाना चाहिये ॥ १० ॥ और यह भी कहिये कि हमारे और अर्जुन के गृहों में जो कुछ धन है उसके स्वामी महाराज (धृतराष्ट्र) हैं ॥ ११ ॥ आपने यथेष्ट इस धन को ब्राह्मणों को दें और व्यय करें तथा पुत्रों और अन्यान्य मित्रों के ऋण से छूटें ॥ १२ ॥ और हे महाराज ! इसमें कुछ भी संशय नहीं है और इसको आप निश्चय करें कि यह मेरा शरीर और ये मेरे सब धन आप ही के हैं ॥ १३ ॥

अ० १३, वैश०—तदनन्तर विदुर ने धृतराष्ट्र के समीप आकर यह कहा कि ॥ १ ॥ मैंने युधिष्ठिर से आप की सब बातें कहा । सुन कर उन्होंने प्रशंसा किया ॥ २ ॥ अर्जुन भी अपने गृह, धन और प्राण को आपके सामने निवेदन करते हैं, तथा आप के पुत्र धर्मराज राज्य, प्राण तथा धनों को और जो कुछ उनका है आप के लिये निवेदन करते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ परन्तु भीमसेन ने उन सब दुःखों को स्मरण कर किसी रीति से अनुज्ञा दिया और धर्मशील राजा युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने भीमसेन

स राजन् धर्मशीलेन राज्ञा वीभत्सुना तथा ।
अनुनीतो महाबाहुः सौहृदे स्थापितोऽपि च ॥ ६ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्य इति त्वां प्राह धर्मराट् ।
संस्मृत्य भीमस्तद्वैरं यदन्यायवदाचरत् ॥ ७ ॥
एवं प्रायो हि धर्मोऽयं क्षत्रियाणां नराधिप ।
युद्धे क्षत्रियधर्मे च निरतोऽयं वृकोदरः ॥ ८ ॥
वृकोदरकृते चाहमर्जुनश्च पुनः पुनः ।
प्रसीद याचे नृपते भवान् प्रभुरिहास्ति यत् ॥ ९ ॥
तद्दातु भवान् वित्तं यावदिच्छसि पार्थिव ।
त्वमीश्वरोऽस्य राज्यस्य प्राणानामपि भारत ॥ १० ॥
ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पुत्राणामौर्ध्वदैहिकम् ।
इतो रत्नानि गाश्चैव दासीदासमजाविकम् ॥ ११ ॥
आनयित्वा कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छतु ।
दीनान्धकृपणेभ्यश्च तत्र तत्र नृप त्वया ॥ १२ ॥
बह्वन्नरसपानाद्याः सभा वि र कारय ।
गवां निपानान्यन्यच्च विविधं पुण्यकं कुरु ॥ १३ ॥
इति मामब्रवीद्राजा पार्थश्चैव धनञ्जयः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥

भाषा

का अनुनय किया और उनको अच्छे भाव पर स्थापित किया ॥ ५ ॥ ६ ॥ और धर्मराज ने आप से यह प्रार्थना किया है कि पूर्व वैर को स्मरण कर भीमसेन ने जो अन्याय से ऐसा आचरण किया हैं उस पर आप खेद वा क्रोध न करें क्योंकि भीमसेन युद्ध और क्षत्रिय धर्म को अपने स्वभाव ही से प्रधान समझते हैं और क्षत्रियों का ऐसा ही धर्म भी है ॥ ७ ॥ ८ ॥ भीमसेन के लिये हम और अर्जुन आप से पुनः पुनः प्रसाद माँगते हैं क्योंकि हे महाराज, आप हमारे प्रभु हैं ॥ ९ ॥

हे भारत ! आप हमारे इस राज्य तथा हमारे प्राणों के भी स्वामी हैं। इसलिये आप जितना चाहिये उतना धन व्यय कीजिये ॥ १० ॥ और मुझसे युधिष्ठिर ने यह भी कहा कि ब्राह्मणों के लिये पुरस्कार तथा पुत्रों के श्राद्ध में यहाँ से रत्न, गौ, दासी, दास सब मँगाकर कुरुराज ब्राह्मणों और दीन अन्ध कृपणों को दें ॥ ११ ॥ १२ ॥ और मुझसे यह भी कहा कि बहुत से अन्न, रस, पान आदि तथा बहुत सी सभाएँ और गौओं के लिये रसपान के स्थान आदि तुम बनवाओ ॥ १३ ॥ राजा और अर्जुन दोनों ने यही कहा कि जिसको मैंने आप से कह दिया अब इसके अनन्तर जो आपको करना हो सो कहिये ॥ १४ ॥

इत्युक्ते विदुरेणाथ धृतराष्ट्रोऽभिनिन्द्य तान् ।
मनश्चक्रे महादाने कार्तिक्यां जनमेजय ॥ १५ ॥
अ० १४, वैश०—विदुरेणैवमुक्तस्तु धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
प्रीतिमानभवद्राजन् राज्ञो जिष्णोश्च कर्मणि ॥ १ ॥
ततोऽभिरूपान् भीष्माय ब्राह्मणानृषिसत्तमान् ।
पुत्रार्थे सुहृदश्चैव स समीक्ष्य सहस्रशः ॥ २ ॥
कारयित्वान्नपानानि यानान्याच्छादनानि च ।
सुवर्णमणिरत्नानि दासीदासमजाविकम् ॥ ३ ॥
कम्बलानि च रत्नानि ग्रामान् क्षेत्राण्यजाविकम् ।
सालङ्कारान् गजानश्वान् कन्याश्चैव वरस्त्रियः ॥ ४ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य सर्वेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः ।
द्रोणं संकीर्त्य भीष्मञ्च सोमदत्तं च बाह्लिकम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक् पृथक् ।
जयद्रथपुरोगांश्च सुहृदश्चापि सर्वशः ॥ ६ ॥
स श्राद्धयज्ञो ववृते बहुस्रो धनदक्षिणः ।
अनेकधनरत्नौघो युधिष्ठिरमते स्थिताः ॥ ७ ॥
अनिशं यत्र पुरुषाः गणका लेखकास्तथा ।
युधिष्ठिरस्य वचनादपृच्छन्त स्म तं नृपम् ॥ ८ ॥
आज्ञापय किमेतेभ्यः प्रदार्यं दीयतामिति ।
तदुपस्थितमेवात्र वचनान्ते ददुस्तदा ॥ ९ ॥

भाषा

हे जनमेजय ! विदुर से यह सुन युधिष्ठिर को अभिनन्दन कर राजा धृतराष्ट्र ने कार्तिक-पूर्णिमा में महादान के लिये अपने मन को स्थिर किया ॥ १५ ॥

अ० १४, वैश०—तदनन्तर युधिष्ठिर और अर्जुन की बातों से प्रसन्न होकर धृतराष्ट्र ने उत्तमोत्तम सहस्रों ब्राह्मणों को अपने चित्त में समझ समझकर बुलाया ॥ १ ॥ २ ॥ तथा अन्न पानादि बनवाया और हाथी, घोड़ा आदि वाहन तथा अनेक प्रकारों के वस्त्र, सुवर्ण, मणि, दासी, दास, बकरी, भेड़ी, दुशाले, ग्राम, खेत, कन्याएँ आदि पदार्थों को मृतों में से एक २ का नाम लेकर सबको दिया अर्थात् द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, दुर्योधन और अपने अन्य पुत्रों तथा जयद्रथ आदि सम्बन्धियों को पृथक् पृथक् नाम ले लेकर सबको दिया ॥ ४—६ ॥

यह जो धन रूपी दक्षिणा वाला श्राद्ध यज्ञ हुआ जिसमें युधिष्ठिर के मतानुसार बहुत से गणक (मुहासिव), लेखक (मुंशी) पुरुष सदा राजा धृतराष्ट्र से पूछते रहते थे कि अमुक २ को क्या २ दिया जाय और धृतराष्ट्र के वचन के साथ ही दे देते थे । धृतराष्ट्र जिसको शत धन देने को कहते थे युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार उसको सहस्र और जिसको सहस्र देने को कहते थे

शते देये दश शतं सहस्रे चायुतन्तथा ।
दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ॥ १० ॥
एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः ।
तर्पयामास विप्राँस्तान् वर्षन् शस्यमिवाम्बुदः ॥ ११ ॥
ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान् महामते ।
अन्नपानरसौघेन स्नावयामास पार्थिवः ॥ १२ ॥
स वस्त्रधनरत्नौघो मृदङ्गनिनदो महान् ।
हस्त्यश्वमकरावर्त्तो नानारत्नमहाकरः ॥ १३ ॥
ग्रामाग्रहारद्वीपाढ्यो मणिहेमजलार्णवः ।
जगत् संस्नावयामास धृतराष्ट्रोडुपोद्धतः ॥ १४ ॥
एवं स पुत्रपौत्राणां पितॄणामात्मनस्तथा ।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदैहिकम् ॥ १५ ॥
परिश्रान्तो यदासीत् स ददद्दानान्यनेकशः ।
निवर्तयामास तदा दानयज्ञं नराधिपः ॥ १६ ॥
एवं स राजा कौरव्यश्चक्रे दानमहाक्रतुम् ।
नटनर्तकलास्याढ्यं बह्वन्नरसदक्षिणम् ॥ १७ ॥

भाषा

उसको दश सहस्र दिया जाता था । निदान धृतराष्ट्र की कही हुई संख्या से दश २ गुण अधिक संख्या का नियम उस दान में था ॥ ७—१० ॥

इस प्रकार धन रूपी धारा से वृष्टि करते हुये धृतराष्ट्र रूपी मेघ ने उन ब्राह्मण रूपी सस्यों को तृप्त कर दिया ॥ ११ ॥ तदनन्तर सब वर्णों और जातियों को राजा धृतराष्ट्र ने अन्न, पान और रस रूपी प्रवाह से आप्लावित कर दिया ॥ १२ ॥

इस प्रकार धृतराष्ट्र रूपी चन्द्रमा के उदय से लहर खाता हुआ वस्त्र, धन और रत्न रूपी प्रवाह से बहता मृदङ्ग आदि के शब्दों से महा कोलाहल करता, हाथी, घोड़ा आदि रूपी जलचरों से पूर्ण, दिये जाते हुए अनेक सहस्र रत्नों से अलंकृत अग्रहार में दिये हुए अनेक ग्राम रूपी द्वीपों से उपलक्षित और मणि सुवर्ण आदि जल से परिपूर्ण उस श्राद्ध यज्ञ रूपी समुद्र ने सब जगत् को आप्लावित कर दिया ॥ १३ ॥ १४ ॥

इस प्रकार से पुत्र, पौत्र और पितरों का श्राद्ध करने के अनन्तर राजा धृतराष्ट्र ने जीवत् श्राद्ध की विधि से अपने और अपनी रानी गान्धारी को भी श्राद्ध दिया ॥ १५ ॥ और जब अनेक प्रकार के दानों को देते २ राजा धृतराष्ट्र श्रान्त हो गये तब दानयज्ञ को समाप्त किया ॥ १६ ॥

हे महाराज जनमेजय ! इस प्रकार से राजा धृतराष्ट्र ने ऐसा आश्चर्यमय दानयज्ञ किया ॥ १७ ॥

दशाहमेवं दानानि दत्वा राजाऽम्बिकासुतः ।
बभूव पुत्रपौत्राणामनृणो भरतर्षभ ॥ १८ ॥

एतावता प्रबन्धेन वसुरुद्रादित्यसम्ज्ञानां देवानां पूजैव श्राद्धशब्देनाभिधीयते। तस्याश्च फलं श्राद्धप्रसादितानां तेषामनुग्रहेण पूजकमृतपितॄणां तृप्तिः पूजकस्य च पुत्रैश्वर्यपुण्यपितृलोकप्राप्त्यादिरैहिक आमुष्मिकश्चेति विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतीतिहासादिभिर्वेददुर्गसज्जनमारभ्यैव सामान्यधर्मप्रकरणात् प्राक् मानतर्कसहस्रोपन्यासपुरःसरं निपुणतरमुपपादितप्रामाण्यैः प्रतिपादितम्। देवानां विग्रहवत्त्वं च देवपूजनप्रकरणे निर्णीतम्। लोकेऽपि स्वपूजाप्रसादितो राजा पूजकांस्तत्सम्बन्धिनश्च स्वाधीनाननुगृह्णातीति प्रसिद्धमेवेति लोकन्यायोऽप्यत्रार्थेऽत्यन्तमनुकूलः। एवं हरिवंशस्य श्राद्धकल्पगारुडस्यप्रेतकल्पादयोऽप्युक्तश्राद्धविध्यर्थवादभूताः पूर्वोक्तार्थवादाधिकरणन्यायेन पुराणप्रामाण्यप्रकरणदर्शितरीत्याऽतिविष्टेन निष्कण्टकनिर्णीतिप्रामाण्या उक्तेऽर्थे प्रमाणत्वेनासन्देहमुपन्यसनीया अपि ग्रन्थगौरवभयादेव नेहोपन्यस्यन्ते। श्राद्धसदाचारश्चानादिपरम्पराऽऽयातः श्राद्धनास्तिकमुखानि म्लापयन् जागर्त्येव किं वा बहुना यत्र प्रत्यन्तवासिनोऽ

भाषा

और उक्त रीति से दश दिन तक श्राद्ध और दान कर अपने पुत्र और पौत्रों के ऋण से राजा धृतराष्ट्र उऋण हो गये ॥ १८ ॥

इस कथा के प्रबन्ध से यह उपदेश पूर्ण रूप से होता है कि शत्रु भी यदि शरणागत हो जाय तो उसके साथ शिष्टों को कैसा वर्ताव करना चाहिये इति ॥ १ ॥

यहाँ तक इस प्रकार से इतनी बातें दिखलाई गई कि वसु, रुद्र, आदित्य देवताओं का पूजन ही श्राद्ध है। और पूजक के मृत पितरों की तृप्ति तथा पूजक को पुत्र ऐश्वर्य आदि और पुण्य लोकादि लौकिक और पारलौकिक फल की प्राप्ति श्राद्ध का फल है। तथा जिनका प्रमाण होना सैकड़ों प्रमाणों और तर्कों से वेददुर्गसज्जन में दृढ़तर सिद्ध कर दिया गया है उन विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, इतिहासादि शब्द रूपी प्रमाणों से श्राद्ध सिद्ध है इति।

तथा जब देवताओं का शरीरधारी और चेतन होना भी देवपूजन प्रकरण के दूसरे विभाग में सिद्ध हो चुका है तब गुरु राजादि दृष्टान्तों के अनुसार वसु आदि देवता के पूजन रूपी श्राद्ध से फल का होना लोक के अनुभव से भी सिद्ध है। और हरिवंश का श्राद्धकल्प तथा गरुड़ पुराण का प्रेतकल्प आदि पौराणिक भाग भी श्राद्ध विधि वाक्यों के अर्थवाद ही हैं जिनमें कि यमलोक आदि की कथायें कही हैं। और जिनका प्रमाण होना विशेषतः पुराण प्रामाण्य निरूपण में भली भाँति सिद्ध हो चुका है। केवल ग्रन्थविस्तरभय से यहाँ उनके वाक्य उद्धृत नहीं किये जाते हैं। तथा श्राद्ध करने की अनादि परम्परा रूपी सदाचार भी नास्तिकों के मुखों को मुद्रित करता हुआ श्राद्ध के विषय में प्रसिद्ध ही है। और अधिक क्या कहना है जब कि वेद बाह्य म्लेच्छगण भी अपने मृत पितरों के उपकारार्थ पितृ श्राद्ध ही के छाया रूपी ईश्वराराधन आदि अनेक कर्मों को अब भी करते ही हैं। अब ध्यान देना चाहिये कि किसी धर्म विषय के सिद्ध करने में जैसे २ प्रमाण अन्वेषण से मिलते वा मिल सकते हैं वैसे सब प्रमाणों से पूर्ण यह श्राद्ध रूपी विषय ऐसा दृढ़ और

प्युक्तस्यास्यैव श्राद्धकर्मणश्छायामुपजीव्य मृतानां स्वपितॄणामुपकारमुद्दिश्य भगवदाराधनस्य नानाविधान् प्रकारानाचरन्ति तथा च कस्यचिदर्थस्य सिद्धौ यद्यद्विधानि प्रमाणान्यन्विष्य प्राप्तुं शक्यन्ते यावद्भिरेव तद्विधैः परिपूर्णोऽयं श्राद्धरूपः सामान्यधर्मो न नास्तिककुलैरपि प्रातिकूल्येन विलोकयितुं शक्यते। तस्मादलमिह विस्तरेण।

यत्तु जीवद्भ्य एव श्राद्धकर्तृपित्रादिभ्यः प्रदेयत्वेन श्राद्धानि वेदेन बोधितानि न मृतेभ्य इति वेदवैनाशिकः तदज्ञानैकमूलकं प्रातारणिकं वा साहसमात्रम्। तथाहि—

(१) यत्रेदं वेदवैनाशिकेन तस्मिन्नेव प्रथममुद्रिते स्वग्रन्थे "मृतेभ्य एव पित्रादिभ्यः श्राद्धं क्रियत" इति मुक्तकण्ठमुक्तमिति स्वग्रन्थविरोधो दुष्परिहरः। अवश्यं च पूर्वमेव तथोक्ता तदुपपादिका धर्मतन्त्रसिद्धान्तयुक्तीरजानता केभ्यश्चिद्वेदबाह्येभ्यो वादे पराभवमनुभूय भूयश्चा-

भाषा

प्रामाणिक है कि वास्तविक में जिसकी ओर नास्तिक लोग भी प्रतिकूल दृष्टि नहीं कर सकते, इसलिये अब यहाँ विस्तार नहीं किया जाता।

यहाँ तक श्राद्ध की सिद्धि हो चुकी अब सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ उल्लास और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के "अथ तृतीयः पितृयज्ञः" प्रकरण में वेदवैनाशिक के श्राद्ध सम्बन्धी कहे हुए मतों का खण्डन रूपी 'कण्टकोद्धार' किया जाता है। वेदवैनाशिक ने यह कहा है कि जीते ही हुए अर्थात् लौकिक ही पिता पितामहादि को श्राद्ध देने का विधान वेद में है न कि मृत पिता आदि को। अब इस पर यह विचार है कि—

खं० १—प्रथम मुद्रित सत्यार्थ प्रकाश की पुस्तक में उन्होंने यह लिखा था कि मृत ही पितर आदि को श्राद्ध दिया जाता है उसका विरोध इस कथन में दुर्वार ही है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि धर्मशास्त्र के पूर्वोक्त सिद्धान्त युक्तियों को न जानने के कारण वेदवैनाशिक ने वाद में अवश्य ही किसी नास्तिक से पराजय पाया अर्थात् उसके समागम में अपने पूर्वलिखित सिद्धान्त को प्रमाणों और तर्कों से सिद्ध न कर सके और कुछ प्रसिद्ध हो जाने के कारण पुनः शास्त्र पढ़ने में लज्जा आती थी तथा शास्त्र के अध्यापकों के साथ विरोध भी था और पढ़ने की अवस्था भी व्यतीत हो चुकी थी इसलिये वे दर्शनशास्त्रों को नहीं पढ़ सकते थे और इसी से धर्मशास्त्रों के गूढ़ तात्पर्यों को भी ठीक नहीं जान सकते थे। इसलिये सत्यार्थप्रकाश की नवीन मुद्रणा में उन्होंने अनन्य गति होकर नास्तिकों से अपना प्राण बचाने के लिये अपने पूर्वलिखित सिद्धान्त के विपरीत इस सिद्धान्त को प्रकाश किया क्योंकि यदि ऐसा कुछ न हुआ होता तो कदापि वह ऐसा अपने विरुद्ध काम न करते।

यदि यह कहा जाय कि प्रथम सिद्धान्त में भूल थी इससे उन्होंने द्वितीय सिद्धान्त किया तो जो ऐसा ही भूलने वाला था वह इस द्वितीय सिद्धान्त में भी नहीं भूला इसमें क्या प्रमाण है? और यही क्यों न मान लिया जाय कि मेरे कहे हुए लौकिक कारण से उन्होंने इस द्वितीय सिद्धान्त को प्रकाशित किया और जब उनके ये दोनों सिद्धान्त अन्योन्य ही में विरुद्ध हैं तब इनमें से एक अवश्य ही असत्य है तथा ऐसी दशा में जब पक्षपात छोड़ कर कोई विद्वान् विचार करने बैठेगा तब

प्येतुं कैश्चित् कारणैरपारयता किंकर्तव्यतामूढेन वेदवैनाशिकेन द्वितीयस्मिन् मुद्रणे स्वप्राय-श्राणाय तद्विपरीतोऽसौ नियम आश्रितः कथमन्यथा स्वयमेव पूर्वमुक्तमपहाय शून्यहृदय इव तद्विपरीतमेवमभिदध्यात् ।

(२) किञ्च जीवतामेव पित्रादीनां श्राद्धसम्प्रदानत्वे 'पूर्वाह्णो वै" इति पूर्वोक्तार्थवादेन सह स्पष्ट एव विरोधः तत्र हि मनुष्येभ्यः पृथक् पितॄणामपराह्ण उक्तः जीवतां पितॄणां मनुष्य-त्वात्तद्द्वयाहतिः स्फुटैव ।

(३) किञ्च "अथैनं मनुष्याः प्रावृता" इति वाक्येनैव गतार्थत्वात् "अथैनं पितरः प्राचीनावीतिन" इति श्रुतेर्वेदवैनाशिकमतेन समुत्थानमेव न स्यात् पितॄणां मनुष्यत्वनियमा-भ्युपगमात् ।

(४) किञ्चैतन्मते "अथैनं पितर" इति "अथैनं मनुष्या" इति श्रुत्योरन्योन्यविरोधो दुर्वारः पितॄणां मनुष्यत्वान्मनुष्यानेव प्रति प्राचीनावीतित्वसव्यजान्वञ्चनप्रावृतोपस्थत्वादि-विरुद्धधर्मोपादानस्य पराहतत्वात् ।

(५) किञ्चैतन्मतेऽनन्तरोक्ताभ्यां श्रुतिभ्यां सह प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वेत्युक्तश्रुतिरपि विरुद्धैव स्यात् । एतन्मते हि "विद्वांसो हि देवाः" इति श्रुतेरन्यथैवार्थापनया पितर इव देवा अपि न मनुष्येभ्योऽन्ये स्वीक्रियन्ते किन्तु विद्वांसो

भाषा

उसको अवश्य यही निर्णय करना पड़ेगा कि प्रथम ही सिद्धान्त सत्य है क्योंकि यह सनातनधर्मानुसारी है न कि नवीन ।

अब श्राद्ध के पूर्वोक्त वाक्यों का विरोध वेदवैनाशिक के मत में दिखलाया जाता है और प्रतीक के अनन्तर वही संख्या लिखी जाती है जो कि उन वाक्यों पर प्रथम लिखी गई है ।

सं० २—"पूर्वाह्णो वै" (२) इस वेदवाक्य का विरोध इस मत में है क्योंकि इस वाक्य में मनुष्यों की पूजा का मध्याह्न और पितरों की पूजा का अपराह्ण काल पृथक् पृथक् कहा है और जीवित पितर भी मनुष्य ही हैं इसलिये यह दो विभाग हो ही नहीं सकता ।

सं० ३—इस मत में "अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः" । (३) इस वेदवाक्य का उत्थान ही नहीं हो सकता क्योंकि वह "अथैनं मनुष्याः प्रावृताः" । (३) इसी वेदवाक्य से गतार्थ हो गया । स्पष्ट ही है कि पितर मनुष्य से इस मत में अन्य नहीं है ।

सं० ४—इस मत से "अथैनं पितरः, अथैनं मनुष्याः" (३) इन दो वाक्यों का अन्योन्य में विरोध दुर्वार ही है क्योंकि पितर भी जब मनुष्य ही हैं तब केवल मनुष्यों ही के लिये दाहिने जानु को नीचा करना और पद्मासन से बैठना ये दोनों काम एक ही काल में विरुद्ध हैं और ऐसे ही प्रथम पितरों का और तदनन्तर मनुष्यों का आना भी विरुद्ध है ।

सं० ५—अनन्तरोक्त इन दोनों श्रुतियों के साथ इस मत में "प्रजापतिं वै" (३) यह श्रुति

मनुष्या एव ते इति स्वीक्रियते तथा च "अथैनं मनुष्या" इति श्रुत्या प्रतिपादितेभ्यो विरुद्धानामपि धर्माणां "यज्ञो वोऽन्न"मित्यादिनाऽस्यां श्रुतौ प्रतिपादनात् स्पष्ट एव विरोधः।

(६) "किञ्च अथैनं मनुष्या" इति श्रुत्या गतार्थत्वादेतन्मते "देवा यज्ञोपवीतिन" इति श्रुतेरात्मलाभोऽपि न स्यात्।

(७) एवमस्मिन् मते "तृतीयाहे"त्युक्ताथर्वश्रुतिविरोधोऽपि दुर्वारः। तत्र 'प्रद्यो'शब्दवाच्येऽन्तरिक्षतृतीयभागे पितृणां स्थितेरविधानात्। तत्र च मनुष्यगन्धस्याऽप्यभावात्।

(८) एवं "तिर इव ही"ति पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरोधोऽप्यस्मिन्मते दुर्वारः। तत्र पितृणां मनुष्यसाक्षात्काराविषयत्वरूपस्य मनुष्येभ्यस्तिरोहितत्वस्य प्रतिपादनात् 'तत्रेवे'ति तु फलदातृत्वद्योतनार्थं प्रत्यक्षविपयसादृश्याभिधानम्। सादृश्यं च भेदगर्भत्वादपि तद्विरोध एतन्मत इति द्विजिह्वोऽयं विरोधतक्षकः।

(९) एवं "ये शतं मनुष्याणामि"ति पूर्वोक्तबृहदारण्यकश्रुतिविरोधोऽपि। तत्र हि मनुष्याणामानन्दशतस्य पित्रैकानन्दत्वं पितृणां च स्वकर्मोपार्जितलोकान्तरवासित्वरूपं जितलोकत्वं चोक्तम्।

(१०) एवं "ये समानाः समनसः पितरः" इत्युक्तयजुर्मन्त्रोऽप्यत्र विरुध्यते तत्र। हि यमलोके पितृणां स्थितिः स्पष्टमेवोक्ता न चासौ जीवितां सम्भविनी।

(११) एवं "पितॄनेव यमे परिददाति अथो पितृलोकमेव जयति" (श० १२।८।१।१९।४५) इति श्रुत्यापि विरोधः। अत्र हि श्रुतौ पितृणां मन्त्रेण यमाधीनतया प्रतिपादनस्य पितृलोकजयः

भाषा

विरुद्ध हो जाती है क्योंकि इस श्रुति में पितरों के ऐसे देवता भी मनुष्यों से अन्य कहे हुए हैं। और इस मत में विद्वान् मनुष्य ही देवता माने जाते हैं।

खं० ६—इस मत में "*देवा यज्ञोपवीतिनः०*" (३) यह वेदवाक्य उठ ही नहीं सकता क्योंकि जब विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं तब "*अथैनं मनुष्याः*" इसी से गतार्थ हो गया।

खं० ७—"*तृतीयाः०*" (५) इस अथर्व वेद के वाक्य का विरोध भी इस मत में दुर्वार ही है क्योंकि इस वाक्य में आकाश का तृतीय भाग अर्थात् 'प्रद्यो' नामक लोक पितरों का कहा हुआ है जहाँ तक कि मनुष्यों के गन्ध मात्र का सम्भव नहीं है।

खं० ८—इस मत में "*तिर इव हि०*" (४) इस वेदवाक्य का भी विरोध है क्योंकि इसमें कहा है कि पितर लोग मनुष्यों के प्रत्यक्ष नहीं होते।

खं० ९—"*ये शतं०*" (६) इस वेदवाक्य का भी विरोध इस मत में स्पष्ट ही है क्योंकि इस वाक्य में मनुष्य लोक के आनन्द की अपेक्षा पितृलोक का आनन्द शत गुण कहा है।

खं० १०—"*ये समाना०*" (७) इस वेदवाक्य का भी विरोध इस मत में है क्योंकि इसमें कतिपय पितरों का यमलोक में वास कहा है जो कि यहाँ के जीवितों का हो ही नहीं सकता।

खं० ११—"*पितॄनेव०*" (८) जो पुरुष मन्त्रों के द्वारा पितरों को यमराज के अधीन कहता है उसका अन्त में पितृलोक मिलता है। इस वेदवाक्य का विरोध भी इस मत से है क्योंकि जीते

फलत्वेनोच्यते। नहि जीवतां पितॄणां मन्त्रेण यमाधीनत्वं कश्चित् सभ्यः प्रतिपादयति पूज्येषु शापप्रदानस्यात्यन्तमनुचितत्वात्।

(१२) एवं "ये समानाः समनसो जीवा" इत्युक्तयुग्मन्त्रेणाऽपि विरोधोऽत्र दुष्परिहरः। अत्र हि "अस्मिंल्लोके श्रीर्मयि कल्पतामि"त्युक्त्या पितॄणां लोकान्तरवासित्वं लभ्यते। अस्मिंल्लोके तेषां श्रीरित्यन्वये तु प्रार्थनीयस्य दायत्वादेव स्वस्वत्वाश्रयस्य तत्प्रार्थना नोपपद्येत।

(१३) एवं "द्वे सृती" इत्युक्तमन्त्रविरोधोऽपि। अत्र हि देवयानपितृयानमार्गाभ्यां पुण्यकृतां मनुष्याणां गमनमुच्यते। तौ च मार्गौ द्युभूलोकयोर्मध्ये स्त इत्यपि। एवं च जीवतामेव पित्रादीनां पितृत्वे विदुषामेव च मनुष्याणां देवत्वे तयोर्मनुष्यत्वात् उक्तमार्गद्वयविभागानुपपत्तिः। मनुष्याणां भूलोकमात्रचारितया तादृशमार्गेण गमनोक्त्यनुपपत्तिश्च।

(१४) एवं "उदीरतामवर" इत्युक्तमन्त्रविरोधोऽपि। तत्र हि "असुं य ईयु" रिति प्राणमात्रमूर्तितया सूक्ष्मशरीरत्वं पितॄणां मध्यलोकवासिनां द्युलोकवासिनां च तेषामूर्ध्वलोकस्य प्राप्तिस्तस्मादप्रच्युतिश्च प्रार्थ्यते। तथेदं द्वयमपि मनुष्याणामेव पितृत्वे व्याहन्यते।

भाषा

हुए अपने पितरों को यमराज के अधीन (मरा) इस कारण कोई नहीं कह सकता कि यह उनके लिये शाप ही है।

सं० १२—"*ये समाना०*" (८) इस वेदवाक्य का भी विरोध इस मत में है क्योंकि इसमें यज्ञकर्ता इस लोक म अपनी लक्ष्मी के लिये प्रार्थना करता है जिससे कि पितरों का लोकान्तरवासी होना निकलता है।

सं० १३—'*द्वे सृती०*' (१०) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है क्योंकि इसमें यह कहा है कि "*स्वर्गलोक और भूलोक के मध्य में अर्थात् आकाश में देवयान और पितृयान दो मार्ग* हैं जिनके द्वारा पुण्यकारी मनुष्य ऊपर को जाते हैं"। यदि मनुष्य ही पितर हैं तो वे भूलोक से अन्यत्र जा नहीं सकते, यदि योग मार्ग से कोई जा भी सकता है तब भी विरोध नहीं छूट सकता क्योंकि यह मन्त्र सब त्रैवर्णिकों के पढ़ने के लिये है और सबके पिता पितामहादि योगी नहीं होते। तथा जब वेदवैनाशिक के मत में देवता और पितर ये दोनों मनुष्य ही हैं तब देवलोक और पितृलोक दोनों मनुष्य लोक ही हैं अर्थात् इस परलोक नास्तिक का मत चार्वाक ही का मत है और इस मत में देवलोक जाने के लिये देवयान और पितृलोक जाने के लिये पितृयान रूपी दो मार्ग के विभाग कथन का विरोध स्पष्ट ही है।

सं० १४—'*उदीरता०*' (११) *इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में* है क्योंकि यदि जीवित मनुष्य ही पितर हैं तो उनकी प्राण रूपी सूक्ष्म मूर्ति हो ही नहीं सकती और न वे आकाश स्थित मध्यलोक वा स्वर्गलोक के वासी हो सकते हैं। तथा उनके लिये उन ऊपर के लोकों की प्राप्ति और वहाँ रहने के लिये प्रार्थना नहीं हो सकती है।

(१५) किञ्च अनन्तरोक्तमन्त्रव्याख्यानभूते "माध्यमिको यम इत्याहुस्तस्मान्माध्यमिकान्पितृन्मन्यन्ते" इत्युपन्यस्ते निरुक्ते पितॄणां यमसालोक्यं स्पष्टमुच्यते। यमस्य च मध्यमो लोकः न च तत्र मनुष्याणां संभव इति निरुक्तविरोधोऽप्यत्र मते।

(१६) किञ्च "वैवस्वतं सङ्गमन" मित्युक्तमन्त्रविरोधोऽपि। अत्र हि यमं प्रति जनानां सङ्गमनमुच्यते तच्च मरणमेव। न हि जीवतां तत् सङ्गमनं संभवति। यमस्य च पितृराजत्वमुच्यत इति सर्वथैव पितॄणां यमसालोक्यं श्लिष्यते। तच्च न जीवत्सु सम्भवति।

एतेन 'ये दुष्टान् नियच्छन्ति निगृह्णन्ति ते एव यमा न्यायाधीशा ऐहिकाः प्राड्विवाकाः' इत्यपि वेदवैनाशिकोक्तमपास्तम्। अनन्तरोक्तमन्त्रविरोधात्। अत्र हि राजानमिति वैवस्वतमिति च यमस्य विशेषणद्वयमुपात्तं तच्च नैहिकेषु प्राड्विवाकेषु संभवति।

किञ्च—

धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट्।
कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड्यमः॥

इत्याद्यभिधानविरोधोऽपि। किञ्च प्राड्विवाकशब्देनैवेहत्या न्यायाधिकारिणो धर्मशास्त्रेषु व्यपदिश्यन्ते, न क्वचिद्यमशब्देनेत्यक्लृप्तशक्तिकल्पनायां प्रमाणाभावः। अपि च वैवस्वते यमशब्दस्य रूढिशक्तिं सर्वथैव तिरस्कृत्य यमयतीति योगशक्तेरेवाभ्युपगमेन मनुष्यप्राड्विवाकानां यमशब्दार्थत्वोपपादने वेदवैनाशिके पूर्वोक्ता वज्रवैकरणाख्यायिका पूर्णैवावतरति।

भाषा

खं० १५—*"माध्यमिको यम इत्याहुस्तस्मान्माध्यमिकान्पितृन् मन्यन्ते०"* (यम को माध्यमिक अर्थात् आकाश में मध्यलोक का वासी कहते हैं। इससे पितरों को माध्यमिक मानते हैं)। यह निरुक्त वाक्य *"उदीरता०"* इस अनन्तरोक्त मन्त्र के संस्कृत व्याख्यान में पूर्व ही उद्धृत हो चुका है और इसका भी विरोध इस मत में है। क्योंकि इसमें पितरों का यमलोक में वास कहा है। जहाँ कि मनुष्यों के वास का सम्भव नहीं है।

खं० १६—*"वैवस्वतं०"* (१२) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है क्योंकि इसमें यमराज के प्रति जनों का संगमन कहा है जो कि मरण के बिना हो ही नहीं सकता। तथा यमराज पितरों के राजा कहे गये हैं। जिससे यमलोक में पितरों का वास निकलता है, क्योंकि जिस राजा की जो प्रजा है वह उसके राज्य में रहती है और मनुष्यों का जीते जी यमलोक में वास नहीं हो सकता।

और इसी मन्त्र के विरोध से वेदवैनाशिक का यह मत भी परास्त हो गया कि "जो यम अर्थात् दुष्टों का दण्ड करते हैं वे न्यायाधीश अर्थात् इस लोक के अधिकारी ही यम हैं। इनसे अन्य कोई यम नहीं है। क्योंकि इस मन्त्र में यम का विशेषण एक वचनान्त ही कहे हुए हैं। एक 'वैवस्वत' (विवस्वान् अर्थात् सूर्य के पुत्र) दूसरा 'राजा' जो कि इस लोक के 'अधिकारी' में नहीं हो सकते क्योंकि ये अधिकारी न तो सूर्य के पुत्र हैं और न राजा हैं, किन्तु मनुष्य के पुत्र और राजा के भृत्य हैं। तथा एक नहीं किन्तु अनेक है।

अत्र प्रसंग से इन वेदवैनाशिक के किए हुए यम शब्द के अर्थ में तीन दोष और भी दिखलाये जाते हैं। एक यह कि *"धर्मराजः पितृपतिः"* इत्यादि कोषों में देवता रूपी एक दण्डकर्ता ही का

सा च—कश्चिच्छाब्दिकंमन्यः पान्थः पुरः पदव्यां व्याघ्रः प्रतिवसति तन्मा पुरोगा इति तत्रत्यैः प्रतिषिद्धोऽपि व्याजिघ्रतीति व्याघ्र इति जिघ्रिष्यति न त्वतः परं किञ्चित् करिष्यतीति निश्चित्य निर्विशङ्कं कियच्चिद्दूरङ्गतो निर्जने गहने गुप्तस्थितेन करालेन कालकल्पेन शार्दूलेन समुत्क्रम्य खरतरैर्नखाङ्कुरै रदनैश्च मुहुर्मुहुर्विदार्यमाणो म्रियमाणः सन् रे रे शुष्कशाब्दिकाः शृणुत शृणुत हिंसार्थकोऽपि जिघ्रतिरस्ति तदयं ब्रह्महत्याशनिविनिपातो 'घ्रा गन्धोपादान' इत्यनुशिष्टवतः प्राणान्तिकवैरिणः शाब्दिकापसदस्य पाणिनेरेव मूर्द्धनीत्यार्त्ततरमत्युच्चैरचुक्रोश इति ।

अत एव च पातीति पिता मानयतीति मातेति व्युत्पत्तिमात्रेण पित्रादिशब्दार्थनिर्णयो वेदवैनाशिकोक्तो निरस्तो वेदितव्यः ।

(१७) एवं 'ये नः पूर्वे पितर०' इत्युक्तयजुर्मन्त्रविरोधोऽपि । तत्र हि पितृभिः सह यमस्य हविर्भोजनं प्रार्थ्यते तद्देवयमलोकवासिनामेव पितृत्वे सङ्गच्छते ।

भाषा

यम नाम कहा हुआ है । उसका विरोध इस अर्थ में है । दूसरा यह कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में न्याया-धिकारियों का यम शब्द से कहीं व्यवहार नहीं किया गया है । इस कारण यम शब्द के इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । तीसरा यह कि सूर्य के पुत्र का यम नाम है और नाम में अन्वय लगाकर अर्थ नहीं किया जाता क्योंकि धनी पुरुष के पुत्र का भी भिखारी नाम होता है । ऐसी ही व्यवस्था सब संज्ञा शब्दों की होती है, और ऐसा ही अर्थ करने के विषय में एक्सटर्ट वेबर साहब के विषय में 'लुप्तोपदवच्छित्राख्य' में मैंने पत्रवैयाकरण की कहानी पूर्व ही लिख दिया है । शोक है कि कुछ संस्कृत व्याकरण के पढ़े लिखे वेदवैनाशिक महाशय के लिये पुनः लिखना पड़ा कि एक पत्रवैयाकरण पथिक से राह में ग्रामीण मनुष्यों ने कहा कि इस राह से मत जाइये । आगे एक बाघ रहता है । वैयाकरण ने यह विचार किया कि बाघ शब्द व्याघ्र शब्द का अपभ्रंश है और व्याघ्र शब्द घ्रा धातु से सिद्ध होने के कारण सूँघने वाले को कहता है । अतः यदि बाघ आवैगा तो मुझे सूँघ कर चला जायगा। इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता ।

ऐसा विचार कर पुनः उसी राह से चला । जब निर्जन वन में पहुँचा तब काल के तुल्य कराल उस भूखे व्याघ्र ने उस वैयाकरण पर आक्रमण कर दाँतों से काट २ कर खाने लगा और उस वैयाकरण ने चिल्ला २ कर कहा कि अरे ! शुष्क वैयाकरणो, सुनिये २, घ्रा धातु का मारा लेना भी अर्थ है इस कारण इस ब्रह्महत्या का पाप उस चिरवैरी पाणिनि के ही शिर पर है जिसने कि 'घ्रा गन्धोपादाने' घ्रा धातु का सूँघना अर्थ है। अपने धातुपाठ में कहा है, और इन पूर्वोक्त युक्तियों से वेदवैनाशिक का 'जो पाले सो पिता जो माने सो माता' इत्यादि बालक्रीड़ा रूपी अर्थ भी निरस्त हो गये।

खं० १७—"ये नः पूर्वे०" (१२) इस मन्त्र का विरोध भी इस मत में है । क्योंकि पितरों के साथ यमराज के भोजन की प्रार्थना इस मन्त्र में है । जिस भोजन की सामर्थ्य केवल देवलोक वासी पितरों में ही है ।

(१८) एवं 'आयन्तु नः पितर०' इत्युक्तमन्त्रविरोधोऽपि। तत्र हि मन्त्रे अग्निदग्ध-मानुषशरीराणां पितॄणां देवयानैः पथिभिः प्रकृतयज्ञे सन्निधिरभ्यर्थ्यते।

(१९) एवं 'ये अग्निष्वात्ता०' इत्युक्तयजुर्मन्त्रेणाऽपि विरोधः। तत्र हि अग्निदग्ध-मानुषशरीराणां त्यक्तादग्धमानुषशरीराणां च पितॄणामर्थे यमः शरीरं कल्पयतीत्युक्तं, न चैतन्मनुष्याणां सम्भवति।

एतेन 'यैरग्नेर्विद्युतो विद्यागृहीता ते मनुष्या एवाऽग्निष्वात्ता' इति वेदवैनाशिकोक्त-मपि परास्तम्। 'यानग्निरेव दहनः स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता' (श० २।५।५।७) इति श्रुतिविरोधाच्च।

(२०) एवं 'पुनन्तु मा पितरः०' इत्युक्तमन्त्रेणापि विरोधः। तत्र हि यजमानेन पित्रादयः स्वशतायुष्ट्वं प्रार्थ्यन्ते। न हि मनुष्याः सामान्यतः शतायुष्कत्वं दातुमीशते येन ते तत्प्रार्थ्या भवेयुः।

(२१) एवं 'आधत्त पितरो गर्भमि'ति पूर्वोक्तमन्त्रेणापि विरोधः। तत्र हि यजमान-पत्न्या मध्यपैतामहपिण्डभोजने पितरस्स्वगर्भाधानं प्रार्थ्यन्ते इति तन्मन्त्रोपरि पूर्वोपन्यस्तेभ्यः

भाषा

खं० १८—"*आयन्तु नः पितरः०*" (१६) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है। क्योंकि जिन पितरों का शरीरदाह हो चुका है, श्राद्ध में देवयान मार्ग से उन पितरों के आने की प्रार्थना इस मन्त्र में है।

खं० १९—"*ये अग्निष्वात्ता०*" (१७) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है। क्योंकि जिन पितरों का मृत शरीर अग्नि में दग्ध हुआ अथवा नहीं दग्ध हुआ उन सब पितरों के शरीरों का यमराज की इच्छा से बन जाना इसमें कहा है, जिसका जीवित मनुष्यों में संभव ही नहीं है। और इसी मन्त्र के विरोध से वेदवैनाशिक का यह मत भी दूषित हो जाता है कि अग्नि अर्थात् बिजली की विद्या को जो मनुष्य पढ़े हैं वे जीवित मनुष्य ही अग्निष्वात्त नामक पितर हैं क्योंकि विद्युत विद्या पढ़े हुए मनुष्य का शरीर अग्नि से दग्ध हुआ नहीं रहता और इसी से उसका दूसरा शरीर भी नहीं बनता तथा एक दोष और भी 'अग्निष्वात्त०' शब्द के अर्थ में है कि "*यानग्नि०*" (१८) इस पूर्वोक्त वैदिक वाक्य से यह अर्थ विरुद्ध है। श्राद्धकर्ता अपने पितरों से अपने शत वर्ष जीवन की प्रार्थना करता है और जीवित पितरों के सामान्य से शत वर्ष जीवन देने की शक्ति ही नहीं रहती।

खं० २०—"*पुनन्तु मा पितरः०*" (२१) इस मंत्र का भी विरोध इस मत में है क्योंकि इस मंत्र में श्राद्धकर्ता अपने पितरों से अपने शतवर्ष जीवन की प्रार्थना करता है और जीवत्पितरों में सामान्य से शतवर्ष जीवन देने की शक्ति ही नहीं रहती।

खं० २१—"*आधत्त पितरो०*" (२२) इस मन्त्र का कठिन विरोध इस मत में है, क्योंकि पूर्व ही इस मन्त्र के व्याख्यान में उद्धृत "*आधत्तेति मध्यमं*" इस कात्यायन और आश्वलायन सूत्र तथा 'पतिव्रता' इन मनु वाक्यों के अनुसार श्राद्धकर्ता की पत्नी आवाहन किये हुये पितरों से अपने में गर्भाधान की प्रार्थना करती है कि हे पितरों! 'आप मुझमें गर्भ का आधान करें'। अब ध्यान देना

कात्यायनाश्वलायनग्रन्थमनुवाक्येभ्यो निश्चीयते। न च जीवद्भिः पित्रादिभिः स्वस्नुषासु साक्षाद्गर्भाधानं युज्यते, शास्त्रलोकविगीतत्वात्। नापीच्छामात्रेण, तस्या अकिंचित्करत्वात्। एतेन भाष्याभासभूमिकायां 'अथ तृतीयः पितृयज्ञः' इत्युपक्रम्य कात्यायनाश्वलायनमनूक्तविनियोगविरुद्धमिमं मन्त्रमन्यथा व्याचक्षाणो वेदवैनाशिकः पण्डित एव साधुरेव चेति निश्चलो निश्चयः।

(२२) एवं 'ये च जीवा ये च मृता' इत्युक्ताथर्वमन्त्रेणाऽपि विरोधः। तत्र हि मृतानां जातानां पितॄणां मिथः पृथक् जीवितेभ्यश्च पृथगभिधानमिति मृतानां मृतजातानां च पितृत्वं तत्र स्पष्टरूपेणैवोच्यते।

(२३) एवं 'प्रेहि प्रेहि' इत्युक्ताथर्वमन्त्रविरोधोऽपि। तत्र हि यमलोकगमनाय यजमानः पितॄंस्त्वरयित्वा यमवरुणौ द्रक्ष्यसीति ब्रवीति। एवं च मनुष्यशरीरस्यात्रैवोत्सृष्टत्वात् तेन शरीरेण परलोकगमनं यमवरुणदर्शनं च हि नोपपद्यते।

(२४) एवं 'ये निखाता' इत्युक्ताथर्वमन्त्रविरोधोऽपि। तत्र हि निखातपरोप्तदग्धोद्धिताश्चतुर्विधाः पितरः स्वशब्दैर्यच्चब्दैश्च पृथक् पृथक् निर्दिश्यन्ते। विवृताश्च ते तथैव पूर्वमेतन्मन्त्रार्थवर्णनेन च तेष्वेकस्मिन्नपि जीवत्वं सम्भवति। न हि निखातो जीवति। न च

भाषा

चाहिये कि पुत्र वा पौत्र की वधू अपने जीवित श्वसुर वा प्रश्वसुर से अपने में गर्भाधान की प्रार्थना कैसे कर सकती है। क्योंकि यह कर्म धर्मशास्त्रों में अति पातक कहा हुआ है; तथा लोक से भी विरुद्ध है और यह भी नहीं कह सकते कि श्वसुर आदि अपनी इच्छा मात्र से गर्भाधान कर सकते हैं। यहाँ यह भी नहीं कहा है कि 'अपने पुत्र के द्वारा गर्भाधान करिये, किन्तु यही कहा है कि पितरों! मुझमें गर्भाधान करिये' तो ऐसी दशा में जीवित श्वसुर आदि से वेदविरुद्ध व्यभिचार मैथुन के बिना गर्भाधान की प्रार्थना हो ही नहीं सकती। और ऐसी विरुद्ध प्रार्थना मन्त्र से कैसे हो सकती है। परन्तु वेदवैनाशिक ने जो अपने सत्यार्थप्रकाश और भाष्यभूमिका 'अथ तृतीयः पितृयज्ञः' में इस मन्त्र के कात्यायन आश्वलायन और मनु के वाक्यों से विरुद्ध आयें बायें सायें जो जी में आया बक डाला। इससे यह बहुत निश्चय ही स्पष्ट है कि वह पण्डित भी थे और साधु भी थे।

सं० २२—"ये च जीवा०" (२३) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में स्पष्ट है, क्योंकि इसमें मृत पितर अर्थात् लोकान्तर वासी तथा मृत होकर पुनर्जात पितर पृथक् पृथक् कहे गये हैं और जीवत् पुरुष इनसे भी पृथक् कहे हुये हैं।

सं० २३—"प्रेहि प्रेहि०" (२४) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि इसमें यजमान पितरों से उनके यमलोकगमन के लिये शीघ्रता की प्रार्थना करता है और यह भी कहता है कि आप यमराज और वरुण देव को देखेंगे और मनुष्य शरीर से न तो कोई यमलोक को जा सकता है और न यम वरुण का दर्शन कर सकता है, इसलिये विरोध दुर्वार है।

सं० २४—"ये निखाता०" (२५) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि इसमें जो ४ प्रकार के पितर स्पष्ट परिगणित हैं उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो इस लोक में जीवित

जीवन्नपि परोप्तो दग्धो वा। उद्धितोऽपि च मृत एव भवति। युधिष्ठिरस्याऽपि स्नानसमये स्वर्गगङ्गायां देहत्यागस्य भारते वर्णितत्वात्।

(२५) किं च अस्मिन्नेव मन्त्रे पश्चार्द्धे तेषामेव चतुर्विधानां पितॄणां हविर्भोजनायानयनमग्निः प्रार्थ्यते। न च मनुष्यानग्निरानेतुं शक्नोति, लोकानुभवविरोधात्।

(२६) एवं 'ये अग्निदग्धा' इत्युक्ताथर्वमन्त्रेणापि विरोधः। तत्र हि अग्निदग्धानामनग्निदग्धानां च पितॄणां दिवो मध्ये मध्यमे यमलोके वर्तमानानाममृतरूपेणान्नेन प्रसाद उच्यते न चैतन्मनुष्याणां संभवति। एतेनापि 'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते मनुष्या एवाग्निष्वात्ता' इति वेदवैनाशिकोक्तमपास्तम्। 'ये अग्निष्वात्ता' इति 'ये अग्निदग्धा' इति च पूर्वार्द्धौ द्वयोरपि यजुरथर्वमन्त्रयोरेकानुपूर्वीकौ अन्यत्र स्वात्तदग्धशब्दाभ्याम्। तथा च स्वात्तशब्दस्य ग्रहीत्रर्थकता अग्निशब्दस्य च विद्युद्विद्यार्थकता, श्रुतिविरुद्धा तत्कपोलमात्रकल्पिता चेति व्यक्ततरम्।

(२७) एवं 'ये नः पितुरि' त्युक्ताथर्वमन्त्रेणापि विरोधः। न हि जीवतां पित्रादीनां पितृलोके प्रवेशो द्युलोकव्याप्तिर्वा कथमप्युपपादयितुं शक्यते।

(२८) एवं 'यास्ते धाना०' इत्यथर्वमन्त्रेणाऽपि विरोधः। तत्र हि यजमानेन स्वपितुरर्थे विकीर्णास्तिलमिश्रा धाना यमो राजाऽनुमन्यतामित्युच्यते। न हि जीवतां यमो राजा।

भाषा

हो, क्योंकि स्वर्ग गङ्गा में स्नान के समय युधिष्ठिर का भी देहत्याग महाभारत में कहा है। यह इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का विरोध है।

खं० २५—ऐसे ही इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि इसमें अग्नि से यह प्रार्थना की जाती है कि 'हवि भोजन के लिये उक्त ४ प्रकार के पितरों को आप यहाँ ले आइये' और लोकानुभव के अनुसार अग्नि जीवत् पितरों को ला ही नहीं सकते।

खं० २६—"ये अग्निदग्धा०" (२६) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि यमलोक में वर्तमान अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध पितर इसमें कहे हुए हैं और इस मन्त्र के विरोध से भी वेदवैनाशिक का वह मत भी दूषित हो गया जो कि १९ संख्या के खण्डन में पूर्व ही दूषित है क्योंकि अग्निष्वात्त शब्द १९ संख्या के यजु मन्त्र में और अग्निदग्ध शब्द इस मन्त्र में कहा है जिससे यह स्पष्ट है कि स्वात्त शब्द का वही अर्थ है जो कि दग्ध शब्द का है तो ऐसी दशा में स्वात्त शब्द का पढ़ने वाला अर्थ और अग्नि शब्द का बिजुली अर्थ करना वेदवैनाशिक का वेदविरुद्ध कल्पना मात्र है।

खं० २७—"ये नः पितुः०" (२७) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि जीवत्पिता आदि का पितृलोक में प्रवेश आदि कदापि नहीं हो सकता।

खं० २८—"यास्ते०" (२८) इस वेदवाक्य का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि यम जीवत्पितरों के राजा नहीं हैं।

(२९) एवं 'आरभस्व०' इत्युक्ताथर्वमन्त्रेणाऽपि विरोधः। अत्र हि मृतस्य शरीरदहनं पुण्यलोकप्राप्तिं चाग्निः प्रार्थ्यते।

(३०) एवं 'स्वधा पितृभ्य०' इत्युक्ताथर्वमन्त्रेणापि विरोधः। न हि मनुष्याणां दिविपत्वमन्तरिक्षसत्वं वा संभवति।

(३१) एवं 'ये चेह पितर०' इत्युक्तयजुर्मन्त्रोऽपि सन्मते विरुध्यते। अत्र हि 'यां उ च न प्रविद्मे'ति पितॄणां साक्षात्त्वं 'ये च नेहे'ति भूलोकवासित्याभावं च यजमानो वक्ति। तथेदं द्वयमपि जीवत्सु पित्रादिषु न संभवत्येव।

(३२) एवम्—निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥ (अ० ३ श्लो० १८९)

इति मनूक्तं निमन्त्रितान् भिन्नभिन्नदेशस्थान्बहून् द्विजान् प्रत्युपस्थानं वायुवच्च सूक्ष्ममूर्तीभूय निमन्त्रणात् प्रभृति भोजनदक्षिणादानपर्यन्तमनारतं तेषामनुगमनमासीनानां तेषामुपासनञ्च जीवद्भिः पित्रादिभिः कर्तुमेव न शक्यम्। शक्यत्वे च न ते जीवन्तः किन्तु प्रेता एवेत्यनुभवानुसारी निर्णयः।

(३३) एवं पूर्वमुपन्यस्तै रामायणमहाभारतभागैरपि सह वेदवैनाशिकमते विरोधो दुरुद्धर एव। तत्र मृतानामेवोद्देशेन श्राद्धतर्पणयोरुक्तत्वात्।

भाषा

सं० २९—"*आरभस्व०*" इस वेदवाक्य का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि मृत का दहन और तदनन्तर उसके लिए पुण्य लोक के प्राप्ति की प्रार्थना इस मन्त्र में अग्नि से की जाती है और पुण्य लोक वही है कि जहाँ से श्राद्ध कर्म में ले आने के लिए अग्नि से प्रार्थना पूर्वोक्त मन्त्रों में की गई है।

सं० ३०—"*स्वधा पितृभ्यः०*" इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि मनुष्य न स्वर्गवासी हो सकते न आकाशवासी हो सकते हैं।

सं० ३१—"ये चेह०" (३१) इस मन्त्र का भी विरोध इस मत में है, क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि अपने जीवत् पितरों को श्राद्धकर्ता न जाने अथवा वे भूलोक में न रहते हों यहाँ तक वेदवाक्यों का विरोध दिखलाया गया, अब अन्याय प्रमाण वाक्यों का विरोध दिखलाया जाता है।

सं० ३२—"*निमन्त्रितान्०*" (३२) (जब श्राद्ध में ब्राह्मणों को निमत्रण दिया जाता है तब से भोजन दक्षिणा के दानपर्यन्त वायु के ऐसा सूक्ष्म रूप धारण कर पितर लोग उन ब्राह्मणों के साथ रहते हैं अर्थात् बैठना, उठना आदि जो जो काम जिस जिस समय वे निमंत्रित ब्राह्मण करते हैं उस उस समय वही वही काम वे पितर भी करते हैं) इस मनुवाक्य का भी विरोध इस मत में है। क्योंकि कौन जीवत्पितर निमंत्रित सहस्रों ब्राह्मणों के पीछे भ्रमण कर ऐसा काम एक ही समय में कर सकता है।

सं० ३३—ऐसे ही अनन्तरोक्त रामायण और महाभारत के भागों का विरोध भी इस मत में पूर्ण रूप से पड़ता है, क्योंकि उन भागों में मृतों के लिये श्राद्ध और तर्पण की कथा है। और वेदवैनाशिक ने 'सोमसद' आदि शब्दों का जो यह अर्थ कहा है कि:—

यदपि सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च ये सीदन्ति ते सोमसदः। यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः। ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः। ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः। ये हविर्होतुमर्हं भुञ्जते, भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः ये आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति पिबन्ति वा ते आज्यपाः। शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः। ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायमधीशाः। यः पाति स पिता या मानयति सा मातेति वेदवैनाशिकः प्रललाप।

तत्रेयं प्रबोधना—सोमशब्दो हि लताविशेषे रूढः कोशलोकयोः प्रसिद्ध इति पदार्थविद्यायां तच्छक्तिरेवाप्रामाणिकी। किं च 'विराट् सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृता' इति पूर्वोक्तमनुवाक्यानुरोधात् सोमसच्छब्दोऽपि पितृविशेषेषु योगरूढ इति निर्णीयते। ततश्चोक्तमानववाक्यविरोधोऽप्यत्र दुष्परिहरः। एवम् तदीये अग्निष्वात्तपदार्थनिरूपणे ये 'अग्निष्वात्ताः' इति 'अग्निदग्धाः' इति च पूर्वोक्ताभ्यां यजुरथर्वमन्त्राभ्यां 'यानग्निरेव दहन' इति पूर्वोक्तशतपथब्राह्मणेन च सह विरोधोऽनुपदमेवोपपादित इति श्रुतित्रयविरोधः। किं च

भाषा

'सोम' अर्थात् जगदीश्वर अथवा पदार्थ विद्या में जो स्थित हैं वे सोमसद् हैं। जिन्होंने अग्नि अर्थात् विजली की विद्या पढ़ी वे 'अग्निष्वात्त' हैं। जो बर्हिष् अर्थात् उत्तम व्यवहार में स्थित हैं वे बर्हिषद् हैं। जो सोम अर्थात् ऐश्वर्य की रक्षा करते हैं अथवा सोम अर्थात् औषधियों के रस को पान करते हैं वे सोमप हैं। जो हवि अर्थात् होम के योग्य वस्तु को भोजन करते वा कराते हैं वे हविर्भुज हैं। जो आज्य अर्थात् जानने वा पाने के योग्य वस्तु की रक्षा करते हैं वा उसको पान करते हैं वे आज्यप हैं। काल अर्थात् दशा जिनकी अच्छी है वे सुकालिन् हैं। जो दुष्टों को दंड देते हैं वे अर्थात् न्यायाधीश यम हैं। जो पाले वह पिता जो माने वह माता है इति। वह भी अज्ञाननिद्रा का स्वप्नप्रलाप ही है जिसके वारण के लिये यह प्रबोधना है कि—

खं० १—जब कि 'सोम' शब्द लता विशेष की संज्ञा होकर कोश और लोक में अति प्रसिद्ध है तब पदार्थ विद्या को सोम शब्द का अर्थ बनाना प्रमाण से शून्य अर्थात् मिथ्या ही है।

खं० २—"*विराट् सुता०*" (मनु० अ० ३ श्लोक १९५) इस पूर्वोक्त वाक्य का विरोध भी सोमप शब्द के इस अर्थ में है क्योंकि इस श्लोक में साध्य नामक देवता विशेषों के पितर जो विराट् के पुत्र हैं उन्हीं का सोमसद् नाम कहा है।

खं० ३—ऐसे ही "*अग्निष्वात्त०*" शब्द के इस अर्थ में पूर्वोक्त खण्डन की १९ संख्या में "*ये अग्निष्वात्ता०*" इस मंत्र का तथा "*यानग्नि*" इस ब्राह्मण वाक्य का विरोध तथा २६ संख्या में ये अग्निदग्धा इस मंत्र का विरोध पूर्व ही दिखला दिया गया है। इसलिये उन तीन वेदवाक्यों के विरोध से यह अर्थ झूठा है।

खं० ४—"*अग्निष्वात्ताश्च देवानां०*" (मनु० अ० ३ श्लो० १९५) इस पूर्वोक्त वाक्य का भी विरोध "*अग्निष्वात्त*" शब्द के इस अर्थ में है क्योंकि इस श्लोक में साध्यों से अन्य देवताओं के पितर मरीचि के पुत्रों का अग्निष्वात्त नाम कहा है।

'अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचाः लोकविश्रुताः' इति पूर्वोक्तमनुवाक्यविरोधोऽपि। एवं बर्हिः शब्दस्य वह्नौ कुशे च कोशलोकयोः प्रसिद्धत्वादुत्तमव्यवहारे शक्तिरेवाप्रामाणिकी।

किञ्च—

'दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः॥"

इति पूर्वोक्तमनुवाक्याद्बर्हिषच्छब्दोऽपि पितृविशेषे योगरूढ इति मानववाक्यविरोधोऽपि। एवं सोमपशब्दोऽपि "सोमपास्तु कवेः पुत्राः" इति पूर्वोक्तमानववाक्यादेव कविपुत्रेषु पितृविशेषेषु रूढः। न च कविशब्दोऽत्र पण्डितमात्रपर इति वाच्यम्।

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणाम् सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥

इति पूर्वोक्ते मानवोपक्रमे मरीच्यादिऋषिपुत्राणामेव पितृत्वनियमस्मरणेन कविशब्दस्यापि ऋषिविशेषवाचकस्यैव तदनुरोधेन ग्रहणौचित्यात्। एवं हविर्भुक्छब्दोऽपि 'हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुता' इत्युक्तमनुवाक्यानुरोधादङ्गिरसः पुत्रेषु योगरूढ इति तदर्थकथनमपि मनुवचसा

भाषा

सं० ५—बर्हिष् शब्द का अग्नि और कुश अर्थ कोश और लोक में प्रसिद्ध है इसलिये बर्हिष् शब्द का उत्तम व्यवहार अर्थ कहना प्रमाण से शून्य और मिथ्या ही है।

सं० ६—"*दैत्यदानव*" (मनु० अ० ३ श्लो० १९६) इस पूर्वोक्त वाक्य का विरोध भी बर्हिषद् शब्द के इस अर्थ में है क्योंकि इस श्लोक में दैत्य आदि के पितर अत्रि ऋषि के पुत्रों ही का बर्हिषद् नाम कहा है।

सं० ७—सोमप शब्द के इस अर्थ में भी '*सोमपास्तु कवेः पुत्राः*' (मनु० अ० ३ श्लो० १९८) इस वाक्य का विरोध है क्योंकि इसमें कवि नामक महर्षि के पुत्रों ही का सोमप नाम कहा है और यह तो कह नहीं सकते कि कवि शब्द का यहाँ पण्डित मात्र अर्थ है क्योंकि "*मनोर्हैरण्यगर्भस्य०*" (मनु० अ० ३ श्लो० १९४) इस पूर्वोक्त वाक्य में यह नियम कर दिया गया है कि स्वायम्भुव मनु से उत्पन्न मरीचि आदि ऋषियों ही के पुत्र पितृगण होते हैं। तो ऐसी दशा में यहाँ कवि शब्द का अर्थ कवि नामक महर्षि ही होना चाहिये।

सं० ८—"*हविर्भुजे०*" शब्द के इस अर्थ में भी '*हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः*' (मनु० अ० ३ श्लो० १९८) इस पूर्वोक्त वाक्य का विरोध है क्योंकि इसमें अङ्गिरा के पुत्रों ही का नाम हविष्मान् कहा है जो कि क्षत्रियों के पितर हैं और यही हविष्मान् "*क्षत्रियाणाम् हविर्भुजः*" मनु० अ० ३ श्लो० १९७) इस पूर्वोक्त वाक्य में हविर्भुज नाम से भी कहे हुए हैं।

सं० ९—आज्य शब्द का भी घी अर्थ कोश और लोक में प्रसिद्ध है, इससे आज्य शब्द का जानने वा पाने के योग्य वस्तु अर्थ कहना प्रमाण से रहित और मिथ्या ही है।

सं० १०—"*पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्राः*" इस पूर्वोक्त वाक्य का विरोध भी आज्यप शब्द के इस अर्थ में है, क्योंकि इस वाक्य में पुलस्त्य के पुत्रों ही का आज्यप नाम कहा है।

विरुद्धमेव। एवमाज्यशब्दस्यापि घृते योगरूढस्य कोशलोकयोः प्रसिद्धत्वात्प्राप्तुं ज्ञातुं वा योग्ये शक्तिरेवाप्रामाणिकी। किञ्च "पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्राः" इति पूर्वोक्तमानववाक्यादाज्यपशब्दः पितृगणविशेषे योगरूढ इति तद्विरोधोऽपि। एवं सुकालिन् शब्दोऽपि "वसिष्ठस्य सुकालिनः" इति पूर्वोक्तमानववाक्याद्विशिष्टपुत्रेषु पितृविशेषेषु योगरूढ इति तदर्थकथनमपि वेदवैनाशिकस्य मनुवाक्यविरुद्धमेव। वस्तुतस्तु सर्वेऽप्यमी वेदवैनाशिकोक्ताः सोमसदग्निष्वात्तबर्हिषत्सोमपहविर्भुगाज्यपसुकालिन्शब्दानामर्थाः उक्तमानवोपक्रमोपसंहारपरामर्शविरुद्धा एव।

"मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणाम् सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः" ॥

इति मरीच्यादिऋषिपुत्रत्वेन पितॄनुपक्रम्य मध्ये च "विराट्सुताः सोमसद" इत्यादिभिः "विप्राणामेव निर्दिशेत्" इत्यन्तैः पंचभिः श्लोकैः सर्वानेव सोमसदादीन्विराडादिनामकतत्तदृषिपुत्रत्त्वेन प्रतिपदोक्तमेव परामृश्य अन्ते च—

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥

इत्यत्र एते इति तेषामिति च सर्वनामभ्यां सोमसदादीनेव मरीच्यादिऋषिपुत्रान् विशिष्य परामृशद्भ्यामुपसंहारेण तदन्येषां कथमपि सोमसदादिशब्दार्थत्वसंभावनायाः कर्तुमशक्यत्वात्। एवं पातीति पितेत्यर्थे यजमानरक्षकस्य यजमानसारमेयादेरपि यजमानपितृत्वापत्तिः। मानयतीति मातेत्यर्थे च पत्न्यादीनामपि यजमानमातृत्वापत्तिः। तद्वारणाय कुत्रचिद्रूढिस्वीकारे तु "जनयित्री प्रसूर्माता तातस्तु जनकः पिते" ति कोशोक्तमेव रमणीयमतो वृथा वेदवैनाशिकप्रलापः। अपि च सर्वेष्वेवैषु वेदवैनाशिकोक्तेष्वर्थेष्वनुपदोक्ता वज्रवैयाकरणाख्यायिका वज्रलेपायत एव। एतेन भाष्याभासभूमिकायाम् 'अथ तृतीयः पितृयज्ञ' इत्युपक्रम्य वेद-

भाषा

खं० ११—सुकालिन् शब्द के इस अर्थ में भी "वसिष्ठस्य सुकालिनः" (मनु० अ० ३ श्लो० १९८) इस पूर्वोक्त वाक्य का भी विरोध है, क्योंकि इस वाक्य में वसिष्ट के पुत्रों ही का सुकालिन् नाम कहा है।

खं० १२—इस यम शब्द का न्यायाधिकारी मनुष्य अर्थ तो १६ संख्या के खण्डन में अनेक दोषों से पूर्व ही दूषित हो चुका है।

खं० १३—पिता शब्द का यदि यह अर्थ माना जाय तो यजमान के कुत्ता आदि भी यजमान के पिता हो जायँगे, क्योंकि ये भी यजमान का पालन अर्थात् रक्षा करते हैं; और माता शब्द का यदि यह अर्थ माना जाय तो यजमान की बहू बेटी भी यजमान की माता हो जायँगी, क्योंकि वे भी उसको मानती हैं। इसलिये अब यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि जिसको जो पुरुष उत्पन्न करता है उसका वही पिता और जिसको जो स्त्री उत्पन्न करती है उसकी वही माता है। तो ऐसी दशा में वेदवैनाशिक के स्वप्नप्रलाप व्यर्थ ही हैं।

भाष्यभूमिका के 'अथ तृतीयः पितृयज्ञः' इस प्रकरण में वेदवैनाशिक ने जो यह कहा है

वेदवैनाशिकेन यत् तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेवैतत्कर्म संघटते न मृतकेषु। कुतः? तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभावेन व्यर्थतापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते सेव्यसेवकसंनिकर्षात्तत्सर्वमेवैतत्कर्तुं शक्यत इति तदपि निरस्तम्। किं च यदि ह्यसौ मनुपैठीनसियाज्ञवल्क्यैरुक्तं विज्ञानेश्वरकुल्लूकाभ्यां पण्डितरूपाभ्यामक्षरक्षरसानुसारिणा व्याख्यानेनार्थापितं पूर्वोक्तं श्राद्धतर्पणपदयोरर्थमात्रमप्यग्रहीष्यत् तदा नैवमत्रोपालप्स्यत तत्रैतदुक्तानुपपत्तेः खे कलिकायमानत्वात्।

अथेदानीं वेदवैनाशिकस्य सर्वदोषशेषोऽयं दोषराजः प्रदर्श्यते। तथाहि—सर्वथैवासौ चार्वाक एव स्वचार्वाकता प्रच्छादनायैव च वेदस्य नाममात्रं गृह्णाति। वस्तुतस्तु सर्वथैव वेदं विनाशयति तत्रापि मन्त्रभागमर्थतः ब्राह्मणभागन्तु शब्दतोऽपि। स्पष्टमेव चानेन—

भाषा

कि 'श्राद्ध जीवितों ही का श्रुति, स्मृति में कहा है, क्योंकि मृतक तो है ही नहीं। इससे उनको कैसे श्राद्ध मिल सकता है, इत्यादि' यह भी सत्यार्थप्रकाश के इस खण्डन से चूर्णित हो गया। तथा इस भूमिका के देखने से वेदवैनाशिक का यह महागुण भी प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ में इस प्रकरण के आरम्भ ही में मनु, पैठीनसि और याज्ञवल्क्य के वाक्यों तथा विज्ञानेश्वर और कुल्लूकभट्ट के दुर्बोध व्याख्यानों के अनुसार जो 'श्राद्ध' और 'तर्पण' शब्द का अर्थ दिखलाया गया है उसके साथ उक्त महाशय के अन्तःकरण का संबन्ध (जाग्रत् में कौन कहे!) स्वप्न में भी कदाचित् नहीं हुआ था। क्योंकि यदि हुआ होता तो आप ऐसी थोथी २ युक्तियों से मृतश्राद्ध के अनुपयोगसम्भ (अनकहे का खंडन) में कटिबद्ध न हो पड़ते और जब 'श्राद्ध' 'तर्पण' शब्द का अर्थ मात्र भी इनको भली भाँति ज्ञात न था तब उसकी उपपत्ति (जो पूर्व में कही जा चुकी है) से इनके अणुमात्र सम्बन्ध की सम्भावना भी कैसे की जा सकती है!

यहाँ तक वेदवैनाशिक के श्राद्ध सम्बन्धी प्रत्येक मतों पर पृथक् पृथक् विशेष रूप से दोष दिखलाये गये। अब इन सब दोषों से अवशिष्ट सामान्य दोष अर्थात् दोषराज यह दिखलाया जाता है कि—

(महादोष)—यह वेदवैनाशिक, अपने मतानुसार थोड़ा विचार करने से भी चार्वाक (लोकायतिक अर्थात् एक प्रत्यक्ष ही को प्रमाण मानने वाले मोटे मत वाले नास्तिक) ही निश्चित होते हैं और अपनी चार्वाकता के गोपनार्थ ही वेद का केवल नाम मात्र ही लेते हैं कि हम वैदिक हैं। परन्तु वास्तविक में अपने यथाशक्ति वेद का विनाश ही करते हैं और उसमें भी मन्त्रभाग के अर्थ का विनाश करते हैं अर्थात् उसको वेद तो मानते हैं परन्तु उसके वास्तविक अर्थ का विनाश कर मिथ्या अर्थ करने से उसको चार्वाक मत में लगा देते हैं और ब्राह्मणभाग को तो यह कहते हैं कि "यह वेद ही नहीं है" और इनके चार्वाक होने में प्रमाण यह है कि श्राद्ध के विषय में चार्वाकों ही की गाई हुई गीत को यह भी गाते हैं। इसलिये अब चार्वाक और वेदवैनाशिक अर्थात् गुरु और शिष्य दोनों की गीत लिखी जाती हैं। बुद्धिमान् लोग देखें कि ये गीतें अन्योन्य में मिल जाती हैं या नहीं?

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥ १ ॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥ २ ॥

इति वार्हस्पत्या चार्वाकगाथैवार्थतोऽनुगीयते । किं वा बहुना ? प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिभिः सर्वेषामेवादृष्टार्थकर्मणां दृष्टमात्रार्थत्वमुच्यते चार्वाकैः अनूच्यते चानेनाप्यर्थतः सर्वत्र तदेव "विद्वांसो मनुष्या एव देवता" "मनुष्या एव पितरः" "प्राड्विवाका एव यमाः" इत्यादि ।

तदुक्तम् मी० अ० १ पा० ३ "विरोधे त्वनपेक्ष्यंः इति सूत्रे वार्तिके भट्टपादैः"—

लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत्कर्म विद्यते ।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥ १ ॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः ।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं जनयन्ति च ॥ २ ॥

भाषा

चार्वाक की गीत यह है कि—

"*मृतानामपि०*" यदि श्राद्ध देने से मरे हुए जन्तुओं की भी तृप्ति होती है तो विदेश जाने के समय पाथेय की गठरी बाँधना व्यर्थ ही है, क्योंकि घर वाले समय पर श्राद्ध दे देंगे और वह श्राद्ध का अन्न आदि समय पर आप ही आप राह में पथिक को मिल ही जायगा ॥ १ ॥

"स्वर्गस्थिता०" यदि गृह में हव्य कव्य देने से स्वर्गस्थित देवता और पितरों की तृप्ति होती है तो प्रासादस्थित मनुष्यों को क्यों भोजनार्थ नीचे बुलाया जाता है। क्यों नहीं नीचे ही अन्न आदि का दान कर दिया जाता कि जिसमें आप ही आप ऊपर पहुँच जाय ॥ २ ॥

वेदवैनाशिक की गीत यह है कि—

"विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं न कि उनसे अन्य । जीते हुए मनुष्य ही पितर हैं न कि उनसे अन्य। न्यायाधिकारी मनुष्य ही यम हैं न कि उनसे अन्य इत्यादि" । और चार्वाक नास्तिकों का यह स्वभाव है कि जितने कर्म, धर्म के लिए किये जाते हैं उनको यह दृष्टार्थक अर्थात् प्रत्यक्ष ही फल के लिये मानते और करते हैं । और वेदवैनाशिक भी ऐसा ही मानते और करते हैं जैसे होम से वायु आदि की शुद्धि होती है इत्यादि । और यह ध्यान में लाना भूल है कि वेदवैनाशिक का कोई मत उनके विचार से सिद्ध और नवीन है क्योंकि उनका सब मत चार्वाक ही का है और चार्वाक मत बहुत पहिले से है जैसा कि स्वामी शंकराचार्य से प्रथम पूज्यपाद भट्टपाद कुमारिल स्वामी ने (पू० मी० द० अ० १ पाद ३) "*विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्*" ॥ ३ ॥ इस सूत्र के वार्त्तिक में छः श्लोकों (जो कि संस्कृत भाग में ऊपर लिखे हैं) में यह कहा है कि "लौकायतिक०" यह प्रसिद्ध बात है कि लौकायतिक मूर्खों का दूसरा काम ही नहीं है किन्तु यही काम है कि पारलौकिक फल के देने वाले जितने कर्म हैं उन सबको वे (लौकायतिक) लौकिक ही फल के लिए करते हैं ॥ १ ॥

वे यह समझते हैं कि वैदिक कर्मों का भी जलवायु शुद्धि आदि लौकिक ही फल हैं न कि स्वर्गादि (जैसा कि वेदवैनाशिक का मत है) और थोड़े से अवसर पाने पर भी वेद में विरोध लगा देते हैं।

तेभ्यश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित् ।
न च कञ्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा ॥ ३ ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत्कचन मर्कटाः ।
नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥ ४ ॥
कचिच्चेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धपदाममिः ।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥ ५ ॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् ।
एवं मीमांसकैः कार्यश्च मनोरथपूरणम् ॥ ६ ॥

लौकायतिकाः चार्वाकाः "चार्वाकलौकायतिकौ" इत्यमरः। तस्मात् लौकायतिकप्रायैः प्राकृतैरेव कतिपयैर्लोकैः परिगृहीतस्य वस्तुतो मिथ्यानर्थान्धकारस्य साहस्याच्च नास्तिके नास्तिककञ्चुकधारणाद्वेपान्तरपरिग्रहात्मिकाया भूमिकाया यदनेन सत्यार्थप्रकाश इति भाष्यभूमिकेति च नाम धृतं तत् कुहकङ्कुरितमेति दिक् ।

३५—अथ तीर्थानुसरणम्

इह तीर्थशब्दः क्षेत्राभिधायी ऋषिजुष्टजलाभिधायी च—

तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु ।
अवतारर्षिजुष्टाम्भः स्त्रीरजःसु च विश्रुतम् ॥

भाषा

जैसे किसी से यज्ञ करते न मन पड़ा इस कारण उसको वेदोक्त फल न हुआ, तो यह कहने लगते हैं कि वेदोक्त सब मिथ्या ही हैं ॥ २ ॥ इत्यादि, यदि कहीं मीमांसकों ने उनको अवसर दे दिया तो वे किसी धर्ममार्ग को नाश किये बिना नहीं छोड़ सकते ॥३॥ क्योंकि बन्दर वा पिशाच जब तक कहीं अवसर नहीं पाते तभी तक मनुष्य पर नहीं दौड़ते ॥४॥ और यदि कोई अपने ही प्रमाद से उनको अवसर देकर उनके मार्ग में जा पड़ा तो कौन ऐसा है कि जो उनके मारे अपना जीवन लाभ कर सकता है ॥ ५ ॥

तस्मात् धर्म के नाश करने वाले लौकायतिकों के मनोरथ को किसी छोटे से छोटे अंश में भी पूर्ण करना मीमांसकों को कदापि उचित नहीं है इति ॥ ६ ॥

यहाँ तक व्याख्यान से यह सिद्ध हो चुका कि चार्वाकप्राय कतिपय प्राकृत शास्त्र से शून्य जनों से सीकृत मिथ्या अनर्थों के अन्धकार ही का वेदवैनाशिक ने जो 'सत्यार्थप्रकाश' नाम रक्खा तथा वास्तविक में नास्तिक होकर आस्तिक्य कञ्चुक (वैदिक का जामा) धारण करने से जो सच-मुच भूमिका (वेष बदलना) है उसका भाष्यभूमिका नाम रक्खा, सो वेदवैनाशिक के ये दोनों काम कपट से कराहना ही हैं । -

३५—तीर्थानुसरण का निरूपण ।

तीर्थ शब्द के प्रकृत में दो अर्थ हैं—एक क्षेत्र और दूसरा ऋषि सेवित जल । और क्षेत्र से भी यहाँ केवल क्षेत्र ही नहीं लेते; किन्तु क्षेत्र आयतन, पुण्यपर्वत, पुण्य आश्रम और पुण्य वन का भी

इति विश्वप्रकाशकोशात् । अस्मिन्कोशे क्षेत्रशब्देन क्षेत्रायतनपर्वताश्रमारण्यानि गृह्यन्ते । अत एव भाग० स्कन्ध० १२—

क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥

इति श्लोके आयतनभूतापि काशी क्षेत्रशब्देनोक्ता । अनुसरणं च यात्रावासतदधिकरणकस्नानदानादिपुण्याचरणनिधनानि, इदं च चान्द्रायणादि प्रायश्चित्तप्रत्याम्नायः । तथा च पराशरमाधवे प्रायश्चित्तकाण्डे—

अनयैव दिशा स्मृत्यन्तरे प्रसिद्धास्तीर्थयात्रादिप्रत्याम्नाया यथायोगमुन्नेयाः । अत एव देवलः—अभिगम्य च तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
नरः पापात्प्रमुच्येत ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥
सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्या नगोत्तमाः ।
सर्वमायतनं पुण्यं सर्वे पुण्या वनाश्रयाः ॥ इति ।

तीर्थानि, गङ्गा सरस्वती यमुना नर्मदा विपाशा वितस्ता कौशिकी नन्दा विरजा चन्द्रभागा सरयूः उत्पथवर्ती सिन्धुः कृष्णा वेणी शोणा तापी पारावती पाषाणकी गोमती गण्डकी बाहुदा पम्पा देविका कावेरी ताम्रपर्णी चर्मण्वती वेत्रवती गोदावरी तुङ्गभद्रा सुचक्षुः अरुणा चेति महानद्यः पुण्यतमाः । गङ्गाद्वारम् कनखलम् शक्रावतारम् सौकरम् प्रयागः गङ्गासागरमिति एतानि गङ्गायास्तीर्थानि । स्लाक्षम् प्रस्रवणम् वृद्धकन्याकम् सारस्वतम् आदित्यतीर्थम्

भाषा

उससे ग्रहण है । इसी से "क्षेत्राणाञ्चैव०" (जैसे सब क्षेत्रों में काशी और सब विष्णु भक्तों में श्री शिव जी श्रेष्ठ हैं वैसे ही सब पुराणों में यह श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है) इस श्लोक में आयतन रूपी काशी भी, क्षेत्र कही है । तीर्थ शब्द के इन उक्त अर्थों का अनुसरण अर्थात् उसमें यात्रा, वास, स्नान, दान, आदि पुण्य कर्म और उसमें देहत्याग, तीर्थानुसरण है । जैसे पापों के नाशार्थ, चान्द्रायणादि व्रतरूपी प्रायश्चित्त हैं वैसे तीर्थानुसरण भी है । जैसा कि पराशर माधव के प्रायश्चित्त काण्ड में माधवाचार्य ने प्रमाण देकर कहा है कि—जैसे एक प्रायश्चित्त के बदले दूसरा प्रायश्चित्त पूर्व में कहा जा चुका है ऐसे ही अन्यान्य स्मृतियों में प्रसिद्ध तीर्थयात्रा आदि रूपी, प्रायश्चित्त के प्रतिनिधियों को यथासम्भव समझना चाहिये । इसी से देवल महर्षि ने यह कहा है कि—'अभिगम्य०' अर्थात् पुण्यतीर्थों और पुण्य आयतनों में जाने से मनुष्य, पाप से छूट जाता है और तपस्वी ब्राह्मणों के सम्बन्धी, समुद्रगामिनी सब नदियाँ, सब पर्वत, सब आयतन और सब वन, पुण्य हैं । गङ्गा, सरस्वती, यमुना, नर्मदा, विपाशा, वितस्ता, कौशिकी, नन्दा, विरजा, चन्द्रभागा, सरयू, उत्पथवर्ती, सिन्धु, कृष्णा, वेणी, शोण, तापी, पारावती, पाषाणवती, गोमती, गण्डकी, बाहुदा, पम्पा, देविका, कावेरी, ताम्रपर्णी, चर्मण्वती, वेत्रवती, गोदावरी, तुङ्गभद्रा, सुचक्षु, अरुणा ये महानदियाँ पुण्यतम हैं । गङ्गाद्वार, कनखल, शक्रावतार, सौकर, प्रयाग, गङ्गासागर, ये गङ्गा के तीर्थ हैं । स्लाक्ष, प्रस्रवण, वृद्धकन्याक, सारस्वत, आदित्यतीर्थ, बदरी, पाञ्चाल, वैजयन्त, पृथूदक, नैमिष, विनशन, चापोद्भेद, प्रभास, ये

बदरी पाश्चाश्रम् वैजयन्तम् पृथूदकम् नैमिषम् विनशनम् चापोद्भेदम् प्रभास इति सारस्वततीर्थानि। कावेरीसङ्गमम् सरस्वतीसङ्गमम् गन्धमादनम् इति सामुद्राख्यतीर्थानि पुण्यतमानि इति। पुष्करम् मूर्द्धजम् गयाशिरः कुरुक्षेत्रमिति पुण्यक्षेत्राणि। वाराणसी महाभैरवम् देवदारुवनम् सौरम् प्राचीनवाहः केदारम् मध्यमम् महारुद्रम् महाबलम् महालयम् कुमारमहालयम् रुद्रावतारम् वङ्कलम् विष्णुशिवम् महाकालम् पुरुषोत्तमम् जम्बूमार्गं चेत्येतान्यायतनानि। हिमवान् उदयः महेन्द्रः विदुरः शतशृङ्गः श्रीपर्वतः रङ्गपर्वतः वेदपर्वतः विन्ध्यपर्वतः पारियात्रश्चेति पर्वताः पुण्यतमाः पापं नाशयन्ति। अन्यानि क्षेत्रायतनपर्वताश्रमतीर्थानि पुण्यतमानि भवन्ति इति।

धर्महेतुर्हि द्विविधो भवति—आरादुपकारकः संनिपत्योपकारकश्च। तत्राद्यो यथा प्रयाजादिः, द्वितीयो यथा द्रव्यदेवतादेशकालकर्त्रादिः तस्य संस्कारश्च। द्रव्यं "व्रीहीभिर्यजेत" इत्यादिश्रुतिवाक्यविहितं व्रीह्यादि। देवता च "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इति श्रुताग्न्यादिः। देशश्च (यद्यपि) शुभाशुभोभयकर्माङ्गभूतो जम्बूद्वीपो मनुष्यलोक एव। अत एव च मनुष्ययोनिरेवास्मिंल्लोके शुभाशुभकर्मसंचयक्षमा न तु पश्वादियोनयः तर्हि फलयोनय एव न तु साधनयोनयः मनुष्ययोनिस्तु फलयोनित्वसाधनयोनित्वाभ्यामुभाभ्यामाक्रान्ता। धर्म्मशास्त्रेषु च मनुष्याणामेवाधिकारः। तथा च पराशरमाधवे प्रायश्चित्तकाण्डे—

भाषा

सरस्वती नदी के तीर्थ हैं। कावेरीसङ्गम, सरस्वतीसंगम, गन्धमादन ये समुद्र के तीर्थ हैं। पुष्कर, मूर्द्धज, गया कुरुक्षेत्र, ये पुण्यक्षेत्र हैं। वाराणसी, महाभैरव, देवदारुवन, सौर प्राचीनवाह, केदार, मध्यम महारुद्र, महाबल, महालय, कुमारमहालय, रुद्रावतार, वङ्कल, विष्णुशिव, महाकाल, पुरुषोत्तम, जम्बूमार्ग, ये आयतन हैं। हिमवान्, उदय, महेन्द्र, विदुर, शतशृङ्ग, श्रीपर्वत, वेदपर्वत, विन्ध्यपर्वत, पारियात्र, ये पुण्यपर्वत, पापनाशक हैं। और इनसे अन्यान्य भी आयतन, पर्वत, आश्रम, रूपी तीर्थ हैं। अर्थात् प्रधान तीर्थों ही की विशेषरूप से यह गणना की गई है इति॥

अब यह ध्यान के योग्य है कि धर्म के कारण दो प्रकार के होते हैं—एक दूरी उपयोगी और दूसरा समीपवर्ती उपयोगी। प्रथम जैसे दर्शादि यज्ञों के प्रयाजादि यज्ञ, और दूसरा जैसे द्रव्य, देवता, देश काल, और कर्ता, आदि, और इन द्रव्य आदिकों का मन्त्र आदि से संस्कार करना भी। द्रव्य जैसे *'व्रीहिभिर्यजेत'* इत्यादि वेदवाक्यों से विधान किया हुआ धान आदि। देवता, जैसे *"यदाग्नेयोऽष्टाकपालः"* इत्यादि वेदवाक्यों से सुने हुये अग्नि आदि। देश, तो (यद्यपि) शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का उत्पादक जम्बूद्वीप रूपी मनुष्यलोक ही है और इसी से इस मनुष्यलोक में मनुष्य योनि ही शुभ और अशुभ कर्म करने का अधिकारी है न कि पशु आदि योनि, क्योंकि वे योनियाँ धर्म-अधर्म के फल भोगने मात्र के लिये हैं न कि धर्म या अधर्म करने के लिये। और मनुष्ययोनि तो धर्म या अधर्म करने और उसके फल भी भोगने का अधिकारी है तथा धर्मशास्त्र की आज्ञा पालन में भी मनुष्य योनि ही का अधिकार है जैसा कि पराशरमाधव के प्रायश्चित्तकाण्ड में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा है कि—

विष्णुधर्मोत्तरे—आतिवाहिकसंज्ञस्तु देहो भवति भार्गव।
केवलं तन्मनुष्याणां मृत्युकाल उपस्थिते॥ १॥
याम्यैर्नरैर्मनुष्याणां तत् शरीरं भृगूत्तम।
नीयते याम्यमार्गेण नान्येषां प्राणिनां द्विज॥ २॥
मनुष्याः प्रतिपद्यन्ते स्वर्गं नरकमेव वा।
नैवान्ये प्राणिनः केचित् सर्वे ते फलभोगिनः॥ ३॥
शुभानामशुभानां च कर्मणां भृगुनन्दन।
सञ्चयः क्रियते लोके मनुष्यैरेव केवलम्॥ ४॥
तस्मान्मनुष्यश्च मृतो यमलोकं प्रपद्यते।
नान्यः प्राणी महाभाग! फलयोनौ व्यवस्थितः॥ ५॥
याम्यलोकं प्रपन्नस्य पुरुषस्य तथा यमः।
योनीश्च नरकांश्चैव निरूपयति कर्मणा॥ ६॥ इति।

(तथापि) यज्ञादिरूपधर्माङ्गत्वं जम्बूद्वीपेऽपि भारतस्यैव वर्षस्य। तथा च वीरमित्रोदये परिभाषाप्रकाशे कालाद्याहतुः शङ्खलिखितौ—

तत्र धर्मलक्षणानि देशः काल उपायो द्रव्यं श्रद्धा पात्रं त्याग इति। समस्तेषु धर्मोदयः साधारणोऽन्यथा विपरीतः। श्रद्धापात्रसम्पन्नो धर्मः कालापेक्षः। श्रद्धा द्रव्योत्पत्तिरिति कालस्तन्मूलो देश इति।

अस्यार्थः—धर्मलक्षणानि धर्मनिमित्तानि। देशो ब्रह्मावर्त्तादिः। कालः संक्रान्त्यादिः।

भाषा

"आतिवाहिक०" हे भार्गव! आतिवाहिक नामक देह होता है, और वह केवल मनुष्यों हीं को मृत्युकाल के उपरान्त मिलता है न कि अन्य प्राणियों को, तथा उसी शरीर को यमराज के भृत्य यमपुरी को ले जाते हैं क्योंकि स्वर्ग वा नरक मनुष्य ही जाते हैं न कि कोई अन्य प्राणी, क्योंकि अन्य प्राणी धर्म वा अधर्म नहीं कर सकते किन्तु अपने मनुष्य शरीर से किये हुये धर्म और अधर्म के फल अर्थात् सुख और दुःख के भोग मात्र में अन्य प्राणी अधिकारी हैं। और केवल मनुष्य ही, धर्म और अधर्म के करने का अधिकारी है तथा अन्य प्राणियों की नाईं सुख दुःख भोगने का भी अधिकारी है। इसलिये मनुष्य ही मृत्यु के अनन्तर यमलोक जाता है न कि फलयोनि वाले कोई अन्य प्राणी। तात्पर्य्य यह है कि मनुष्ययोनि, साधनयोनि और फलयोनि दोनों है और पशु आदि योनि, केवल फलयोनि हीं हैं और यमलोक में उपस्थित मनुष्य के लिये यमराज उसके कर्म के अनुसार किसी योनि में जन्म अथवा नरक भोग देते हैं इति।

तथापि जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष ही यज्ञादि रूपी वर्णधर्म और आश्रम धर्म का अङ्ग अर्थात् उत्पादक है। इसके विषय में वीरमित्रोदय नामक ग्रन्थ के परिभाषा प्रकाश-प्रकरण में पण्डित मित्रमिश्र ने जो व्याख्यान किया है उसको अत्र में ठीक २ उद्धृत करता हूँ। धर्म्म के उपयोगी काल आदि को शंख और लिखित महर्षियों ने यों कहा है कि "तत्र धर्म०" धर्म के कारण ये हैं। देश, ब्रह्मावर्त्त

उपाय इतिकर्त्तव्यता । द्रव्यं गवादि । श्रद्धा शास्त्रार्थे दृढप्रत्ययः । पात्रं विद्यातपोयुक्तसम्पन्नम् । त्यागः स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकः परस्वत्वोत्पत्तिफलको व्यापारविशेषः । समस्तेषु सत्सु धर्मोदयः विशिष्टदानधर्मफलोदयः । उपलक्षणमिदम् । अन्येष्वपि सर्वाङ्गसम्पन्नेष्वेव यागादिषु विशिष्टफलोदय इत्याह—साधारण इति । सर्वधर्मसाधारणोऽयं न्याय इत्यर्थः । अपरार्के तु साधारण इत्यस्यानन्तरं न्याय इत्यपि पाठो दृश्यते ।

याज्ञवल्क्योऽपि—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥ इति ।

अन्यथा उक्तदेशाद्यभावे विपरीतः तादृशधर्मफलाजनकः । विशेषविहितदेशादिकं विनापि श्रद्धापात्रविशेषसम्पत्तिमात्रेण पूर्वोक्तात् न्यूनां धर्मसिद्धिमाह, श्रद्धापात्रसम्पन्नो धर्मः कालापेक्ष इति । श्रद्धापात्राभ्यामेव पूर्वोक्तकालातिरिक्तानिषिद्धकालसापेक्षाभ्यां धर्मः सम्पद्यते इति वाक्यार्थः । कालमेवाह, श्रद्धाद्रव्योत्पत्तिरितिकाल इति । यस्मिन्नेव काले श्रद्धा द्रव्यं च स एव कालोऽपेक्षणीय इत्यर्थः । एवं भूतकालसम्पन्नो यः कश्चनानिषिद्धो देशो धर्मस्य कारणमित्याह, तन्मूलो देश इति स प्रागुक्तकालो मूलं धर्मजनेन सहकारी यस्येत्यर्थः श्रद्धापात्रद्रव्यसम्पत्तिरप्रतिषिद्धौ देशकालौ धर्मसम्पत्तिरिति समुदायार्थः तत्र देशो यथा—

मार्कण्डेयपुराणे—

भगवन् कथितस्त्वेष जम्बूद्वीपः समासतः ।
यदेतद्भवता प्रोक्तं कर्म नान्यत्र पुण्यदम् ॥ १ ॥
पापदं वा महाभाग वर्जयित्वा तु भारतम् ।
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते ॥ २ ॥

भाषा

आदि । काल, सक्रान्ति आदि । उपाय, धर्म करने की प्रक्रिया । द्रव्य, गौ आदि । श्रद्धा, शास्त्र के वाक्यों पर दृढ विश्वास । पात्र, विद्या और तप से संयुक्त ब्राह्मण । ये सब कारण जब इकट्ठे होते हैं तब धर्म उत्पन्न होता है । यही न्याय सब धर्मों में है । और इनमें से यदि कोई कारण न रहे तो धर्म करने से भी उसका फल नहीं होता । जिस काल में श्रद्धा और द्रव्य सम्पत्ति हो वही काल धर्म का उत्पादक है किन्तु यदि वह काल शास्त्र से निषिद्ध न हो और उस काल से संयुक्त ऐसा देश जो कि शास्त्र से निषिद्ध न हो वह भी धर्म का प्रधानकारण है अर्थात् काल, देश का सहकारी है । तात्पर्य्य यह है कि श्रद्धा, पात्र और द्रव्य की सम्पत्ति तथा वे देश और काल जो कि शास्त्र निषिद्ध नहीं हैं ये इतने मिलित हो कर धर्म के कारण हैं । और इन धर्मकारणों में से देश रूपी कारण का विवेक, मार्कण्डेयपुराण में कहा हुआ है कि—

"भगवन्०" हे भगवन् ! यह जम्बूद्वीप का संक्षेप कहा गया जो कि आपने पूछा था और इस जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष को छोड़ अन्य प्रदेश कोई ऐसा नहीं है जो कि पुण्य और पाप दोनों के फल का उत्पादक हो । यहीं से स्वर्ग, मोक्ष, मध्य और अन्तः सब प्राप्त होते हैं ॥ १॥२॥

न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते ।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरम् ॥ ३ ॥
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः ।
दक्षिणे मलयो यस्य हिमवानुत्तरे तथा ॥ ४ ॥
तदेतत् भारतं वर्षं सर्ववीजं द्विजोत्तम ।
ब्रह्मत्वममरेशत्वं देवत्वमपि दुर्लभम् ॥ ५ ॥
मृगपश्वोपधिवरायोनीस्तत्तदतोऽश्नुते ।
स्थावराणां च सर्वेषामतो ब्रह्मन् शुभाशुभे ॥ ६ ॥
प्रयान्ति कर्मभूर्ब्रह्मन्नान्यलोकेषु विद्यते ।
स्वर्गापवर्गप्राप्तिश्च पुण्यं पापं च वै तथा ॥ ७ ॥
देवानामपि विप्रर्षे सदैवैष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात्प्रच्युताः क्षितौ ॥ ८ ॥
मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः ॥

विष्णुपुराणे—उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥ १ ॥

तथा—अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।

भाषा

और भारतवर्ष से अन्यत्र किसी भूमि में मनुष्यों के लिये यज्ञादि का विधान नहीं है । जम्बूद्वीप उत्तर दक्षिण चार सहस्र कोस है जिसमें कि भारतवर्ष है । और भारतवर्ष के चारों अवधि ये हैं कि पूरब किरातदेश, पश्चिम यवनदेश, दक्षिण मलयपर्वत, उत्तर हिमवान् पर्वत । बहुत पूर्व समय में इस (वर्ष) का *'अजनाभ'* नाम था और जब से महाराज भरत के अधिकार में यह आया तब से भारत कहा जाता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

हे द्विजोत्तम ! वह यह भारतवर्ष सबका बीज है अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र, देवता, मृग, पशु, ओषधी आदि योनि अपने २ कर्मानुसार यहाँ से होते हैं । अन्य प्रदेशों में कहीं यह सामर्थ्य नहीं है । स्वर्ग और मोक्ष मिलना तथा पुण्य और पाप दोनों का फल मिलना इसी भारतवर्ष के अधीन है न कि अन्य देश के ॥ ५—७ ॥ हे विप्रर्षे ! देवताओं के हृदय में भी यह इच्छा सदा ही बनी रहती है कि देवत्व से च्युत होने पर हम मनुष्य हों क्योंकि मनुष्य ऐसा काम करता है कि जो देवता और दैत्य नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

विष्णुपुराण में भी कहा है कि—

"उत्तरं०" समुद्र के उत्तर और हिमवान् के दक्षिण भारतवर्ष है । जिसमें कि भरत महाराज का वंश है । हे सत्तम ! लाख जन्म लेते २ बड़े २ पुण्यों के अनुसार, कदाचित् जीव को इस भारतवर्ष

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि सत्यस्य विष्णोः परमात्मरूपे ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिंल्लयं ते त्वमलाः प्रयान्ति ॥

भविष्यपुराणे—

ब्रह्मावर्त्तः परो देश ऋषिदेशस्त्वनन्तरः ।
मध्यदेशस्ततो न्यून आर्य्यावर्त्तस्त्वनन्तरः ॥

अनन्तर इत्यत्र नञ् ईषदर्थे, अनुदरा कन्येतिवत् । अन्तरशब्दो भेदवचनः भेदश्च वैलक्षण्यम् तच्च न्यूनतया । उत्तरोत्तरं न्यूनदेशस्यैवाभिधानात् यथा मध्यदेशस्ततो न्यून इति । तथा चेषन्न्यून इत्यर्थः ।

मनुः—सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योः यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

अत्र देवपदं स्तुत्यर्थम् । अन्तरं मध्यम्—

अस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां सदाचारः स उच्यते ॥

परम्परैव पारम्पर्यम् । परम्पराक्रमेणानादिरप्रथमतयाऽऽगतः । तेनाधुनिकाचारो वारितः । अन्तरालाः सङ्करजातयः । यद्यपि देशान्तरे सदाचाराः सन्ति, तस्मिन्नपि च देशेऽनुपनीतसहभोजनादयोऽनाचाराः परम्परागता बहवो दृश्यन्ते, तथापि सदाचारलक्षणे, नैतद् वाक्यस्य तात्पर्यम्, किन्तु तद्देशप्रशंसामात्र इति नान्यदेशाचारस्य प्रामाण्यमिति मेधातिथिः ।

भाषा

में मनुष्य का जन्म मिलता है । स्वर्ग तथा मोक्ष जाने वालों के लिये यह भारतवर्ष ही एक उद्योग करने की भूमि है । देवताओं की ऐसी गीतें सुनी हैं कि भरतभूमि के लोग धन्य हैं जो कि देव शरीर के अन्त में स्वर्ग और मोक्ष के लिये भारतवर्ष जन्म लेकर परमेश्वर के ध्यान से परमेश्वर में लीन हो जाते हैं । भविष्यपुराण में यह कहा है कि—"ब्रह्मावर्त्त०" भारतवर्ष में अधिक पुण्यजनक, ब्रह्मावर्त्त देश है । उससे न्यून ऋषिदेश, उससे न्यून मध्यदेश और उससे न्यून आर्य्यावर्त्त है । ब्रह्मावर्त्त आदि देशों का स्वरूप मनु ने कहा है कि—"सरस्वती०" सरस्वती और दृषद्वती पुण्य नदियों के बीच के देश को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ।

"अस्मिन्०" इस ब्रह्मावर्त देश में चार वर्णों और वर्णसङ्करों में अनादि परम्परा से जो आचार चला आता है वह सदाचार कहलाता है । यहाँ पण्डित मेधातिथि (मनुस्मृति के टीकाकार) यह कहते हैं कि, यद्यपि अन्य देशों में भी सदाचार हैं तथा ब्रह्मावर्त में भी जिन लड़कों का यज्ञोपवीत नहीं हुआ है उनके साथ भोजन करना आदि अनेक दुराचार देखे जाते हैं तथापि मनु का यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्मावर्त ही के आचार सदाचार हैं अथवा ब्रह्मावर्त के सब आचार सदाचार ही हैं किन्तु ब्रह्मावर्त की प्रशंसामात्र में मनु का तात्पर्य है इसलिये अन्य देश के भी सदाचार प्रमाण हैं ।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं प्रचक्षते ॥
कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥
एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिंस्तस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥

मत्स्याः विराटदेशः । पाञ्चालाः कान्यकुब्जादिदेशः । शूरसेनकाः मथुरादिदेशः । अनन्तरः ईषन्न्यूनः । अग्रजन्मनः ब्राह्मणस्य । एतद्देशप्रसूतस्येति वचनं देशप्रशंसापरम् तत्प्रकरणपाठात्, न तु तद्देशप्रसूतेभ्य एव धर्मशिक्षणनियमार्थम् । विनशनं सरस्वत्यन्तर्द्धानदेशः कुरुक्षेत्रदेशे प्रसिद्धः । यज्ञियो यज्ञार्हः । म्लेच्छदेशो यज्ञानर्हः । वृत्तिर्जीविका तया कर्षितः पीडितः वृत्त्या जीवनाभाववानित्यर्थः ।

वसिष्ठः—धर्म आर्यावर्ते प्रागदर्शनात्प्रत्यक्कालकावनादुदक् पारियात्राद्दक्षिणेन

भाषा

"कुरुक्षेत्रं०" कुरुक्षेत्र मत्स्य (विराट्देश) पाञ्चाल कान्यकुब्ज आदि देश शूरसेन (मथुरा आदि देश) यही ऋषिदेश है जो कि ब्रह्मावर्त से कुछ न्यून है। "एतद्देश०" पृथ्वी में सब देशों के राजाओं को चाहिये कि इस देश के उत्पन्न ब्राह्मण से अपना २ चरित्र सीखें। यह इस देश की प्रशंसा है न कि इसका यह तात्पर्य्य है कि इसी देश के उत्पन्न ब्राह्मण से शिक्षा ले।

"हिमवद्०" मध्यदेश के चार अवधि ये हैं कि पूरब प्रयाग, पश्चिम विनशन (कुरुक्षेत्र में जहाँ सरस्वती नदी गुप्त हुई हैं), दक्षिण विन्ध्यपर्वत और उत्तर हिमवान् पर्वत। इन्हीं अवधियों के बीच के देश को मध्यदेश कहते हैं।

"आसमुद्रात्०" पूर्व और पश्चिम समुद्रों के तथा विन्ध्य और हिमवान् के बीच के देश को आर्य्यावर्त कहते हैं।

"कृष्णसार०" जिस देश में अनादि काल से कृष्णसार मृग स्वतन्त्र विहार करते हैं वह यज्ञ का देश है और उससे अन्य सब देश, म्लेच्छ देश अर्थात् यज्ञ करने के योग्य नहीं हैं। "एतान्०" ब्राह्मण आदि तीन वर्ण, इन उक्त पुण्य देशों ही में जिस रीति से हो वास करें और शूद्र तो यदि इन देशों में अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकें तो अन्य देशों में भी वास कर सकता है।

वसिष्ट महर्षि ने भी कहा है कि "धर्म आर्य्यावर्ते०" धर्म आर्य्यावर्त में है। अदर्शन देश से

हिमवत उत्तरेण विन्ध्यस्य धर्मा ये चाचारास्ते सर्वे प्रत्येतव्या न त्वन्ये प्रतिलोमकल्प-धर्माणः। एतमार्यावर्तमित्याचक्षते गङ्गायमुनयोरन्तराऽप्येके यावद्वा कृष्णमृगो विचरति तावद्ब्रह्मवर्चसम्। अथापि भाल्लविनो निदाने गाथामुदाहरन्ति।

पश्चात् सिन्धुर्वितरणी सूर्यस्योदयिनी पुनः।
यावद्वा कृष्णमृगो विचरति तावद्ब्रह्मवर्चसम्॥ इति॥

अस्मिंस्तु अदर्शनादयः शब्दाः पश्चात् सिन्धुरित्याद्युदाहृतश्रुत्युक्तदेशपराः न अन्ये। यतस्ते धर्माः प्रतिलोमकल्पधर्माणो विपरीताः अस्फुटस्वभावाः। कल्पशब्देन धनतृणादिदेशवचनेनास्फुटता लक्ष्यते। पुनरार्य्यावर्त्तानुवादोऽन्वर्थसंज्ञाप्रदर्शनार्थः, आर्य्यास्त्रयो वर्णाः आवर्तन्ते यस्मिन्निति। ततआर्य्यैरत्रैव वस्तव्यम्। ब्रह्मवर्चसम् इच-स्वाध्यायसम्पत्तिः। भाल्लविनः छन्दोगाः। निदानं छन्दोगसूत्रम्। सिन्धुः प्रसिद्धा। वितरणी जनकपर्वतसमीपे मालवदेशे परशुरामेण धनुष्कोटया कुण्डं भित्त्वा निर्मितेति जनप्रसिद्धा।

आदिपुराणे—कृष्णसारैर्यवैर्दर्भैश्चातुर्वर्ण्याश्रमस्तथा।
समृद्धो धर्मदेशस्त्वमाश्रयेरन् विपश्चितः॥

शङ्खलिखितौ—देश आर्यो गुणवान् प्रागस्तादर्वागुदयाद्यावद्वृषा गिरयो यावत् पुण्याः सरितः प्राक् सिद्धत्वात् देशः सनातनः पुण्यः। कृष्णमृगो वा यावत् विचरति ताव-दाचारः स्यात् प्राक् सिन्धुसौवीराद्दक्षिणेन हिमवतः पश्चात् काम्पिल्या उदक् पारियात्रा-दनवद्यं ब्रह्मवर्चसम् सर्वेषामतोऽन्यदेशकुलजातिधर्माणामन्वया इति।

भाषा

पूरब कालककावन से पश्चिम, विन्ध्यपर्वत से उत्तर, हिमवान् से दक्षिण, जो धर्म और आचार अनादि से हैं वे ही विश्वास के योग्य हैं न कि दूसरे; क्योंकि दूसरे धर्म, अधर्म से हिले मिले अर्थात् शुद्ध नहीं हैं। और यही देश आर्य्यावर्त है अर्थात आर्य्य अर्थात् ब्राह्मणादि तीन वर्ण इसी में जन्म लेते हैं इसलिये इस देश का नाम आर्य्यावर्त है। इसी से ब्राह्मणादि तीन वर्णों को इसी देश में वास करना चाहिये। एक ऋषि का यह मत है कि गंगा और यमुना का मध्य ही आर्य्यावर्त है। सिद्धान्त यह है कि कृष्णसार मृग जिन देशों में अनादि काल से स्वतन्त्र विचरते हैं उतने ही देश, ब्राह्मणादि तीन वर्णों के वास और यज्ञादि धर्मों के योग्य अर्थात् पुण्य देश है न कि अन्य। वेद में भी कहा हुआ है "पश्चात् सिन्धु०" पश्चिम सिन्धु नदी से पूरब, वैतरणी नदी (मालव देश में जनक पर्वत के समीप धनु के कोण से कुण्ड को खोद कर परशुराम ने जिसे बनाया) तक पुण्य देश है अथवा कृष्णसार मृग जिन २ देशों में स्वतन्त्र विचरते हैं वहीं तक सब देश ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के वास और यज्ञादि आदिधर्मों के योग्य अर्थात् पुण्य देश हैं न कि अन्य, आदिपुराण में भी कहा है कि-"कृष्णसारै०" कृष्णसार मृग यव, कुश चार वर्ण और चार आश्रम, जिन देशों में स्वाभाविक हैं बुद्धिमानों को उचित है कि उसी देश में वास करें।

शङ्ख और लिखित महर्षियों ने भी कहा है कि "देश आर्यो०" अस्ताचल से पूरब और उदयाचल से पश्चिम जिन २ देशों में ऊँचे २ पर्वत और पुण्य नदियाँ हैं वे देश सनातन से पुण्य

अनवद्यम् अविकल्पम्। धर्माणामेतद्देशधर्माणाम्। अन्वयाः सन्तानाः प्रत्येतव्या इति शेषः।

पैठीनसिः—आ हिमवतः आ च कुमार्याः सिन्धुर्वैतरणी नदी सूर्य्यस्योदयनं पुरः यावद् वा कृष्णमृगश्चरति तत्र धर्मश्चतुष्पादो भवति इति।

विष्णुः—चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यत्र देशे न विद्यते।
तं म्लेच्छदेशं जानीयादार्यावर्तमतः परम्॥

अन्ये तत्तत्कर्मणि पुण्यदेशास्तत्तत्प्रकाशे निरूपणीयाः।

अथ निषिद्धदेशाः

बौधायनः—अनर्तकाङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथः।
उपावृत्तिसिन्धुसौवीरा एते सङ्कीर्णयोनयः॥

अर्वाक् कारस्करान् पाण्ड्यान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वङ्गकलिङ्गप्रासूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा। अथाप्युदाहरन्ति—

पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः॥

अनर्तका द्वारका यस्मिन् देशे। अङ्गश्चम्पाप्रदेशः। अयं च निषेधस्तीर्थयात्रां विना।

तदुक्तम्—अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति॥

भाषा

और आर्य्य हैं अथवा कृष्णमृग जिन २ देशों में स्वाभाविक रहते हैं वे ही सब देश सनातन से पुण्यदेश और आर्य्यदेश हैं अर्थात् सिन्धु नदी से पूरब, हिमालय पर्वत से दक्षिण, काम्पिली से पश्चिम और पारियात्र पर्वत से उत्तर पुण्यदेश है। और इन्हीं देशों में वर्णधर्म और आश्रमधर्म हैं। पैठीनसि महर्षि ने भी कहा है कि–"*आ हिमवतः०*" हिमवान् पर्वत से कुमारी तक, और सिन्धु नदी से वैतरणी तक, तप, यज्ञ, दान रूपी धर्म अपने चारों चरणों से वास करता है। विष्णुमहर्षि ने कहा है कि–"*चातुर्वर्ण्य०*" जिस देश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों की व्यवस्था नहीं है उसको म्लेच्छदेश जाने और उससे अन्य देश आर्य्यावर्त है।

अब निषिद्ध अर्थात् अपवित्र देश कहे जाते हैं–

बोधायन महर्षि ने कहा है कि "*अनर्तकाङ्ग०*" अर्थात् (जिस देश में द्वारका है) अङ्ग (चम्पा प्रदेश), मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत, सिन्धु, सौवीर, इतने देश संकीर्ण योनि हैं। कारस्कर, पाण्डय, पुण्ड्र, सौवीर, वङ्ग, कलिङ्ग, प्रासून, इन देशों की यात्रा करने से पुनस्तोम अथवा सर्वपृष्ट यज्ञ करने से शुद्ध होता है। ऋषि लोग कहते कि उसका प्रायश्चित्त वैश्वानर हवि है।

इन उक्त देशों में यात्रा करने का निषेध, उस यात्रा के विषय में है कि जो यात्रा, तीर्थयात्रा के विना हो जैसे कि इस वाक्य में कहा है कि "*अङ्ग वङ्ग०*" अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र, और

आदिपुराणे—आर्यावर्तसमुत्पन्नो द्विजो वा यदि वाऽद्विजः ।
कर्मदां सिन्धुपारं च करतोयां न लङ्घयेत् ॥
आर्यावर्तमतिक्रम्य विना तीर्थक्रियां द्विजः ।
आज्ञां चैव तथा पित्रोरैन्दवेन विशुद्ध्यति ॥

कर्म धाति इति व्युत्पत्त्या कर्मदा कर्मनाशा ।

मगधेषु विशेषमाह—कीकटेषु गया पुण्या नदी पुण्या पुनःपुनः ।
च्यवनस्याश्रमः पुण्यः पुण्यं राजगृहं वनम् ॥

कीकटो मगधदेशः ।

वायुपुराणे—त्रिशङ्कोर्वर्जयेद् देशं सर्वं द्वादशयोजनम् ।
उत्तरेण महानद्या दक्षिणेन च कीकटान् ॥
देशस्त्रैशङ्कवो नाम श्राद्धकर्मणि गर्हितः ।

आदिपुराणे—काञ्चिकोशलसौराष्ट्रदेशाः कर्णाटकच्छजाः ।
कावेरीकोल्वणोद्भूतास्ते देशा निन्दिता भृशम् ॥

कोल्वणः, त्र्यम्बकगिरिमध्यदेशः कोलवण इति प्रसिद्धः ।
पञ्चनद्यो वहन्त्येता यत्र निःसृत्य पर्वतात् ॥
आरट्टा नाम ते देशाः न तेष्वार्य्योऽन्यहं वसेत् ।
नर्मदासिन्धुकौशीनां पारं वसस्य पाश्चिमम् ॥

भाषा

मगध, देश में तीर्थयात्रा के बिना यदि जाय तो वह पुनः यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य हो जाता है। तथा आदिपुराण में भी कहा है कि "आर्य्यावर्त०" आर्य्यावर्त में उत्पन्न मनुष्य ब्राह्मण हो यदि वा अन्य वर्ण हो परन्तु कर्मनाशा, सिन्धु, करतोया, नदी के पार न जाय, तीर्थयात्रा के बिना आर्य्यावर्त से अन्यत्र जाकर अथवा—माता, पिता की आज्ञा को उल्लंघन कर द्विज, चान्द्रायण व्रत से शुद्ध होता है। मगध देश में यह विशेष कहा है कि—"कीकटेषु०" मगधदेश में गया, पुण्य है तथा "पुनः पुनः०" नदी, च्यवन ऋषि का आश्रम और राजगृह नामक वन पुण्य है।

वायु पुराण में कहा है कि "त्रिशङ्को०" महानदी से उत्तर और मगध देश से दक्षिण, पूरब, पश्चिम ४८ कोस तक त्रिशङ्कुदेश (आकाश में अधोमुख टँगे हुये राजा त्रिशङ्कु के लिये विश्वामित्र ने जो स्वर्गलोक अधूरा बना कर छोड़ा उसकी छाया में पड़ा हुआ देश) है। श्राद्ध के लिये निंदित है और उस देश में न जाय। आदिपुराण में कहा है कि "काञ्चिकोशल०" काञ्चि कोशल, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कच्छ, कावेरी और कोल्वण (त्र्यम्बक पर्वत का मध्यदेश जिसको कोलवण कहते हैं) ये देश बहुत निन्दित हैं।

"पञ्चनद्यो०" शतद्रु, सतलज, विपाशा (व्यासा), इरावती (रावी), चन्द्रभागा (चनाब), वितस्ता (झेलम) ये पाँच नदियाँ पर्वतों से निकल कर जिन देशों में बहती हैं वे देश "पञ्जाब" आरट्ट कहलाते हैं। इन देशों में त्रैवर्णिक, अधिक दिन तक वास न करे। नर्मदा, सिन्धु के पार,

गत्वा नरकमाप्नोति तीर्थकालाधिकं वसन् ॥

पारं मध्यभागात्परभागः । पद्मस्य पुष्करस्य ।

अङ्गवङ्गकलिङ्गान्ध्रमद्रमालविकास्तथा ।
नर्मदादक्षिणे यच्च सिन्धोरुत्तर एव च ॥
पौण्ड्रश्चैव सुराष्ट्रश्च वैन्ध्यमागधकाः खशाः ।
न विवाहं तथा श्राद्धं यज्ञं तेषु समाचरेत् ॥
पापदेशाश्च ये केचिद् व्याधैरध्युषिता जनैः ।
गत्वा देशानपुण्यांस्तु कृच्छ्रं पापं समश्नुते ॥

कृष्णसारादिरहितदेशाभिप्रायमिदमिति स्मृतिचन्द्रिकाकारः ।

व्यासः—देशान् शूद्रजनाक्रान्तानधार्मिकजनावृतान् ।
म्लेच्छावृतान् प्रयत्नेन वर्जयेद्धार्मिको द्विजः ।

श्रुतिरपि—"तस्मान्न जनमियान्नान्तमियादिति"। जनं अन्त्यजम् । क्वचित्प्रतिप्रसवः, स्कान्दे—

अङ्गवङ्गकलिङ्गाँश्च पर्वताँश्च खशाँस्तथा ।
सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् पारदानान्ध्रमालवान् ॥
विवाहने द्विजो नित्यमनापदि विवर्जयेत् ।
एतानप्यापदि गृही संश्रयेद्वृत्तिकर्षितः ॥

पितामहः—शूद्रराज्येऽपि निवसेद्यत्र मध्ये तु जाह्नवी ।
सोऽपि पुण्यतमो देशोऽनार्यैरपि समाश्रितः ॥

भाषा

और पुष्कर तीर्थ से पश्चिम जाकर तीर्थ के काल से अधिक रहने वाला नरक पाता है। अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, अन्ध्र, मद्र, मालविक और नर्मदा के दक्षिण देश तथा सिन्धु के उत्तर देश, पौण्ड्र, सुराष्ट्र, विन्ध्यदेश, मागध, खश, इन देशों में पुण्यदेशवासी मनुष्य विवाह, श्राद्ध और यज्ञ न करें। हिंसा करने वाले मनुष्यों से भरे हुए और भी जो देश हैं उनमें जाने से मनुष्य को पाप होता है। व्यास ने कहा है कि "देशान्०" जिन देशों में शूद्र और पापी अधिक हैं अथवा म्लेच्छ भरे हुये हैं, धार्मिक द्विज उन देशों में न जाय। वेद में भी कहा है कि "तस्मान्न०" म्लेच्छ जनों से संभाषण आदि न करें। म्लेच्छ देशों में न जाय।

अङ्ग, वङ्ग आदि देशों के विषय में कुछ निर्वाह, स्कन्दपुराण में कहा है कि "अङ्ग, वङ्ग०" अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, निन्दित पर्वत, खश, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, पारद, अन्ध्र, मालव, इन देशों में किसी आपत्ति के विना, अन्य देशवासी द्विज कदापि न विवाह करें परन्तु यदि आपत्ति में पड़ा और जीविका रहित हो तो इन देशों का भी आश्रयण कर सकता है। पितामह (ब्रह्मा) ने कहा है कि—"शूद्रराज्येऽपि०" त्रैवर्णिक, उस शूद्र राज्य में भी वास करे जिसके बीच गङ्गा गई हो

कुरुक्षेत्रनिवासेन वाराणस्यां च मानवः ।
अहिंसकः स्नानरतः पापं हित्वा दिवं व्रजेत् ॥
न गङ्गया विना वासः सर्वधर्मक्षयादृते ।
काश्यां तु मरणं श्रेष्ठं विना क्षेत्रं प्रजापतेः ॥
गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
निवासो न विना पुण्यैर्नराणामिह जायते ॥

सर्वधर्मक्षयो नाम कुरुक्षेत्रम् । कुरुक्षेत्रादन्यत्र गङ्गया विना निवासः श्रेष्ठः । प्रयागादन्यत्र काश्यां मरणं श्रेष्ठम् ।

व्यासः—ते देशास्ते जनपदास्ते शैलास्ते तथाऽऽश्रमाः ।
पुण्या त्रिपथगा येषां मध्ये याति सरिद्वरा ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—प्रभासे पुष्करे काश्यां नैमिषेऽमरकण्टके ।
गङ्गायां सरयूतीरे निवसेद्धार्मिको जनः ॥ इति ॥

अत्र च वीरमित्रोदयप्रकरणे वसिष्ठोद्धृतया "पश्चात् सिन्धुर्विधरणी" ति श्रुत्याऽऽर्यावर्तं लक्षयित्वा तस्य पुण्यदेशता म्लेच्छानां तद्देशानां चागम्यतां प्रतिपादयन्त्या मित्रमिश्रोद्धृतया "तस्मान्न जनमियान्नान्तमियादिति" बृहदारण्यकोपनिषच्छ्रुत्या आर्यम्लेच्छदेशयोर्विभागो गुणदोषौ च दर्शितौ । शङ्खलिखितयोः स्मृतौ च देश एव प्रथमं धर्मनिमित्तत्वेनोक्तः । "तन्मूलो देश" इत्यनेन च देशस्य कालः सहकारित्वेनोक्तः एवं च देशविशेष-

भाषा

क्योंकि म्लेच्छों से भरा हुआ भी वह देश, गंगा के कारण बड़ा पुण्य देश है । कुरुक्षेत्र और काशी में हिंसा न कर स्नानरत हो वास करने से मनुष्य अन्त में ऊर्ध्व गति को जाता है । गंगा के विना यदि कहीं वास अच्छा है तो कुरुक्षेत्र ही में और प्रयाग के विना, काशी ही में मरण श्रेष्ठ है । हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर में उन्हीं मनुष्यों का वास होता है कि जिनके पूर्व पुण्य अधिक हैं । (ये पाँच श्लोक उसी सप्तखण्डाध्यायी पितामहस्मृति के हैं जिसका वर्णन "वेददुर्गसप्तन" के वेदमहत्त्व प्रकरण में पूर्व ही हो चुका है और वह पितामह-स्मृति बहुत दिनों से लुप्त है) । व्यास ने भी कहा है कि "*ते देशा०*" जिनके मध्य में, सब नदियों से श्रेष्ठ गंगा जाती हैं वे ही देश, देश हैं, वे ही पर्वत, पर्वत हैं, वे ही आश्रम, आश्रम हैं । विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा है कि—"*प्रभासे०*" धार्मिक मनुष्य, प्रभास, पुष्कर, काशी, नैमिष, अमरकण्टक, गंगातीर वा सरयूतीर में वास करे । इति

यहाँ तक इस उद्धृत वीरमित्रोदय में कही हुई, वसिष्ठ महर्षि की उद्धृत की हुई "*पश्चात् सिन्धुर्विधरणी०*" इस श्रुति से आर्य्यावर्त देश का यज्ञादि वर्णाश्रमधर्म के प्रति, योग्यता सिद्ध है । ऐसे ही पण्डित मित्रमिश्र की उद्धृत "*तस्मान्न०*" इस श्रुति से म्लेच्छ देशों की अगम्यता भी सिद्ध है तथा शंख और लिखित महर्षियों की भी "*तन्मूलो देशः*" इस पूर्वोद्धृत स्मृति से यह सिद्ध है कि धर्म करने में देश प्रधान कारण है । इस प्रकार से यह बात सिद्ध हो गई कि देश में कोई ऐसा विशेष अवश्य होता है कि उसके कारण वह देश धर्म का उत्पादक होता है और उस विशेष के न

निष्ठः कश्चिदतिशयो धर्मजनकतावच्छेदकतया शास्त्रगम्योऽवश्यमस्तीति स्पष्टमेव लभ्यते। शास्त्रं च "वर्जयित्वा तु भारतम्" इत्युपक्रम्य "भूमौ कर्म विधीयते" इत्यन्तं सपादपद्यम् मार्कण्डेयपुराणीयम् भारतभूमौ तादृशमतिशयं बोधयति। अत्र हि कर्मपदं वर्णाश्रमधर्मपरमेव। तस्य धर्माधर्मोभयपरत्वस्वीकारे "इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च" इत्यनेन विरोधापत्तेः। न हि स्वर्गमोक्षावधर्माद्भवतः। एवं च भारतातिरिक्ते जम्बूद्वीपविभागे वर्णाश्रमधर्मप्रयोजकतावच्छेदकः शास्त्रीयोऽतिशयो नास्त्येवेति "वर्जयित्वा तु भारतम्" इत्यनेन स्पष्टमेवोच्यते। तादृशातिशयप्रमापकश्च सम्प्रत्यपि भारतवर्षे प्रत्यक्षः सोमलताप्ररोहः। अत एव "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्" इति द्युलोकावस्थितिमहाविभूतिः सोमवल्लीद्युस्थानप्रतिनिधितया भारते वर्षे यज्ञनिष्पादनायावतारिता विश्वसृजा तथा—"यदि सोमं न विन्देत्तर्हि पूतीकानभिषुणुयात्" इति श्रुतसोमाभावे तत्प्रतिनिधित्वेन विहितानां पूतीकानां प्ररोहोऽपि। न च सोमपूतीकाद्या अलौकिका लताविशेषा भारतीमिमां भूमिं जहति, न वा क्वचिदपि खण्डान्तरे कदाचिदप्यासन् सन्ति वा। एवम्—कृष्णसारकुरङ्गस्वैरविहारो यवदर्भप्ररोहः चातुर्वर्ण्यम् चातुराश्रम्यं चेति भारतवर्षमात्रविश्रान्तः सर्वलोकप्रत्यक्षोऽर्थपरिकरः "कृष्णसारैर्यवैर्दर्भैः" इति पूर्वोक्तनादिपुराणवाक्येन प्रतिपादितोऽनादिपरम्परायातोऽद्य यावदपि जागर्त्येव। तथा च भारतभूमिः सामान्यविशेषोभयधर्मभूमिः तदन्या तु जम्बूद्वीपभूमिरपि न यज्ञादिरूपवेदविहितवर्णाश्रमधर्मभूमिः। सत्यादिरूपसाधारणधर्मभूमित्वन्तु तत्रापीति विवेकः। अस्मिंश्च दैशिके

भाषा

होने से दूसरे देश धर्म के उत्पादक नहीं हैं तथा वह विशेष, केवल शास्त्ररूपी चक्षु से देख पड़ता है न कि चर्मचक्षु से। और ठीक भी यही है, क्योंकि जब *"धर्मराजसज्जन"* और *"वेददुर्गसज्जन"* में कहे हुये दुर्भेद्य प्रमाणों के अनुसार धर्म, केवल शास्त्रचक्षु से गम्य है तब धर्म के उत्पादक देशों में उक्त विशेष कैसे चर्मचक्षु से गम्य हो सकता है? और पूर्वोद्धृत *"वर्जयित्वा तु भारतम्"* से *"भूमौ कर्म विधीयते"* तक सपाद श्लोक मार्कण्डेयपुराण रूपी स्मृति से भी भारत भूमि में अनन्तरोक्त विशेष सिद्ध है और इससे यह भी सिद्ध है कि वह शास्त्रीय विशेष, भारत से अन्य देश में नहीं है। तथा *"तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्"* (जगत् सृष्टि के अनन्तर सोमलता यहाँ से तीसरे अर्थात् स्वर्ग लोक में सोमलता रहती है अर्थात् सोमलता की सृष्टि द्युलोक ही में होती है) इस श्रुति से स्पष्ट ही यह निश्चित है कि ब्रह्मदेव यज्ञों के लिये पश्चात् भारत वर्ष में उतारते हैं। और *"यदि न सोमं विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्"* (यदि सोम न मिले तो उसके स्थान पर पूतीक नामक तृणों को काम में लावे)। इस श्रुति में सोम का प्रतिनिधि पूतीक विधान किया हुआ है। इसलिये यह प्रत्यक्ष उदाहरण है कि ये सोम और पूतीक तथा ऐसी २ अन्यान्य अलौकिक लतायें इस भारतभूमि में ही होती आती हैं और इससे अन्य किसी भूमि में न कभी हुई न होती हैं। ऐसे ही *"कृष्णसारै०"* इस पूर्वोद्धृत आदिपुराण के वाक्य से, उक्त शास्त्रीय विशेष के, लोकप्रसिद्ध और प्रत्यक्ष कृष्णसार मृग का विहरण यव, कुश, चार वर्ण, चार आश्रम, रूपी अनेक चिह्न, भारतभूमि में दिखलाये गये हैं जो कि अनादि काल से इसी भूमि पर होते आते हैं और अन्य भूमि में कदापि

धर्मप्रयोजकतावच्छेदकेऽतिशयेऽनेकजातीयत्वम् स्वर्गतदतिरिक्तानेकविधनानाफलगतानां वैजात्यानां मोक्षगतस्य च वैजात्यस्य देशविशेषप्रयोज्यतावच्छेदकतायाः प्रयोज्यप्रयोजकभावे व्यभिचारवारणायावश्याभ्युपगमनीयतया तत्तद्वैजात्यावच्छिन्नप्रयोज्यतानिरूपितप्रयोजकतावच्छेदकतया शास्त्रीयतत्तद्वाक्यबोधितानां तत्तद्देशविशेषावस्थितानामतिशयानां तारतम्यस्यावश्यकल्पनीयत्वात्। भारतेऽपि च यत्र यत्र स्तोकायासकृतमपि कर्म भूयस्तरशुभाशुभापूर्वजनकं तदेव तीर्थमुच्यते अत एव तेषु क्षेत्रत्वव्यवहारः। लोके हि क्षेत्रशब्देन सा कृष्टा भूमिरुच्यते यत्र स्तोकेष्वेव यवगोधूमशाल्यादिबीजेषूप्तेषु महान्तो यवादिराशय उत्पद्यन्ते। केदारन्यायसिद्धश्चायमर्थः। तथा च ब्रह्मवैवर्तेऽखिले काशीमूलरहस्ये काशीकेदारमाहात्म्येऽष्टाविंशे अध्याये–

केदारनाम जगति सस्योत्पादनभूमिषु।
प्रसिद्धं तत्कथं त्वत्र शिवक्षेत्रोपपादितम् ॥८६॥ इति सूतप्रश्नः।

तत्रैवोनत्रिंशेऽध्याये—

धर्मार्थकाममोक्षाख्यां काश्यां केदारभूमिका।
सस्यवृद्धिकरी जाता विश्वेशनगरी बलात् ॥२४॥

इति व्यासोक्तमुत्तरं च।

भाषा

नहीं हुए, न होते हैं और न होंगे। तथा इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि ये सोम आदि गिने हुए चिह्न मन के सब ही यज्ञादि रूपी वर्णाश्रम धर्मों के उपयोगी हैं। इससे यह विवेक बहुत ही स्पष्ट हो गया कि भारत-भूमि सामान्यधर्म और विशेषधर्म दोनों की जन्म-भूमि है और उससे अतिरिक्त जम्बूद्वीप, या अन्य द्वीप की भूमि यज्ञादि रूपी विशेष धर्मों की जन्म-भूमि नहीं है और सत्यभाषण आदि साधारण धर्मों की जन्म-भूमि तो सभी हैं। और यह भारत-भूमि का शास्त्रीय विशेष अनन्त प्रकार का है क्योंकि यज्ञादि धर्म, कर्म और उनके सुख रूपी फल भी अनन्त प्रकार के होते हैं तो उनका सहकारी उक्त शास्त्रीय विशेष भी कैसे एक प्रकार का हो सकता है? तथा इस भारत-भूमि के जिस २ प्रदेश में थोड़े से परिश्रम और व्यय कर धर्म करने से, अन्य भारत प्रदेश की अपेक्षा बहुत अधिक सुख रूपी फल, और पाप करने से बहुत अधिक दुःख रूपी फल, धर्म और अधर्म के कर्ता को मिलता है उन्हीं सब प्रदेशों को तीर्थ और क्षेत्र भी कहते हैं। क्योंकि लोक में 'क्षेत्र' उस जोती हुई भूमि को कहते हैं कि जिसमें यव, गेहूँ, आदि थोड़े से बीजों के बो देने से उनके बड़े २ राशि उत्पन्न होते हैं। यह विषय उक्त रीति से अनुभव सिद्ध तो है ही परन्तु "केदार" इस शब्द के दृष्टान्त से भी सिद्ध है क्योंकि "केदार नाम०" अर्थात् सूत का यह प्रश्न है कि लोक में, यव, गोधूम आदि सस्य जिस भूमि में उत्पन्न होते हैं उसको केदार (क्यारी) कहते हैं "ऐसी दशा में इस शिवक्षेत्र का कैसे "केदार, नाम है! और व्यासकृत उत्तर यह है कि "धर्मार्थकाम०" अर्थात् विश्वनाथपुरी के माहात्म्य से काशी के इस प्रदेश में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूपी सस्यों की अधिक वृद्धि होती है। इससे इसका केदार

लौकिकक्षेत्रेभ्यश्च शास्त्रीयक्षेत्राणां, लौकिककर्मभ्यः शास्त्रीयकर्मणामित्थंतावानेव विशेषः—यदेकत्र दृष्टान्येव फलान्यन्यत्र त्वदृष्टानि दृष्टानि चेति। यथा च यव्येषु क्षेत्रेषु उप्ता अपि शालयो न फलन्ति तथैव स्वर्गापवर्गादि तत्तत् फलजनकतया प्रतिपादितेषु तत्तत्तीर्थेषु कृतान्यपि धर्मकर्माणि न फलान्तरं प्रसुवते। किं च विस्तरभयादिहानुपन्यस्यमानेषु परःशतेषु स्कान्दादिवाक्येषूक्तानां तीर्थचिह्नानां बदरीकूर्मधाराकेदाररेतःकुण्डप्रभृतिसम्भूतानां संवावदूका अनन्यथासिद्धाः साक्षात्कारिणः प्रत्यया नैव साहसमात्रेण प्रामाण्यात् प्रच्यावयितुं शक्यन्ते।

किं बहुना यत्र प्रत्यन्तवासिनामपि मक्कादिषु देशविशेषेषु तदीयाः शास्त्रीया अतिशया अद्यापि तेषु प्रसिद्धिमनुभवन्ति।

भाषा

नाम है। और (जैसे) भोजन, शयन आदि लौकिक कर्मों की अपेक्षा यज्ञादि कर्मों में इतना ही विशेष है कि लौकिक कर्मों से इस लोक में तृप्ति आदि दृष्ट ही फलों का लाभ होता है परन्तु यज्ञादि शास्त्रीय कर्मों से इस लोक में पुत्र, पशु आदि दृष्ट फलों का और परलोक में स्वर्ग सुख आदि अदृष्ट फलों का भी लाभ होता है (वैसे) लौकिक क्षेत्रों की अपेक्षा शास्त्रीय क्षेत्रों में भी यह विशेष है कि लौकिक क्षेत्रों से यव, गेहूँ आदि दृष्ट ही पदार्थों का लाभ होता है परन्तु शास्त्रीय क्षेत्रों से पुत्र, पशु आदि दृष्ट फलों और स्वर्गादि अदृष्ट फलों का भी लाभ होता है। तथा जैसे यव के क्षेत्र में यदि शाली बोई जाय तो वह फल नहीं देती किन्तु यदि यव बोये जायँ तभी फल का लाभ होता है वैसे ही जिस २ शास्त्रीय क्षेत्र में जो २ काम करने से जो २ विशेष फल शास्त्र में कहा हुआ है उसी तीर्थ में उसी काम से वही फल होता है न कि अणुमात्र भी उससे विपरीत।

विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखे जाते हुए पौराणिक और ऐतिहासिक वाक्यों में कहे हुए प्रसिद्ध २ तीर्थचिह्नों के प्रत्यक्षानुभव भी अद्यावधि ऐसे चले आते हैं कि जिनके देखने से तीर्थनास्तिक्य बहुत दूर भाग जाता है जैसे बदरी क्षेत्र के नारायण मन्दिर में गीली लकड़ी से प्रसाद बनता है और अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये कूर्म धारा का जल अग्नि पर छोड़ा जाता है परन्तु उस स्थान से अन्यत्र उसी जल से अन्य जलों की नाईं अग्नि बुझ जाती है। तथा रेतस् कुण्ड में समीप से 'बं' शब्द जै बार कहा जाय तै बार शिवलिङ्गाकार महाबुद्बुद का कुण्ड जल से प्रादुर्भाव होता है और काशीपुरी मात्र में तड़ाग जल के तुल्य गङ्गा जी वेगशून्य हैं ऐसे ही अनेक क्षेत्रों में शतशः विशेष अनुभव सिद्ध हैं। और देश का विशेष यहाँ तक लोक प्रसिद्ध है कि वेदबाह्य लोग भी "मक्का, मदीना" आदि देशों के अनुसरण में अपने २ शास्त्रीय विशेषों के अनुसार अधिक परिश्रम और व्यय करते हुए अब भी देखे जाते हैं। और जिन लोगों के मत में कोई तीर्थ नहीं है वे भी नियम से गिर्जा आदि में जाकर अपने दिन की रोटी (प्रेयर) आदि माँगते हैं न कि अन्य प्रदेशों में। अब विचार करना चाहिए कि गिर्जा आदि में क्या विशेष प्रत्यक्ष है! कि जिससे वहीं वे लोग 'प्रेयर' आदि करते हैं और निर्णय यही है कि जिस स्थान में बहुत दिनों से प्रेयर आदि कर्म हीं होते हैं वह देश पवित्र हो जाता है अर्थात् उस देश में उनके शास्त्र के अनुसार ऐसा विशेष उत्पन्न हो जाता है कि जिसके

अथात्र श्रौतः परिकरः—

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया" (ऋ० मं० १ अ० ३ सू० ७५ मं० ५)

अत्र सायणः—अत्र प्रधानभूताः सप्त नद्यः तदवयवभूतास्तिस्रः स्तूयन्ते—हे गङ्गे! हे यमुने! हे सरस्वति! हे शुतुद्रि! हे परुष्णि! हे असिक्न्या अवयवभूतया सहिते मरुद्वृधे वितस्तया सोमया च सहिते आर्जीकीये त्वं चैवं सप्त नद्यो यूयं मे स्तोमं स्तोत्रं अस्मदीयं आसचत आसेवध्वं शृणुहि शृणुत च। आर्जीकीयाया वितस्तया सुषोमया च साहित्यं निरुक्ते उक्तम्—वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया चेति। अत्र गङ्गागमनादित्यादि निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

तत्रैव—अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्नमातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥ मं० ४ ॥

सायणः—हे सिन्धो त्वा त्वां शिशुमिन्नमातरः मातरः पुत्रमिव वाश्राः शब्दयन्त्यः इतरा नद्यः अभ्यर्षन्ति अभिगच्छन्ति पयसेव धेनवः पयसा युक्ता नवप्रसूतिका गाव इव। किं च युध्वा युद्धकृद्राजेव त्वरित् त्वमेव सिचौ सिच्यमानौ मटौ नयसि यत् यदा आसां प्रवतां त्वया सह गच्छन्तीनां अग्रं अग्रे इनक्षसि व्याप्नोषि सर्वासां पुरो गच्छसि ॥ ४ ॥

तत्रैव—तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्यास्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥ ६ ॥

भाषा

कारण नहीं किये हुए 'मेयर' आदि से अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक फल होता है। और यह विशेष मद्यगृह और द्यूतगृह आदि में नहीं रहता बल्कि उसके विरुद्ध गुणविशेष इन गृहों में रहता है इसके कारण ये गृह उनकी दृष्टि में भी निषिद्ध हैं। इसी से इन गृहों में वे लोग मेयर आदि नहीं करते। अब ध्यान देना चाहिये कि बहुत थोड़े दिनों से जहाँ २ अच्छे काम किये जाते हैं वहाँ भी यदि कुछ विशेष हो जाता है, तो इन तीर्थों में उक्त शास्त्रीय विशेष क्यों न हों? क्योंकि इन तीर्थों में अनादि काल से वेद रूपी महाप्रमाण के अनुसार तप और अश्वमेध आदि महा २ पुण्यों को अब तक महात्मा करते आते हैं। यहाँ तक उक्त रीति से यह सिद्ध हो गया कि लोकानुभव के अनुसार भी इन तीर्थों का अनुसरण करना बहुत ही आवश्यक है और इसके ऊपर नास्तिकों का आक्षेप अणुमात्र भी सत्य नहीं है किन्तु मिथ्या ही है।

अब तीर्थों के विषय में विशेष रूप से वैदिकप्रमाण दिया जाता है तत्रापि प्रथम जलतीर्थों में—

"इम मे०" हे गङ्गे! हे यमुने! हे सरस्वति! हे परुष्णि! हे असिक्नि से गर्भित मरुद्वृधे! तथा हे वितस्ता और सुषोमा से गर्भित आर्जीकिये! तुम सात नदियों, मेरे पढ़े हुए स्तोत्र की सेवा करो और सुनो भी।

"अभि त्वा०" हे सिन्धो! जैसे माता पुत्र के अभिमुख जाती है वैसे ही क्षीरयुक्त धेनु गौ के सदृश अन्य नदियाँ तुम्हारे अभिमुख जाती हैं। और युद्ध करने वाले राजा के तुल्य तुम्हीं अपने इधर

सायणः—हे सिन्धो त्वं क्रुमुं क्रमणीयां गोमतीं नदीं यातवे प्रतियातुं पर्वतादवरूढा प्रथमं तृष्टा मया नद्या सजूः सङ्गतासि पश्चात् सुसर्त्वा रसया श्वेत्यात्या कुभया मेहल्वा च सह सजूर्भव याभिस्त्वं सरथं समानं रथमारुह्य ईयसे गच्छसि ॥ ६ ॥

सिन्धुगङ्गाप्रभृतयश्च जलप्रवाहरूपा नद्यः स्वस्वाधिष्ठात्रीणां सिन्धुगङ्गाप्रभृतीनामिन्द्रादिवद्विग्रहवतीनां नाम्नैव लोके प्रसिद्धास्तीर्थभूयमनुभवन्ति । तदधिष्ठात्र्यस्तु सिन्धुगङ्गाप्रभृतयो देवतास्तु ताभ्योऽन्या एव अधिष्ठात्रधिष्ठेययोरचाभेदमारोप्यैव सिन्धुगङ्गाप्रभृतिषु नदीषु सिन्धुरियं गङ्गेयमिति लौकिको व्यवहारः ।

तथा च मन्त्रौ तत्रैव—स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्यमयी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधिवस्ते सुभगामधुवृधम् ॥ ८ ॥
सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥ ६ ॥

सायणः—सेयं सिन्धुः स्वश्वा शोभनाश्वोपेता सुरथा शोभनरथा सुवासाः शोभनवसना हिरण्मयी हिरण्मयाभरणा सुकृता वाजिनीवती अन्नवती ऊर्णावती तस्याः समीपे देशे सन्त्यूर्णाः यासां रोमभिः कम्बलाः क्रियन्ते युवतिर्नित्यतरुणी सर्वदा अहीनोदका सीलमावती सीराणि पर्यौषध्या रज्जुभूतया वध्यन्ते सा सीलमेति निगद्यते कृषीवलैः । तादृगोषध्योपेता उतापि च सुभगा सिन्धुर्मधुवृधं मधुवर्धकं निर्गुंड्यादिकं अधिवस्ते आच्छादयति तस्यास्तीरे निर्गुंड्यादीनि बहूनि सन्ति ॥ ८ ॥

भाषा

उधर के तीर रूपी वीरों को जल से ले जाती हो । तुम्हारे साथ बहती हुई अन्य नदियों के आगे तुम चलती हो । "*तृष्टमया०*" हे सिन्धो ! तुम जाने योग्य 'गोमती' नदी से मिलने के लिये पर्वत से निकल कर '*तृष्टामा*' नदी से मिली हो पश्चात् 'सुसर्त्' रसा, श्वेत्याती, कुभा, महेलू, नामक नदियों के साथ कि जिनके साथ एक रथ पर तुम चलती हो ।

सिन्धु, गङ्गा आदि नदियों के दो स्वरूप होते हैं—एक जल रूपी और दूसरा इन्द्रादि अन्य देवताओं के नाईं शरीरधारी और चेतन अर्थात् देवता रूपी है तथा देवता स्वरूपी रूप, जल रूपी स्वरूप का स्वामी है । और सिन्धु, गङ्गा आदि नाम, उन देवता रूपी स्वरूपों हीं के हैं । उनके अधीन न होने के कारण उनके जल रूपी स्वरूपों का भी उन्हीं के नामों से लोक में व्यवहार होता है कि यह सिन्धु हैं और यह गङ्गा हैं इत्यादि । तथा उन जल रूपियों में स्नानादि करने का फल भी उनके स्वामी देवताओं के द्वारा ही मिलता है और नदियों के इन दोनों स्वरूपों में प्रमाण ये दो वैदिक मन्त्र हैं कि—

"*स्वश्वा०*" वह यह सिन्धु अच्छे अश्ववाली, अच्छे रथवाली, अच्छे वस्त्रवाली और सुवर्ण के आभरणों से भूषित, अन्नवाली, ऊनवाली, सदा युवती, '*सीलमा*' नामक तृणविशेषवाली, और सुन्दरी, मधु के वर्द्धक निर्गुंडी आदि को धारण करती है । "*सुखं०*" सिन्धु देवता, अश्ववाले, सुखकारी रथ को जोतती है । उस रथ से सिन्धु देवता मुझे अन्न दे, इस यज्ञ में सिन्धु के इस रथ

सायणः—सिन्धुर्देवता सुखं सुखकरं शोभनद्वारं वा अश्विनं अश्ववन्तं रथं युयुजे युनक्ति तेन रथेन वाजं अन्नं सनिषत् प्रयच्छतु अस्मिन्नाजौ संग्रामे यज्ञे वा अस्य सिन्धुरथस्य महिमा महान् हि पनस्यते स्तूयते कीदृशस्यास्य अदब्धस्य अन्यैरहिंस्यस्य स्वयशसः स्वायत्तकीर्तेः। विरप्शिनः महन्नामैतत् महतः ॥ ६ ॥

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महोमहीरवसायान्तु वक्षणीः ।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥
(ऋ० मं० १० अ० ५ सू० ६४ मं० ६)

सायणः—महो महतोऽपि महीर्महत्यः अत्यन्तं महत्यः ऊर्मिभिः सहिताः सरस्वती सरयुः, सिन्धुः एतदाद्या एकविंशतिसङ्ख्याकाः वक्षणीः इमा नद्यः अवसा रक्षणेन हेतुना आयान्तु अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छन्तु । ततः देवीः देवनशीला मातरो मातृभूताः सूदयित्न्वः प्रेरयित्र्यः तासामापः घृतवत् घृतयुक्तं मधुमत् मधुसहितमात्मीयं पयः नोऽस्मभ्यमर्चत प्रयच्छत ॥ ६ ॥

ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत (ऐतरेय ब्रा० २ पंचिका ३ अ० १६ कं०)

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशे अभवत्सरित् ॥
(यजु० अ० १४ मं० ११)

अर्थः—(सस्रोतसः) सरस्वतीसमानप्रवाहाः दृषद्वतीप्रभृतयः पञ्चनद्यः सरस्वतीं (अपि यन्ति) सङ्गच्छन्ति (तु) अतः अस्मिन् देशे सरस्वती सरित् पञ्चधा अभवत् इति।

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥
(ऋ० मं० १ अ० १ सू० ३ वर्ग ६ मं० १२)

भाषा

की बड़ी महिमा कही जाती है जो रथ कि किसी शत्रु के तोड़ने योग्य नहीं है तथा नामी और महान् भी है। "सरस्वती०" बहुत बड़ी और लहरों के सहित ये सरस्वती, सरयू, सिन्धु आदि एकीस नदियाँ 'आप०' रक्षा के लिये मेरे यज्ञ में आवें और हर्ष देनेवाली माता के तुल्य प्रेरणा करती घृत और मधु के सहित अपने पयस् (जल वा दूध) को मुझे दे दें।

"ऋषयो वै०" सरस्वती नदी में ऋषि, सत्र करते हैं। "पञ्च नद्य:०" दृषद्वती आदि पाँच नदियाँ सरस्वती नदी से मिलती हैं इससे इस देश में सरस्वती नदी पाँच प्रकार की हैं।

"महो अर्णः" इस मंत्र पर सायणाचार्य ने यह व्याख्यान किया है कि सरस्वती दो प्रकार की हैं—एक देवता रूपी दूसरी जल रूपी। उनमें से देवता रूपी सरस्वती का वर्णन, पूर्व दो ऋचाओं में हो चुका है। अब इस ऋचा से नदी अर्थात् जल रूपी सरस्वती का वर्णन किया जाता है कि नदी रूपी सरस्वती अपने वेग से बहुत जल का प्रकाश करती हैं और अपने देवता रूप से सब बुद्धियों को सदा प्रकाशित करती हैं। सरस्वती के उक्त दो स्वरूपों को निरुक्त में यास्क महर्षि

सायणः—द्विविधा हि सरस्वती विग्रहवद्देवता नदीरूपा च। तत्र पूर्वाभ्यामृग्भ्यां विग्रहवती प्रतिपादिता। अनया तु नदीरूपा प्रतिपाद्यते। तादृशी सरस्वती केतुना कर्मणा प्रवाहरूपेण महो अर्णः प्रभूतमुदकं प्रचेतयति ज्ञापयति। किं च स्वकीयेन देवतारूपेण विश्वा-धियः सर्वाणुष्ठात् प्रज्ञानानि विराजति विशेषेण दीपयति अनुष्ठानविषया बुद्धिः सर्वदोत्पाद-यतीत्यर्थः। सरस्वत्या द्विरूपत्वं यास्कः दर्शयति—"तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति" इति एकशतसङ्ख्याकेषूदकनामस्वर्णः क्षोद इति पठितम्। एतां ऋचं यास्को व्याचष्टे—महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रणमयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया चेमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजतीति।

अष्टासप्ततिं भरतो दौष्यन्तो यमुनामनु गङ्गायां वृत्रघ्नेऽवध्नात् पञ्चपञ्चाशतो हयान्
(ऐतरेय ब्रा० पञ्चिका ४ अ० २३ कं०)

अत्र च भरतदुष्यन्तशब्दयोर्जातिवाचित्वमेव न तु कालविशेषावच्छिन्नयत्किंचित्-व्यक्तिवाचित्वम् "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" (मी० अ० १ पा० सू० ३३) इति न्यायात्। "अवध्नात्" इति च न भूतार्थकम् वेदे भूतार्थकलकाराभावस्य क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे वेदबाह्य-मतसमालोचने प्रतिपादितपूर्वत्वादतो न वेदसादित्वशङ्कावकाशः।

ये संवत्सराय दीक्षन्ते तेषां तीर्थमेव प्रापणीयम्।
(शत० ब्रा० १२।२।१।१)

अर्थः—अतिरात्रयज्ञे ये दीक्षितास्ते तीर्थस्नानफलमाप्नुवन्तीति।

भाषा

ने कहा है कि "*तत्र सरस्वती०*" सरस्वती, इस शब्द के दो अर्थ नदी और देवता, ब्राह्मणभाग में कहे हैं। और यास्क महर्षि ने इस मन्त्र का यही अर्थ कहा है जो कि में (सायण) ने कहा इति।

"*अष्टासप्ततिं०*" दुष्यन्त का पुत्र भरत, यमुना के तीर में ७८ और गंगा के तीर में ५५ अश्वमेध करता है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि '*दुष्यन्त*' और '*भरत*' नाम लेने से वेद के अनादि होने में विघ्न पड़ता है क्योंकि "*क्षुद्रोपद्रवविद्रावण*" में वेदबाह्यों के मतखण्डन के अवसर पर "*आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्*" (मी० अ० १ पा० ३ सू० ३३) इस अधिकरण के अनुसार यह सिद्ध कर दिया गया है कि गौ आदि शब्द की नाईं दुष्यन्त आदि शब्दों का भी साक्षात् कोई एक शरीर अर्थ नहीं है किन्तु दुष्यन्तत्व आदि जाति ही है अर्थात् जगत् की सृष्टियों के अनादि और अनन्त प्रवाहों में कितने दुष्यन्त और कितने उनके पुत्र भरत हो चुके तथा कितने आगे चल कर होंगे इसकी कोई संख्या नहीं हो सकती और त्रिकालज्ञ के तुल्य वेद ने उन सबको दुष्यन्त आदि शब्दों के द्वारा सामान्य रूप से कह दिया है।

"*ये सम्वत्सराय०*" रात्रिसत्र यज्ञ में जो दीक्षित होते हैं उनको तीर्थ स्नान करने का फल होता है। यहाँ तक जलतीर्थों के विषय में विशेष वैदिक प्रमाण दिखलाये गये।

अथ स्थलतीर्थेषु ऋक्परिशिष्टे—

ऋक्संहितायाः सप्तमाष्टकस्य ५ अध्याये २८ वर्गानन्तरं पञ्चर्चे परिशिष्टम्—

तत्र श्रूयते—यत्र गङ्गा च यमुना यत्र प्राची सरस्वती।
यत्र सोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृधि॥ ५॥

अष्टमाष्टकस्य तृतीयाध्याये षड्वर्गानन्तरमियमेका ऋक् श्रूयते—

सितासिते सरिते यत्र सङ्गमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥ १॥

देवा ह वै सत्रं निषेदुरग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वेदेवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम् तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् (शत० कां० १४।१।१)

ऋक् संहितायां सप्तमाष्टकस्य ५ अ० २० वर्गानन्तरम् पञ्चर्चे परिशिष्टे यथा—

यत्र देवा महात्मानः सेन्द्राश्च समरुद्गणाः।
ब्रह्मा च यत्र विष्णुश्च तत्र माममृतं कृधि॥ ४॥

इति ब्रह्मप्रधानं पुष्करतीर्थम्।

यत्र तत्परमं पदं विष्णोर्लोके महीयते।
देवैः सुकृतकर्मभिस्तत्र माममृतं कृधि॥ १॥

इति विष्णुपदप्रधानं गयातीर्थम्।

अथर्ववेदीयगोपालोत्तरतापनीयोपनिषदि श्रूयते—

भाषा

अब स्थल (भूमि रूपी) तीर्थों के विषय में विशेष रूप से वैदिक प्रमाण दिखलाये जाते हैं। *"यत्र गंगा"* हे परमेश्वर! जहाँ गङ्गा और यमुना भी हैं तथा पूर्वी सरस्वती भी (गुप्त रूप से) हैं और जहाँ शिवलिङ्ग सोमेश्वर नामक (प्रतिमा) है वहाँ मुझको मोक्ष दीजिये।

"सितासिते०" जहाँ शुक्ल और कृष्ण दो नदियों का संगम है वहाँ स्नान करनेवाले स्वर्ग को जाते हैं और जो धीर बुद्धिमान् मोक्ष के चाहने वाले) मनुष्य वहाँ शरीर छोड़ते हैं वे मोक्ष पाते हैं। ये दो वेदवाक्य तीर्थराज श्री प्रयाग के प्रतिपादक हैं। *"देवा ह वै०"* अग्नि, इन्द्र, चन्द्रमा, यज्ञरूपी विष्णु आदि अश्विनीकुमारों दोनों से अतिरिक्त सब देवता यज्ञ करते हैं और उनका देवयजन (यज्ञ-स्थान) कुरुक्षेत्र को देवताओं का देवयजन कहते हैं।

"यत्र देवा०" जहाँ इन्द्र और वायुगण के सहित महात्मा देवता हैं और जहाँ ब्रह्मा और विष्णु भी हैं वहाँ मुझे मोक्ष दीजिये।

'यह वेदवाक्य पुष्करतीर्थ का प्रतिपादक है जिसमें ब्रह्मा प्रधान हैं।

"यत्र तत्०" इस लोक में पुण्यात्मा देवताओं से वह जो प्रसिद्ध विष्णुपद पूजा जाता है वहाँ मुझे मोक्ष दीजिये। यह वेदवाक्य गया तीर्थ का प्रतिपादक है क्योंकि उसमें विष्णुपद ही प्रधान है।

सहोवाच तं हि नारायणो देवः सकाम्याः मेरोः शृङ्गे यथा सप्त पुर्य्यो भवन्ति तथा निष्काम्याः सकाम्या भूगोलचक्रे सप्त पुर्य्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरी हीति ॥ २८ ॥

सकाम्या निष्काम्या देवानां सर्वेषां भूतानां भवति था हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां तिष्ठतीति । चक्रेण रक्षिता हि मथुरा तस्माद् गोपालपुरी भवति ॥ २६ ॥

बृहद्बृहद्वनं मधोर्मधुवनं तालस्तालवनं काम्यं कामवनं बहुलो बहुलवनं कुमुदं कुमुदवनं खदिरः खदिरवनं भद्रो भद्रवनं भाण्डीर इति भाण्डीरवनं श्रीवनं लोहवनं वृन्दाया वृन्दावनमेतैरावृता पुरी भवति ॥ ३० ॥

तत्र तेष्वेव गहनेष्वेव देवता मनुष्या गन्धर्वा नागाः किन्नरा गायन्ति इति नृत्यन्तीति ॥ ३१ ॥

तत्र द्वादशादित्या एकादश रुद्रा अष्टौ वसवः सप्त मुनयो ब्रह्मा नारदश्च पञ्च विनायका वीरेश्वरो रुद्रेश्वरो अम्बिकेश्वरो गणेश्वरो नीलकण्ठेश्वरो विश्वेश्वरो गोपालेश्वरो भद्रेश्वरोऽन्यानि लिङ्गानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति ॥ ३२ ॥

द्वे वने स्तः कृष्णवनं भद्रवनं तयोरन्तर्द्वादशवनानि पुण्यतमानि तेष्वेव देवास्तिष्ठन्ति सिद्धाः सिद्धिं प्राप्ताः ॥ ३३ ॥

तत्र रामस्य राममूर्तिः प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नमूर्तिरनिरुद्धस्यानिरुद्धमूर्तिः कृष्णस्य कृष्णमूर्तिः ॥ ३४ ॥

वनेष्वेवं मथुरास्वेवं द्वादशमूर्तयो भवन्ति ॥ ३५ ॥

भाषा

"सहोवाच तं हि०" श्री नारायणदेव, ब्रह्मा से कहते हैं कि जैसे मेरु पर्वत के शृङ्ग पर सात पुरी होती हैं वैसे भूलोक में सात पुरी होती हैं। उनके मध्य में यह गोपालपुरी (मथुरा) साक्षात् ब्रह्मरूप है ॥ २८ ॥

सब देवताओं और अन्यान्य प्राणियों के लिये विषय भोग और मोक्ष को देनेवाली यह, जैसे हृदय में पद्म रहता है वैसे मथुरापुरी भूमि में है और चक्र से रक्षित है इससे गोपालपुरी है ॥ २६ ॥

इस मथुरापुरी में बृहद्वन, मधुवन, तालवन, काम्यवन, बहुलवन, कुमुदवन, खदिरवन, भद्रवन, भाण्डीरवन, श्रीवन, लोहवन, वृन्दावन, ये वन होते हैं ॥ ३० ॥

वहाँ उन्हीं वनों में देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर, गाते और नाचते हैं ॥ ३१ ॥

उस पुरी में १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, ७ मुनि, ब्रह्मा, नारद, ५ विनायक और वीरेश्वर, रुद्रेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठेश्वर, विश्वेश्वर, गोपालेश्वर, भद्रेश्वर आदि २४ लिङ्ग होते हैं ॥ ३२ ॥

संक्षेप से उस पुरी में दो वन हैं—कृष्णवन और भद्रवन तथा उन वनों के भीतर १२ वन बड़े पुण्य हैं। उन वनों में देवता रहते हैं और सिद्ध लोग सिद्धि पाते हैं ॥ ३३ ॥

वहाँ राम (बलभद्र), प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और कृष्ण की मूर्तियाँ होती हैं ॥ ३४ ॥

ऐसे ही वनों में और मथुरा में १२ मूर्तियाँ होती हैं। एक मूर्ति की रुद्र लोग, दूसरी की

एकां हि रुद्रा यजन्ति, द्वितीयां ब्रह्मा यजति तृतीयां ब्रह्मण्या यजन्ति चतुर्थी मरुतो यजन्ति पञ्चमीं विनायका यजन्ति षष्ठीं वसवो यजन्ति सप्तमीमृषयो यजन्ति अष्टमीं गन्धर्वा यजन्ति नवमीमप्सरसो यजन्ति दशमीं वै अन्तर्धाने तिष्ठति एका दशमेति स्वपदं गता द्वादशमेति भूम्यां तिष्ठति ॥ ३६ ॥

तां हि यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति मुक्तिं लभन्ते । गर्भजन्मजरामरणतापत्रयात्मकं दुःखं तरन्ति ॥ ३७ ॥

तदप्येते श्लोका भवन्ति—

प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम् ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः ॥ ३८ ॥
यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः ।
रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ॥ ३६ ॥

अत्रस्य 'सहोवाच तं ही' त्याद्यष्टाविंशतितमश्रुतिमूलिकैव ।

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥ १ ॥

इति गारुडस्था स्मृतिः निरवधिपरम्पराप्राप्ता त्रैलोक्यव्यापिनी ख्यातिश्चायोध्यादीनां सप्तपुरीणाम् ।

भाषा

ब्रह्मा, तीसरी को सनत्कुमार आदि ब्राह्मण, चौथी को वायु लोग, पाँचवीं को विनायक लोग, छठवीं को वसु लोग, सातवीं को ऋषि लोग, आठवीं को गन्धर्व लोग, नवीं को अप्सरा लोग पूजा करते हैं और दशवीं मूर्ति वहीं गुप्त रहती है। ग्यारहवीं मूर्ति वहीं ऊपर आकाश में रहती है और बारहवीं मूर्ति प्रसिद्ध होकर भूमिपर रहती है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

इन मूर्तियों की जो पूजा करते हैं वे अज्ञान को तर जाते हैं और गर्भ, जन्म, मरण से छूट जाते हैं ॥ ३७ ॥

ऐसे ही मंत्र होते हैं कि "*प्राप्य०*" शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनु और मुशलादि आयुधों से रक्षित तथा ब्रह्मा आदि से सेवित, रम्या मथुरापुरी को पाकर देवता, मनुष्य, गन्धर्व आदि उसमें वास करते हैं ॥ ३८ ॥

इसी (*सहोवाच तं हि*) २८ वीं श्रुति के मूल से गरुड़ पुराण के प्रेतकल्प का यह वाक्य है कि "*अयोध्या०*" अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची (शिव काञ्ची, विष्णु काञ्ची), अवन्ती, द्वारवती (द्वारका) ये सातपुरी मोक्ष देनेवाली हैं और इन पुरियों की अनादि काल से त्रैलोक्यव्यापिनी प्रसिद्धि का भी "*सहोवाच तं हि*" यह उक्त वेदवाक्य मूल है तथा इसी उक्त उपनिषद् रूपी मूल को लेकर पुराण आदि में ये श्लोक हैं कि—

एतदुपनिषन्मूलकान्येव च—

राजधानी ततः साऽभूत्सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान्यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ॥
मथुरेति त्रिवर्णीयं त्रयीतोऽपि गरीयसी ।
यत्सानुधावति ब्रह्म ब्रह्मैनामनुधावति ॥
अजन्मा यज्जातः स जनिरजनित्वं च भजते,
कपाली पालोऽस्याः सकलभुवनैकाहुतिकरः ।
सहस्रं वत्सानामपहरति धाता त्रिजगता-
महो किं किं चित्रं वितरति न चित्रा मधुपुरी ॥
वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति ।
द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः ॥
वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स वाञ्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं गन्तुमिच्छति गौतमः ॥

इत्यादीनि वाक्यानि ।

एवम् जाबालीयोपनिषदि श्रूयते—

तं बृहस्पतिः शक्रगुरुरुवाच याज्ञवल्क्यम् यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् अत्र

भाषा

"*राजधानी०*" तदनन्तर मथुरा, सब यदुवंशी राजाओं की राजधानी हुई जहाँ कि विष्णु भगवान् सदा सन्निहित रहते हैं ।

"*मथुरेति०*" 'मथुरा ये' तीन अक्षर, तीन वेद से भी बहुत बड़े हैं क्योंकि तीन वेद ब्रह्म के पीछे दौड़ते हैं और इन अक्षरों के पीछे ब्रह्म स्वयं दौड़ते हैं ।

"*अजन्मा०*" मधुपुरी (मथुरा) किस २ आश्चर्य को नहीं दिखलाती, क्योंकि इस पुरी में उनका जन्म हुआ कि जिन (परमेश्वर) का जन्म ही नहीं होता और जिन (जीव) का जन्म होता है वे यहाँ जन्म से छूट जाते हैं अर्थात् मोक्ष पाते हैं तथा प्रलयकाल में अपने तीसरे नेत्र के अग्नि में तीनों लोकों को एक ही आहुति करनेवाले संहार रुद्र, इस पुरी के पालन करनेवाले हैं और तीनों लोक के स्वामी ब्रह्मदेव, यहाँ सहस्रों बछरों को चुराते हैं ।

"*वृन्दावनं०*" श्रीराधिका के द्विभुज स्वामी और श्रीलक्ष्मी के चतुर्भुज स्वामी वृन्दावन को छोड़ कर एक पद भी कहीं नहीं जाते ।

"*वरं वृन्दावने०*" वह गौतम महर्षि, रम्य वृन्दावन में शृगाल होना चाहते हैं किन्तु विषयों से शून्य मोक्ष को नहीं चाहते, इत्यादि । ऐसे ही काशी पुरी के विषय में जाबाल उपनिषद् के ये वाक्य हैं कि "*तं बृहस्पतिः०*" इन्द्र के गुरु बृहस्पति, याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि कुरुक्षेत्र नामक तीर्थ, देवताओं के देवयजन और सब प्राणियों के मोक्ष स्थान रूपी जिस क्षेत्र से न्यून है वह

हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्य इति ।

अस्यार्थः—'कुरुक्षेत्रं' तदाख्यं क्षेत्रं, 'देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् यत् अनु' देवानां देवयजनात् सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनात् यस्मात् हीनम् 'हीने' इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । तत् किं, यस्माद्धीनम् तदाह 'अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रम्, अविमुक्तमेव प्रधानं कुरुक्षेत्रं कस्मात् ? यतः अविमुक्तम्—देवानां देवयजनम्, च सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्, च 'गामश्व' मितिवदर्थः समुच्चयः । तत् कुरुक्षेत्रं तु देवानां देवयजनमेव "तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्" (श० कां० १४।१।१।) इति श्रुतेः न तु तत् सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् मोक्षदमिति यावत् । अविमुक्तं तु मोक्षदमपि कथमत्र मोक्षो भवति ? तदाह अत्र हीति । स्पष्टम् ।

तथा तत्रैव—अथैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथं जानीयामिति । सहोवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तो व्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां मध्ये प्रतिष्ठित इति का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयति तेन वरणेति सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान्नाशयति तेन नासीति इति ।

अत्र च द्वितीयकुरुक्षेत्रपदेनाविमुक्तमेवोच्यते 'अविमुक्तं वै" इत्यवधारणार्थकेन वैशब्देन भूतानां ब्रह्मसदनत्वोक्त्या च तथैव प्रतिपादनात् । इदं च सर्वमुपनिषद्वाक्यम् अविमुक्तक्षेत्रस्य ब्रह्मसदनत्वे तत्र म्रियमाणानां रुद्रकृततारकब्रह्मोपदेशलाभे तेन तत्त्वज्ञाने तेन

भाषा

अविमुक्त (काशी) ही प्रधान कुरुक्षेत्र है क्योंकि कुरुक्षेत्र, केवल देवताओं का देवयजन ही है जैसा कि "तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्" (श० का० १४।१।१।) इस श्रुति में कहा है और अविमुक्त तो देवताओं का देवयजन भी है और सब प्राणियों का मोक्षस्थान भी है क्योंकि यहाँ प्राणी सर्वसाधारण मृत जीव के प्राण निकल जाने के समय रुद्र, तारकब्रह्म का उपदेश करते हैं जिससे वह प्राणी तत्त्वज्ञानी होकर मोक्ष पाता है इससे अविमुक्त ही में वास करे, अविमुक्त को न छोड़े। हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। "अथैनमत्रिः०" तदनन्तर इन याज्ञवल्क्य से अत्रि पूछते हैं कि जो यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा है उसको मैं कैसे जानूँ ! "याज्ञवल्क्य०" जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है उसकी उपासना अविमुक्त में करे क्योंकि यह आत्मा अविमुक्त में स्थित है।

"अत्रि०" यह अविमुक्त कहाँ स्थित है ? याज्ञ०—वरणा और नासी (अस्सी) के मध्य में । अत्रि०—वरणा और नासी नाम क्यों है ? याज्ञ०—इन्द्रियों से किये हुए सब दोषों का वारण करती है इससे 'वरणा' नाम है और इन्द्रियों से किये हुए सब पापों का नाश करती है इससे 'नासी' नाम है । इन वेदवाक्यों से इतने विषय स्पष्ट होते हैं कि अविमुक्त नामक क्षेत्र, मोक्ष का स्थान है और यहाँ मरने वाले प्राणियों को श्री शिवजी से तारक ब्रह्म का उपदेश मिलता है और उससे तत्त्वज्ञान होता है और उससे मोक्ष होता है तथा 'नासी' इस भाषान्तर से यहाँ कही हुई अस्सी नदी और

मोक्षीभावे क्षेत्रस्याविमुक्तस्य निषेव्यत्वापरित्याज्यत्वयोः वरणानाम्न्या नद्याः परोक्षनासीति नामान्तरनिर्दिष्टासीनामकनद्याश्च मध्यस्थत्वे क्षेत्रस्यान्वर्थाविमुक्तनामकत्वे च स्फुटतरमेव। तत्परम् सर्वस्यैतस्यार्थजातस्य काशीखण्डादौ महता प्रबन्धेन बहुशो निवेदितस्य प्रत्यभिज्ञानात् अर्थान्तरोत्प्रेक्षायाश्च पुराणाद्युपबृंहणाभावेनानुपादेयत्वात् अविमुक्तपदेन सोपाधिकेश्वरोपासनविवक्षायामपि सिद्धवत्कृत्वा अत्र निर्दिष्टस्यैतत्क्षेत्रमाहात्म्यस्य न किञ्चिदपचीयते, उभयत्रापि सामञ्जस्येन समन्वयसंभवात्। किं च काशीखण्डे लैङ्गमात्स्यकौर्माद्यनेकपुराणवाक्यानां प्रत्यक्षैर्जाबालिवाक्यैरेव सह मूलमूलिभावकल्पना न्यायबलोपोबलितत्वाज्ज्यायसी न तु परोक्षैर्वाक्यान्तरैः, कल्पनागौरवप्रसङ्गादिति मूलमूलिभावान्यथानुपपत्त्याऽपि जाबालिवाक्यानामेषामर्थान्तरपरत्वशङ्का निरस्यतेतराम्। अपि च—

रामतापन्यां चतुर्थकण्डिकायामपि—

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् इत्यारभ्य समानमेव समाम्नाय अथ तं प्रत्युवाच स्वयमेव याज्ञवल्क्यः—

श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।
मन्वन्तरसहस्रं तु जपहोमार्चनादिभिः॥

भाषा

वरणा नदी के बीच में अविमुक्त क्षेत्र है तथा परमेश्वर से कदापि विमुक्त नहीं होता, इससे इस क्षेत्र का 'अविमुक्त' नाम है। और ये सब विषय, स्कन्दपुराण आदि के काशीखण्ड, आदि भागों में स्पष्टता के साथ निरूपण किये गये हैं इसलिये इन उक्त दोनों वेदवाक्यों का यही अर्थ निश्चित है जो कि कहा गया क्योंकि पुराण आदि से वेदार्थ का निश्चय करना, इस कारण उचित है कि उनका मूल वेद ही है। और जब कि पुराण भागों में वाराणसी के नाम अविमुक्त, और "*काशी*" आदि कहे हैं तब इसमें कुछ सन्देह नहीं हो सकता कि ये वेदवाक्य काशीतीर्थ में प्रमाण हैं।

प्र०—ये वाक्य ईश्वर की उपासना रूपी अर्थ में क्यों न लगाये जायँ?

उ० १—यदि उसमें लगाये भी जायँ तो कुछ हानि नहीं हो सकती क्योंकि काशीक्षेत्र में भी ये वाक्य पूर्ण रूप से लगते हैं।

उ० २—"*कुरुक्षेत्र*" शब्द के ग्रहण से स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि अविमुक्त, कुरुक्षेत्र की नाईं स्थल-तीर्थ है।

उ० ३—जब कि स्कन्दपुराण का काशीखण्ड, लिङ्गपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, आदि के जो २ वाक्य आगे चल कर दिखलाये जायँगे उनमें ये पूर्वोक्त विषय स्पष्ट कहे हुए हैं जो कि इस वेदवाक्यों में कहे हैं तो ऐसी दशा में यह अवश्य कहना पड़ेगा कि ये दो वेदवाक्य उन पुराणवाक्यों के मूल हैं क्योंकि, वेददुर्गसज्जन के 'स्मृति प्रामाण्य' प्रकरण में कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार, वेदवाक्य रूपी मूल के विना, पुराण आदि स्मृति, प्रमाण नहीं हो सकती और जब ऐसा है तब इन वेदवाक्यों का वही अर्थ उचित है जो कि काशीखण्ड आदि के वाक्यों में कहा है।

उ० ४—रामतापनीय उपनिषद् की चौथी कंडिका के अनुसार भी इन वेदवाक्यों का वही अर्थ

ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः प्राह शङ्करम् ।
वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वरेति ॥
सहोवाच—मणिकर्ण्यां मम क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः ।
म्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरम् ॥

अथ सहोवाच श्रीरामचन्द्रः—

क्षेत्रेऽत्र तव देवेश ! यत्र कुत्रापि वा पुनः ।
कृमिकीटादयोप्याशु मुक्ताः सन्तु च नान्यथा ॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये ।
अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥
क्षेत्रेऽस्मिन्योऽर्चयेद्भक्त्या मंत्रेणानेन मां शिव ।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः ॥
त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम् ।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्तानां प्राप्नुवन्ति ते ॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् ।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥

इति परामृश्य योऽविमुक्तं पश्यति स जन्मान्तरितान् दोषान् नाशयति इत्युपसंहृतम् । एवं चैताभ्यां परामर्शोपसंहाराभ्यां समानविषयकत्वाय, मध्ये समाम्नातस्य दर्शितजाबाली-

भाषा

है जो कि काशी सम्बन्धी और अनन्तर में कहा गया है । और उक्त कण्डिका का वेदवाक्य यह है कि—

"*अथैनमत्रि०*" यहाँ से आरंभ कर "*नाशीति०*" यहाँ तक जैसा वाक्य जाबालि उपनिषद् का है वैसा ही रामतापनीय उपनिषद् की चौथी कंडिका भी है । परन्तु उसके अनन्तर उस कंडिका में यह कहा है कि "*अथ तं०*" इत्यादि । जिसका यह अर्थ है कि तदनन्तर अत्रि से याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं कि काशी में प्रथम सहस्र मन्वन्तर तक श्रीरामजी के मन्त्र का शिवजी जप और होम पूजा भी करते हैं । तदनन्तर श्रीराम जी प्रसन्न होकर श्री शङ्कर से कहते हैं कि हे परमेश्वर ! जो आपके अभीष्ट हों सो माँगिये, मैं दूँगा । श्रीशिव०—मेरे क्षेत्र में मणिकर्णिका अथवा गङ्गातट में जो मरे उस प्राणी को आप मुक्त कीजिये इससे दूसरा वर मेरा नहीं है । श्रीराम०—हे देवेश ! इस आपके क्षेत्र में जहाँ कहीं कृमि, कीट आदि तक जो प्राणी मरें वे तुरन्त मुक्ति पावें, यह ऐसा ही होगा । और आपके इस अविमुक्त क्षेत्र में सब प्राणी मात्र की मुक्ति के लिये इस क्षेत्र की पाषाण-प्रतिमा आदि में मैं अपनी समीपता रक्खूँगा तथा हे शिव ! इस क्षेत्र में इस मंत्र से भक्तिपूर्वक जो मेरी पूजा करेगा उसके ब्रह्महत्यादि पापों को मैं छुड़ा दूँगा, आप चिन्ता न कीजिये । आपसे वा ब्रह्मा से जो प्राणी षडक्षर मंत्र का उपदेश पावेंगे वे सिद्ध हो जावेंगे और शरीर छूटने पर मुझे पावेंगे तथा हे शिव ! मरने के समय जिस किसी प्राणी के दक्षिण कर्ण में आप स्वय मेरे मन्त्र का उपदेश करेंगे वह मोक्ष पावेगा । जो अविमुक्त का दर्शन करता है वह अपने जन्मांतर के दोषों का नाश करता है । इति ॥

योपनिषत्समानानुपूर्वीकस्य रामतापनीयवाक्यस्य काश्यपरनामकाविमुक्तक्षेत्रनिरूपणपरताया अतिविशदतया तत्समानानुपूर्वीकस्योदाहृतजाबालीयोपनिषद्वाक्यस्यापि काश्यपरनामाविमुक्तक्षेत्रनिरूपणपरत्वमेतद्वाक्यैकवाक्यतयैव सुस्पष्टमिति न तस्यार्थान्तरपरत्वशङ्कापीति सकलमेव श्लिष्यते। एतदाख्यायिकातात्पर्य्यं च क्षेत्रस्यास्यैवमनुपमं माहात्म्यं शिवविष्णूभयसंमतमतो नात्र शैवेन वैष्णवेन वा विप्रतिपत्तव्यम्, श्रीरामस्य च परमेश्वरत्वम्। अत एव महादेवेनापि श्रीरामानुग्रहादेव काश्यां तारकोपदेशेन जन्तुर्मुक्तीक्रियत इति श्रीराम एव सेव्य इति विद्यास्तुतौ बोध्यम्। तापनीयटीकाकृतस्तु तं प्रत्युवाचेत्यादिपूर्ववाक्यनिर्दिष्टैः साधारणैर्विशेषणैः काशीक्षेत्रस्य सोपाधिकब्रह्मणश्च साधारणमिदं निरूपणम्।

अत एव ब्रह्माण्डपुराणे—

मोक्षं दुर्लभं ज्ञात्वा संसारं चातिभीषणम्।
अविमुक्तं समासाद्य तत्रैव निधनं व्रजेत्॥ १॥

इत्युक्तं तस्मात्—अधिभूतं साधिदैवमध्यात्ममविमुक्तकम्।
आत्मा काशीभ्रुवोर्मध्ये सौलभ्यन्तूत्तरोत्तरम्॥ १॥
समष्टि व्यष्टिकं पूर्वं समष्टावेव चोत्तरम्।
व्यष्टावेव तृतीयं स्यात् त्रिषु चैकं न सन्त्यजेत्॥ २॥

इति संग्रह इत्याहुः। हरिवंशेऽपि १ पर्वणि २९ अ०—

तस्मात्तदविमुक्तं हि प्रोक्तं देवेन वै स्वयम्॥६५॥ इति

अत्र नीलकण्ठः—अत्राप्रकृतस्याविमुक्तस्य कीर्तनमुपरिधारणन्यायेन वाराणस्या मुख्यमविमुक्तत्वं दर्शयति यथाहि जाबालाः 'सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित' इत्यविमुक्तप्रतिष्ठत्वमात्मन

भाषा

अब यह ध्यान देने के योग्य है कि अत्रि के प्रश्न से आरम्भ कर "अथ तं" इत्यादि वाक्यों से जो काशी और अविमुक्त नामक क्षेत्र के विषय में मंत्रोपदेश कह कर अन्त में "अविमुक्त" नाम से प्रकृत विषय जो समाप्त किया गया उसके अनुसार "य एषोऽनन्तो०" इस मध्यवर्ती वाक्य का वही अर्थ लगाया जायगा जो कि अविमुक्त नामक काशीक्षेत्र से सम्बन्ध रखता है और इसी बात के अनुसार, इसके तुल्य आकारवाले, जाबालि उपनिषद् के उक्त द्वितीय वाक्य का भी वही अर्थ लगाया जायगा जो कि अविमुक्त नामक कुरुक्षेत्र का सम्बन्धी और पूर्व में कहा भी गया है। इससे अब उन दोनों वेदवाक्यों का अर्थ इस वेदवाक्य के अर्थ से मिल गया। और इस वेदवाक्य में जो श्रीराम और श्री शिव के सम्वाद रूपी आख्यायिका है उसका तात्पर्य्य यह है कि काशीक्षेत्र का ऐसा अद्वितीय माहात्म्य है जो कि श्री शिव और श्री विष्णु दोनों के सम्मत है तथा श्रीराम परमेश्वर हैं क्योंकि श्री शिव भी उनके मंत्र के द्वारा मोक्ष देते हैं। इति।

उ० ५.—हरिवंश के १ पर्व में २९ वें अध्याय में भी कहा है कि "तस्मात्तदवि०" पूर्वोक्त कारण से काशीक्षेत्र को श्री शिव जी ने "अविमुक्त' कहा है। यहाँ तक स्पष्ट हो गया कि अविमुक्त शब्द का वाराणसी क्षेत्र अर्थ है।

उपक्षिप्य "कुत्र तदविमुक्तमित्याकाङ्क्षायां 'वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठितः" इत्यादि मौतिकमविमुक्तमुक्त्वा 'कतमच्चास्य स्थानम्भ्रुवोर्घ्राणस्य च सन्धिः' इति प्रश्नपूर्वकं शरीरे तत्स्थानं भ्रूघ्राणसन्धिरित्यामनन्ति इति । उपरिधारणन्यायस्तु (पू० मी० द० अध्या० ६ पा० ४) "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इति ।

अत्र शास्त्रदीपिका—मृतामिहोत्रे एवं श्रूयते "अधस्तात्समिधं धारयन् नतु द्रवेदुपरिहि देवेभ्यो धारयतीति" किमयं जीवदग्निहोत्रविधिः उत अनुवाद इति । पूर्वेण न्यायेनानुवादः कुतम प्राप्तिः आधारात् सर्वमभ्यार्हितं द्रव्यं प्रच्छाद्येवान्यत्र नेतव्यामिति आचारात् प्राप्तम् अतोऽग्निहोत्रद्रव्यमपि गार्हपत्यादाहवनीयमानीयमानमाच्छादयितव्यम् तत् केनेति समिद्धारणविधानात् तद्विषयमादृष्टार्थं भवति समिधाप्रच्छादयेदिति सा चोपरिधार्यमाणा प्रच्छादनक्षमा नान्यथेति प्राप्तमुपरिधारणमनूद्यते इति प्राप्ते ब्रूमः विधिरपूर्वत्वात् न ह्याचारादुपरिप्राप्तिः आच्छादनासमर्थत्वात् 'सुदण्डे समिधमुपसंगृह्य, ति च श्रवणाद्दण्डप्रदेशेऽसौ धारयितव्येति कुतोऽनया हविषः प्रच्छादनम् अतोऽप्राप्तत्वात् हि शब्दपरित्यागेन विधिः अनुवादानुपपत्त्या हि विधिकल्पनमिति ।

नीलकण्ठेन तु विधेयम्प्रधानं भवति इत्यभिप्रेत्य प्रकृते वाराणस्याः प्राधान्येनाविमुक्तत्वमुक्तमिति ध्येयम् । तदेवं श्रुतिसिद्धे वाराणसीक्षेत्रमाहात्म्ये तदुपबृंहणानि पुराणवाक्यान्यप्यनुसन्धेयानि । तत्राविमुक्तपदं वाराणसीक्षेत्रपरमिति तावदविवादम् वाराणसीमाहात्म्यपरेषु पुराणप्रदेशेष्वविमुक्तनाम्नैव शतशो व्यवहारदर्शनात् ब्रह्मसदनत्वं च वाराणस्याः सर्वेषामेव तत्र मृतानां जन्तूनां ब्रह्मसायुज्यलक्षणमोक्षप्रापकत्वात् बोध्यम् इदमेव च ब्रह्मसदनत्वं कुरुक्षेत्राद् व्यावृत्तम् तत्प्रतिपादिकायां 'देवा ह वै' (श० का० १४।१।१) इति पूर्वोदाहृतशतपथश्रुतौ कुरुक्षेत्रे देवयजनत्वमात्रस्याभिधानात् अत एवात्र द्वितीयं कुरुक्षेत्रपदं तत्परमन् किं च 'अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्र' मित्यवधारणादपि न तत्परम् इत्यनुपदमेवोक्तम् ।

अत्र च लैङ्गे—इदं गुह्यतमं क्षेत्रं सदा वाराणसी मम ।
सर्वेषामेव जन्तूनां हेतुर्मोक्षस्य सर्वदा ॥
नैमिषे च कुरुक्षेत्रे गङ्गाद्वारे च पुष्करे ।
अन्येषां सेवनात् स्नानाच्च मोक्षः प्राप्यते यतः ॥

भाषा

"इदं गुह्यं०" शिव जी कहते हैं कि प्राणियों के मोक्ष का सदा देने वाला यह मेरा वाराणसी क्षेत्र परम गोप्य है क्योंकि नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और पुष्कर आदि तीर्थों के पूर्ण सेवन से भी मोक्ष नहीं मिलता और यहाँ वह मिलता है इस कारण यह क्षेत्र अन्य क्षेत्रों से श्रेष्ठ है। अपने यथेष्ठ भोजन, शयन, क्रीड़ा आदि अनेक काम करते २ भी अविमुक्त में प्राणत्याग करने से प्राणी मोक्ष पाता है। धर्म की श्रद्धा छोड़ विषयों के पीछे लगा हुआ मनुष्य भी इस क्षेत्र में मृत्यु पाने से पुनर्जन्म नहीं पाता । सहस्रों जन्मों में योगी जिसको न पा सके उस परम मोक्ष को यहाँ मरणमात्र से प्राणी पाता है ।

इह स प्राप्यते यस्मात्तस्मादेतद् विशिष्यते ।
कामं भुञ्जन् स्वपन् क्रीडन् कुर्वन् हि विविधाः क्रियाः ॥
अविमुक्ते त्यजन् प्राणान् जन्तुर्मोक्षाय कल्पते ।
विपयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः ॥
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारे न पुनर्विशेत् ।
जन्मान्तरसहस्रेषु यं न योगी समाप्नुयात् ।
तमिहैव परं मोक्षं मरणादधिगच्छति ॥ इति ।

ननु कथमत्र मरणादेव मोक्ष उच्यते तत्वज्ञानान्मोक्ष इति सर्वास्तिकसिद्धान्तविरोधात् 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतिविरोधाच्चेति चेन्न; 'तारकं ब्रह्म व्याचष्टे' इत्युपनिषद्वाक्येन रुद्रकृततारकोपदेशसमधिगततत्त्वसाक्षात्कारद्वारैवात्र मृतानां मुक्तिप्रतिपादनेन विरोधाभावात् ।

तथा च काशीखण्डे ३ अध्याये—

अविमुक्ते महाक्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिहेतुके ।
तारकस्योपदेशार्थं विश्वेशाधिष्ठिते स्वयम् ॥

इति देवान् प्रति ब्रह्मवाक्यम् ।

तत्रैव ५ अध्याये—

सहोवाचेति जाबालिरारुणेऽसिरिडा मता ।
वरणा पिङ्गला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम् ॥

भाषा

प्र०—जब कि सब आस्तिकों का यह सिद्धान्त है कि तत्वज्ञान ही से मुक्ति होती है और "*तमेव विदित्वा०*" परमेश्वर ही के ज्ञान से मोक्ष पाता है और कोई दूसरा उपाय मोक्ष के लिये नहीं है, यह वैदिक वाक्य भी है, तब कैसे इस लिङ्ग पुराण के अन्तिम वाक्य में काशी में मरण से मोक्ष कहा है ?

उ० १—जाबालि उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रथम वाक्य में स्पष्ट ही यह कहा है कि काशी में मरण के अनन्तर रुद्र के किये हुए तारक ब्रह्म के उपदेश से तत्वज्ञानी होकर मोक्ष पाता है, तब वही तात्पर्य्य इस पुराण वाक्य का भी है जैसा कि—

"*अविमुक्ते०*" अविमुक्त नामक महाक्षेत्र, सब प्राणियों के मुक्ति का कारण है क्योंकि परमेश्वर तारक के उपदेशार्थ इस क्षेत्र में स्वयं स्थित हैं यह देवताओं के प्रति ब्रह्मा का वाक्य है। तथा "*सहोवाचेति०*" सहोवाच इत्यादि जाबालि उपनिषद् है और असी नदी, इडा नाम की नाड़ी है तथा वरणा, पिङ्गला नाड़ी है और इन दोनों के बीच में अविमुक्त क्षेत्र सुषुम्ना नाड़ी है तथा ये तीनों 'यह वाराणसी क्षेत्र है'। इसलिये इस क्षेत्र में मरने पर सब प्राणियों के कर्ण में श्री शिवजी तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं जिससे वे प्राणी ब्रह्म रूपी हो जाते हैं। यह अगस्ति का वाक्य है जिसमें कि जाबालि उपनिषद् के उक्त प्रथम वाक्य का नाम लेकर उसका अर्थ स्पष्ट यह कहा है कि काशी में

सा सुषुम्नापरा नाडी अयं वाराणसी स्वसौ ।
तदत्रोत्क्रमणे सर्वजन्तूनां हि श्रुतौ हरः ॥
तारकं ब्रह्म व्याचष्टे तेन ब्रह्म भवन्ति हि ।

इति प्रोक्तजाबालिवाक्योदाहरणपुरःसरं, तारकोपदेशेन मोक्षं प्रतिपादयत् अगस्तिवाक्यं च । अनेनापि च वाक्येन जाबालिवाक्यानां क्षेत्रविशेषनिरूपणपरत्वं स्पष्टमेव प्रत्यभिज्ञायते।

तत्रैव ७ अध्याये—

संसारिचिन्तामणिरत्र यस्मात्तत्तारकं सज्जनकर्णिकायाम् ।
शिवोऽभिधत्ते सहसाऽन्तकाले तद्गीयतेऽसौ मणिकर्णिकेति ॥ इति ।

तत्रैव २१ अध्याये—

विपन्नानां च जन्तूनां यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
कर्णजापं प्रकुरुते कर्मनिर्मूलनक्षमम् ॥
यत्नतोऽयत्नतो वापि कालात्त्यक्त्वा कलेवरम् ।
तारकस्योपदेशेन काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ॥
वाराणसी समरसीकरणात्ततेऽपि योगादयोगिजनतात्मनितापहन्त्री ।
तत्तारकं श्रवणगोचरतां नयन्ती तद्ब्रह्म दर्शयति येन पुनर्भवो न ॥
तथा—यदाहुः परमं तत्त्वं यदाहुर्ब्रह्मसत्तमम् ।
स्वसंवेद्यं यदाहुश्च तत्प्रान्ते दिशाम्यहम् ॥
निर्वाणभाजने यत्र पात्रापात्रं न चिन्तये ।
आनन्दकाननेे तन्मे दानस्थानं दिवानिशम् ॥

भाषा

मरण के अनन्तर मोक्ष होता है । और यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जाबालि उपनिषद् के पूर्वोक्त वाक्यों का अविमुक्त नामक वाराणसी क्षेत्र ही में तात्पर्य्य इस अगस्ति वाक्य के अनुसार भी स्पष्ट है । तथा—

"संसारि०" जो यह मणिकर्णिका कही जाती है वह संसारी जीवों के लिये चिंतामणि (पारस पत्थर) है क्योंकि अंत काल में प्राणियों के कर्ण में भी शिवजी यहाँ तुरत तारक का उपदेश करते हैं । तथा—

"विपन्नानाञ्च०" जहाँ मरे हुये प्राणियों के कर्ण में स्वय विश्वेश्वर, ऐसा उपदेश करते हैं कि जिससे पुनर्जन्म का दुःख छूट जाता है । बहुत पूर्व से अथवा तत्क्षण यहाँ वास से अपने अन्त समय में शरीर छोड़कर यहाँ (काशी में) प्राणी मोक्ष पाता है । यह वाराणसी तारक को सुनवाती हुई योग के बिना भी प्राणी को योगी के तुल्य ब्रह्मज्ञान कराकर संसार दुःख को नाश करती है जिससे कि पुनर्जन्म नहीं होता । तथा ये शिववाक्य हैं कि—

"यदाहुः०"—जिसको परम तत्त्व कहते हैं, और सर्वोत्तम ब्रह्म कहते हैं तथा स्वप्रकाश कहते हैं, काशी में अन्त समय मैं वही देता हूँ । जहाँ मोक्ष देने में मैं योग्य, अयोग्य अर्थात् पात्र, अपात्र

भवाम्बुधौ महाऽगाधे प्राणिनः परिमज्जतः ।
भूत्वैव कर्णधारोऽन्ते यत्र सन्तारयाम्यहम् ॥
महासमाधिसम्पन्नैर्वेदान्तार्थनिषेविभिः ।
दुष्प्रापो यत्र वै मोक्षः शोच्यैरपि स लभ्यते ॥

कूर्मपुराणे—

यत्र साक्षान्महादेवो देहान्ते स्वयमीश्वरः ।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म तदेवमविमुक्तकम् ॥

एवं महाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे २२७ अध्याये युधिष्ठिरं प्रति भीष्मः—

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः ।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥

अत्र भारतभावदीपे नीलकण्ठः—

एवंविधसाधनसंपत्यभावेऽपि मोक्षे उपायान्तरमस्तीत्याह—अन्तेति । तत् ज्ञानं अन्तकाले बलोत्कर्षात् कुर्यात् यज्ज्ञानं योगयुक्तेन मनसा शनैरुपपद्यत इत्यन्वयः । अयमाशयः—आदिपर्वणि विष्ण्वनुग्रहाद्देवा अमृतं लेभिरे, राहुस्तु छलेनामृतार्थी देवपङ्क्तिस्थो देहभेदेन सहैव तल्लेभ इत्युपाख्यातम् । तत्राख्यायिकानां स्वार्थे तात्पर्य्याभावात्ततः कश्चिद् विधेयोऽर्थ उन्नेयः । स च यथोक्तसाधानानुष्ठानात् सात्विका मुक्तिभाजः स्युः, असात्विकोऽपि मोक्षक्षेत्रे मरणकाले मुक्तिमाप्नोति इति ।

तथा आश्वमेधिके संवर्तमरुत्तीये काश्यां वसतः संवर्तस्य शवदर्शनेन शिवदर्शनसिद्धिः सूचिता । तेन काश्यां मृतस्य शिवत्वेन तत्प्रतिमावत्तच्छरीरस्य लिङ्गत्वं सूच्यते । तथेहापि बलोत्कर्षादन्तकाले ज्ञानं कुर्यादित्युच्यते तेन सर्वेणैतेन वाक्यसन्दर्भेण "अत्र हि जन्तोः प्राणे-

भाषा

का विचार नहीं करता । वह आनन्द वन (काशी) मेरा रात दिन मोक्ष के सदाव्रत देने का स्थान है और दुःख रूपी अगाध समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को जहाँ अन्त समय में मैं कर्णधार होकर पार उतार देता हूँ । और बड़े बड़े समाधि वाले तथा वेदान्तों के अर्थ विचारने वाले लोगों के लिए भी दुर्लभ मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को जहाँ स्वयं पापी लोग भी पा लेते हैं । तथा—

"यत्र०" वह अविमुक्त ऐसा है कि जहाँ स्वयम् ईश्वर महादेव, मृत्यु समय में तारक ब्रह्म का साक्षात् उपदेश करते हैं । तथा—

"अन्तकाले०" युधिष्ठिर के प्रति भीष्म ने यह बात कहा है कि नित्यानित्य विवेक आदि चार साधनों से अतिरिक्त एक यह भी मोक्ष का उपाय है कि जो तत्वज्ञान, योगाभ्यास आदि के द्वारा धीरे २ हो सकता है उसको अन्तकाल में बल के उत्कर्ष से उत्पन्न करै । 'भारतभावदीप' नामक भारत की टीका में पण्डित नीलकण्ठ ने इस श्लोक का यह भाव कहा है कि जैसा साधन वेदान्त दर्शन में कहा है वैसे साधन के अनुष्ठान से सात्विक मनुष्य, मोक्ष पाते हैं और जो मनुष्य सात्विक नहीं हैं वे भी मोक्ष के क्षेत्र में अपने मरण के समय मुक्ति पाते हैं जैसा कि जाबालि उपनिषद् में

पूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेदि'त्यस्याः श्रुतेरर्थः काश्यां म्रियमाणस्य रुद्रमुखात्तारकोपदेशप्राप्त्या मुक्तिप्राप्तिरिति समस्तपुराणोपबृंहितः प्रथित इति गम्यते। फलोत्कर्षादवियत्नेन काश्यां वासादन्तकाले ज्ञानं कुर्यादीशोपदेशात् संपादयेत् इति ॥ २० ॥

इत्येवमनेकपुराणादिवाक्यैस्तारकोपदेशाज्ज्ञानप्राप्तिस्तद्द्वारा मोक्षप्राप्तिरिति निर्विवादम्। तारकं च प्रणव एव, तार एव तारकमिति रूढ्यनुगृहीतायाः समाख्याया बलात्।

काशीखण्डे—न वर्ण्यते कैः किल काशिकेयम् जन्तोः स्थितस्यात्र यतोऽन्त्यकाले।

पचेलिमैः प्राक्तनपुण्यभारैरोङ्कारमोङ्कारयतीन्दुमौलिः ॥

इति वाक्येनोपबृंहणाच्च। रामतापनीयपर्यालोचनया पद्मपुराणे—

अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मवाचकम्।

श्रीराम राम रामेति एतत्तारकमुच्यते ॥

इति वाक्येन च श्रीशब्दसहितत्रिरावृत्तरामशब्दरूपस्य मन्त्रस्य तारकत्वलाभस्तु प्रणवतादात्म्येन राममन्त्रवैभवबोधने पर्यवस्यति। येन मन्त्रेण भगवता वाराणस्यामुपदेशः क्रियते स एवायमिति प्रणवतादात्म्यातिशयो राममन्त्रे रामतापनीयया पाद्मे न च प्रकाश्यत इति यावत्। अत एव सनत्कुमारसंहितायाम्—

अनिलो मृगनाभिरेणुगन्धिरधिकाशिप्रणवोपदेशकाले।

हरते मरणश्रमं नराणां हरवामार्द्धकुचोत्तरीयजन्मा ॥

भाषा

काशी के सम्बन्ध में कहा है। इससे इस श्लोक का यह निचोड़ है कि बल के उत्कर्ष (प्रयत्न से काशी वास) से अन्तकाल में श्री शिवजी के उपदेश के द्वारा ब्रह्मज्ञान का लाभ करे। इति।

इन पूर्वोक्त पुराण और इतिहास के वाक्यों से भी यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि काशी में मरे हुए प्राणियों को तारक के उपदेश से ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष मिलता है।

अब यह निर्णय किया जाता है कि प्रकृत में किस मन्त्र को तारक कहते हैं? तारक यहाँ प्रणव अर्थात् (ॐकार) ही है क्योंकि संसार दुःख से जो तार दे वही तारक कहलाता है। और संसार दुःख से तारनेवाला, ॐकार से परे कोई मन्त्र नहीं है। तथा काशीखण्ड में भी यह कहा है कि—

"न वर्ण्यते कैः०"—काशी का वर्णन कौन नहीं करता है? क्योंकि यहाँ पूर्वजन्म कृत महापुण्य राशि के परिपाक से प्राणी के मृत्यु समय में उसको श्री शिवजी 'ॐकार' सुनाते हैं।

प्र०—जब कि पूर्वोक्त रामतापनी उपनिषद् से यह सिद्ध है कि काशी में श्री शिवजी श्रीराम को षडक्षर मन्त्र का उपदेश करते हैं। तथा पद्मपुराण में भी शिवजी का वाक्य है कि 'अहं दिशामि०' हे श्रीराम! ब्रह्म का वाचक तुम्हारा तारक मन्त्र मैं देता हूँ श्रीराम, राम, राम यह तारक कहा जाता है। तब कैसे ॐकार ही प्रकृत में तारक है?

उ० १—यदि पूर्वोक्त रामतापनी उपनिषद् में तारक षडक्षर कहा है तो पद्मपुराण के इस वाक्य में जो तारक का स्वरूप कहा है उसमें सात अक्षर क्यों हैं? तथा अनन्तरोक्त "न वर्ण्यते

इति प्रतिपदोक्तमेव प्रणवोपदेशः प्रतिपाद्यते किं च 'तारकं ब्रह्मे' ति श्रुतौ तारकपदस्य ब्रह्मपदसामानाधिकरण्यादपि तारकपदेन प्रणव एवोच्यते 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मे' ति भगवद्गीतावाक्येन ब्रह्मप्रतीकतया ब्रह्मवाचकतया च ब्रह्मपदव्यवहारार्हस्य प्रणवस्यैवार्थानुगमसमन्वितत्वात्। अपि च प्रणवस्य सर्वमन्त्रशिरस्तया पूर्वोक्तराममन्त्रस्यापि प्रणवशिरस्कताया आवश्यकतया तदुपदेशेऽपि ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकं रुद्रकर्तृककाश्यवच्छिन्नप्रणवोपदेशत्वमव्याहतमेवेति न कश्चिद्विरोधः। जावालिश्रुतौ 'अत्र हि जन्तोः प्राणैरुत्क्रममाणस्ये'त्यपि क्वचित्पाठः। अथ काशीमृतानां पुण्यात्मनामस्तु नाम प्राणोत्क्रमणसमये तारकोपदेशः, परन्तु काशीकृतपापानामननुष्ठिततत्प्रायश्चित्तानां काश्यां प्राणोत्क्रमणस्य समय एव तारकोपदेशो भवति उत यातनाव्यवधानेनेति चेत्—अत्र सुरेशाचार्याः—"अत्र हि जन्तोः प्राणैरुत्क्रममाणस्य रुद्र-

भाषा

के:०" इस उक्त काशीखण्ड के वाक्य में ॐकार सुनाते हैं, यह क्यों कहा गया ? और सनत्कुमार संहिता में '*अनिलोमृग०*' काशी में प्रणव 'ॐकार' के उपदेश समय में श्री शिवजी के वामार्ध (श्रीपार्वती) के अँचले के कस्तूरी से सुगन्धित वायु, मनुष्यों के मरण खेद को हरण करता है।

इस वाक्य में प्रणव मात्र का उपदेश क्यों कहा है ? इन विरोधों के परिहार के लिये यही व्यवस्था करनी पड़ेगी कि "*अहं दिशामि:०*" इस उक्त पद्मपुराण के वाक्य में उस सात अक्षर के मन्त्र को "यह लड़का सिंह है" इस वाक्य की नाईं तारक 'ॐकार' के सदृश समझ कर तारक कहा है। अर्थात् उस सात अक्षर के मन्त्र की प्रशंसामात्र है न कि उसका यही तात्पर्य है कि यही तारक मन्त्र है। और उसी से इस वाक्य में यह नहीं कहा है कि "यह तारक है" किन्तु यही कहा है कि "यह तारक कहा जाता है" उक्त रामतापनी उपनिषद् में जो काशी में षडक्षर मन्त्र का उपदेश कहा है उसका तात्पर्य यह है कि उस षडक्षर मन्त्र का उपदेश आदि में 'ॐकार' लगाये बिना नहीं हो सकता। क्योंकि ॐकार सब मन्त्रों का शिर है तो जब षडक्षर का उपदेश होगा तब उससे पहले ही ॐकार का उपदेश होगा जिससे कि ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष होगा, तो ऐसी दशा में इस षडक्षर मंत्र के उपदेश में भी ॐकार ही का उपदेश ब्रह्मज्ञान का कारण हुआ। और इसी से '*न वर्ण्यते के:०*' और '*अनिलो मृग०*' इन काशीखण्ड और सनत्कुमार संहिता के उक्त वाक्यों में स्पष्ट रूप से ओंकार ही का उपदेश कहा है। और इसी कारण उक्त जावालि उपनिषद् में भी केवल 'तारक' नहीं कहा है किन्तु 'तारक ब्रह्म' का उपदेश कहा है। क्योंकि 'ब्रह्म' नाम ओंकार ही का है। जैसा कि "*ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्*" (ओं इस एक अक्षर के ब्रह्म को कहता हुआ) इस भगवद्गीता में कहा है। इसलिये यह निर्णय है कि रामतापनी उपनिषद् में पूर्वोक्त आख्यायिका और पद्मपुराण के वाक्य का षडक्षर मंत्र के प्रशंसा मात्र में तात्पर्य है और उक्त पद्मपुराण के वाक्य में श्री शब्द प्रशंसा ही के लिये लगाया गया है न कि उसको मिलाकर मंत्र है और इसी रीति से उस मंत्र के छः ही अक्षर होते हैं जैसा कि रामतापनी उपनिषद् में कहा है। परन्तु वास्तविक में यही सिद्धान्त है कि काशी में मृत प्राणियों को श्रीविश्वनाथ जी ओंकार ही का उपदेश करते हैं। अब यह विचार किया जाता है कि काशी में मृत प्राणियों को कब ओंकार का उपदेश होता है ?

स्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" इत्यस्यायमर्थः—वाराणसीमध्यवर्तिनां मनुष्यातिरिक्तानां जङ्गमानां स्थावराणां च वाराणसीप्राप्तिस्थितिफलकारणानां पुण्यकर्मणां भूयस्त्वात्प्रारब्धेन शरीरेण क्रियमाणयोः पुण्यपापयोरसंभवात् प्रारब्धस्य कर्मणो भोगादेव क्षयात् प्राणप्रयाणसमये सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वान्तर्यामी परमकारुणिकः परमेश्वरः स्वतः सिद्धमात्मरूपमविद्याप्रहाणादभिव्यञ्जयति अवगमयतीति यावत् ।

तथा च श्रूयते—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु इति ॥

ईश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वं च श्रूयते—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ इति

मनुष्येषु ये जीवन्मुक्तास्तेषां प्राणोत्क्रमणं नास्ति "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्त" इति श्रुतेः। ते यत्र क्वापि निवसन्तः प्रारब्धकर्मक्षये विदेहकैवल्यं प्राप्नुवन्ति।

भाषा

इस विषय में पूज्यपाद स्वामी सुरेश्वराचार्य का यह व्याख्यान है कि जाबालि उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रथम वाक्य में यह जो बात कही है "क्योंकि यहाँ प्राणी को प्राण निकलने के समय में रुद्र, तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं" इसका यह तात्पर्य है कि मनुष्य से अतिरिक्त काशी में रहने वाले पशु आदि जगम और वृक्षादि स्थावर जीवों को, मरण के समय में सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सबके अन्तर्यामी, बड़े कारुणिक परमेश्वर, अज्ञान को नाश कर आप से आप सिद्ध आत्मा के स्वरूप का तारक के उपदेश द्वारा अवगत ज्ञान करा देते हैं क्योंकि काशी में उनकी स्थिति कराने वाले, पूर्वजन्म के पुण्य बड़े प्रबल होते हैं और उनके वर्तमान शरीर के कारण, पुण्य तथा पाप का इसी शरीर के द्वारा सुख और दुःखके भोग करने से नाश हो जाता है। और वे अपने इस वर्तमान शरीर से नवीन पुण्य और पाप नहीं कर सकते क्योंकि उनकी योनि ही केवल फलयोनि है न कि साधनयोनि, और उक्त कर्मों से अतिरिक्त उनके पूर्वजन्मों के संचित पाप कर्म, तारक उपदेश को नहीं धारण कर सकते क्योंकि उस उपदेश से तत्त्वज्ञान होने के कारण उन कर्मों का नाश हो जाता है अर्थात् उन्हीं संचित अनन्त कर्मकोशों के नाशार्थ ही तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञान से ही उनका नाश हो जाता है। इस रीति से उक्त प्राणी काशी में प्राण निकलने के समय ही में तारक के उपदेश सुनने के अधिकारी हो जाते हैं और काशीवासी मनुष्यों में भी जो ब्रह्मज्ञान से जीते ही मुक्त हैं उनके लिये काशी में शरीर छूटने पर भी तारक का भी उपदेश नहीं होता और न उपदेश से उनको प्रयोजन है क्योंकि "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" (जीवन मुक्त के प्राण नहीं निकलते किन्तु शरीरस्थ अन्य वायु ही में लीन हो जाते हैं) इस वेदवाक्य के अनुसार निश्चित है कि वे चाहे जहाँ शरीर छोड़ें परन्तु उनके प्राण निकलते ही नहीं और उनके संचित कर्मों का, ब्रह्मज्ञान ही से नाश हो जाता है तथा प्रारब्ध कर्म तो सुख दुःख के भोग ही से नष्ट हो जाता है इस कारण शरीर छूटते २ उपदेश के बिना

ये सगुणब्रह्मोपासकाः ये च केवलं निरपेक्षाः सन्तः श्रुतिस्मृत्युक्तस्वस्ववर्णाश्रमोचितकर्मानुष्ठातारस्तेषां सर्वेषां चत्वारिंशत्संस्कारैरशेषैरसंस्कृतत्वेऽपि दयाक्षान्त्यादिभिरष्टभिरात्मगुणैर्युक्तानां काश्यां प्राणप्रयाणसमये पूर्वोक्तन्यायेन भगवान् परमेश्वरस्तारकं ब्रह्मोपदिशति अन्येषामप्यशेषाणां मनुष्याणां गङ्गावगाहनदेवदर्शनाभ्यां यज्ञदानतपोभिश्च यादृच्छिकैः पुराकृतैः सुकृतैः कर्मभिः।

ऊपरः पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी।

इदं प्रिये! क्षेत्रमति प्रियं मे संसारबीजोपरमूपराणाम्।

इति वचनाभ्यामूपरत्वेन प्रसिद्धस्य क्षेत्रस्य प्रभावेण च नष्टेभ्योऽवशिष्टानां पापकर्मणां काम्यस्य च पुण्यकर्मणः "मुक्तिमेकेन जन्मना" इति मुक्तेरवश्यंभावित्वात् प्रारब्ध एव शरीरे भोक्तव्यत्वोपपत्तेः काश्यां कृतयोः पुण्यपापयोरत्युत्कटत्वात्—

अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।

इति वचनेन वर्त्तमान एव शरीरे भोक्तव्यत्वनियमात्तयोः पुण्यपापयोः फलदानाय।

भाषा

ही वे आप से आप मुक्त हो जाते हैं। और जो मनुष्य सगुण ब्रह्म के उपासक हैं अथवा जो उपासक नहीं हैं परन्तु श्रुति, स्मृति में कहे हुए अपने वर्ण और आश्रम के धर्म को प्रति दिन करते हैं तथा इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में जो सत्य दया आदि गुणों से युक्त हैं उनको भी काशी में प्राण निकलने के समय ही में पूर्वोक्त रीति से भगवान् परमेश्वर, तारक मंत्र का उपदेश करते हैं। और अन्य मनुष्यों को भी काशी में मरण समय के अनन्तर, तुरत ही तारक का उपदेश होता है क्योंकि उनके वर्तमान जन्म के किये हुए पापों का भी उनके जीवन समय के अभ्यन्तर ही इसी रीति से क्षय हो जाता है कि बहुतेरे पाप उनके, गंगास्नान, देवदर्शन से और बहुतेरे यज्ञ, दान, तप से और बहुतेरे काशी क्षेत्र के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि—"ऊपर" पुण्यों और पापों से फल उत्पन्न होने के लिये यह वाराणसी पुरी ऊपर है अर्थात् यहाँ किये हुए पुण्यों और पापों का फल नहीं मिलता इससे यह पुरी धन्य है।

"*इदं प्रिये०*" श्री शिवजी कहते हैं कि हे प्रिये (पार्वती)! संसार रूपी वृक्ष के बीज के लिये ऊसरों में अधिक ऊसर यह काशी क्षेत्र मेरा बड़ा प्यारा है। इन वाक्यों के अनुसार काशी पुण्य और पाप के लिये ऊसर है। और उक्त नष्ट पुण्य और पाप से अन्य जो बचे बचाये पाप और किसी फल की कामना से किये हुए पुण्य हैं उनका भी भोग वर्त्तमान ही शरीर में हो जाता है क्योंकि "*मुक्तिमेकेन जन्मना*" (काशी में एक ही जन्म से प्राणी मुक्ति पाता है) पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता, इस पद्मपुराण के वाक्यानुसार जब मुक्ति अवश्य होने वाली है तब वर्त्तमान शरीर ही में अनन्तरोक्त पाप और पुण्य के फल का भोग होना उचित है। और काशी में किये हुए पुण्य और पाप, अति उत्कट (बड़े प्रबल) होते हैं इस कारण से भी उनका भोग वर्त्तमान ही शरीर में हो जाता है क्योंकि—

"*अत्युत्कटैः०*" इस स्मृति वाक्य में यह कहा है कि अति उत्कट पुण्य और पापों का इसी लोक

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

इति वचनाभ्यां मायावी परमेश्वरः प्राणप्रयाणसमयात् पूर्वं क्षणेनैकेनैकानेकभविकेष्टानिष्ट- निखिलकर्मफलोपभोगयोग्यशरीरान्तरानुप्रवेशं माययैवोत्प्राप्येष्टानिष्टान् स्वप्नकल्पान् भोगा-ननुभाव्य पश्चाद् पूर्वोक्तन्यायेन तारकब्रह्मोपदिशतीत्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

तथा च सूतसंहितायाम्—

ईदृशी परमा निष्ठा गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
कर्मसाम्ये त्वनायासात्सिध्यत्येव न संशयः ॥ इति ।

कर्मसाम्ये कर्मणोः सुकृतदुष्कृतयोः फलभोगेन साम्ये सतीत्यर्थः । अन्यथा प्रत्यक्ष-श्रुतिविरोधात् "प्राणैरुत्क्रममाणस्ये"ति वर्तमानार्थविहितप्रत्ययसामर्थ्यात् "मुक्तिमेकेन जन्मने"ति वचनात् "अत्रैव मृतिमात्रेणे" त्यादौ मात्रशब्दप्रयोगबाहुल्यात् "कालेन चातो

भाषा

में फल मिलता है । इसलिये उक्त जाबालि उपनिषद् के वाक्य का यही अभिप्राय निश्चित है कि काशी में मरे हुए, जीवन्मुक्त से अन्य सब प्राणियों को मरण के अनन्तर तुरत ही तारक का उपदेश होता है ।

प्र०—काशी में किये हुए अति उत्कट ऐसे पुण्यों और पापों का फल भोग कैसे जीवन समय ही में हो जाता है कि जिनमें से एक २ के फल भोग के लिये सहस्रों वर्ष का समय चाहिये ?

उ०—माया के स्वामी परमेश्वर, *मरण के समय के पूर्व ही अपनी माया* के बल से कल्पित उन सब पापों और पुण्यों के फल भोग के योग्य, *एक अन्य शरीर में* उस जीव का माया ही से प्रवेश *कल्पना कर* स्वप्न के तुल्य, सुखों और दुःखों का क्षणमात्र में भी उस जीव को भोग करा कर, *मरण के अनन्तर ही उस मायी को तारक का उपदेश करते हैं यही व्यवस्था इस विषय में उचित है ।* क्योंकि यदि ऐसा न हो तो पूर्वोक्त जाबालि उपनिषद् के साथ इस कारण विरोध पड़ जायेगा कि उसमें यह स्पष्ट कहा है कि "प्राण निकलते समय तारक का उपदेश होता है" तथा बहुत से आगे लिखे जाने वाले जो ऐसे पुराण वचन हैं जिनमें मरण के अनन्तर ही तारक का उपदेश कहा है उनके साथ भी विरोध पड़ जायेगा । जैसा कि *'मुक्तिमेकेन जन्मना०"* (काशी में एक ही जन्म से मुक्ति पाता है । *"अत्रैव मृतमात्रेण"* (काशी में मृत होते ही सब प्राणियों को तारक का उपदेश करता हूँ ।

"कालेन चातो ह्यन्यपानमन्ति०" वाराणसी से अन्य तीर्थों में मरण के उपरान्त ही मुक्ति नहीं होती किन्तु कालान्तर में होती है और वाराणसी में मरण के अनन्तर ही मुक्ति होती है । इति । और मरण के अनन्तर श्री शिव के दर्शन तथा तारक के उपदेश से तत्क्षण मुक्ति होने का संभव भी अवश्य है जैसा कि सूतसंहिता में कहा है कि—

"ईदृशी परमा०" गुरु के साक्षात् दर्शन से यह उत्तम दशा (मोक्ष) प्राप्त होती है क्योंकि इसमें कुछ संशय नहीं है कि सुख और दुःख के भोग से पुण्य और पाप दोनों पूर्व ही से नष्ट हो चुके रहते हैं । और जो मरण के पूर्व एक ही क्षण में सब कर्मों के फलों का भोग कहा गया यह भी ठीक

व्यवधानवन्ति" इति वाराणसीमुक्तेः कालान्तरव्यवधानाश्रवणात् श्रुत्यनुगुणानामन्येषामपि भूयसां वचसां संभवाच्च—

"प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि ।
वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः"

इति न्यायात् 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्ये रात्रिभोजनमन्तरेण पीनत्वानुपपत्तेर्यथा रात्रिभोजनं कल्प्यते तथैवात्रापि श्रुतिस्मृत्यन्यथानुपपत्त्या मुक्तिरेकेन जन्मना जन्तोरेष्टव्या । जाग्रत्स्वप्नयोः कर्मफलभोगे च न कश्चिद्विशेषोऽस्ति । 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' इति श्रुतेः मायाविमोहितानां क्षणेनैकेन विग्रहान्तरपरिग्रहाद्विचित्राश्चानुभवाः श्रूयन्ते ।

उक्तं च वासिष्ठे—यथा स्वप्ने मूहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः ।
तथा मायावलादेव जायते जाग्रति भ्रमः ॥

संक्षेपशारीरके—सुप्तो जन्तुः स्वल्पमात्रेऽपि काले कोटीः पश्येद्वृत्तसंवत्सराणाम् ।
कोटीः पश्येदेवमागामिकानां जाग्रत्काले योजयेत्सर्वमेतत् ॥

शैवागमेऽपि—कपालमिन्दुः करिचर्मनागाः काशीपुरी कण्ठगतस्य जन्तोः ।
मूर्च्छासु मूर्च्छासु परिस्फुटन्ति संज्ञासु संज्ञासु तिरो भवन्ति ॥

काशीखण्डेऽपि—कृत्वा कर्माण्यनेकानि कल्याणानीतराणि च ।
तानि क्षणात्समुत्क्षिप्य काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ॥

भाषा

है क्योंकि स्वप्न और जागरण के भोगों का वर्तमान दशा के अनुसार अन्योन्य में कोई विशेष नहीं होता और माया से मोहित पुरुषों का शरीरान्तर के धारण द्वारा सुख और दुःखों के विचित्र अनुभव, अनेक स्थानों पर सुने जाते हैं जैसे कि योगवासिष्ठ में—

"*यथा स्वप्ने*" जैसे स्वप्न में मुहूर्त मात्र भी सौ वर्ष ज्ञात होता है वैसे जागने में भी कदाचित् माया ही के बल से बहुत थोड़े से काल में बहुत बड़े काल का भ्रम होता है । और संक्षेपशारीरक में कहा है कि—

"सुप्तो जन्तुः०" जैसे सोया मनुष्य, थोड़े से काल में करोड़ों व्यतीत वर्षों को देखता है तथा करोड़ों आगामी वर्षों को देखता है वैसे ही जागरण काल में भी माया के बल से वैसा ही भ्रम कदाचित् हो जाता है । और शैवागम में भी कहा है कि—"*कपालमिन्दुः०*" काशीपुरी में कण्ठगत प्राण होने के समय प्राणी की प्रत्येक मूर्च्छाओं में कपाल, चन्द्रमा, गजचर्म और नाग (सर्प विशेष) प्रकाश होते हैं अर्थात् वह जन्तु अपने को शिव रूपी देखता अथवा श्री शिव को देखता है—और संज्ञाओं (चैतन्यों) में वे कपालादि गुप्त हो जाया करते हैं । तथा काशीखण्ड में कहा है कि "*कृत्वा कर्माण्य०*" अनेक पुण्य और पाप कर काशी में मृत्यु के समय उन सब कर्मों को क्षण मात्र में निकाल कर, प्राणी मोक्ष पाता है । पापों के बड़े २ राशियों को नाश करने वाली, पुण्य को बढ़ाने वाली, जीवन समय में भोग और मरण के अनन्तर मोक्ष देने वाली, काशी को ऐसा कौन बुद्धिमान् है कि

महापापौघशमनीं पुण्योपचयकारिणीम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदामन्ते को न काशीं सुधीः श्रयेत् ॥

सनत्कुमारसंहितायाम्—

अत्रैव पापैः सह चेन्मृतोऽसौ न जन्ममृत्यू लभते स्वयरयम् ।
कालेन मे यामगणैः फलेषु नियोजितस्तत्सकलं प्रभुज्य ॥
अल्पेन कालेन समस्तमेव सार्द्धं पुरा रुद्रपिशाचरूपैः ।
तव प्रसादेन कृतोपदेशः पिशाचयोनेरपि मुक्तिमेति ॥
यथाऽत्र पुण्यं कृतमक्षयं स्यात् तथात्र पापं न तयोर्विशेषः ।

इति तु स्तुतिनिन्दार्थवादः अन्यथा सर्वेषां मनुष्याणां पुण्यपापयोरल्पयोः संभवाधयोरक्षयत्वस्वीकारे न कस्यापि मुक्तिः स्यात् तदत्र मुक्तिप्रतिपादिकयोः श्रुतिस्मृत्योर्वैयर्थ्यमेव स्यात् अतः काश्यां कश्चित्कालमुषित्वा बहिर्गत्वा यो म्रियते तद्विषयमेव तदित्यवगन्तव्यम् ।

वाराणस्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।

इत्यपि वचनं तथैव मन्तव्यम् अथ पापकर्मा कश्चित्काश्यां म्रियते पुण्यकर्मा बहिर्म्रियत इति कथमिति चेत् नैवं विमानवद्भिर्विचारणीयम् एकस्मिन्नेव जन्मनि कृतयोः पुण्यपापयोः परिच्छेत्तारो हि वयम् अनादौ संसारे मनोवाक्कायैः कृतयोः पुण्यपापयोः परिच्छेत्ता तु महेश्वर एव तथा च अगस्त्यं प्रति स्कन्देनोक्तम् ।

भाषा

जो अवकाश मिलने पर अन्त काल में आश्रयण न करे । और यह पूर्वोक्त प्रकार सनत्कुमार संहिता में स्पष्ट ही कहा है कि—"अत्रैव पापैः०" श्री कालभैरव ने श्री विश्वनाथ जी से कहा कि इस काशी में यदि कोई पाप के साथ मरा तो भी वह कदापि जन्म और मृत्यु नहीं पाता किन्तु मेरे गणों से नियोजित होकर रुद्रपिशाच हो उन सब पापों के फलों को थोड़े से काल में भोगकर आपके तारकोपदेश करने के कारण पिशाच योनि से भी छूट कर मोक्ष पाता है ।

प्र०—"यथात्र पुण्य०" काशी में किया हुआ पुण्य जैसे अक्षय होता है वैसे ही यहाँ किया हुआ पाप भी अक्षय होता है । इस वाक्य की क्या गति होगी ?

उ०—यह वाक्य, स्तुति और निन्दा का अर्थवाद मात्र है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो काशी के मृत मनुष्यों में से कोई ऐसा न होगा कि जिसके पुण्य और पाप कुछ भी भोग से अवशिष्ट न हों, इसलिये यहाँ किसी मनुष्य की मुक्ति ही न होगी । तब यहाँ मनुष्य के मुक्ति को प्रतिपादन करने वाले पूर्वोक्त वेदवाक्य और पुराण आदि के वाक्य, सब व्यर्थ ही हो जायँगे । इसलिये यही निश्चय है कि जो मनुष्य कुछ काल तक काशी में रह कर प्रारब्धवश बाहर जाकर शरीर छोड़ता है उसी के विषय में यह वाक्य है । और ऐसे ही "वाराणस्यां कृतं पापं०" वाराणसी में किया हुआ पाप वज्रलेप होता है, यह वाक्य भी उसी विषय में है ।

प्र०—यह कैसे होता है कि बहुत से पापी भी काशी में मरते हैं और बहुत से धर्मात्मा भी काशी से बाहर जाकर मरते हैं ।

ब्रह्मवैवर्ते—न ज्ञायते सूक्ष्मतरं हि किंचित्, कर्मास्ति लोकस्य सुदुर्विभाव्यम् ।
योगादियज्ञादितपोभिरुग्रैर्युक्तस्य ते संप्रति नास्ति काशी ॥
न ज्ञायते कस्य किमस्ति पुण्यं स्वल्पोऽपि काश्यां तनुभृत्सदाऽऽस्ते ।
देवादयोऽपि प्रभवन्ति नैव स्थातुं क्षणं काशिकायां किमन्ये ॥

अतः कृतप्रयत्नसापेक्षस्तारकं ब्रह्मोपदिशतीत्यवगन्तव्यम् अन्तरं वहिः करोतीति च प्रतिनियतैव वस्तुशक्तिर्यथा वह्नेर्दाहशक्तिः तथा काश्यां मोचकशक्तिः प्रतिनियतैव तथा च—

पाद्मे—यथा शुक्तौ पयोवाहात्पतिता जलविन्दवः ।
मुक्ताः स्युः संस्थिताः काश्यां तथा सर्वेऽपि जन्तवः ॥
कीटाः पतङ्गा मशकाश्च वृक्षा जले स्थले ये विचरन्ति जीवाः ।
मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति ॥
पुण्यानि पापान्यखिलान्यशेषम् सार्थं सवीजं सशरीरमार्ये ।
इहैव संहृत्य ददामि बोधम् यतः शिवानन्दमवाप्नुवन्ति ॥
सूच्यग्रमात्रमपि नास्ति ममास्पदेऽस्मिन् स्थानं सुरेश्वरि मृतस्य न यत्र मोक्षः ।
भूमौ जले वियति वाऽशुचिमध्यतो वा सर्पाग्निदस्युपविभिर्निहतस्य जन्तोः ॥

भाषा

उ०—ऐसा विचार, बुद्धिमान् को नहीं करना चाहिये क्योंकि एक ही जन्म के किये हुए पुण्यों और पापों का निश्चय हम कर सकते हैं और इस जन्म मृत्यु के प्रवाह रूपी अनादि संसार में मन, वचन और शरीर से किये हुए सब पुण्यों और पापों का निश्चय करने वाले तो, विश्वेश्वर ही हैं जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराण में अगस्त्य ऋषि से श्री स्वामिकार्तिकेय ने कहा है कि—

"*न ज्ञायते०*" लोगों के कर्म कोई २ ऐसे भी सूक्ष्म होते हैं कि जिनका ज्ञान महात्मा जीवों को भी कदापि नहीं हो सकता। देखिये ! ऐसे उग्र योग आदि यज्ञ आदि और तपस्याओं से आप भरे हुए हैं तथापि इस समय आप के लिये काशी नहीं है। यह नहीं ज्ञात होता कि किसका क्या पुण्य है ? क्योंकि छोटे से छोटे कीट पतंगादि भी काशी में सदा रहते हैं और दूसरों की क्या कथा है ? देवता आदि भी काशी में क्षण मात्र भी नहीं रह सकते।

इसलिये यही निश्चय है कि अनेक जन्मों के किये हुए पुण्यों को समझकर श्री विश्वेश्वर, प्राणियों को काशीवास, काशीमरण, तारकोपदेश देते हैं। और जैसे अग्नि आदि वस्तुओं में दाह आदि करने की शक्ति है वैसे ही काशी में तारकोपदेश के द्वारा, मृत प्राणियों को मोक्ष देने की शक्ति है। जैसा कि पद्मपुराण में कहा है कि—

"*यथा शुक्तौ०*" जैसे स्वाती नक्षत्र पर जब सूर्य रहते हैं उस समय सागर की सीपियों में मेघ से गिरे हुए जलविन्दु 'मुक्ताः' (मोतियाँ) हो जाते हैं वैसे काशी में मरे हुए सब प्राणी (मुक्ताः) मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। जल अथवा स्थल के जितने प्राणी, मेढक, मछली आदि अथवा कीट, पतङ्ग, मशक और वृक्ष आदि जीव हैं वे यदि काशी में शरीर छोड़ें तो श्री शिव को पाते हैं। तथा श्री शिवजी ने श्री पार्वतीजी से कहा है कि हे आर्ये ! सब पुण्यों और पापों तथा शरीर को इसी काशी-

स्थिराकाश्यामिहैवैषा प्रतिज्ञा हि मया कृता ।
अत्रैव मुक्तिमात्रेण तिरश्चामपि देहिनाम् ॥
भक्तानामप्यभक्तानां पुण्यपापात्मनामपि ।
मुक्तिं दास्यामि सर्वेषां भक्तानामेव तां बहिः ॥
विनापि योगैः सहितोऽपि भोगैः विनापि पुण्यैः सहितोऽपि पापैः ।
मृतः प्रयात्येव हि यत्र तत्र मामेव निर्दग्धसमस्तदोषः ॥
अन्यत्रापि—अत्र साक्षान्महादेवो देहान्ते स्वयमीश्वरः ।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म जन्तूनामपवर्गदः ॥

सनत्कुमारसंहितायाम्—

महात्मनां चापि तपोधनानाम् शापो मुनीनामपि यत्र भग्नः ।
तत्क्षेत्रमासाद्य महद्युनद्याः पिबन्पयोऽप्यत्र वसन् कृतार्थः ॥
योगोऽत्र निद्रा क्रतवः प्रचाराः स्वेच्छाऽऽसनं देवि महानिवेद्यम् ।
लीलाऽऽत्मनो देवि पवित्रदानम् जपः प्रलापः शयनं प्रणामः ॥
मोक्षं सुदुर्लभं मत्वा संसारं चाति भीषणम् ।
अश्मना चरणौ हत्वा वाराणस्यां वसेन्नरः ॥
तथा—इदं कलियुगं घोरं सम्प्राप्तं पाण्डुनन्दन ।
गतिमन्यां न पश्यामि मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ॥

भाषा

क्षेत्र में नाश कर मैं प्राणियों को ब्रह्मज्ञान देता हूँ, जिससे वे प्राणी शिवानन्द (मोक्ष) पाते हैं । और हे सुरेश्वर! मेरे इस पाताल से लेकर सत्यलोक पर्यन्त पाँच कोश के मण्डल-रूपी स्थान में, भूमि, जल, और आकाश, मल, मूत्र आदि से अपवित्र भी सूची के अग्र मात्र भी कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जिसमें सर्प, अग्नि, डाँकू, बिजुली आदि के द्वारा दुष्ट मृत्यु से भी मरे हुए किसी प्राणी को मोक्ष न हो। क्योंकि एक इसी काशी ही में मैंने यह अटल प्रतिज्ञा किया है कि भक्त अथवा अभक्त तथा धर्मात्मा या पापात्मा कीट, पतङ्ग पर्यन्त प्राणियों को यहाँ मरते ही मैं मोक्ष दूँगा और यहाँ से अन्यत्र तो भक्तों ही को मोक्ष देता हूँ। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है कि—

"अत्र साक्षा०" मोक्ष देनेवाले स्वयं ईश्वर महादेव, यहाँ काशी में देहान्त के समय प्राणियों को तारक ब्रह्म का साक्षात् उपदेश देते हैं। और सनत्कुमारसंहिता में भी कहा है कि *"महात्मनां०"* व्यास आदि तपस्वी महात्मा मुनियों का भी शाप जहाँ टूट (निष्फल हो) गया है उस महाक्षेत्र काशी में बस कर गंगाजल पीता हुआ मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। योग से रहित और भोग के सहित भी तथा धर्म से रहित और पापों के सहित भी प्राणी क्यों न हो परन्तु इस क्षेत्र में जहाँ तहाँ मर कर सब दोषों का नाश कर मुझको पाता है। हे देवि! इस क्षेत्र में निद्रा ही योग है, चलना ही यज्ञ है, बैठना ही नैवेद्य है, विलास ही पवित्र दान है, बोलना जप है, लेटना प्रणाम है, मोक्ष को दुर्लभ और संसार दुःख को भयानक समझ कर मनुष्य को चाहिये कि पत्थर से चरणों को तोड़ कर वाराणसी

जपध्यानविहीनानां ज्ञानवर्जितचेतसाम् ।
व्रतस्वाध्यायहीनानां गतिर्वाराणसी नृणाम् ॥
अस्यत्यसिर्वारयति प्रवेशे कर्माणि जन्तोर्वरणा वरेण्या ।
वाराणसी मध्यगता तयोश्च निःशेषयत्यूपरता प्रभावात् ॥
अनिदमुदयमाद्यं धामवामार्द्धकान्तम्,
स्वमहिमरसिकत्वात्स्वानुभूत्येकमानम् ।
अनवरतमपास्तद्वैतमात्मावबोधम्,
प्रकटयति पशूनां कालपाकेन काश्याम् ॥
जन्मान्तरसहस्रेषु मोक्षो भवति वा न वा ।
काश्यान्तु लभते जन्तुर्मुक्तिमेकेन जन्मना ॥
गर्भाधानाद्यखिलमपि यत्कर्म जातं द्विजाना-
मेकं न्यूनं मुनिमपि मुने पातयिष्यत्यवश्यम् ।
नो चेत् स्वर्गादिषु फलमदः सर्वशास्त्रे प्रसिद्धम्
तस्मात् काश्यां कथमपि वसेद्बुद्धिमान् मुक्तिसिद्ध्यै ॥
तीर्थानि सर्वाण्यपि मोक्षदानि श्रुतानि शास्त्रेष्वखिलेषु राजन् ।
वाराणसी प्राप्तिफलानि शीघ्रम् कालेन चातो ऽव्यवधानवन्ति ॥

भाषा

में वसै । तथा सनत्कुमारसंहिता ही में युधिष्ठिर के प्रति ऋषि ने कहा है कि—हे पाण्डुनन्दन ! यह घोर कलियुग प्राप्त हुआ । अब मैं वाराणसी पुरी को छोड़ कर दूसरा शरण नहीं देखता क्योंकि जप और ध्यान से रहित तथा ज्ञान से वर्जित तथा व्रत और वेदाध्ययन से हीन मनुष्यों की गति वाराणसी है । और वाराणसी में प्रवेश करने वाले प्राणी के कर्मों को असी नदी निकालती है और वरणा नदी उन कर्मों को वाराणसी में जाने से वारण करती है तथा उन नदियों के मध्य में स्थित वाराणसी पुरी अपनी ऊसरता के प्रभाव से उन कर्मों का समूल नाश कर देती है । और सबका आदि कारण, स्वप्रकाश, ज्ञान और आनन्द रूप तथा नित्य और अद्वैत तथा वामार्द्ध में स्त्री, दक्षिणार्द्ध में पुरुष, वह चैतन्य रूपी तेज (पशुपति) काशी में मरते हुए पशु रूपी जीवों के लिये अपने को प्रकट कर देते हैं । और सहस्रों जन्मों में किसी को मोक्ष मिलता है या नहीं, पर काशी में तो प्राणी एक ही जन्म से मोक्ष पाता है । और यह बात सब शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि "गर्भाधान आदि सब कर्म जो कि त्रैवर्णिकों के लिये किये जाते हैं उनमें से एक भी यदि न्यून हो तो उसके बदले त्रैवर्णिकों को परलोक में अवश्य ही दुःख झेलना पड़ता है और यदि किसी भाग्य से वे सब कर्म पूरे पड़ जायँ तो भी उनसे स्वर्ग आदि ही फल मिलते हैं जो कि सदा स्थिर नहीं रहते" इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि किसी प्रकार से काशी में अवश्य सदा वास करे ।

"*तीर्थानि०*" हे राजन् ! शास्त्रों में बहुत से तीर्थ, मृत प्राणियों को मोक्ष देने वाले सुने जाते हैं परन्तु उनमें मरण से तुरत मोक्ष नहीं होता किन्तु तुरत ही एक जन्म ऐसा होता है कि जिसमें

इति व्याचख्युः । सारस्वतपाठकहरिकृष्णस्तु (आपा० कृ० ३ बुधे सं० १६३१) स्वनिर्मिते काशीतत्वविचारे श्रीसदाशिवदयार्द्रचित्तमूर्तिपरमानुग्रहलभ्यतारकमन्त्रोपदेशानां काशीमृतानां तारकमन्त्रश्रवणमात्रेण तत्क्षण एव ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारान्मुक्तिर्भवतीति तावदुत्सर्गः न च मनननिदिध्यासनाभ्यां विना श्रवणमात्रात्कथं साक्षात्कार इति वाच्यम् असंभावना विपरीतभावनात्मकपुरुषापराधमार्जन एव तयोरुपयोगः साक्षात्कारस्तु श्रवणादेवेति सिद्धान्तात् "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिश्रुताचात्मदर्शनमुद्दिश्य पूर्वं श्रोतव्यः, इति श्रवणमात्रं विधीयते अनन्तरं चाधिकारितारतम्यमनुसन्धाय 'मन्तव्यो' 'निदिध्यासितव्य' इति मननं निदिध्यासनं च । तत्र चोत्तमोऽधिकारी जनकादिरिव श्रवणमात्रेण साक्षात्कारी भवति मध्यमस्तु मननमप्यपेक्षते इतरो निदिध्यासनमपि न तु सर्वत्र त्रयमेव विधित्सितम् सम्यान्तानां पृथगुपादानात् तदर्थमेव च प्रदेशान्तरे "आत्मेत्येवोपासीते" त्युपासना विधीयते काश्यां तु निरुपधिकरुणावरुणालयो भगवान् स निदधदेव क्षपिताशेषप्राणिकल्मषराशिः स्वयं सन्निहितो भूत्वा तारकमुपदिशतीत्यसंभावनाद्यङ्कुरोदयस्य कैव कथा । लोकेऽपि चोपदेष्टरिपरमाप्तत्वेन गृहीते सति न श्रोतॄणां संशयादेरवसरो भवति श्रुतिश्च "येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवती"ति तारकोपदेशमात्रेण साक्षात्कारान्मोक्षमाह अमृती भूत्वेत्यस्य हि लब्धसाक्षा-

भाषा

मन्वन्तरकाल में काशी मिलती है जिससे कि तुरत ही मोक्ष होता है । यह व्याख्यान श्री सुरेश्वराचार्य जी का है । और उनके पश्चात्कालिक अन्य पण्डितों की तारकोपदेश के विषय में यह व्यवस्था है कि यह सामान्य बात है कि काशी में मृत जन्तुओं को श्री सदाशिव के परम अनुग्रह से तारक मंत्र को श्रवण करते ही तत्क्षण ब्रह्म और जीव की एकता प्रत्यक्ष होने से मोक्ष हो जाता है ।

प्र०—उक्त मंत्र के श्रवण मात्र से कैसे ब्रह्म और जीव की एकता प्रत्यक्ष होती है ? क्योंकि श्रवण के अनन्तर मनन (अनुमान और तर्क) और तदनन्तर, निदिध्यासन (ध्यानधारा) से उक्त प्रत्यक्ष का होना वेदान्त वाक्यों में कहा है ।

उ०—यह सिद्धान्त है कि उक्त प्रत्यक्ष, वेदान्त वाक्य के श्रवण मात्र से होता है परन्तु जिस श्रोता को श्रवण के पश्चात् भी यह शंका रह जाती है कि जीव, कैसे ब्रह्म ही है ? उसके लिये उस शंका के वारणार्थ मनन का उपयोग है और जिसको मनन करने पर भी "जीव ब्रह्म से भिन्न है" यह लौकिक वासना पूर्ण रूप से नहीं छूटती उसके लिये निदिध्यासन का भी उपयोग है । इस सिद्धान्त के अनुसार सब श्रोताओं के लिये श्रवण ही का वेदान्तों में विधान है और मध्यम अधिकारी श्रोता के लिये मनन का भी तथा अधम अधिकारी श्रोता के लिये निदिध्यासन का भी । और काशी में तो करुणा वरुणालय भगवान श्री सदाशिव के दर्शन होते होते काशी के मृत प्राणी का सब पापराशि समूह नष्ट हो जाता है तो ऐसी दशा में किसी प्रकार की शंका के अंकुर का भी क्या संभव है ? इसलिये मनन और निदिध्यासन का कोई प्रयोजन नहीं पड़ता किन्तु तारक के श्रवण मात्र से उक्त प्रत्यक्ष हो जाता है । इसी से जाबालि उपनिषद् के उक्त प्रथम वाक्य में तारक के उपदेश मात्र से ब्रह्मज्ञान हो कर मोक्ष कहा है ।

त्कारो भूत्वेत्यर्थः यद्वा काश्यां मरणस्य मङ्गलरूपत्वात्तत्र मरणादिपदप्रयोगो नोचित इति बोधयितुम् अमृती भूत्वेत्युक्तम् तच्च त्यक्तदेहो भूत्वेत्यर्थकम् अथ तारकोपदेशेन मुक्तीभावेऽप्युपपन्ने किमित्यौत्सर्गिकत्वमास्थीयत इति चेत् न वयं मुक्त्यभावं कस्यचिदभिप्रेमः किन्तु काश्यां देहत्यागस्याव्यवहितोत्तरक्षणे व्यवहिते च काले यथायथमधिकारिभेदेन मुक्तिरित्येव व्यवधानं च तीव्रपातकिनां रुद्रपिशाचभोगप्रयुक्तम् "यातनाऽन्ते दिशेन्मति" मित्यादिवाक्यैर्यातनावसान एव तारकोपदेशबोधनात् तच्च भोगकथनं नान्यथा नेतुं शक्यते भूयस्तु प्रदेशेषु स्थितत्वादभ्यासगतिसामान्यत्वाभ्यामभ्यासे चार्थभूयस्त्वमिति न्यायेन प्रबलत्वात् अभ्यास आवृत्तिः गतिसामान्यत्वं चानेकपुराणसंप्रतिपन्नत्वम् ।

तथाहि पद्मे तावत्—अस्यां निवासो निर्वाणं साधयत्यंजसा मुने ।
अधर्मिष्टस्य तत्क्षेत्रे यातनाऽन्ते दिशेन् मतिम् ॥
वाराणस्यां निवसतिरपवर्गफलप्रदा ।
द्वित्राणां च पवित्राणां कल्पते सत्वरं वले ॥ इति ॥

सत्वरं देहपातसमनन्तरक्षणे—
काशीखण्डे—वाराणस्यां स्थितो यो वै पातके पुरतः सदा ।
योनिं प्राप्यापिशाचीं वर्षाणामयुतत्रयम् ॥

भाषा

प्र०—जब तारकोपदेश से मोक्ष का होना वेदवाक्य में स्पष्ट ही कहा है तब क्यों यह कहा जाता है कि "तत्क्षण मोक्ष होना सामान्य बात है।" क्योंकि इस कथन से यह ज्ञात होता है कि कोई और भी विशेष बात है।

उ०—"सामान्य बात है" इस कथन का यह अभिप्राय है कि काशी में मृत प्राणियों की मुक्ति अवश्य होती है परन्तु विशेष इतना ही है कि किसी मनुष्य को मरते ही मुक्ति होती है और किसी को कुछ काल के व्यवधान से, और व्यवधान का कारण, बड़े पापियों को रुद्रपिशाच होकर यातना का भोग ही है। क्योंकि "*यातनान्ते दिशेन्मतिम्*" इत्यादि वाक्यों से यही निश्चय होता है कि यातना भोग के अनन्तर, तारक का उपदेश होता है। और ये यातना भोग के वाक्य ऐसे हैं कि जिनका अर्थ किसी प्रकार से बदला नहीं जा सकता क्योंकि यह यातना भोग अनेक पुराणों के अनेक स्थानों पर अनेक बार स्पष्ट रूप से कहा हुआ है जैसा कि पद्मपुराण में।

"*अस्यां०*" हे मुने! इस काशी में निवास, अवश्य ही मोक्ष का कारण है परन्तु विशेष इतना ही है कि काशीमृत के पूर्व धर्मों की केवल अपेक्षा कर श्री शिवजी, तारक का उपदेश करते हैं अर्थात् इस क्षेत्र में तीक्ष्ण पापों को कर, मरने वाले को यातना के अन्त में तारक का उपदेश होता है। वाराणसी में वास करने और मरने से दो वा तीन अर्थात् बहुत थोड़े पवित्र जीवों को मरते ही मोक्ष मिलता है। और काशीखण्ड में भी कहा है कि—

"*वाराणस्यां०*" जो पुरुष, वाराणसी में अधिक से अधिक पाप ही जीवन भर कर चुका है वह भी काशी में मरण के अनन्तर, अपने उस पाप कर्म के अनुसार काशी ही में अधिक से अधिक

पुनरत्रैव निवसन् ज्ञानं प्राप्स्यस्यनुत्तमम् ।
तेन ज्ञानेन संप्राप्ते मोक्षमाप्स्यत्यनुत्तमम् ।। इति ।।

संप्राप्ते सम्यग्भोगान्ते—

ब्रह्मवैवर्ते च—हिरण्यगर्भनाम्नः कस्यचित् दाम्भिकपाशुपतस्यानेकविधदुष्कृतकर्तुरखिनिर्भत्सनपूर्वककालराजदत्तायुतत्रयसंवत्सरव्यापि यातनाभोगानन्तरदण्डपाणिकृतप्राप्त्यभूपानन्तरं महादेवेन तारकोपदेशः कृतः इति ।

यातनान्तकालिकोपदेशः स्पष्टमाख्यायते । काशीखण्डेऽपि दण्डपाणये वरप्रदानसमये तस्मै यातनाप्रदानाधिकारसमर्पणं स्मर्यते अतो यातनाभोगान्त एव पापिनां तारकोपदेशः । एवम् काश्यां सुकृतस्याप्यक्षयत्वस्मरणात्तुल्ययुक्त्या भोगवासनावतां सुकृतिनां कैलासप्राप्तिभगवत्सारूप्यप्राप्तिपूर्विका विदेहकैवल्यप्राप्तिः उपदेशस्तु तेषामुत्क्रमण काल एव । तत्प्रतिबन्धकपापाभावात् तावत्कालं च जीवन्मुक्तत्वेन तेषामवस्थाने विरोधाभावात् अत एव काशीखण्डे—

महानन्दनाम्नो द्विजस्य चाण्डालदत्तप्रतिग्रहेण प्राप्तकाशीपरित्यागस्य सकुटुम्बस्य कीकटदेशगतस्य तत्रैव मृतस्य कुक्कुटजन्मान्तरं काशीं प्राप्य मृतस्य कैलासप्राप्तिः स्मर्यते तट्टीका कृता च 'भोगवासनाप्राबल्यादस्य तथाविधागतिरिति समाधीयतेस्म तथा तत्रैव—

भाषा

तीस सहस्र वर्ष तक पिशाचयोनि पाकर यातना को भोग करता है । तदनन्तर तारकोपदेश से मोक्ष पाता है ।

तथा ब्रह्मवैवर्त में स्पष्ट ही कहा है कि अनेक पाप के कर्ता हिरण्यगर्भ नामक दाम्भिक शैव को श्री कालभैरव की दी हुई तीस सहस्र वर्ष यातना के अनन्तर श्री महादेव ने तारकोपदेश किया ।

तथा काशीखण्ड में स्पष्ट ही कहा है कि श्री शिवजी ने कालभैरव को, यातना देने का अधिकार दिया । इन सब वाक्यों से यह सिद्ध है कि काशी के पापियों को यातनाभोग के अन्त ही में तारक का उपदेश होता है ।

ऐसे ही स्मृतिवाक्यों से यह भी सिद्ध है कि काशी में किया हुआ पुण्य भी अक्षय ही होता है । इसलिए काशी के धर्मात्मा को यदि मरते समय भोग की इच्छा अवशिष्ट रह जाय तो उसको कैलासवास के अनन्तर भगवान् का सारूप्य होता है । तदनन्तर विदेह मोक्ष होता है । किन्तु तारक का उपदेश उसको मरण समय में ही होता है क्योंकि उसमें पाप नहीं रहता तथा मरण के अनन्तर और विदेहमोक्ष से पूर्व वह जीवन्मुक्ति की दशा में रहता है । इसी से काशीखण्ड में महानन्द ब्राह्मण को, काशी में चाण्डाल के दान लेने से काशीत्याग के अनन्तर मगध से मृत्यु पाने के पश्चात् कुक्कुट (मुर्गा) जन्म के अनन्तर काशीमरण से कैलास की प्राप्ति कही हुई है और उस पर उसके टीकाकारों ने यह समाधान किया है कि काशीमृत्यु के समय उस ब्राह्मण को भोग की इच्छा प्रबल थी इसी से उसको कैलास की प्राप्ति हुई और ऐसा ही काशीखण्ड में कहा भी है कि—

वाराणसी स्फुरदसीमगुणैकभूमिर्यत्र स्थितास्तनुभृतः शशिभृत्प्रभावात् ।
सर्वे गले गरलिनोऽक्षियुजो ललाटे वामार्द्धवामतनवोऽतनवस्तथान्ते ॥
काशीपुरीपरिसरे मणिकर्णिकायां त्यक्त्वा तनुं तनुभृतस्तनुमाप्नुवन्ति ।
भाले त्रिलोचनवतीं गलनीललक्ष्मीं वामार्द्धबन्धुरवधू विधुराबरोधाः ॥इति॥

विधुरावरोधाः गतावरज्ञानाः "पञ्चास्यो वाऽथ जायते" इत्यादिवचनात्। 'द्वित्राणामि'त्युक्तवचनस्वारस्याच्च यथोक्तमेव साधु। नीलकण्ठचतुर्द्धरकृते मन्त्रकाशीखण्डेऽपि (छन्दत उभयाविरोधात्) (वेद० अ० ३ पा० ३ पू० २) इति सूत्रमुपन्यस्य 'यद्युपासकः पूर्ववासनया भोगमनुरुध्यते तदा ज्ञाततत्त्वोऽप्ययं जीवन्मुक्तवत् समनस्कत्वाद्भोगान्भोक्तुं गतिमनुरुध्यते यदि निर्वासनस्तर्हि निर्मनस्कत्वात्सद्यः कैवल्यमश्नुत इत्युभयाविरोधादिच्छयाऽत्र गत्यगती ज्ञेये' इति ग्रन्थेनायमेवार्थः समर्थितः ।

अत एवोक्तं शिष्टैः—

काश्यां शरीरं त्यजतामवश्यं शरीरिणां नास्ति पुनः शरीरम् ।
यद्यस्ति कण्ठे गरलं ललाटे विलोचनं चन्द्रकला च मौलौ ॥ इति ॥

भाषा

"वाराणसी०" वाराणसी के गुणों को कहां तक कहा जाय कि जहाँ के मृत सब प्राणी गले में विष और ललाट में नेत्र तथा वामार्द्ध में स्त्री को धारण करते हैं और अन्त में उस शरीर से भी रहित हो जाते हैं और पुनः भी कहा है कि काशी पुरी के प्रान्त में मणिकर्णिका पर शरीर छोड़ने वाले प्राणी ब्रह्मज्ञानी होकर ऐसा शरीर पाते हैं कि जिसके ललाट में नेत्र और गले में कालिमा तथा वामार्द्ध में सुन्दरी वधू रहती है । ऐसे ही "पञ्चास्यो वाऽथ जायते" अथवा काशी में मरने से पंचवक्त्र (पाँचमुख) हो जाते हैं इत्यादि कहा हुआ है । तथा "दो तीन पवित्र प्राणियों के काशी में मरण से क्षण में मुक्ति होती है" इस पूर्वोक्त वाक्य पर भी अनन्तरोक्त व्यवस्था ही ठीक है ।

पण्डित नीलकण्ठचतुर्धर ने भी 'मन्त्र काशी खण्ड' में अनन्तरोक्त व्यवस्था का ही समर्थन किया है क्योंकि उन्होंने "छन्दत उभयाविरोधात्" इस सूत्र को लिख कर इसके अर्थ के अनुसार यह कहा है कि काशी में मृतपुण्यात्मा उपासक, यदि अपने पूर्व वासना के अनुसार विषय भोग करना चाहता है तो तारकोपदेश से ब्रह्मज्ञान होने पर भी जीवन्मुक्त के तुल्य उसका मन इन्द्रिय नष्ट नहीं होता इसी से वह कैलासवास आदि गतियों को प्राप्त होता है और यदि पूर्व वासना के न होने से वह प्राणी विषय का भोग नहीं चाहता तो उसका मन इन्द्रिय नष्ट हो जाता है इसी से मरते ही विदेह मोक्ष पाता है और उक्त सूत्र के अक्षरों का भी प्रकृत विषय में यह अर्थ है कि "छन्द" (काशी में मृतधर्मात्मा पुरुष की इच्छा) से "उभय" (कैलास वासादि और विदेह मोक्ष दोनों) के 'अविरोध (संभव) होने से प्रकृत में भोग और विदेहमोक्ष की व्यवस्था समझनी चाहिए, इति ।

"काश्यां शरीरं" काशी में शरीर छोड़ते प्राणियों का पुनः शरीर नहीं होता यह अवश्य है और यदि शरीर होता है तो कण्ठ में विष की कालिमा ललाट में नेत्र और उस नेत्र से ऊपर चन्द्रकला भी रहती है ।

'कपालमिन्दुः करिचर्मनागाः' इत्युक्तमैवागमवाक्यमपि सवासनपुण्यात्ममुमूर्षुविषयम्। एवं च पूर्वोदाहृतवाक्येभ्यः।

तथा—कृत्वापि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत्।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मुक्तिमवाप्स्यति ॥
काश्यां मृतानां जन्तूनां दैवात्पापकृतामपि।
न पातो नरके तेषां तेषां शास्ताऽहमेव यत् ॥
अयं हि स कुलस्तम्भो यत्र श्रीकालभैरवः।
क्षेत्रपापकृतः शास्ति दर्शयंस्तीव्रयातनाम् ॥
अन्यत्र यत्कृतं पापं तत्काश्यां परिणश्यति।
काश्यां तु यत्कृतं पापं पञ्चक्रोशे विनश्यति ॥
पञ्चक्रोशे कृतं पापमन्तर्गेहे प्रणश्यति।
अन्तर्गेहे कृतं पापं पैशाचनरकावहम् ॥
पिशाचनरकप्राप्तिर्गच्छत्येव बहिर्यदि।
न कल्पकोटिभिः काश्यां कृतं कर्म प्रभुज्यते ॥
किन्तु रुद्रपिशाचत्वं जायतेऽप्रायुतत्रयम्।
अहो रुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम् ॥
कृत्वा पापसहस्राणि पिशाचत्वं वरं नृणाम्।
न तु शक्रसहस्रत्वं स्वर्गे काशीं पुरीं विना ॥

इत्यादि स्कान्दलैङ्गादिवाक्येभ्यश्चोक्तव्यवस्थया व्यवधानाव्यवधानकल्पनमेव समञ्जसम्।

भाषा

"कपालमिन्दुः" यह 'पूर्वोक्त' वाक्य भी भोगेच्छायुक्त पुण्यवान् जो काशी में मरता है उसी के विषय में है न कि काशी मृत सब मनुष्यों के विषय में, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो यातना भोग के कहने वाले पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों का विरोध पड़ जायगा तथा "कृत्वापि" काशी में पाप करके भी यदि काशी में मरे तो रुद्रपिशाच होने के अनन्तर वह भी मुक्ति पावेगा। काशी में मृत पापी से पापी प्राणियों को भी नरक नहीं जाना पड़ता क्योंकि उनका शासन मैं ही करता हूँ। क्योंकि यह वही कुलस्तम्भ (लाटभैरव) है जहाँ कि श्री कालभैरव तीक्ष्ण यातना दिखलाते हुए काशी में पापियों का शासन करते हैं। अन्य देश में किया हुआ पाप काशी में और काशी में किया हुआ पाप पंचक्रोश में तथा पंचक्रोश में किया हुआ पाप अन्तर्गृह में नष्ट हो जाता है। किन्तु अन्तर्गृह में किया हुआ पाप रुद्रपिशाच रूपी नरक का देने वाला है। उस पाप का भोग यदि अन्य देश में जाकर किया चाहे तो कोटि कल्पों में भी नहीं हो सकता किन्तु और काशी में अधिक से अधिक तीस सहस्र वर्षों तक रुद्रपिशाच रहता है। ओहो ! रुद्रपिशाच होना नरकों से भी अधिक दुःख है'। तथा काशी में सहस्रों पाप करते हुए भी मर कर रुद्रपिशाच होना अच्छा है परन्तु काशीपुरी के बिना स्वर्ग में सहस्र बार इन्द्र होना नहीं अच्छा है। इत्यादि स्कन्दपुराण

सम्। 'उत्क्रममाणेष्विति' श्रौतोवर्तमानार्थकशानच्प्रत्ययस्तु 'द्वित्राणां हि पवित्राणामि'त्युक्तवाक्यविषये चरितार्थ इति न यातनान्तिकस्तारकोपदेशस्तेन विरुध्यते। एतेन यातनाश्रवणं विभीषिकामात्रम्। श्रुतिवाक्ये उत्क्रममाणेष्विति वर्तमानार्थकप्रत्ययस्यानुरोधेन स्मृतिवाक्यानां स्वार्थपरत्वाभावादिति निरस्तम्। नह्यभ्यासादितात्पर्यग्राहकलिङ्गानुगृहीतानां सिद्धवदेव भैरवीं यातनां निर्दिशतामेषां स्मृतिवचसां सहसैव निर्मूलता कल्पयितुं शक्यते किन्त्वेतादृक्किंचिच्छ्रुतिवाक्यमस्त्येवेत्येवैभिरवगन्तुम् शक्यते। न चौदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्येति स्मृतेः 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेदि'ति श्रुत्या लोभमूलत्वादिकल्पनपर्यवसन्नस्वार्थच्युतिरूपो बाधश्शाबरे मते यथा भवति तथाऽत्रापि वर्तमानार्थशानच्छ्रुत्या पूर्वोदाहृतस्मृतीनां बाधोऽस्त्विति वाच्यम्। वैषम्यात् नहि तत्र स्मृतेः किंचित्तात्पर्यग्राहकमस्ति। निश्चिते च तात्पर्ये नान्यपरत्वं कल्पयितुं शक्यते। किं च 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमि'ति न्यायेन प्रबलस्यापि श्रुत्यादेः प्रमाणस्य दुर्बलैरप्यनन्यगतिकैर्लिङ्गादिभिर्यथा बाधोऽभ्युपगम्यते तथैव प्रकृतेऽप्यस्तु। किंच यातनाप्रदर्शनं विभीषिकामात्रमिति ब्रुवता श्रोतॄणां पापानिर्भयतां सम्पादयता काश्यां पापाचारस्य विवृत्तद्वारतैव विहिता स्यात्। यत्तु केचित् मरणक्षण एव स्वप्रतीत्याऽयुतत्रयवत्सरावच्छिन्नकालं रुद्रपिशाचयातनामनुभवन्तीति वर्तमानार्थशानच्प्रत्ययोपरत्वव्यपदेशयोर्यातनाश्रवणस्य च गतिं कल्पयित्वा व्यवधानकल्पनस्याप्रामाणिकतामातिष्ठन्ते—तत्रेदमुच्यते, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य प्रातीतिकत्वेनात्र म्रियमाणपुरुषस्य प्रातीतिकतादृशकालावच्छिन्नभोगाभ्युपगमे फलतो न कश्चिद्विशेषः यतः स्वदृश्यप्रपञ्चस्य स्वदृष्ट्यैव सत्वमिति न तत्रानुभवितॄणां

भाषा

और लिङ्गपुराण आदि के वाक्यों के अनुसार भी अनन्तरोक्त व्यवस्था ही ठीक है और पूर्वोक्त जाबालि उपनिषद् के वाक्य का विरोध भी इस अवस्था में इस कारण नहीं है कि उसमें जो यह कहा है कि " मरते समय तारक का उपदेश होता है " वह कथन पवित्र मनुष्यों के ही विषय में है। इन पूर्वोक्त युक्तियों से यह कथन भी परास्त हो गया कि "यातना भोग का सुनाना केवल डर दिखाना है। क्योंकि जाबालि उपनिषद् में मरने ही के समय तारक का उपदेश कहा है" और इस मत में यह एक और भी दोष है कि यह मत क्या है? मानो काशी में पाप करने के लिए सबको आज्ञा देना है और यह भी जो किसी ने कहा है कि "काशी में मरने के समय एक ही क्षण में परमेश्वर की माया से तीस सहस्र वर्षों का पाप भोग हो जाता है। यही रुद्रपिशाच की यातना है क्योंकि काशी पुण्य पाप का ऊसर है और जाबालि उपनिषद् में मरते समय तारक का उपदेश होना कहा है। इस कारण काशी के पापियों को भी मरने ही के समय तारक का उपदेश होता है।" इस मत पर यह विचार है कि जब सब जगत् ही वेदान्त दर्शन के अनुसार माया मात्र है और यातना भोग भी यदि माया मात्र ही हुआ तो एक क्षण और तीस सहस्र वर्ष के भोग में क्या विशेष हुआ? इसलिए यह मत ठीक नहीं है, किन्तु अनन्तरोक्त व्यवस्था ही ठीक है।

प्र०—यदि रुद्रपिशाच होकर काशी में भी यातना ही भोगना पड़ता है तो काशीपुरी पुण्य और पाप का ऊसर कैसे है?

पुरुषार्थां दृष्टिः प्रमाणयितुं शक्यते। योगवासिष्ठे च सर्वत्र दृष्टिरेव प्रपञ्चस्य सत्त्वे प्रमाणमुत्पत्तौ च हेतुरिति घण्टाघोषः। कल्पना चैतादृशी तदीयनानोपाख्यानप्रसिद्धिमादायैव क्रियते। वस्तुतस्तु सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य दृष्टिमात्रविलसितत्वात्सृष्ट्याऽयुतत्रयवर्षावच्छिन्ने भोगे सुस्थिते छले क्षणमात्रमक्षयमात्रमिति विशेषपरीक्षया। अतो यथोक्तमेव साधु। अथ "ऊषरः पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी" इत्यादिवाक्यानां का गतिरिति चेत्—काशीसंस्थस्य मोक्षावश्यंभाव एवेति गृह्यताम्। अत एव काशीखण्डे "नाङ्कुरयन्ति हरदृग्ज्वलितानि तेषामि"त्यादिवाक्यं पुनर्जन्मसम्बन्धाभावमात्रं बोधयति, नतु यातनाद्यभावमपि। विरोधात् यथा च ब्रह्म, स्वतो निर्गुणं मायासम्बन्धात् स प्रपञ्चमिव वस्तुतो निष्प्रपञ्चमेव तथा ब्रह्मस्वरूपमिदं क्षेत्रमूषरमपि माययैव पुण्यपापवृद्धिकरमिवाभाति यद्वा काशीतो बहिराचरितानां पापानां 'काशीप्रवेशादनघः' इत्यादिवाक्यानुरोधात्प्रवेशमात्रेण पुण्यानां च काशीप्रापकतामात्रेण क्षीणत्वात्तदुभयोपरत्वव्यपदेशः। यत्तु काशीमध्यवर्तितीर्थायतनस्नानदर्शनादिभिरनेकजन्मादिजन्मकृतपापनिरसनं श्रवणम्। तत् येऽन्यत्र मृताः सुकृतवशात्काश्यां लब्धजन्मानस्तद्विषयम् 'निर्गते गृह्यते पुनरि'ति वाक्यं तु 'अविमुक्तं न विमुञ्चेदि'ति विपरीतार्थवाद एव। ननु चण्डेश्वरादिलिङ्गपूजनवचतीर्थस्नानादीनां

भाषा

उ० १—ऊसर कहने का इतना ही अभिप्राय है कि काशीपुरी में मरण होने से मोक्ष अवश्य होता है और यह अभिप्राय नहीं है कि तीस सहस्र वर्षों तक यातना नहीं भोगनी पड़ती। इसी से काशीखण्ड में "*नाङ्कुरयन्ति*" इस वाक्य में यातना न भोगना नहीं कहा है किन्तु यही कहा है कि काशीपुरी के मरे हुए प्राणियों के पाप रूपी बीज अंकुरित नहीं होते अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि जैसे चना आदि बीज अग्नि में जब भूने जाते हैं तब वे भोजन के काम में तो आ सकते हैं परन्तु अंकुरित होने की शक्ति उनमें नहीं रहती वैसे उक्त कर्म शिव जी की दृष्टि से भुंज जाते हैं इससे यातना भोग वह दे सकते हैं परन्तु पुनर्जन्म की शक्ति उनकी मारी जाती है।

उ० २—अथवा ऊसर कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे वास्तविक में परब्रह्म यद्यपि निर्गुण और निराकार हैं तथापि केवल माया के बल से परब्रह्म में यह जगत् सत्य सा भासित होता है वैसे यह काशीक्षेत्र भी परब्रह्म रूपी होने से यद्यपि ऊसर है तथापि माया ही से इसमें किये हुए पाप पुण्य अक्षय से ज्ञात होते हैं।

उ० ३—अथवा ऊसर कहने का यह तात्पर्य है कि काशी के बाहर का पाप काशी में प्रवेश करने मात्र से नष्ट हो जाता है जैसा कि "*काशीप्रवेशादनघः*" (काशी में प्रवेशमात्र से पापियों के पाप नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि कहा है और बाहर किए हुए पुण्य भी काशी में प्रवेश कराकर नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनका फल यही है कि काशी में प्रवेश हो गया। इस रीति से बाहर के पुण्यों और पापों के लिए काशी ऊसर है।

तथा काशी के मध्यवर्ती अनेक तीर्थों में स्नान और दर्शन आदि से जो अनेक जन्मों के पापों का नाश होना लिखा है वह उन्हीं पुरुषों के विषय में है जो पुरुष कि अन्यत्र मृत होकर अपने पुण्य के प्रभाव से काशी में उत्पन्न होते हैं।

तत्तल्लोकगतिरूपफलस्मरणसद्भावेऽपि किमिति मोक्षमात्रैकफलत्वमुच्यते इति चेत्—उच्यते नहि तत्तद्वाक्येषु प्राणोत्क्रमणवाचकं पदं प्रयुज्यते येन विरोधः स्यादिति काशीकृततत्तत्पूजनादिमन्तो येऽन्यत्र मृतास्तेषां तल्लोकगतिरिति। वस्तुतस्तु परमानन्दस्वरूपमोक्षस्यैव तत्पदानन्दानामेकदेशत्वं यथा तथा समुदितरूपेण मोक्षप्रदस्य काशीक्षेत्रस्य तत्तदवान्तरप्रदेशानां तत्तद्गतिप्रदत्वम्। अत एव सर्वेषामेव तल्लोकाधिष्ठातॄणां काश्यां कृतेन तपश्चर्यालिङ्गस्थापनादिना तत्तदधिकारप्राप्तिः स्मर्यते किं च यथा संयोगपृथक्त्वन्यायेन प्रातिस्विकविधिवाक्यैर्यज्ञादीनां तत्तत्फलप्राप्तौ विनियोगसत्त्वेऽपि विविदिषावाक्येन सामस्त्येन यज्ञादीनामेकत्रार्थे विनियोगः सम्पाद्यते तथा तत्तत्सेवनादेः सत्यपि तथात्वे सम्पूर्णक्षेत्रस्य मुक्तिप्रदत्वे न विवादः। यद्वा अङ्गवाक्येषु श्रूयमाणानामपि फलानामङ्गिवाक्यश्रूयमाणफलान्नातिरेकः कल्प्यते तेषां तत्रैवोपकारजननेन चारितार्थ्यात् तेनैव प्रकारेण तत्र तत्तत्फलानां मोक्षानन्द एवान्तर्भावस्तदर्थं च न पृथग्यतितव्यमित्येव शास्त्रतात्पर्यं नन्वेवं काशीमृतानां मोक्षसद्भावे निश्चिते तदुद्देशेन यदौर्ध्वदैहिकं कर्म बान्धवैः क्रियते तत् किं तदर्थं स्वार्थं वा नाद्यस्तेषां मुक्तत्वात् न द्वितीयः स्वोद्देशेनाविहितत्वात् अतो न तत् कार्यमिति चेन्न। शिष्टाचारात् निषेधश्रवणाच्च 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" इति भगवदुक्तेर्यत्कार्यत्वेन

भाषा

"*निर्गते गृह्यते पुनः*" (काशी में प्रवेश करने से जो पाप छूटे रहते हैं काशी से निकलने पर वे पाप पुनः पकड़ लेते हैं)। यह वाक्य तो जावालि के पूर्वोक्त वाक्य में जो अविमुक्त (काशी) छोड़ने का निषेध किया गया है। उसी का अर्थवाद है अर्थात् इससे काशी के त्याग करने में पाप आने का भय दिखलाया गया है।

प्र०—चण्डेश्वर आदि लिंगों का पूजन तथा काशी के मध्यवर्ती तीर्थों में स्नानादि का स्वर्ग आदि फल भी जब पुराणों में कहा हुआ है तब क्यों काशी का मोक्ष ही एक फल कहा जाता है।

उ० १—जहाँ उक्त पूजन आदि का स्वर्ग आदि फल कहा है वहाँ कहीं काशी में मरण की चर्चा नहीं है। इसलिए उस पूजन आदि का स्वर्ग लोक आदि फल उसी के लिए है कि जो उक्त पूजन आदि कर देशान्तर में जा मरा।

उ० २—काशी में जो मनुष्य उक्त पूजन आदि कर काशी ही में मरा उसको जब परमानन्दरूपी मोक्ष मिल गया तब उक्त पूजन आदि का फल भी मिल ही जाता है। क्योंकि उन लोकों का आनन्द मोक्षरूपी आनन्द में अन्तर्गत हो जाता है। इसी से उन लोकों के स्वामी देवताओं का काशी में लिङ्गस्थापन आदि के द्वारा उन लोकों का अधिकार पाना काशीखण्ड आदि में कहा हुआ है।

प्र०—जब की काशी में मृत मनुष्यों का मोक्ष ही हो जाता है तब उनका श्राद्ध कर्म क्यों किया जाता है?

उ० १—जैसे चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण में जब चन्द्रमा और सूर्य, ग्रहण लगे ही अस्त हो जाते हैं और ज्योतिषशास्त्र से निश्चय भी रहता है कि 'अब मोक्ष हो गया होगा' तब भी भोजन के निषेध

श्रुतं तत्कार्यमेव यथा च ग्रस्तास्तचन्द्रसूर्योपरागादौ ज्योतिःशास्त्ररीत्या विज्ञाततन्मोक्षकालैरपि भोजननिषेधवाक्यभिया न भुज्यते तथा प्रकृते काशीसंस्थानां मोक्षे शास्त्ररीत्या निश्चितेऽपि नौर्ध्वदैहिकं निवर्तते, निवर्तते चालब्धतत्त्वसाक्षात्काराणां परिव्राजकानां निश्चितेऽपि मोक्षसद्भावे। अतश्च कार्यत्वेनाकार्यत्वेन वा यच्छ्रुतं तत्तथैवाचरणीयमनाचरणीयं चेत् सिद्धान्तः। किं च यथा चन्द्रेश्वरादिनामपुरस्कारेणापि कृतं पूजनं परमेश्वर एव सर्वाधिष्ठातरि पर्यवस्यति, तथेदं शास्त्रविहितमौर्ध्वदैहिकं कर्मापि तत्तन्नामपुरस्कारेण कृतं तत्रैव पर्यवसास्यति फलिष्यति च। तस्यैव सर्वमुक्तपुरुषस्वरूपत्वात् अपि च विरक्तानामेव मरणाव्यवहितोत्तरकाले मोक्षो भवतीति प्राग्व्यवस्थापितम् रुद्रपिशाचयातनायाश्च वर्षायुतत्रयं परमोऽवधिः न तु सर्वेषामेव पापिनां काशीसंस्थितानां तावत्पर्यन्ता यातनेति नियमः किन्तु काशीकृतपापलाघवगौरवानुसारेणैकं क्षणमारभ्य घटीयामदिनपक्षमासर्त्वयनवत्सरादितत्तत्कालावच्छिन्ना यातना भवन्ति अन्यथाऽविवेकोऽन्धेदप्रसंगात् तदनुरोधादेव च तत्तद्यातनापर्यवसाने तारकोपदेशस्तत्त्वसाक्षात्कारो मोक्षश्च भवन्ति एवं च तत्तन्मोक्षकालानां मनुष्यैर्विनिश्चित्य निर्णेतुं अशक्यतया रुद्रपिशाचयातनाशङ्कया कृतस्य शिष्टपरिगृहीतस्यौर्ध्वदैहिकस्य कर्मणः तत्तद्यातनादेहेषु क्षुत्पिपासादिदुःखनिवृत्त्युपयोगो भवत्येवेति नौर्ध्वदैहिककर्मनिवृत्तिरेष्टव्या न च पापिनामपि काशीवासिनामन्तर्गृहपंचक्रोशीप्रदक्षिणीकरणादिना प्रायश्चित्ते सम्भवति कुतस्त्योऽसौ यातनासंभव इति वाच्यम्। अज्ञातानामेव पापानां, तथाऽवश्यकर्तव्यतया विहितानां तत्तत्तीर्थनित्यवार्षिकादियात्राणाम् अप्रमा-

भाषा

वाक्य के भय से दिन वा रात्रि में भोजन नहीं किया जाता वैसे ही काशी में मृत मनुष्यों का शास्त्र से मोक्ष निश्चय होने पर भी श्राद्धविधान के वाक्यों के भय से श्राद्ध किया जाता है क्योंकि काशी में मरे हुये प्राणी के श्राद्ध का निषेध नहीं किया है तथा संन्यासी होकर जो ब्रह्मज्ञानी नहीं है उसके मरने पर यद्यपि यह निश्चय है कि उसको मोक्ष नहीं हुआ तब भी उसका श्राद्ध नहीं किया जाता क्योंकि सन्यासी के श्राद्ध का निषेध है वैसे ही प्रकृत में मोक्ष निश्चय होने पर भी श्राद्ध किया जाता है।

उ० २—काशी में मरे हुये मनुष्यों में भी विरक्तों ही को मरते ही हुये मोक्ष का होना पूर्व ही सिद्ध हो चुका है और काशी के पापियों के विषय में भी यह नियम नहीं है कि सब को तीस सहस्र वर्ष की यातना हो क्योंकि ऐसा अन्धेर नहीं हो सकता कि सब धान बाईस पसेरी हो जाय किन्तु पाप की न्यूनता और अधिकता के अनुसार एक क्षण से लेकर तीस सहस्र वर्ष पर्यन्त जो जैसा पापी रहता है उसको उतने समय तक यातना भोगनी पड़ती है और तदनन्तर तारकोपदेश और मोक्ष होता है। ऐसी दशा में जब यह निश्चय मनुष्य को नहीं हो सकता कि काशी में मरे हुए मेरे संबन्धी को कब मोक्ष हुआ। तब उसको अवश्य श्राद्ध करना चाहिये जिससे वह मृत जीव यदि यातना में भी हो तो उसकी भूख प्यास की निवृत्ति हो।

प्र०—अन्तर्गृह और पञ्चक्रोशी की यात्रा आदि अनेक प्रायश्चित्तों से काशीवासियों के जब सब पाप नष्ट हो जाते हैं तब उनको यातना भोग कैसे हो सकता है?

दालस्यादितः परित्यागेन जनितानामेव च पापानां निवृत्तिमुद्दिश्य प्रतिमासमन्तर्गृहयात्रायाः प्रत्ययनं वाराणस्याः प्रति संवत्सरं च पञ्चक्रोश्याः प्रदक्षिणीक्रियाविधानात् अन्येषां काश्यां कामकृतानां ब्रह्महत्यादीनां पापिनां भुक्तयातनोपाधायकत्वे बाधकाभावात्—

तथा च पाद्मे—प्रामादिकस्य लोपाय प्रतिभूतं विभोर्गृहम् ।
कुर्यात्प्रदक्षिणं नित्यं तत्कल्मपजिहीर्षया ॥
अयनद्वितये कुर्यात् वाराणस्याः प्रदक्षिणम् ।
प्रतिसंवत्सरं चापि काशीमप्यभितश्चरेत् ॥

एवं शिवरहस्येऽपि महता प्रबन्धेन वीरेश्वरकेदारेश्वरादीनां कियतामपि लिङ्गानां तीर्थानां च पूजनस्नानादेः परित्यागेन प्रत्युक्तस्यैव दुरितजातस्य निवृत्तिमुद्दिश्य पञ्चक्रोशी प्रदक्षिणीक्रिया विहिता। अतस्ततोऽधिकानां पापानां निविवर्तयिषया तत्तारतम्यानुसारात्पृथक् प्रदक्षिणावृत्त्यनावृत्ती यथोचितं कल्पनीये "उपपातकमभ्यस्तं महापातकतां व्रजेत्" इति स्मार्तन्यायेन प्रायश्चित्तेष्वप्यावृत्त्यनावृत्तिकल्पनात् प्रायश्चितार्थं च तत्तदनुष्ठाने प्रायश्चित्तशास्त्रोपदिष्टविधिना मुण्डनोपवासादिकमपि विधेयम् तदशक्तौ च तदनुकल्पः । अतोऽप्युर्वरितानां येषां च धर्मशास्त्रेषु प्रायश्चित्तानयनोद्यत्वमुक्तं यथा "कृतघ्ने नास्ति निष्कृति" रित्यादि तेषां च पापानामवधितत्वात्तैरेव रुद्रपिशाचादियातना भवतीति व्यवस्थापयामासुः। अद्य यादपि रुद्रपिशाचानां गयाश्राद्धयाचनादिकमैतिह्यारूढमेतद् व्यवस्था संवादकमिति तु ध्येयम् ।

भाषा

उ०—उन यात्रा आदि कर्मों से उन्हीं पापों का नाश होता है जो कि अज्ञान से हो जाते हैं अथवा जो आलस्य से होते हैं जैसे तीर्थयात्रा, देवदर्शन न करना आदि, जैसा कि पद्मपुराण में कहा है कि—

"*प्रामादिकस्य०*" प्रमादकृत पाप के नाशार्थ प्रत्येक चतुर्दशी तिथि में अन्तर्गृह की और प्रत्येक अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन छः २ मास) में वाराणसी की तथा प्रतिवर्ष पूर्ण काशी की प्रदक्षिण यात्रा करे। और शिवरहस्य में भी विश्वेश्वर आदि कतिपय लिङ्ग का दर्शन और कतिपय तीर्थ का स्नान त्यागने के अपराध की निवृत्ति के लिये पञ्चक्रोशी यात्रा कही है। इससे यह स्पष्ट है कि काशी में जान बूझ कर किये हुए ब्रह्महत्या आदि पापों का यदि शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं किया गया तो उनके कारण अवश्य ही रुद्रपिशाच यातना भोगनी पड़ती है। इति ।

इस व्याख्यान में, काशीवासी पापियों के विषय में श्री सुरेश्वराचार्य जी के व्याख्यान से विरोध किया गया अर्थात् यह सिद्धान्त किया गया है कि काशीवासी पापियों को काशी में मरते ही तारक का उपदेश नहीं होता किन्तु रुद्रपिशाच यातना के अनन्तर होता है और यह सिद्धान्त ठीक ज्ञात होता है क्योंकि 'काशी मृतपापी रुद्रपिशाच होकर गया श्राद्ध मांगते हैं' ऐसा सुनने में आता है।

मुझे तो यहाँ यही तीन बातें वास्तविक समझ पड़ती हैं एक यह काशी के पापी भी जो काशी केदारेश्वर के अन्तर्गृह में मृत्यु पाते हैं उनको कदापि भैरवयातना नहीं होती जैसा कि ब्रह्मवैवर्तखिल काशी मूल रहस्य, काशीकेदारमाहात्म्य के अध्याय १३ में कहा है कि—"*पुरा केदार०*"

मम तु प्रतिभाति काश्यां कृतपापानामकृततत्प्रायश्चित्तानामपि काशीकेदारेश्वरान्तर्गृहे निधनमुपेयुषां भैरवयातना नैव भवति तथा च अथर्ववेदोक्तखिले काशीमूलरहस्ये काशीकेदार-माहात्म्ये १३ अध्याये वामदेवमृषिं प्रति भगवान् सनत्कुमारः—

पुरा केदारनाथस्य क्षेत्रमन्तर्गृहे स्थितम् ।
पूर्वस्यां दिशि गङ्गार्द्ध-मार्गं तीर्थसमन्वितम् ॥
अर्धक्रोशं चाग्निदिशि लोलार्केशान्तदक्षिणम् ।
सर्वपापप्रशमनं शङ्खोद्धारान्तनैर्ऋतम् ॥
पश्चिमे वैद्यनाथान्तं रमातीर्थान्तवायुदिक् ।
उत्तरे शूलटङ्कान्तमैशान्यां क्रोशमर्धकम् ॥
एतन्मध्ये तिलभाण्डलिंगादीनि बहूनि च ।
दुर्गाविष्णुगणेशानां मूर्तयोऽप्यमिताः स्थिताः ॥

तत्राप्युत्तमपुण्यदाऽखिलशिवाऽऽघानां निहन्त्री नृणां
प्राचीना मणिकर्णिका शुभकरी केदारनाथस्तथा ।
काश्यां भैरवयातनाऽस्त्यघकृतां सर्वत्र नास्त्यन्यथा
तत्रापीशदयावशात्परिहृता केदारसत्रामितः ॥१०५॥
पश्यध्वं मणिकर्णिकां चिरतरां केदारलिङ्गं जना-
गाहध्वं मणिकर्णिकां शुभजलेऽप्यचर्ध्वमीशं सदा ।
प्राप्स्यध्वं भुवि भुक्तिमन्तसमये मुक्तिं सुरैर्दुर्लभा-
मित्युद्दामसुवाक्यभैरवविभो केदार एवास्त्यहो ॥१०६॥ इति

भाषा

केदारनाथ का अन्तर्गृह प्राचीन क्षेत्र है जिसकी ८ सीमाएँ हैं कि—पूरब आधी गङ्गा के नीचे पड़े तीर्थ पर्यन्त, अग्निकोण आधा कोश तक, दक्षिण लोलार्केश्वर पर्यन्त, नैर्ऋत्यकोण शङ्खोद्धार (सालू भारा) पर्यन्त, पश्चिम वैद्यनाथ पर्यन्त, वायुकोण लक्ष्मीकुण्ड पर्यन्त, उत्तर शूलटङ्केश्वर पर्यन्त और ईशान कोण आधे कोश तक इसके मध्य में तिलभाण्डेश्वर आदि अनेक शिवलिङ्ग और दुर्गा आदि देवताओं की अनेक मूर्तियाँ भी स्थित हैं। तथा इस अन्तर्गृह में भी पापों के नाश करने वाली पुरानी मणिकर्णिका और केदारनाथ लिङ्ग भी हैं। उस पर भी यह आश्चर्य है कि इस केदार ही के विषय में विभु (रुद्रपिशाच यातना के स्वामी) कालभैरव का उद्दाम (अमूल्य) अर्थात् निर्व्याज दया से पूर्ण यह सु (परमसत्य) वाक्य है कि यद्यपि काशी के अन्य प्रदेशों में मृतकाशी के पापियों को भैरवी यातना अवश्य होती है, तथापि ईश (श्री शङ्कर) की दया से केदारेश्वर के अन्तर्गृह के (चाहे किसी प्रदेश में मरे) मृतपापियों को भैरवी यातना नहीं होती। हे मनुष्यों! पुरानी मणिकर्णिका और केदारनाथ लिङ्ग का दर्शन स्नान पूजा आदि प्रति दिन किया करो जिससे कि इस लोक में भुक्ति (सुख) और अन्त समय में देवताओं को भी दुर्लभ मुक्ति पाओ।

अत्र हि काश्यां विश्वनाथस्यान्तर्गृहादन्यत् प्राचीनं केदारनाथस्यान्तर्गृहं साष्टसीम प्रतिपदोक्तमेवोक्त्वा तत्र तिलाभाण्डादिलिङ्गानां दुर्गाविष्णुप्रभृतीनां देवतानां चामितानां स्थितिं वर्णयित्वा 'तत्रापी'त्यपिना विश्वेश्वरान्तर्गृहं समुच्चित्य 'प्राचीना मणिकर्णिके'ति विश्वेश्वरान्तर्गृहवत् केदारेश्वरान्तर्गृहेऽपि मणिकर्णिकान्तराभिधानेनान्तर्गृहयोः साम्यं बोधयित्वा विश्वेश्वरान्तर्गृहापेक्षया काशीकेदारान्तर्गृहे विशेषाभिधित्सया 'तत्रापीशदयेत्यादिक' मिति शब्दान्तं कालभैरववाक्यं यथाश्रुतमनूद्य वाक्यस्यास्य यातनाधिपत्यरूपविभुत्वविशेषितकालभैरवोक्तत्वं निर्व्याजकरुणापूर्णत्वरूपमुद्दामत्वं सहजभूतोक्तित्वरूपं शोभनत्वं चेति विशेषेण त्रयमार्षत्वाल्लुप्तसुना वाक्येतिशब्देन विशेष्यं चाभिधाय 'केदार एवे' त्येवकारेणास्य वाक्यस्य काश्यपरिच्छेदपरिच्छेदकतां व्यवच्छिद्य प्रकरणमिदम् 'अहो' इति साश्चर्यमुपसंहृतम् । अत्र 'काश्यां भैरवे' त्यादिश्लोकार्द्धे मदुक्तोऽर्थः स्पष्ट एव । अथ 'केदारसद्माभित' इत्यत्र केदारसद्मशब्दस्य पूर्णं केदारेश्वरान्तर्गृहं नार्थः, तथा सति वाक्यस्यास्य तद्बहिर्भूतकाशीभागविषयकतापत्त्या केदार एवेत्यवधारणविरोधप्रसंगात् । नापि केदारेश्वरलिङ्गस्य मन्दिरमेव तदर्थः । एवं सति कियद्दूरपर्यन्तमिति विशेषानभिधानेन न्यूनताऽऽपत्तेरिति चेन्न; केदारसद्मशब्दस्योक्तसीमाष्टकविभक्तकेदारनाथान्तर्गृहपरत्वात् न चोक्त दोषः । नह्यसावभितः शब्दयोगाद्द्वितीयान्तो येनोक्तदोषः स्यात्, अपि तु केदारसद्मन्यभित इत्यार्षत्वाल्लुप्तसप्तमीकः समस्तो वा, अग्रे काशीकेदारान्तर्गृहे सर्वत्रैव मृतानां भैरवयातनाविरहरूपवरप्रदानस्य तत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् । तथा च विंशेऽध्याये तत्रैव—

इत्थं वैमानिकास्ते परमशिवमहातारकेणोपदिष्टा
भोगं मोक्षं च युग्मं युगपदभिलभन्भक्तवश्यप्रसादात् ।

भाषा

अब यहाँ यह ध्यान करना चाहिए कि इस प्रकरण से काशी में विश्वनाथ के अन्तर्गृह से अन्य केदारनाथ का प्राचीन अन्तर्गृह आठ सीमाओं से विभक्त स्पष्ट ही कह उसमें विश्वनाथ के अन्तर्गृह के तुल्य तिलाभाण्डेश्वर आदि शिवलिङ्गों और दुर्गा आदि देवता की मूर्तियों तथा पुरानी मणिकर्णिका की स्थिति के कथन से उक्त दो अन्तर्गृहों की अन्योन्य में समता दिखलाकर विश्वनाथ के अन्तर्गृह और काशी क्षेत्र के अन्यान्य विभागों की अपेक्षा केदारनाथ के अन्तर्गृह में विशेष दिखलाने के तात्पर्य से 'यद्यपि से मुक्ति पाओ' तक कालभैरव का वाक्य ज्यों का त्यों उद्धृत किया हुआ है और यह भी कहा हुआ है कि 'यह वाक्य, यातना के स्वामी कालभैरव का है तथा निर्व्याज दया से पूर्ण और परम सत्य है' और इस वाक्य में अति स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ईश (श्रीशिव) की दया से केदारेश्वर के अन्तर्गृह में सब ही प्रदेश ऐसे हैं कि उनमें मृत पापियों को भैरवी यातना नहीं होती इससे पूर्वोक्त विषय स्पष्ट ही सिद्ध होता है । तथा काशी केदारमाहात्म्य के २० अध्याय में भी कहा है कि 'इत्थं' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से भक्तवश्य परम शिव के किये हुए महातारक के उपदेशरूपी प्रसाद से विमान पर आरूढ़ महर्षियों की स्वर्गादि लोक की प्राप्ति के सहित जीवन्मुक्ति हो चुकी । तदनन्तर अद्वितीय दयालु श्री पार्वती के सहित परमेश्वर ने हाथों से अपने भक्त (मांधाता) को स्पर्श करते हुए

पश्चादाहात्ममर्कं त्वतुलितदययाऽपर्णयेशः कराभ्या–
मामृश्यन्वत्स मान्धातरिति मम परा त्वं तनुर्या हि धाम ॥ ६५ ॥
किंतेऽन्यत्प्रार्थ्यमस्ति प्रवद शुभमते नास्त्यदेयं हि तेस्ती–
त्याकर्ण्येशस्य पार्श्वे पुनरपि विनमन् प्रार्थयामास शम्भुम् ।
काश्यां शम्भो प्रजानां सकलुषमनसां भैरवाज्ञाऽऽवलीया
सा माभूदत्र तेऽन्तर्गृहमृतजनतायाः प्रसादं कुरुष्व ॥ ६६ ॥
इत्थं तं याचमानं पशुपतिरवदत्प्रार्थना दुर्लभा ते
भक्तस्त्वं मे तथापि प्रियतम तव या प्रार्थना सा तथास्तु
इत्युक्त्वा भैरवं माधवमपि भगवान् दण्डपाणिं च ढुण्ढि–
माहूयान्यांश्च देवानदिशदय वरं काशिकेदारभूमेः ॥ ६७ ॥
माभूदत्र प्रजानामतितरमसहा भैरवी यातना मे
गेहेऽन्तर्भूप्रदेशे विघटितवपुषां तारकस्योपदेशात् ।
पापिष्ठा अप्यवश्यं मम वरकृपया तत्क्षणं यान्तु धाम
दिव्यं मे सत्यमेतच्छृणुत दिविषदो भैरवाद्या वचो मे ॥६८॥ इति।

एवं चोक्ता यातना केदारेश्वरान्तर्गृहस्थकेवलपृथिवीभागातिरिक्तकाशीभागमृतानामेव काशी-पापिनाम् उपसंहारन्यायात् । नहि भैरवीयाया यातनायाः प्रतिपादकं वेदवाक्यं प्रत्यक्षमुप-लभ्यते । पौराणिकन्तु यातनावाक्यं काशीसामान्यविषयमेवेति शुक्लमेव तदेतद्वाक्यबलादुक्त-विशेषविषयतयोपसंहर्तुम् ।

भाषा

कहा कि मान्धातः ! तू मेरा दूसरा शरीर है। अब तू मेरे धाम को प्राप्त हो॥६५॥ और हे शुभमते ! इससे अन्य कौन पदार्थ अब तेरा प्रार्थनीय है ? उसे बेधड़क कह; क्योंकि मेरी दृष्टि में कोई उत्तम पदार्थ ऐसा नहीं है जो कि तेरे लिए देने योग्य न हो । इस श्रीमुखवाणी को सुन मांधाता ने पुनः प्रणामपूर्वक यह प्रार्थना किया कि यह अनुग्रह हो कि कलुषीमुख काशी के पापियों के विषय में श्री कालभैरव की आज्ञाएँ जो होती हैं वे आज्ञाएँ इस केदारेश्वर के अन्तर्गृह में मृतों के विषय में न हुआ करें ॥ ६६ ॥

तदनन्तर श्री परमेश्वर ने कहा कि यद्यपि यह वर दुर्लभ है जिसे कि तू प्रार्थना कर रहा है तथापि तू मेरा भक्त है इसलिए यह तेरी प्रार्थना भी पूर्ण होगी और ऐसा कह श्री भगवान् ने काल-भैरव, माधव, दण्डपाणिभैरव, ढुण्ढिराज तथा काशी के अधिकारी अन्यान्य देवताओं को बुलाकर उनसे कह दिया कि ऐ देवताओं ! सुनते जाओ की काशी की इस केदार भूमिमात्र में मृतों को भैरवी यातना न हो अर्थात् पापिष्ठ भी यहाँ के मृत प्राणी तारकोपदेश और मेरे इस वर से यातना के बिना ही मुक्ति पाया करें ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ऐसे ही 'केदार' इस नाम का अर्थ भी काशी केदार माहात्म्य ही में कहा है अर्थात् अध्याय २८ में सूत का यह प्रश्न है कि "केदार नाम" अर्थात् लौकिक भ्रम उस

एवं केदारेति नामनिरुक्तिरपि तत्रैव। तथा च २८ अ०—

केदारनाम जगति सस्योत्पादनभूमिषु।
प्रसिद्धं तत्कथं त्वत्र शिवक्षेत्रोपपादितम् ॥८६॥

इति सूतप्रश्ने २६ अध्याये व्यासः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां काश्यां केदारभूमिका।
सस्यवृद्धिकरी जाता विश्वेशनगरीबलात् ॥३४॥
काशी सर्वप्राणिनां वै मोक्षदाऽपि शिवाज्ञया।
तत्र केदारभूः पुण्या यतो हिंसा न भैरवी ॥३५॥
एवं चतुर्वर्गसस्य-प्रदा केदारभूमिका।
हिमाचलस्थात्केदारात् काशीकेदार उत्तमः ॥३६॥
यस्मात्साक्षाल्लिङ्गमूर्तिः काश्यामाविर्बभूव ह
हित्वा हिमाद्रिकेदारं विश्वेशकरुणाबलात् ॥३७॥
तस्मान्मोक्षाख्यसस्यकेदार इति वै प्रथा।
एवं केदारनामाभूत्क्षेत्रं काश्यां तथा गिरौ ॥३८॥ इति ॥

केदारशब्दवच्च क्षेत्रतीर्थशब्दयोरपि निरुक्तिरित्यत्रैव प्रकरणे पूर्वमुक्तम्। किं च रुद्रपिशाचयातनायामयुतत्रयवर्षावधित्वस्य प्रतिपादकानि स्मृतिवाक्यानि काश्यां गङ्गासंनिधानात्पूर्वं कालमभिप्रेत्यैव प्रवृत्तानि गङ्गायां सर्वपातकापनोदनशक्तेः शास्त्रसिद्धत्वात्। तथा च पाराशरमाधवे आचारकाण्डे मरीचिः—

भूमिष्ठमुद्धृतं वापि शीतमुष्णमथापि वा।
गाङ्गं पयः पुनात्याशु पापमामरणान्तिकम् ॥ इति ॥

भाषा

भूमि को केदार कहते हैं जिसमें सस्य (यव, गोधूम आदि के लघु वृक्ष अर्थात् फल पाकमात्र तक जीनेवाली औषधियाँ) उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में इस शिवक्षेत्र का क्यों केदार नाम रक्खा गया?

इस प्रश्न पर श्री वेदव्यास (कृष्णद्वैपायन) का यह उत्तर है कि "*धर्मार्थकाम*" अर्थात् विश्वेश्वर की नगरी (काशी) के प्रभाव से यहाँ (काशी) में यह भूमि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी सस्य अधिक वृद्धिकारी केदार (क्यारी) हुई अर्थात् हिमाचल के केदार की अपेक्षा यह केदार उत्तम है क्योंकि काशी तो अपने में मृत सब प्राणियों के लिए मोक्ष देती ही है परन्तु इसमें भी यह केदार अति पुण्य है क्योंकि श्री शिव की आज्ञा से यहाँ भैरवी यातना नहीं होती और हिमाचल के केदार को त्याग कर यहाँ लिङ्ग का प्रादुर्भाव हुआ। निदान मोक्ष रूपी सस्य की यह क्यारी है, इसलिए इसका नाम केदार है। इति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ कि रुद्रपिशाच यातना के जितने वाक्य हैं वे सब काशी में श्री गंगा के आने से पूर्वकाल के अभिप्राय से हैं। क्योंकि ज्ञान और अज्ञानकृत सब प्रकार के पापों को नाश करने की शक्ति श्रीगङ्गा में वेद और शास्त्र से सर्वथा सिद्ध है। जैसा कि मरीचि महर्षि का यह वाक्य है कि "*भूमिष्ठ*" भूमि में स्थित अथवा भूमि से उद्धृत और शीत (अपने स्पर्श से) अथवा उष्ण

वक्ष्यते चात्रैव तीर्थानुसरणप्रकरणे गङ्गाया माहात्म्यम् । एवं च गङ्गावगाहनगङ्गाजलपानविमुखानामेव काशीवासिनां रुद्रपिशाचयातना भवति । गङ्गाम्बुसेवनकाशीमरणयोरन्तरालकाले कृतान्येव चानुष्ठितप्रायश्चित्तानि पातकानि रुद्रपिशाचयातनाहेतुभूतमनुभवन्तीति क्रियानेव तारकोपदेशे विलम्ब इति तु निष्कर्षः । अत एव प्राणोत्क्रमणसमये देशान्तरीयाणामिव काशीवासिनामपि मुमूर्षूणां प्रायो गङ्गातीरे सन्निधापनं, तदनवसरे तु गंगाजलपापनं गङ्गाजलेन स्नपनं चानादिशिष्टाचारपरम्पराप्राप्तमनुभूयते । एवमुपचरितानां च काशीसंस्थितानां क्वचित् कृतपातकानां रुद्रपिशाचयातनाया ऐतिह्यमपि नानुभूयते । किं बहुना ! यत्र अन्यत्रापि मृतानां गङ्गायामस्थिक्षेपस्य—

गङ्गातोयेषु यस्यास्थि क्षिप्यते शुभकर्मणः ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् सनातनात् ॥

निर्णयसिन्धौ अस्थिक्षेपे यमः इत्यादिभिर्वाक्यैरेतादृक्फलं भाष्यते । तत्र कथं गङ्गासेवनस्य रुद्रपिशाचत्वप्रयोजकत्वपूर्वकालिकपातकमात्रोच्छेदकतायां संशयावकाशः । अन्यथा क्वचिदपि गङ्गायाः सन्निधानासन्निधानकालयोः फलाविशेषस्वीकारे सर्वथैवास्तिक्ये त्रुटिप्रसंगात् अत एव त्रिस्थलीसेतौ ब्रह्मपुराणे रुद्रं प्रति ब्रह्मवाक्यम्—

भाषा

किया हुआ गङ्गाजल उन सब पापों को तुरन्त ही नाश करता है जो कि जन्म भर में किए गये हों । और इसी तीर्थानुसरण प्रकरण के अन्त में भी गंगा माहात्म्य का विशेष वर्णन किया जायगा । इससे यही निश्चय होता है कि गंगास्नान और गंगाजल पान के नियम से विमुख जो काशीवासी पापी मनुष्य हैं उन्हीं को काशी में मरने पर भी रुद्रपिशाच की यातना होती है, अर्थात् गङ्गाजल के सेवन और काशीमरण के मध्यकाल में जो पाप किये जाते हैं और उनका प्रायश्चित्त नहीं किया जाता केवल वे ही पाप रुद्रपिशाच की यातना में कारण हैं और उन्हीं के अनुसार बहुत थोड़ी सी यातना होती है, इसी से तारकोपदेश में उतना ही विलम्ब होता है । इसी से काशी में यह शिष्टाचार सनातन से चला आता है कि मरने के समय अन्य देशियों के तुल्य काशीवासियों को प्रायः गङ्गा के तीर ले जाते हैं और यदि इसका अवसर न मिला, तो गङ्गाजल से स्नान करा देते हैं और गङ्गाजल पिला देते हैं । तथा इस रीति से जिन मनुष्यों के लिए गङ्गा का उपचार मरण के समय कर दिया जाता है काशी में मरण के पश्चात् उनका रुद्रपिशाच होना सुना भी नहीं जाता । अधिक क्या कहना है, जब कि कहीं का मरा हो परन्तु उसकी अस्थि (हड्डी) यदि किसी रीति से गङ्गा में पड़ जाय तो सनातन ब्रह्मलोक से वह कदापि नहीं पलटता अर्थात् जब तक ब्रह्मलोक रहता है तब तक वह वहाँ वास करता है । जैसा कि "गङ्गातोयेषु" इस यम महर्षि के वाक्य में स्पष्ट ही कहा है और ऐसे २ अनेक वाक्य हैं । तो ऐसी दशा में रुद्रपिशाच की यातना के कारणरूपी पापों का उस पुरुष के लिए नाश करना जो कि काशी में मरा है श्री गंगा के लिए बहुत थोड़ी सी बात है । और यह ध्यान देने की बात है कि "किस आस्तिक मनुष्य का हृदय ऐसा है जो कि यह स्वीकार करे कि काशी में श्री गङ्गा के आने से प्रथम जितना लाभ था पश्चात् भी उतना ही लाभ है" । और इन्हीं अभिप्रायों को

पञ्चक्रोशप्रमाणन्तु क्षेत्रं दत्तं मया तव ।
क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गा गमिष्यति सरित्पतिम् ॥
तेन सा महती पुण्या पुरी रुद्र भविष्यति । इति

एवं च 'यथा' काशीसमागतसकललोकप्रत्यक्षं काश्यां गङ्गायाःस्तब्धवेगत्वं काशीमाहात्म्यलिङ्गं, तथा काशीकृतपापानां जाह्नवीजलजोषिणां काशीमृतानां भैरवयातनाविरहो गङ्गामाहात्म्यलिङ्गमित्यत्र को नाम संशयावकाशः रत्नकनकयोरिव गङ्गाकाश्योरन्योन्यसमागमस्यान्योन्यातिशयाधायकताया औचित्यावर्जितत्वात् । तथा च काशीकेदारमाहात्म्ये पञ्चदशेऽध्याये गङ्गावाक्यम्—

विश्वेशं मणिकर्णीं च संसेव्य निवसेस्थिरा ।
स्तब्धवेगाशनैस्तत्र काश्यां स्थित्वाऽखिलांशतः ॥२४॥
एकदेशांशतो भूपपितृनुद्धर्त्तुमम्बुधिम् ।
मत्सङ्गतनदीः सर्वा ह्यनुज्ञाप्य पुनर्व्रजे ॥२५॥ इति

अत्र च गङ्गया काश्यामात्मनः स्तब्धवेगत्वं स्थैर्येण स्थितिश्चोक्ते दृश्यते चाद्य यावदपि काशीगङ्गाजलस्य पल्वलसलिलस्येव वेगातिमन्दता काश्यपरित्यागश्च गङ्गायाः सर्वैरेव काशीसमागतैर्जनैः । न चेदमन्यत्र नद्यां गङ्गायामेव वा प्रदेशान्तरे दृष्टं श्रुतं वा केनचित्कदा-

भाषा

हृदय में लेकर ब्रह्मपुराण में श्री रुद्र के प्रति ब्रह्मा ने कहा है कि "पंचक्रोशप्रमाणन्तु" हे रुद्र! पांच कोश का यह क्षेत्र मैंने आपको दिया और जब इस क्षेत्र के बीच से गङ्गा समुद्र को जायँगी तब यह पुरी और भी बड़ी पुण्या हो जायगी । मुझको ऐसा ही सत्य ज्ञात होता है जैसा कि मैंने कहा है । और जब ऐसा है तब जैसे काशी मात्र में गङ्गा का मन्द वेग होना अद्यावधि प्रत्यक्ष आश्चर्य काशी के अद्वितीय माहात्म्य में अटल प्रमाण है वैसे इसमें सन्देह ही क्या है कि जो अनन्तरोक्त ब्रह्मवाक्य के अनुसार, काशीमृत काशी के पातकियों को भैरव यातना का न होना रूपी विशेष, श्रीगङ्गा के सेवन के माहात्म्य का चिह्न है, क्योंकि सुवर्णमुद्रिका और रत्नकणिका के समान काशी और गङ्गा के अन्योन्य में अन्योन्य समागम से ऐसे २ विशेषों का होना क्या आश्चर्य है जैसा कि यह वाक्य है कि— "विश्वेशं" अर्थात् मैं (गङ्गा) काशी में, विश्वेश्वर और मणिकर्णिका की सेवा तथा अपने वेग को स्तम्भन करती स्थिर हो, अर्थात् काशी को न छोड़ती (काशी से सटी) धीरे धीरे पूर्ण रूप से अब तुरित ही निवास करूँगी और तदनन्तर अपनी साथी नदियों से अनुज्ञा ले राजा (भगीरथ) के पितरों के उद्धारार्थ केवल थोड़े अंश से समुद्र को जाऊँगी ॥ २४ ॥ २५ ॥ यहाँ श्रीगङ्गा ने काशी में अपने वेग का स्तम्भन और स्थिरता से वास करना अपने मुख से स्पष्ट ही कहा है जो कि आज तक काशी में श्रीगङ्गा के देखनेवाले सब लोगों को प्रत्यक्ष ही है और काशी के नीचे गङ्गाजल में तडाग जल सरीखी यह वेगशून्यता ऐसी है कि जो अन्य नदियों में अथवा काशी से अन्यत्र गङ्गा ही में कदाचित् किसी की देखी वा सुनी भी हो अर्थात् किसी लौकिक कारण से यह नहीं हो सकता कि

चिदपि यत् पुरस्तात्परस्ताच्च महावेगा महानदी सहसैव मध्येवेगं जह्यात्। वर्षौघसम्भेदात्तु सरः सरस्यादिष्वपि वारिवेगोऽनुभूयमानो यथा न नैसर्गिकस्तथा काश्यां गङ्गायामपि। नापीदं काशीमाहात्म्यमन्तरेण प्रकपमुपपादयितुम्। गाम्भीर्यादेरेवदुपपादकत्वोत्प्रेक्षायामावर्तविदारणाद्युपपत्तिभिः सुप्रत्याख्यानत्वादिति बोध्यम्।

अपि च अस्मिन् सूक्ष्मतमे वेदैकवेद्ये काशीमृतमुक्तिव्यवस्थाऽऽत्मनि विषयरूपेऽर्वाचीनानां धर्मचक्षुषामस्माद्दृशां व्याख्यानानि प्रत्याख्याय, पौराणिकशिरोमणिश्रीसूतमुखानूदितत्वेन स्मृतौ निबद्धं दुर्भेदमानतर्कसन्दर्भगर्भं, नितान्तापनीतनिखिलानुपपत्तिकलापं, श्रीमद्भगवत्कृष्णद्वैपायनवेदव्यासहृदयवदनारविन्दनिष्यन्दमानस्फुरद्वेदाक्षरस्वरसैकरसामृतनिर्भरमकरन्दासारगम्भीरोद्गारगौरवितं, परमरमणीयं, व्याख्यानरूपमेव सत्वरीभूय भूयो भूयः शरणीकरणीयं विचक्षणैः। तद्यथा काशीकेदारमाहात्म्येऽष्टाविंशेऽध्याये—

भाषा

किसी जल में आगे और पीछे महावेग रहते मध्य में दो कोस तक वेग न रहे और वर्षा के जलौघ का वेग तो जैसे तडागादिक में स्वाभाविक नहीं है वैसे काशी की गङ्गा में भी। यदि यह कहा जाय कि काशी की ओर तट भूमि के अति उच्च होने से यहाँ नदी पात्र का अति गम्भीर होना सिद्ध है इसी से वेग नहीं है, तो मध्य निम्न प्रदेश में उच्च प्रदेशों से वेगपूर्वक गिर कर निकलते हुए जलौघ में भौंर, फेन, लहरी आदि जो विकार लोकप्रसिद्ध हैं वे काशी की गङ्गा में क्यों नहीं हैं तथा काशी के सामने पार का तट तो उच्च नहीं है और 'गम्भीरता' भी उधर अधिक नहीं है, तो वहाँ क्यों नहीं जलवेग रहता? इत्यादि प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देना दुर्घट है इसलिये काशीमाहात्म्य का गङ्गाकृत आदर ही इस वेगमन्दता का वास्तविक निदान है जो कि इस श्लोक में साक्षात् श्री गङ्गा के मुख का कहा हुआ है। (१) यह ब्रह्मवैवर्त का खिल है जिसको काशीमुक्तिरहस्य भी कहते हैं। और पुष्पदन्ताचार्य की कथा तथा उनका रचित विश्व विख्यात शिवमहिम्नस्तोत्र भी इसी काशीकेदारमाहात्म्य में है। तथा तीसरी बात यह है कि काशी में मृतों की मुक्ति सम्बन्धी व्यवस्थारूपी यह विषय केवल वेद ही की बनी हुई आँखों से देखने योग्य और उस पर भी बहुत ही सूक्ष्म है इसी से इस विषय में हम ऐसे धर्मचक्षुओं की अल्पमिता रूपी और अन्योन्य में विरुद्ध तथा कपोलकल्पित व्याख्यानों का प्रत्याख्यान ही करना उचित बात होता है परन्तु यदि इस विषय का ठीक ठीक निर्णय ही करना है तो उसके लिये विवेकी बुद्धिमानों को चाहिये कि वे श्रीमान् भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी के हृदयारविन्द और मुखारविन्द से निकल कर फड़कते हुये, वेदाक्षर के स्वरस से मिल कर उसकी एकरसता को प्राप्त, अमृत (मोक्ष, सुधा और जल) रूपी मकरन्द (पुष्परस) की धाराओं के गम्भीर उद्गार से गौरवित, उस अति रमणीय व्याख्यान ही का शरण लें जो कि पौराणिक सिरोमणि श्री सूतकृत अनुवाद के रूप से पुराण रूपी स्मृति में उक्त वेदव्यास का निबद्ध किया, दुर्भेद्य प्रमाणों तथा तर्कों के सन्दर्भ (मेल) से गर्भित और शङ्कारूपी सकल कलङ्कों को उक्त विषय से निकाल कर दूरोत्सारित करता है और जिसका स्वरूप, पूर्वोक्त काशीकेदारमाहात्म्य के २८ वें अध्याय में इस प्रकार से कहा है कि—

ऋषय ऊचुः—काचिद्विवक्षा नः सूत विद्यते तामुदाहर ।
श्रुत्वा त्वद्वदनाम्भोजाद्भवाम हृतसंशयाः ॥ २३ ॥
धर्मप्रदानि स्थानानि सन्ति लोके बहून्यपि ।
अर्थप्रदानि स्थानानि सन्ति शम्भोर्बहूनि च ॥ २४ ॥
कामप्रदानि स्थानानि तथैवान्यानि सन्ति च ।
मोक्षप्रदानि स्थानानि तथैवेशस्य सन्ति वै ॥ २५ ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां युगपत्सम्प्रदान्यपि ।
एवं शम्भोः परेशस्य तत्तत्फलकराणि च ॥ २६ ॥
काश्यादिपुण्यक्षेत्राणि सन्ति लोकेष्टसिद्धये ।
तीर्थान्यपि तथा लोकवाञ्छासत्फलदानि च ॥ २७ ॥
पुष्कराद्यानि लोकेषु वापीकूपसरांस्यपि ।
तथैव नद्यः पुण्योदा गङ्गाद्या लोकविश्रुताः ॥ २८ ॥
पापक्षयकराश्चापि चतुर्वर्गफलप्रदाः ।
तथैव शिवलिङ्गानि सन्ति स्वायम्भुवानि च ॥ २९ ॥
दर्शनात्पूजनाच्चापि चतुर्वर्गप्रदानि हि ।
काशीविश्वेश्वरादीनि सन्ति दिव्यानि भूतले ॥ ३० ॥
मूर्त्तयोऽपि तथा दिव्याः पुण्यक्षेत्रगताः पराः ।
विघ्नेशदुर्गाविष्ण्वादिबहुभेदविभेदिताः ॥ ३१ ॥
पापक्षयकराश्चापि चतुर्वर्गफलप्रदाः ।
यासां च दर्शनध्यानात्पूजनाद्वन्दनादपि ॥ ३२ ॥
लब्धवाञ्छा भवन्त्येव जना मुक्ता अपि क्वचित् ।
एवं लोके शास्त्रदृष्टतीर्थक्षेत्रैश्च दैवतैः ॥ ३३ ॥

भाषा

"काचिद्विवक्षा०" अर्थात् ऋषि लोगों ने कहा कि हे सूत ! हमारे कुछ प्रश्न हैं। उनके उत्तरों को कहिये कि जिससे संशय छूटै और वे प्रश्न ये हैं कि — ॥ २३ ॥

'धर्मप्रदानि०' अर्थात् लोक में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पृथक् पृथक् देनेवाले और चारों को एक साथ देनेवाले बहुतेरे काश्यादि रूपी स्थान श्रीशिव के हैं ॥ २४—२६ ॥ ऐसे ही पुष्कर आदि तीर्थ, गङ्गा आदि नदियाँ, वापी, कूप, तडाग, काशी विश्वनाथ आदि दिव्य लिङ्ग और त्रिगुण गणेश, दुर्गा आदि की दिव्य मूर्त्तियाँ भी बहुतेरी ऐसी हैं कि जो पूर्वोक्त पुरुषार्थों को देती तथा पापों को नाश करती हैं और जिनके दर्शन, ध्यान, पूजन और प्रणाम सेभी लोगों के अभिलषित फल सिद्ध होते हैं तथा क्वचित् २ मुक्ति भी होती है । इस रीति से इन स्थानों, नदियों, लिङ्गों और मूर्त्तियों की

वाञ्छितान्यपि सिध्यन्ति मुक्ता अपि कथित्कचित् ।
अस्तु वाञ्छाप्रदातृत्वं मुक्तिः सा कीदृशी वद ॥ ३४ ॥
अविद्यावासनाजालपाशबद्धा ह्यनादयः ।
जीवास्तादृग्विधा मुक्ताः स्यात्मज्ञानं विना कथम् ॥ ३५ ॥
अनेकजन्मसुकृतपरिपाकवशान्नृणाम् ।
वेदान्तश्रवणे श्रद्धा भवतीति श्रुतेर्वचः ॥ ३६ ॥
श्रवणान्मनने श्रद्धा तन्निदिध्यासने ततः ।
आत्मा वाऽरे तु द्रष्टव्यः श्रोतव्यः श्रद्धया पुनः ॥ ३७ ॥
मन्तव्यश्च निदिध्यासितव्य इत्याह वै श्रुतिः ।
तदर्थबोधकः शम्भुरेव नान्यो हि वै गुरुः ॥ ३८ ॥
तस्मिन्भक्त्या हि दृढयाऽनन्यया कालपाकतः ।
आगामिसञ्चितौ नाश्य कर्मभोगौ गुरोर्बलात् ॥ ३९ ॥
प्रारब्धमात्रशिष्टः सन् वसेदिति गुरोर्वचः ।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥ ४० ॥
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्तेति हि श्रुतिः ।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४१ ॥

भाषा

सेवा से लोगों के जो अनेक अन्यान्य अभीष्ट सिद्ध होते हैं वे हों परन्तु यह कहिये कि उक्त स्थानादि की सेवा का फल जो मुक्ति कही है वह कैसे होती है और कैसी है ! ॥ २७—३४ ॥

क्योंकि अनादि काल से अति प्रौढ़, अज्ञान की वासना रूपी, जाल सरीखे अति दुर्भेद्य पाश से जकड़ कर बँधे हुये जीवों की मुक्ति, आत्मज्ञान के बिना कैसे हो सकती है ! ॥३५॥

देखिए, वेद का यह कथन है कि 'अनेक जन्मों में किये हुये पुण्यों से' वेदान्तवाक्य के द्वारा आत्मा के श्रवण (बोध) में मनुष्यों की श्रद्धा (विश्वास) होती है और श्रवण से, मनन (आत्म-विचार अर्थात् शारीरिक दर्शन) में तथा मनन से, निदिध्यासन (आत्मा की अविच्छिन्न ध्यान धारा) में श्रद्धा होती है और इन श्रवणादि के द्वारा आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) संसारी बुद्धिमान् जीवों के लिये अवश्य कर्तव्य है' और वेदान्त के अर्थ बोध कराने वाले गुरु श्री शिव ही हैं न कि अन्य, क्योंकि गुरु का यह वाक्य है कि "श्रीशिव में अनन्य भक्ति करते करते बहुत काल में गुरु (श्री शिव) के बल से आगामी कर्मों के फल नहीं होते अर्थात् वह भक्त जो कर्म करता है उसका फल (सुख वा दुःख) उसको नहीं भोगना पड़ता तथा पुराना समस्त पुण्य और पाप कोष (खजाना) नष्ट हो जाता अर्थात् उसका फल (सुख और दुःख) भी नहीं भोगना पड़ता केवल प्रारब्ध (वर्तमान शरीर के आरम्भ करने वाले पुण्य और पाप) वर्तमान शरीर से भोगना पड़ता है (इसी दशा को जीवन्मुक्ति कहते हैं) यही 'यस्य देवे' (४०।४१ श्लो० में कही) इस श्रुति का अर्थ है और ऐसे ज्ञानी भक्त के लक्षण ये हैं कि उसकी दृष्टि में दुःख और सुख, मृत्तिका

तुल्यमानावमानश्च धीरस्तुल्यारिमित्रकः ।
वृत्त्याऽऽजगरया तिष्ठन् यावत्प्रारब्धसंक्षयः ॥ ४२ ॥
प्रारब्धक्षयतत्कालमात्रैव परिलीयते ।
न चोत्क्रमो न गमनं जीवोऽहमिति भावना ॥ ४३ ॥
तादृग्जीवस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्यवदच्छ्रुतिः ।
एतादृग्योग्यता कुत्र प्राणिनां प्राकृतात्मनाम् ॥ ४४ ॥
मुक्तिर्वा कीदृशी तेषां मुक्तेर्भेदोऽस्ति वा पृथक् ।
एतत्संशयनिर्णोदं कुरु सूत महामते ॥ ४५ ॥
इति पृष्टस्तदा सूतो भूसुरैर्ब्रह्मवादिभिः ।
तदा कारुणिकं शम्भुं गुरुं ध्यात्वाऽऽह तान्पुनः ॥ ४६ ॥
शृणुध्वं मुनयः सर्वे सत्यं वक्ष्ये गुरोर्वचः ।
युष्मत्प्रश्नसमाधानवक्ता विश्वेश एव हि ॥ ४७ ॥
तथापि मद्गुरोर्वाक्यमुपदिष्टमहं वदे ।
समर्थः परमेशानः स्वयमेवाखिले हृदि ॥ ४८ ॥
प्रविश्य लीलां तन्वानः स्वशक्त्याऽखिलहृद्गतः ।
स्वात्मभूतस्य जीवस्य स्वशक्त्याऽभेदितस्य च ॥ ४९ ॥

भाषा

और सुवर्ण, मान तथा अपमान, शत्रु तथा मित्र, सब तुल्य होते हैं, तथा अजगर सर्प की वृत्ति अर्थात् स्वतः प्राप्त जीविका से वह जीता है और अन्त में उसके शरीर से प्राण नहीं निकलते क्योंकि वह लोकान्तर को नहीं जाता, किन्तु उसके शरीर ही में लीन हो जाते हैं और वह परब्रह्म हो जाता है अर्थात् "मैं जीव हूँ" इस अनादि भावना की गन्ध भी उसमें नही रहती । और श्रुति ने यह कहा है कि ऐसे ही जीव की मुक्ति होती है न कि अन्य की। तब देखिये कि तीर्थादि सेवी सामान्य प्राणियों में ऐसी योग्यता कहाँ हो सकती है ? तीर्थादि सेवी सब प्राणियों की मुक्ति भी तुल्य ही होती है अथवा उन मुक्तियों के अन्योन्य में कुछ भेद होता है । हे महामते सूत ! इन संशयों का निराकरण कीजिए ॥ ३६—४५ ॥

ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के उक्त प्रश्नों को सुन, परम दयालु गुरु श्री शिव जी का स्मरण कर सूत ने उन ब्राह्मणों से पुनः कहा कि ॥ ४६ ॥ हे मुनियों ! सुनिये, यद्यपि आपके इन प्रश्नों के उत्तरदाता विश्वनाथ ही हैं (क्योंकि एक तो यह विषय ही अति सूक्ष्म है दूसरे इसमें अनेक गूढ़ तात्पर्यों के अनुसारी पुराणादि वाक्य ऐसे मिलते हैं जो कि देखने से अन्योन्य में विरुद्ध से ज्ञात होते हैं) तथापि इस विषय में मेरे गुरु (भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास) के उपदेशों को मैं बेधड़क कहूँगा जो ये हैं कि ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ जब कि अति समर्थ परमेश्वर, आप ही लीला मात्र के लिये प्रत्येक अन्तःकरणों में अपनी अकुण्ठित शक्ति (माया) से प्रविष्ट हो, जीव और प्राणी कहला रहे हैं तब ऐसी दशा में अपनी शक्ति ही से भेदित अपने स्वरूप रूपी जीवों को अपनी शक्ति ही से अपनी

स्वशक्त्यैव पुनः स्वस्मिन् मेलितुं का विलम्बना ।
अकर्तुमन्यथाकर्तुं कर्तुं चापि प्रभुः शिवः ॥ ५० ॥
अस्त्येव स्वात्मके जीवे स्वात्मज्ञानं निरन्तरम् ।
स्वशक्त्या विद्यया भेदज्ञानमात्रनिरासनम् ॥ ५१ ॥
तत्तस्य च कियत्कार्यं स्वाभाविकमितीर्यते ।
परिपूर्णः परानन्दः सर्वत्रास्ति न संशयः ॥ ५२ ॥
यत्र यत्राह भगवान् मुक्तिस्थानेषु तारकम् ।
तत्र देवस्य लीलेयं नामरूपविमोचिनी ॥ ५३ ॥
तदन्यत्र स्वका लीला नामरूपा भवत्विति ।
भोगार्थमिति चाप्यन्ये लीलार्थमिति चापरे ॥ ५४ ॥

भाषा

इच्छा मात्र के अनुसार पुनः अपने में मिला लेने में विलम्ब ही क्या हो सकता है ! (अर्थात् जैसे यद्यपि आकाश निरूप, निरवयव है तथापि घट, मठ आदि उपाधि लगा लगाकर घट का छिद्र (आकाश) मठ का छिद्र इत्यादि लौकिक व्यवहार आकाश ही में खण्ड मान मान कर होता है और घट आदि उपाधि जहाँ कहीं ले जाये जाएँ वहाँ उनमें वे आकाश के छिद्र रूपी खण्ड रहते ही हैं तथा घटादि उपाधियों के नष्ट होने पर वे छिद्र रूपी खण्ड महाकाश में मिले से हो जाते हैं। ऐसे ही निराकार परमेश्वर की इच्छा मात्र के अनुसार उनकी माया शक्ति के परिणाम रूपी छोटे छोटे अन्तःकरण (जिनको छिद्र भी कहते हैं) उपाधियों के लग जाने से परमेश्वर के भी खण्ड से हो जाते हैं जिनको जीव कहते हैं और परमेश्वर ही की इच्छा मात्र से छिद्र के भंग होने पर ये जीव परमेश्वर में मिल से जाते हैं, इसी अवस्था को सायुज्या मुक्ति कहते हैं) कुछ भी नहीं, और ऐसी दशा में तो विशेष कर के अणुमात्र भी विलम्ब का सम्भव नहीं हो सकता जब कि श्री शिव, सब ही कर्मों के करने न करने और अन्यथा करने में सदा समर्थ हैं तथा अपने आत्मा रूपी परमात्मा का ज्ञान, (मैं हूँ) परमात्मा रूपी प्रत्येक जीवों में आप ही आप बना ही रहता है तो ऐसी दशा में अपने में जीवों के मेलनार्थ परमेश्वर का कर्तव्य भी केवल इतना ही है कि वह अपनी अकुण्ठित विद्याशक्ति से जीव की भेदबुद्धि (मैं परमात्मा से भिन्न हूँ) का निराकरण मात्र कर दें सो यह कर्तव्य, परमेश्वर के लिये इतना सहज काम है कि उनका यह स्वभाव ही कहा जाता है और जैसे इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि परिपूर्ण (व्यापक) परमानन्द रूपी परमात्मा सर्वत्र हैं वैसे ही इसमें भी कुछ संशय नहीं है कि जिन स्थानों में मृत प्राणियों के लिए उन्होंने मुक्ति देने की प्रतिज्ञा की है वहाँ उनकी यह लीला ही ऐसी है कि जो जीवों के नाम (देवदत्त आदि) और रूप अर्थात् संसार से सदा के लिये छुड़ा देती है क्योंकि जैसे परमेश्वर की इच्छा ही ऐसी है कि मुक्तिस्थानों से अन्यत्र मृत अज्ञानी जीवों को संसार लगा ही रहे वैसे मुक्तिस्थानों में मृत जीवों के विषय में उनकी इच्छा ही वैसी है क्योंकि वह अत्यन्त स्वतन्त्र हैं।

एष देवस्य महिमा जगज्जीवात्मिका स्वका।
तस्मादत्र च सन्देहो न कर्त्तव्यः कदाचन ॥ ५५ ॥
अनेककोटिजीवानां राशिभेदेन भेदिता।
लीला देवस्य मुनयस्तेषु वै जीवकोटिषु ॥ ५६ ॥
शिवप्रसादसत्क्षेत्रतीर्थेषु कति सन्ति वै।
पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णयोजना भूः प्रमाणिका ॥ ५७ ॥
आपातालब्रह्मलोकमध्येऽपि प्राणिनां कुलम्।
भूमावपि समस्तायां प्राणिनां पूरणं सदा ॥ ५८ ॥
तादृशे बहुविस्तारे कियद्देवप्रसादजम्।
भूप्रदेशस्थलं विप्रास्तस्मिन्वा कति जीवकाः ॥ ५९ ॥
मुच्यन्ते कर्मवशतः प्रसादात्परमात्मनः।
तत्रापि तारतम्योऽस्ति मुक्तेर्भेदः पृथक् पृथक् ॥ ६० ॥

भाषा

और यद्यपि इस नाम रूपी जगत्सृष्टि को ब्रह्माद्वैतवादी, केवल लीलार्थ ही मानते तथा अन्य दार्शनिक इस सृष्टि को जीवों के भोगार्थ मानते हैं तथापि सिद्धान्त यही है कि जीव और जगत् ये दोनों परमेश्वर की साक्षात् महिमा मात्र ही हैं। इसलिए यह अटल निर्णय है कि परमेश्वर की आज्ञा से मुक्तिस्थानों में मृत प्राणियों की मुक्ति अवश्य ही होती है अर्थात् इसके विषय में कदापि किसी कारण से कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४९–५५ ॥ और इस पर यह आक्षेप नहीं करना चाहिए कि मुक्ति यदि ऐसी ही होती चलै तब तो मुक्ति होते होते जीवों के निशेष होने से सदा के लिये सृष्टि का कदाचित् लोप ही हो जाना चाहिये क्योंकि हे मुनियो! प्रत्येक जीवों की संख्या तो हो ही नहीं सकती बल्कि जीवों के समूहों की संख्या भी अनेक कोटियों से अधिक अर्थात् अनन्त है क्योंकि जब परमेश्वर की लीला मात्र से जीवों का भेद है जैसा कि अभी कहा जा चुका है तथा उनकी लीला अनन्त हैं तब जीवों की संख्या के अनन्त होने में सन्देह ही नहीं हो सकता और अनुभव भी ऐसा ही है कि इस ब्रह्माण्ड के उदर का प्रमाण, पचास कोटि योजन (दो अब्ज अर्थात् अरब) कोस का है। और पाताल से ब्रह्मलोक पर्यन्त नीचे से ऊपर तक इस ब्रह्माण्ड में स्थल, जल वा आकाश का कोई अङ्गुल मात्र भाग भी ऐसा नहीं है जो कि प्राणियों से सर्वथा शून्य हो अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चाक्षुप यन्त्र से लक्ष्य परम सूक्ष्म कृमि, चींटी, टीड़ी, लीख, चीलर, मशक आदि से लेकर इन्द्रादि पर्यन्त प्राणियों से सदा व्याप्त रहता है, तो ऐसी दशा में केवल पृथिवी के कतिपय मुक्तितीर्थ, इस इतने बड़े ब्रह्माण्ड में वैसे ही हैं जैसे कि समुद्र में परमाणु और उनमें स्थित प्राणियों की संख्या ही कितनी हो सकती है? और उनमें स्थित प्राणियों की अपेक्षा भी उनमें मृतों की संख्या तो अति ही अल्प है। अपने को मिथ्या ही शास्त्रज्ञ मानने वाले अल्पज्ञ तो अनन्तरोक्त आक्षेप के भय से सायुज्या मुक्ति के अनन्तर भी मुक्त जीव का आगामी महाकल्पान्तर में पुनर्जन्म मान बैठे हैं ॥ ५६–६० ॥ तथा तीर्थ मृतों की मुक्ति के भी अनेक भेद हैं अर्थात् किसी २ तीर्थ में पाप से

पापमुक्तिर्मुक्तिरिति स्याता केषु स्थलेषु चित् ।
अथवा केषु चित् स्याता सालोक्या मुक्तिरुत्तमा ॥ ६१ ॥
केषु चिदेव सामीप्या सारूप्या केषुचित्स्मृता ।
नियम्यत्वं नियन्तृत्वं यावज्जीवेशयोः स्थितम् ॥ ६२ ॥
तावन्मुक्तिर्न सायुज्या इति वेदान्तनिर्णयः ।
स्वर्गादिलोकसालोक्यं सारूप्याद्याश्च मुक्तयः ॥ ६३ ॥
पुनरावृत्तिदाः काश्चित् काश्चिच्चावृत्तिदा अपि ।
इत्यादयो मुक्तिभेदा मुक्तिस्थानेषु सन्ति वै ॥ ६४ ॥
एतेषु मुक्तिस्थानेषु तारतम्याश्च मुक्तयः ।
शिवप्रसादो येष्वस्ति तेषां वृत्तिः पुनर्न हि ॥ ६५ ॥
अथवाऽप्यस्ति चेत्सापि काशीप्राप्तिकरा ध्रुवम् ।
काशीप्राप्त्यै वा मेवस्सा नोचेत्तत्रैव च क्रमात् ॥ ६६ ॥
हा ऊ गायन्स्वेच्छया ते परब्रह्मणि मोदिताः ।
सालोक्यसामीप्यमाप्ताः सारूप्या अपि ते क्रमात् ॥ ६७ ॥
समुत्पद्यन्ते च कामास्तेषां संकल्पमात्रजाः ।
चिरकालं तथा भुक्त्वा कामान्संकल्पमात्रजान् ॥ ६८ ॥
क्रमेण तेषु वैराग्यं प्राप्य कामेषु ते नराः ।
सर्वं तुच्छमिति ज्ञात्वा परे ब्रह्मणि संलयन् ॥ ६९ ॥
स्वयमात्माऽनुसंधानात्सायुज्यां मुक्तिमाप्नुयुः ।
तादृशी मुक्तिरत्रैव काश्यां सद्यो न संशयः ॥ ७० ॥
यथा स्थानविशेषेषु विविधा मुक्तिरीरिता ।
न तादृशी मुक्तिरत्र काश्यां मुक्तिर्विलक्षणा ॥ ७१ ॥

भाषा

छुटना मात्र रूपी मुक्ति होती है और किसी में 'सालोक्या' (स्वर्गादि लोकों में वास) किसी में 'सामीप्या' (शिव, विष्णु आदि के समीप वास) और किसी में 'सारूप्या', (शिव, विष्णु आदि तुल्य, शरीर, वेष, वाहन आदि का लाभ) मुक्ति होती हैं तथा इनमें से किसी २ मुक्ति के अनन्तर कभी २ किसी २ प्राणी को परमेश्वर के अनुग्रहानुसार वैराग्य होने से पुनर्जन्म नहीं होता और पुर्जन्म न होने ही को 'सायुज्या' मुक्ति और विदेह कैवल्य भी कहते हैं। तथा उक्त तीन मुक्तियों के अनन्तर जो पुनर्जन्म होता है उसमें भी परमेश्वर के अनुग्रहानुसार किसी २ प्राणी को काशीमरण से सायुज्या मुक्ति होती है क्योंकि नहीं, परन्तु अनुग्रह भी परमेश्वर का उन २ मुक्ति तीर्थों में मरण ही के अनुसार हुआ करता है। और वेदान्तवाक्यों के अनुसार, सायुज्या मुक्ति के स्वरूप का यह निर्णय है कि जीव में ईश्वर की पराधीनता का न रहना 'सायुज्या' मुक्ति है अर्थात् जब तक जीव की ईश्वर से अपनेमें भेद की बुद्धि नहीं हटती तब तक जीव ईश्वर के अधीन रहता है, इसी से इस दशा में 'सायुज्या' मुक्ति नहीं होती ॥६१—७१॥ और इसमें सन्देह नहीं है कि अन्यान्य मुक्तितीर्थों में मरण से वैसी मुक्ति होती

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
यस्मिन्याति लयं सर्वं तदेवात्रस्थजन्तवः ॥ ७२ ॥

तदात्मका भवन्त्येते इति वेदानुशासनम् ।
काश्यां कृताघजीवानां मुक्तौ भैरवयातना ॥ ७३ ॥

साऽपि क्षणायते शंभोस्तारकादेशहेतुतः ।
प्राणेषूत्क्रममाणेषु जन्तोरत्र सदाशिवः ॥ ७४ ॥

व्याचष्टे तारकमिति श्रुतिराह सनातनी ।
कोऽन्यथा कर्तुमीशस्तां भोगस्यावसरः कुतः ॥ ७५ ॥

पश्यत ब्राह्मणाः शम्भोः प्रसादोऽत्रास्ति कीदृशः ।
अवश्यमनुभोक्तव्या भैरवी यातना यदि ॥ ७६ ॥

भाषा

है काशीमरण से उसकी अपेक्षा विलक्षण अर्थात् सायुज्या मुक्ति होती है सो भी क्रम से नहीं किन्तु मरण के उपरान्त तुरत ही होती है अर्थात् यह वेदोक्त बात है कि जिस (परब्रह्म) से विश्व की उत्पत्ति होती है और जो विश्व में व्याप्त है अर्थात् जिससे तना हुआ विश्व खड़ा रहता है तथा विश्व अन्त में जिसमें लीन होता है, काशी के मृत प्राणी सब उसी में प्राप्त अर्थात् परब्रह्म रूपी होकर पुनः संसारचक्र में कदापि नहीं आते ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

केवल विशेष इतना है कि काशी में पाप कर उसका प्रायश्चित्त किये बिना काशी में मृत जीवों को भैरवयातना होती हैं किन्तु उसका समय (चाहे लोकदृष्टि में अधिक भी हो) परन्तु शम्भु-कृत तारकोपदेश के प्रताप से उस जीव को क्षण मात्र के तुल्य ही ज्ञात होता है क्योंकि *'अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति'* (यहाँ प्राणी [सर्व-साधारण मृत जीव] के प्राण निकलते समय सदाशिव, तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं जिससे वह प्राणी तत्त्वज्ञानी हो मोक्ष पाता है, यह सनातनी श्रुति (नित्य निर्दोष वेदवाक्य अर्थात् पूर्व ही उद्धृत जाबालोपनिषद्) ऐसा ही कहती है अर्थात् पुण्यात्मा वा पापात्मा और मनुष्य वा पशु आदि का विशेष न कर काशीमृत सब प्राणियों के लिए मृत्यु समय ही में तुल्य रूप से तारकोपदेश के होने को यह श्रुति, स्पष्ट ही कहती है और इस श्रुति के अर्थ में तिल मात्र भी इधर उधर के दुर्बल प्रमाणों के अनुसार खींच खाँच करने का सामर्थ्य किसको है ? किसी को नहीं, तो ऐसी दशा में काशीमरण के अनन्तर सालोक्यादि गौण मुक्तियों के सुख वा भैरवयातना रूपी दुःख के भोग का अवसर कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं, क्योंकि 'मोक्ष' शब्द का 'सायुज्या' मुक्ति ही मुख्य अर्थ है और सालोक्यादि मुक्तियाँ तो गर्भवास न होने मात्र से उसके तुल्य होने के कारण मुक्ति कही जाती हैं इसी से उक्त श्रुति में 'मोक्ष' शब्द से 'सायुज्या' मुक्ति ही का ग्रहण है तथा जब मरते समय जीव को भगवान् के श्रीमुख से तारकोपदेश हो चुका तब ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में क्या विलम्ब हो सकता है । हे ब्राह्मणों ! देखिए, काशी में शम्भु का यह कैसा अनुग्रह है ! ॥७४–७६॥

साऽपि तत्क्षण एवात्र जन्तोरुत्क्रमकालगा।
प्रदृश्यते मुक्तवत्सा मायया परमेशितुः॥ ७७॥
क्षणं युगायते जन्तोर्युगमर्द्धक्षणायते।
परेशमायया साऽपि लोकभीतिप्रदायिनी॥ ७८॥
धर्मलोपो यथा न स्यादस्मत्स्वेप्नप्रलापने।
तथा शिवानुग्रहात्सा यातनेति भयप्रदा॥ ७९॥
साऽस्तु वा माऽस्तु वा काश्यां केदारे नास्ति संशयः।
आज्ञा बलवती शम्भोः प्रत्यक्षा शास्त्रचोदिता॥ ८०॥

भाषा

यदि काशी के पापियों के लिए भैरवयातना अवश्य है तो वह भी मरण ही के क्षण में हो जाती है क्योंकि जैसे परमेश्वर की माया शक्ति से एक क्षण भी युग सा हो जाता है वैसे ही युग भी एक क्षण सा हो सकता है अर्थात् मरण ही के समय क्षणमात्र में भैरवी यातना समाप्त हो जाती है यहाँ तक कि उतने सूक्ष्म समय में वह जीव उस अपनी यातना के वर्त्तमान अवस्था का पूर्ण साक्षात्कार भी नहीं कर पाता कि मुझे यातना हो रही है किन्तु पश्चात् उसे स्मरण करता है सो उतनी यातना भी विभीषिका मात्र ही है न कि वास्तविक दण्ड और उसका वास्तविक प्रयोजन यह है कि काशीमरण से मोक्ष होने के बल से लोग धर्म छोड़ अधर्म ही अधिक करने न लग पड़ें तथा काशीमृतों के श्राद्धादि कर्म को न छोड़ बैठें जिससे कि धर्म का लोप हो जाय। तात्पर्य यह है कि पौराणिक वाक्यों और आख्यायिकाओं में भैरवी यातना के भयानक स्वरूप और अधिक समय का कथन, काशी में धर्मसम्प्रदाय के रक्षार्थ केवल विभीषिका मात्र है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त जाबाल श्रुति के अनन्तरोक्त अक्षरानुसारी और युक्तियुक्त तात्पर्य से विरोध पड़ने के कारण वे यातनावाक्य, सर्वथा अप्रमाण ही हो जायँगे तथा रुद्रपिशाच के उपद्रव और गयाश्राद्ध याचन आदि का ऐतिह्य (कहानी) भी उक्त पौराणिक यातनावाक्य अथवा शंका मात्र के अनुसारी होने से सर्वथा अप्रामाणिक ही हैं क्योंकि कहाँ उक्त जाबाल श्रुति और कहाँ यह ऐतिह्य ?" और यदि वह ऐतिह्य, प्रत्यक्षमूलक भी हो तो वह प्रत्यक्ष ही अलातचक्र (बरेठी का मण्डलाकार) के प्रत्यक्ष के समान केवल भ्रम ही है। अर्थात् काशी के पापी जो अन्यत्र मृत हों काशी में रुद्रपिशाच होते हैं (जैसा कि पूर्व ही कहा गया है) वे ही, काशीमृत अन्याय मनुष्यों के नाम से अपने को बतला कर उपद्रव करते होंगे क्योंकि प्रसिद्ध है कि चड़क्क और पिशाच की बातों का कुछ भी ठिकाना नहीं है। सो ऐसी क्षणिक भैरवयातना भी काशी के अन्य प्रदेशों में मृतकाशी के पापियों को हो वा न हो, परन्तु इस काशी केदारनाथ के अन्तर्गृह में मृत पापियों के विषय में तो यह अचल निश्चय है, उतनी सी भी भैरवी यातना नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष और शास्त्रोक्त श्रीशिव की आज्ञा बलवती है॥७७-८०॥
निदान जब कि अपने इतने बड़े ब्रह्माण्ड में श्री शिव की आज्ञा से सिद्ध मुक्ति क्षेत्र, समुद्र में एक परमाणु के तुल्य बहुत थोड़े से भी बहुत थोड़े हैं और उनमें भी कतिपय ही प्राणियों (जो वहाँ मरते हैं) की मुक्ति होती है तो इतने से ईश्वरसृष्टि में क्या हानि हो सकती है ! तथा यह वैदिक-

तस्माच्छिवक्षेत्रजातं कियद्ब्रह्माण्डमण्डले ।
अतिस्वल्पादतिस्वल्पं समुद्रे परमाणुवत् ॥ ८१ ॥
तत्रस्था जीवा मुक्ताश्चेत् सृष्टौ का हानिरीशितुः ।
ब्रह्मज्ञानेनैव मुक्तिर्नान्यथेति श्रुतेर्वचः ॥ ८२ ॥
सत्यमेव न सन्देहस्तादृग्ज्ञानं शिवाज्ञया ।
तत्क्षेत्रे संभवत्येव प्राणिनामुत्क्रमे ध्रुवम् ॥ ८३ ॥
शिवात्मब्रह्मविज्ञानान्मुक्तिर्युष्मत्सु संमतम् ।
तथैवास्मद्गुरुरपि क्षेत्रेषु श्रुतिसंमतम् ॥ ८४ ॥
ज्ञानप्राप्तिं प्राह शम्भोः प्रसादाच्छास्त्रसंमतम् ।
ब्रह्मज्ञानावाप्तिरपि मृतिरप्युत्तमस्थले ॥ ८५ ॥
विना शिवप्रसादेन कथं लभ्येत जीविभिः ।
तस्मादत्र तु संदेहो नैव कार्यो भवादृशैः ॥ ८६ ॥

अत्राधिकन्तु त्रिस्थलीसेतुमुद्धृत्य विचारयिष्यते—

एवम् काशीवाराणसीमहाश्मशानानन्दवनाविमुक्तानि पञ्च नामान्यपि क्षेत्रस्य लीला-

भाषा

वाक्य का अर्थ भी सत्य ही है कि ब्रह्मज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती परन्तु ब्रह्मज्ञान भी इस शिवक्षेत्र में मृतों को मरण ही के समय श्री शिवकृत तारकोपदेश से अवश्य ही होता है । ॥८१–८३॥

तथा हे ब्राह्मणो ! यह तो आप को संमत ही है कि 'शिवात्मक ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है' और मेरे गुरु (वेदव्यास भगवान् कृष्णद्वैपायन) यह कहते हैं कि 'मुक्तिक्षेत्र में मृत प्राणियों को श्री शिव के उपदेश से ब्रह्मज्ञान का लाभ, वेद के सम्मत है' तथा जैसे ब्रह्मज्ञान श्रवणादि के अनुष्ठानी सब ही को नहीं हुआ करता किन्तु उनमें से जिस पर शिवानुग्रह होता है उसी विरल पुरुष को होता है वैसे ही काशीक्षेत्र में 'मृत्यु भी शिवानुग्रह ही से होता है न कि काशीसेवन मात्र से अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होने के कारण जगत्सृष्टि में हानि नहीं हो सकती वैसे ही इस क्षेत्र में मृतों की मुक्ति से भी उक्त हानि नहीं हो सकती और काशी में अपनी भावी मृत्यु का निश्चय भी पुरुष को नहीं हो सकता क्योंकि उस प्रधान कारण शिवानुग्रह को श्री शिव ही जानते हैं इसी से काशी में पाप नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि काशी में पाप कर काशी से अन्यत्र मृत्यु हुई तो उसका परिणाम यमयातना से भी अति भयानक चिरस्थायिनी भैरवी यातना ही है । यह दूसरी बात है कि पूर्वोक्त काशीखण्ड के वाक्यानुसार, अन्यत्र मृत काशी के महापापी का भी भैरवयातना के अनन्तर काशी ही में जन्म और मृत्यु होकर मोक्ष होता है और जब ऐसा है तब इसमें तो कहना ही क्या है कि महापापी से अन्य काशीवासी यदि किसी दुर्भाग्य के वश अन्यत्र मरें तो तुरत ही काशी में जन्म और वहीं मरण भी उसका होता है । इसलिये अनन्तरोक्त विषय में आप ऐसों को कदापि सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ८४–८६ ॥ इति

अब यह निश्चित होता है कि श्री सुरेश्वराचार्य जी का व्याख्यान, इस वेदव्यास के व्याख्यान

त्रिप्कृतभगवन्मौतिकविग्रहत्वं द्रढयन्ति एतदर्थानां प्रमाणि समन्वयात् । तत्र काशीति नाम चिदुन्नसितसंविदादिपर्यायम् काशृदीप्ताविति धातोरनुगमात् । वाराणसीति च "वारयन्तीं वरणया छिन्दन्तीमसिधारये" त्यादिवाक्योपबृंहितेन जाबालादिश्रुतिप्रोक्तेन सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयति सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति इति निरुक्तेन दुःखनिवृत्त्युपलक्षितवस्तुवाचकम् । दुःखस्य पापमूलकतया तन्निवृत्त्यैव निवृत्त्यौचित्यात् । महाश्मशानपदं च यथा मरणे महानिद्राव्यवहारो मृतशरीरस्य पुनरनुत्थानाभिप्रायकस्तथैतच्छ्मशानलाभेन न पुनः श्मशानान्तरलाभप्रयोजकत्वोपलक्षितशरीरान्तरलाभ इत्यभिप्रायगर्भम् । तथा च भारते अनुशासनपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे (अ० १४१) महेश्वरवाक्यम्—

मेध्यान्वेषी महीं कृत्स्नां विचराम्यनिशं सदा ।
न च मेध्यतरं किंचिच्छ्मशानादिह लक्ष्यते ॥ १६ ॥

भाषा

मे भाग. मिलता है । इससे यह अच्छा है और ज्ञात होता है कि यह व्याख्यान उक्त आचार्य जी के दर्शन में नहीं आया था क्योंकि यदि आया होता तो इसको न उल्लेख कर जाबालश्रुति के अक्षरानुसार इतना विचारपरिश्रम यह न करते । तथा पूर्वोद्धृत पं० हरिकृष्ण पाठक का व्याख्यान तो तारकोपदेश समय के विषय में पूर्वोद्धृत *'मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि'* इस रामतापनी उपनिषद् के वाक्य तथा इस वेदव्यास के व्याख्यान से खण्डित ही हो जाता है, इसलिए वह आदर के योग्य नहीं है । मुझे पूर्वोक्त प्रमाण और व्याख्यान के अनुसार जो सूझ पड़ा उसको मैंने इस विषय में यहाँ तक लिख दिया परन्तु यह विषय बहुत ही सूक्ष्म और गम्भीर है इसलिये पण्डितों को चाहिये कि मेरे इस विचार मात्र पर सन्तोष न करें किन्तु स्वयं भी विचार करें । यहाँ थोड़ा विचार और अवशिष्ट है जो कि आगे चलकर उद्धृत त्रिस्थलीसेतु के अनन्तर किया जायगा ॥ इति ॥

श्रीकाशी, के (१) काशी (२) वाराणसी (३) महाश्मशान (४) आनन्दवन (५) अविमुक्त, ये पाँच शास्त्र और लोक में अनादि काल से विख्यात नाम भी यह बतलाते हैं कि यह काशीक्षेत्र परमेश्वर का एक भौतिक शरीर है क्योंकि इन नामों के अर्थ, परब्रह्म में घटते हैं । जैसे काशी कहते हैं 'प्रकाशरूप को' और वाराणसी शब्द का अर्थ पूर्वोक्त जाबालि उपनिषद् में कहा है कि "इन्द्रियकृत सब दोषों को वारण करती है इससे वरणा नदी है और इन्द्रियकृत सब पापों को नाश करती है इससे नासी है" तथा- *'वारयन्ती'* (श्री काशी वरणा नदी से पापों को वारण करती है) और असि (नदी रूपी खड्ग) की धार से पापों को काटती है) इत्यादि पुराणवाक्यों में भी कहा है क्योंकि 'वरणा' और 'असी' इन्हीं दोनों शब्दों से 'वाराणसी' यह नाम बना है । निदान वाराणसी शब्द पापमूलक दुःख की निवृत्ति से उपलक्ष्य वस्तु को कहता है । तथा 'महाश्मशान' शब्द इस अभिप्राय से गर्भित है कि जैसे मरण को इस कारण महानिद्रा कहते हैं कि निद्रा के अनन्तर शरीर जग जाता है किन्तु मरण के अनन्तर वह शरीर नहीं जगता वैसे ही अन्य श्मशान में दाह होने पर अन्य जन्म में उस जीव को पुनः दूसरा श्मशान मिलता है परन्तु इस काशी रूपी श्मशान के लाभ होने पर पुनः श्मशान नहीं मिलता क्योंकि जन्म ही नहीं होता, इसी से महाभारत अनुशासन पर्व उमामहेश्वर संवाद में यह श्री महेश्वर का वाक्य है कि *'मेध्यान्वेषी'* में सदा सब पृथिवी में पवित्र देश देखने

तेन मे सर्ववासानां श्मशाने रमते मनः ॥ इति ॥

अत्र नीलकण्ठः—पूर्वं मैत्रेयभिक्षायां वाराणस्यामज्ञातैर्मुमुक्षुभिर्वस्तव्यमिति व्यासवाक्येन सूचितम् । अग्रे च काश्यां शवदर्शनाच्छिवदर्शनं संवर्तवासेन सूच्यते । तत्राल्पया भिक्षया दत्तया मैत्रेयस्यानन्तपुण्योत्पत्तिवचनेन वाराणस्याः पुण्यक्षेत्रत्वमुक्तम् । अग्रे च काश्यां शवदर्शनाच्छिवदर्शनस्यान्यथासिद्धिसूचनेनात्र मृतानां शरीरं शिवलिङ्गमयं भवतीति चोक्तम् । संप्रति रूढ्या महाश्मशानत्वेनावगतमत्र पवित्रत्वेन तदेव प्रदर्श्यते। 'मेध्यान्वेषी' त्यादिना मेधायां धीवृत्तौ विदितं मेध्यं ब्रह्म तत्प्राप्तिकामैरिदं श्मशानमुपास्यत इति वचनान्नान्यच्छ्मशानं रुद्रावास इति ज्ञेयमिति । एवं वृक्षसमुदाये वनव्यवहारात् आनन्दवनमित्यपि परमानन्दरूपत्वेन भौमदिव्यहैरण्यगर्भान्तानेकविधिसकलानन्दसमष्टित्वाभिप्रायगर्भम् । अविमुक्तपदमपि सत्तायाः क्वचिदप्यसंबन्धाभावात्तत्समानार्थकमेवेति । एवं वाराणसी न पृथवीभागः । तथा च सौरपुराणे भगवान् सनत्कुमारः—

गच्छ वाराणसीं व्यास यत्र विश्वेश्वरः शिवः ।
न तत्र युगधर्मोऽस्ति न च लग्ना वसुंधरा ॥ इति ॥

पूर्वोद्धृतम् मार्कण्डेयपुराणे ८ अध्याये—

स गत्वा वसुधापालो दिव्यां वाराणसीं पुरीम् ।
नैषा मनुष्यभोग्येति शूलपाणेः परिग्रहः ॥ ४ ॥

भाषा

को भ्रमण करता हूँ परन्तु मुझे श्मशान की अपेक्षा कोई अन्य देश पवित्र नहीं देख पड़ता, इससे सब स्थानों की अपेक्षा श्मशान में मेरा मन प्रसन्न रहता है । इस श्लोक का तात्पर्य 'भारतभावदीप' में नीलकण्ठ चतुर्द्धर ने यह कहा है कि अनादि काल से काशी का नाम "महाश्मशान" प्रसिद्ध है और श्मशान देश का अपवित्र होना भी शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध है, इस कारण श्मशान में परमेश्वर का वास नहीं हो सकता । तथा काशी का पवित्र होना भी वेदशास्त्र लोक में विख्यात है । और काशी का शिवपुरी होना भी अनादि काल से जगत् में विख्यात है । इन सब कारणों से इस श्लोक में 'श्मशान' शब्द का काशी ही अर्थ है । इति ।

वृक्ष के समुदाय को वन कहते हैं । इससे इस काशी का नाम 'आनन्दवन' है क्योंकि मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्द तक जितने आनन्द हैं सबका समुदाय परमानन्दरूपी परब्रह्म की यह काशी भौतिक मूर्ति है 'अविमुक्त' नाम भी व्यापक का है ।

और काशी इस पृथिवी में नहीं है किन्तु इससे अलग है । इसमें प्रमाण ये हैं कि 'गच्छ' भगवान सनत्कुमार ने कहा है कि हे व्यास ! वाराणसी को जाओ । जहाँ विश्वेश्वर शिव हैं । वहाँ युगों का प्रभाव नहीं है और न काशीपुरी से पृथिवी लगी है । अर्थात् काशीपुरी के चारों ओर एक सूक्ष्म छिद्ररूपी रेखा पाताल पर्यन्त है । जिस कारण काशीक्षेत्र पृथिवी से सम्बन्ध नहीं रखता । तथा—

"स गत्वा" राजा हरिश्चन्द्र ने यह विचार किया कि काशीपुरी पृथिवी में नहीं है और शूलपाणि (श्री शिव जी) का परिग्रह (राज्य) है, इस कारण मनुष्य अर्थात् मेरे भोग के योग्य नहीं है ।

त्रिस्थलीसेतौ नारायणभट्टो विशेषमाह—

इह च मरणे कालकृतोऽपि विशेषो नास्ति—

उत्तरं दक्षिणं चापि अयने न विचारयेत्।
सर्वोऽप्यस्य शुभः कालो ह्यविमुक्ते म्रियेत यः॥

इति काशीखण्डात्। नाप्यत्र देशविशेषापेक्षा—

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चाण्डालवेश्मन्यथवा श्मशाने।
कृतप्रयत्नोऽप्यकृतप्रयत्नो देहावसाने लभतेऽत्र मोक्षम्॥
इति हि सनत्कुमारसंहितायाम्।

तथा—मेदो महीं व्याप्य पुरा समस्तामदूषयन्नात्र शिवाज्ञयैव।
तस्मान्मही शुद्धिरितोऽन्यदेशे क्षेत्रेऽत्र दोषेऽपि पवित्रमेव॥

पाद्मे—भूमौ जलेऽन्तरिक्षे वा यत्र क्वापि मृतो द्विजः।
ब्रह्मात्मैकत्वमाप्नोति काशीशक्तिरुपाहिता॥

नाप्यत्र दुर्मरणादिदोषः—सूच्यग्रमात्रमपि नास्ति ममाऽस्पदेऽस्मिन्
स्थानं सुरेश्वरि मृतस्य न यत्र मुक्तिः।

भाषा

इसी कारण मैंने जो कुछ दान (विश्वामित्र को) दिया उसमें यह पुरी अन्तर्गत नहीं है। इसलिए यही पुरी मेरे वासयोग्य है (और ऐसा विचार कर अयोध्या से काशी गये)।

अब नारायणभट्टकृत 'त्रिस्थलीसेतु' नामक ग्रन्थ के 'काशीसेतु' नामक प्रकरण के उपयोगी भाग उद्धृत किए जाते हैं—

काशीमरण में काल का कोई विशेष नहीं है जैसा कि काशीखण्ड में कहा है कि—

"उत्तरं दक्षिणं" काशी में उत्तरायण और दक्षिणायन का विचार न करे क्योंकि जो काशी में मरे उसके लिए सब काल उत्तम ही है। तथा काशीमरण में प्रदेश की पवित्रता की भी अपेक्षा नहीं है जैसा कि सनत्कुमारसंहिता में कहा है कि "रथ्या" गलियों में मूत्र वा मल में अथवा चाण्डाल के गृह में किंवा श्मशान में इस काशीपुरी के बीच में जहाँ मरे वहाँ मोक्ष पाता है।

"मेदो महीं" दैत्यों ने मेदस् (चर्बी) से सब पृथिवी को अपवित्र कर दिया परन्तु श्री शिव जी की आज्ञा से काशी में नहीं अपवित्र किया, इसी से अन्य देशों में पृथिवी की शुद्धि अपेक्षित है और काशी में तो दूषित प्रदेश भी पवित्र ही हैं। तथा पद्मपुराण में कहा है कि—

'भूमौ' भूमि, जल और आकाश में जहां कहीं मरे परन्तु अवश्य ही वह परब्रह्म रूपी हो जाता है; क्योंकि भूमि, जल और आकाश भी यहां का काशी ही है। तथा यहां दुर्मरण (दुष्ट रीति से मरण) आदि का भी कोई दोष नहीं है। और भी कहा है—

"सूच्यग्र" श्री शिव जी ने कहा कि हे सुरेश्वरि! मेरे इस पाताल से सत्यलोक पर्यन्त पाँच कोश के मण्डलरूपी स्थान की भूमि, जल और आकाश में मलमूत्र आदि से अपवित्र सूची (सुई)

भूमौ जले वियति वाऽशुचि मध्यतो वा
सूर्याभिदस्युपविभिर्निहतस्य जन्तोः ॥

इति पाद्मात् । इदं च दुर्मरणमात्रोपलक्षणम् । आत्महत्यारूपदुर्मरणं त्वत्र न कार्यम् ।

कालेनोपरता यान्ति शिवसायुज्यमुत्तमम्

इति मात्स्यात् ।

त्यक्तासुरत्र स्वयमेव काले मामेव भक्तः प्रविशेद्विशङ्कः

इति सनत्कुमारसंहितोक्तेश्च । प्रायोपवेशनाग्निप्रवेशयोस्तु दोपाभावः ।

तदुक्तं मात्स्ये—अग्निप्रवेशं ये कुर्युरविमुक्ते विधानतः ।
प्रविशन्ति मुखं ते मे निःसन्दिग्धं वरानने ॥
तथा—कुर्वन्त्यनशनं ये तु मद्भक्ताः कृतनिश्चयाः ।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ इति ।
यच्च काशीखण्डे—दुष्कृतानि विधायेह बहिः पञ्चत्वमागताः ।
तेषां गतिं प्रवक्ष्यामि शृणुत द्विजसत्तमाः ॥
यामाख्या ये गणाः सन्ति घोरा विकृतमूर्तयः ।
मूषायां ते धमन्त्यादौ चेत्रदुष्कृतकारिणः ॥

भाषा

के अग्र मात्र भी कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जिसमें सर्प, अग्नि, डाकू, बिजली आदि दुष्ट मृत्यु से भी मरे हुए किसी प्राणी को मोक्ष न हो ।

आत्मघात रूपी दुर्मरण तो यहाँ नहीं करना चाहिए क्योंकि मत्स्यपुराण में *'कालेनो'* अपने समय से काशी में मरे हुए मनुष्य शिव रूपी होते हैं । तथा सनत्कुमारसंहिता में—

'त्यक्तासुरत्र' काशी में समय पर आप से आप मृत प्राणी निःशंक मुझमें प्रवेश कर जाता है, ऐसा कहा है । किन्तु अनशन (मरणपर्यन्त उपवास व्रत) और अग्निप्रवेश से यहाँ भी आत्मघात करने में दोष नहीं है जैसा कि मत्स्यपुराण में कहा है कि—

'अग्निप्रवेशं' हे वरानने ! काशी में जो लोग विधानपूर्वक अग्निप्रवेश करते हैं वे निःसन्देह मेरे मुख में प्रवेश करते हैं । और जो मेरे भक्त निश्चय से अनशन करते हैं वे पुनः कदापि जन्म नहीं पाते । और काशीखण्ड में जो कहा है कि—

''दुष्कृतानि'' हे द्विजसत्तम ! काशी में पाप कर जो मनुष्य दैववश काशी से बाहर मरते हैं उनको भयानक और विकृत मूर्ति 'याम' नामकगण मूषायंत्र में प्रथम जलाते हैं, तदनन्तर कालभैरव की रुद्रपिशाच यातना होती है, तदनन्तर *'अथ संचीर्ण'* कालभैरव के दर्शन से उनके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा काशी ही में जन्म पाकर और काशी में मर कर मेरी (श्री शिव की) आज्ञा से मोक्ष पाते हैं । वह तो काशी में पाप कर अन्यत्र मरे हुए विशेष पापी के विषय में है न कि काशी में मृत के विषय में । इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि विशेष पाप से रहित काशीवासी यदि दैववश काशी से अन्यत्र मरें तो तुरन्त ही उनका काशी में जन्म और मरण होता है ।

इत्यादिना विविधपापमगणकृतपातनानन्तरं रुद्रपिशाचता कालभैरवकृता। अनन्तरं काश्यामेव देहग्रहणपूर्वकं तेषां मुक्तिर्भवतीति प्रतिपादितम्—

अथ संक्षीणपापास्ते कालभैरवदर्शनात् ।
इहैव देहिनो भूत्वा मुच्यन्ते ते ममाज्ञया ॥

इत्यन्तेन, तत् काश्यां पापं कृत्वाऽन्यत्र मृतपापिविशेषविषयम् इति। अथ काश्यादि-क्षेत्रपरिमाणम्—

तत्र पाद्मे पातालखण्डे—परिमाणं च वक्ष्यामि तन्निबोधत सत्तमाः ।
मध्यमेश्वरमारभ्य यावद्देहलिविघ्नपम् ॥
सूत्रं संस्थाप्य तद्दिक्षु भ्रामयेन्मण्डलाकृति ।
तत्र या जायते रेखा तन्मध्ये क्षेत्रमुत्तमम् ॥
काशीति यद्विदुर्वेदास्तत्र मुक्तिः प्रतिष्ठिता ।
काश्यन्तपरमं क्षेत्रं विशेषफलसाधनम् ॥
वाराणसीति विख्यातं तन्मानं निगदामि वः ।
दक्षिणोत्तरयोर्नद्योर्वरणास्यौ च पूर्वतः ॥
जाह्नवी पश्चिमे चापि पाशपाणिर्गणेश्वरः ।
तस्यान्तर्गत् स्थितं दिव्यं विशेषफलसाधनम् ॥
अविमुक्तमिति ख्यातं तन्मानं च ब्रवीमि वः ।
विश्वेश्वराच्चतुर्दिक्षु धनुश्शतयुगोन्मितम् ॥
अविमुक्तमिदं क्षेत्रं मुक्तिस्तत्र न संशयः ।
गोकर्णेशः पश्चिमे पूर्वतश्च गंगामध्यं उत्तरे भारभूतः ।
ब्रह्मेशानो दक्षिणे संप्रदिष्टस्तत्तु प्रोक्तं भवनं विश्वभर्तुः ॥

भाषा

पद्मपुराण के पातालखण्ड में श्री काशीक्षेत्र के भीतर और भी तीन क्षेत्र कहे गये हैं और इन चारों क्षेत्रों का पृथक् पृथक् परिमाण भी कहा गया है कि—

"परिमाणञ्च" मध्यमेश्वर नामक प्रसिद्ध शिवलिङ्ग से एक सूत देहली विनायक तक तान कर उसका मण्डलाकार चारों दिशाओं में भ्रमण कराया जाय तो उस मण्डल के क्षेत्र को (काशी) कहते हैं जो वेद में भी कहा है और जहाँ मुक्ति सहज ही मिलती है।

उसके भीतर वाराणसी क्षेत्र है। जिसके चार अवधि ये हैं–पूर्व गंगा का वह अर्ध भाग जो पार की ओर है, पश्चिम पाशपाणि गणेश, दक्षिण अस्सी नदी, उत्तर वरणा नदी। वाराणसी के भीतर 'अविमुक्त' नामक क्षेत्र है। श्री विश्वनाथ से चारों दिशाओं में दो २ सौ धनुष इस क्षेत्र का परिमाण है। अविमुक्त के भीतर (अन्तर्गृह) नामक क्षेत्र है जिसके चारों अवधि ये हैं कि पश्चिम गोकर्णेश्वर, पूरब आधी गंगा, उत्तर भारभूतेश्वर, दक्षिण ब्रह्मेश्वर। और ब्रह्मपुराण में रुद्र के प्रति श्री ब्रह्मदेव ने काशीक्षेत्र को कहा है कि—

विश्वभर्तुर्भवनमन्तर्गृहम्, ततश्च काशीवाराणस्यविमुक्तानामन्तर्गृहाख्यानां चतुर्णां क्षेत्राणामुत्तरोत्तरम् पूर्वपूर्वान्तरवर्त्ति पूर्वपूर्वापेक्षया न्यूनपरिमाणं चेति संपण्डितार्थः। तथा ब्रह्मपुराणे रुद्रं प्रति ब्रह्मा काशीक्षेत्रमाह—

पञ्चक्रोशप्रमाणं तु क्षेत्रं दत्तं मया तव।
क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गा गमिष्यति सरित्पतिम् ॥
तेन सा महती पुण्या पुरी रुद्र भविष्यति।
पुण्या चोदङ्मुखी गङ्गा प्राची वाऽपि सरस्वती ॥
उदङ्मुखी योजने द्वे गच्छती जाह्नवी नदी।

मध्यमेश्वरात्सर्वदिक्षु पञ्चक्रोशप्रमाणमित्यर्थः। यत्तु ब्रह्मवैवर्ते कामकलावचः—

अहो! महालिङ्गमयं जनार्दनं पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम्।
अत्रायतं योजनपञ्चकात्मकं विस्तारिगव्यूतियुगं तु सार्धम् ॥

अत्र योजनं क्रोशस्तेन समं ततः पञ्चक्रोशतेति न विरोधः। वाराणसीक्षेत्रं तु वरणास्यावन्तरा। तदुक्तं कौर्मे—

"वरणायास्तथैवास्या मध्ये वाराणसी पुरी"।

काशीक्षेत्राद्बहिः समन्ताद्योजनं स्वर्गभूमिस्तत्र मृताः स्वर्गभाजः। यद्यपि च क्षेत्रमात्रे तारकोपदेशादविशेषेण मुक्तिः श्रूयते, तथापि क्षेत्रविभागवशात्तारतम्यम् तदुक्तं पाद्मे—

चतुर्धा वितते क्षेत्रे सर्वत्र भगवाञ्शिवः।
व्याचष्टे तारकं वाक्यं ब्रह्मात्मैक्यप्रबोधकम् ॥
तथापि तत्तत्सामर्थ्यात्तत्र तत्र मृतस्य हि।
भोगपूर्वापवर्गाप्तिर्जीवन्मुक्तिदशैव सा ॥
अन्तर्गेहे विपन्नस्तु साक्षात्कैवल्यमाप्नुयात्।
चतुर्विधेऽपि क्षेत्रेऽस्मिन् प्रमीतो गर्भयातनाम् ॥
नैवाप्नोति मुनिश्रेष्ठा विशेषोऽयं ब्रवीमि वः।

भाषा

'पञ्चक्रोश' हे रुद्र! मध्यमेश्वर से सब दिशाओं में पांच कोश का क्षेत्र मैंने आपको दिया है और जब इस क्षेत्र के बीच से होती हुई गङ्गा समुद्र को जायँगी तब यह पुरी और भी बड़ी पुण्या हो जायगी और काशीक्षेत्र से बाहर चारों दिशाओं में चार चार कोश तक स्वर्गभूमि है. वहां के मरने वाले स्वर्ग पाते हैं। यद्यपि इन चारों क्षेत्रों में से किसी में कोई प्राणी मरे उसको भगवान् श्री शिव जी तारक का उपदेश तुल्य ही करते हैं तथापि प्रत्येक तीर्थों के प्रभाव से वहाँ वहाँ के मरने वाले को जीवन्मुक्ति की दशा में रहकर सुखभोग के अनन्तर विदेहमोक्ष मिलता है परन्तु अन्तर्गृह में मृत प्राणी को यदि रुद्रपिशाच न होना पड़े तो तुरत ही विदेहमोक्ष मिलता है। यह बात—

"चतुर्धा वितते" इत्यादि पद्मपुराण के ढाई श्लोकों में लिखी है और पद्मपुराण ही में इसका स्पष्ट विवरण भी यह किया है कि—*"चतुर्विधेऽपि"* हे मुनिश्रेष्ठ! इस चार प्रकार के क्षेत्र में मृत प्राणी

काश्यां मृतस्तु सालोक्यं साक्षात्प्राप्नोति सत्तमः ॥
ततः सरूपतां याति ततः सांनिध्यमश्नुते ।
ततो ब्रह्मैकतां याति न परावर्तते पुनः ॥
वाराणस्यां मृतो जन्तुः साक्षात्सारूप्यमश्नुते ।
ततः सांनिध्यमायाति ततो ब्रह्मैकतामियात् ॥
अविमुक्ते विपन्नस्तु साक्षात्सांनिध्यमाप्नुयात् ।
ततश्चिदानन्दमये ब्रह्मण्येव विलीयते ॥
सलोकतां च सारूप्यं सांनिध्यं चापि सत्तमः ।
कल्पं कल्पमवाप्नोति ततो ब्रह्मात्मको भवेदिति ॥

अत्र चेदमवधेयम् पूर्वोद्धृतजाबालश्रुत्योरविमुक्तवाराणसीशब्दौ तथाविधरामतापनीयश्रुतौ च काश्यविमुक्तशब्दौ प्रत्यक्षमुपात्तौ । एवं च काशी वाराणस्यविमुक्तानां त्रयाणां क्षेत्राणां विशेषाभिधानमत्र त्रिस्थलीसेतूद्धृते पाद्मे श्रुत्यनुसारित्वात् अस्तु निरामयम् । अस्तु च 'वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित' इत्युक्तजाबालश्रुतिरपि । वाराणसीमध्यगतस्यापि अविमुक्तस्य गृहपीठन्यायेनोक्तनदीद्वयान्तरालवर्तित्वाविरोधादुपपन्नतरा ।

भाषा

गर्भवास के दुःख को नहीं पाता यह अवश्य है किन्तु, विशेष यह है कि अन्तर्गृह से अन्य तीन उक्त क्षेत्रों में मृत प्राणी एक एक कल्प (ब्रह्मा का दिन) तक सालोक्य (शिवलोक में वास) सारूप्य (शिव के तुल्य रूप) और सांनिध्य (शिव के समीप ही में वास) हो कर तब विदेह मोक्ष पाता है अर्थात् काशी में मृत को सालोक्य, सारूप्य और सांनिध्य तीनों होते हैं । और वाराणसी में मृत को सारूप्य और सांनिध्य तथा अविमुक्त में मृत को सांनिध्य होता है । तदनन्तर तीनों को विदेहमुक्ति होती है । यहाँ तक त्रिस्थलीसेतु के भाग उद्धृत हो चुके । अब इस त्रिस्थलीसेतु के विषय में यह विचारणीय है कि इस काशी प्रकरण के आदि में उद्धृत जाबाल उपनिषद् की *'अंबृहस्पतिः'* इस प्रथम श्रुति में अविमुक्त और *'अथैनमत्रिः'* इस द्वितीय श्रुति में वाराणसी तथा *'अथ तं'* इस रामतापनी उपनिषद् में काशी कही है । इस रीति से ये तीन क्षेत्र श्रुतिमूलक हैं । और विश्वेश्वर का अन्तर्गृह रूपी चतुर्थक्षेत्र यद्यपि इन श्रुतियों में पठित नहीं है तथापि अनन्तरोक्त पद्मपुराण के अनुसार अनुमान होता है कि इसका मूल भी वेद है । इससे यह भी प्रामाणिक है और इसमें भी कुछ संदेह नहीं है कि उक्त उपनिषदों के अनुसार इन प्रत्येक क्षेत्रों में मृतों को पुनः गर्भवास तारकोपदेश के कारण नहीं होता और सायुज्य मुक्ति इस क्षेत्र में मृत सम्पूर्ण प्राणियों को होती है । तथा इन क्षेत्रों के अन्योन्य में यह विशेष भी है कि बहिरङ्ग क्षेत्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग क्षेत्र में किए हुए पुण्य और पाप कर्म का फल अधिक होता है । परन्तु, *''काश्यां मृतस्तु सालोक्यं''* इत्यादि पद्मपुराण के अनुसार अनन्तरोक्त त्रिस्थलीसेतु में जो अविमुक्त आदि तीन क्षेत्रों में मृतप्राणियों के विषय में सायुज्य मुक्ति से पूर्व सुख भोग रूपी सालोक्यादि मुक्ति कही हैं, उनका संभव नहीं हो सकता क्योंकि काशीमृत्यु और सायुज्य मुक्ति के मध्य में यदि कुछ व्यवधान (विलम्ब) स्वीकार किया जाय तो पूर्वोद्धृत जाबाल

विश्वेश्वरान्तर्गृहन्तु यद्यपि नोक्तश्रुतिषु प्रत्यक्षपठितं, तथाप्यप्रतिषिद्धमनुमतमिति न्यायात् एकदेशानुमितेः एतत्पाद्मस्मृत्यनुमितवेदवाक्यमूलकत्वाच्च तदपि भवतु नाम प्रामाणिकं, भवतु चैषां चतुर्णामपि क्षेत्राणां विभागो मोक्षान्यप्रातिस्विकदृष्टानुश्रविकपुण्यपापानुष्ठानानुरूपेष्टानिष्टतत्तत्फलप्रदानसमुन्नीतं तेषां तारतम्यमुपगम्य सम्यक्चरितार्थितः क्षेत्राणामितरेतरान्तर्बहिर्भावानुसारात् 'क्षेत्रेऽस्मिन्योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव। ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युद्धृतरामतापनीयोक्त्न्यायाच्च। व्याप्नोतु चाद्ये जाबालवाक्येऽविमुक्तमात्रे श्रुतोऽपि तारकोपदेशो 'वरणायां नास्यां च मध्य' इति तद्द्वितीयवाक्यानुसारादविमुक्तबहिर्भूतं वाराणसीभागमपि विसिन्वन् 'श्रीरामस्य मनुं काश्यां' 'क्षेत्रेऽत्र तत्र देवेश यत्र कुत्रापि' इत्युक्तरामतापनीयवाक्यस्वरसाद्वाराणसीबाह्यान् काशीभागानपि अपेक्षतां च निर्विशेषमेवैतानि क्षेत्राणि मरणानुबन्धिनी गर्भवासयातनात्यन्तनिवृत्तिः संपद्यतां च सायुज्यमुक्तिः काशीमृतपूर्णवत्प्राणिसाधारणी परन्तु काशीमृतमात्रस्य सायुज्यमुक्तौ विलम्बासंम्भवादेतत्पाद्मोक्तं त्रिस्थलीसेतुसम्मतं सालोक्यादिमुक्तिक्रमतारतम्यं न मनागपि मनसि निविशते। तथा सति श्रौताक्षरानुसारिणा स्मार्तेन पूर्वोक्तेन श्रीवेदव्यासव्याख्यानेन विरोधस्य दुरुद्धरत्वात्। तस्मात् यथा पूर्वोक्तश्रीवेदव्यासव्याख्यानात्पौराणिकानि भैरवयातनावाक्यानि काशीधर्मसम्प्रदायलोपवारणैकार्थविभीषिकामात्रपराणि तथैव पाद्मीयानीमानि मुक्तिक्रमतारतम्यवाक्यान्यपि सायुज्यमुक्तेरलौकिकत्वात्तद्विरक्तभोगानुरक्तलौकिकजनश्रद्धोपरमनिवारणैकप्रयोजनप्ररोचनामात्रपराण्येवेति नैषां प्रामाण्यानुपपत्तिः। एवं पूर्वोक्तं काशीकेदारेश्वरान्तर्गृहक्षेत्रमेषां पञ्चमम् पूर्वोद्धृतकाशीकेदारमाहात्म्यवाक्यपूरादिति—

एवं महाभारते अश्वमेधपर्वणि संवर्त्तमरुत्तीये ६ अध्याये—

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो मरुत्तस्तु नारदेन महर्षिणा।
विप्रलम्भमुपाध्यायात्सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

भाषा

उपनिषद् के अक्षरों और उसके अनुसारी श्री वेदव्यास के पूर्वोक्त व्याख्यान के साथ विरोध होने से *'काश्यां मृतस्तु सालोक्यं'* इत्यादि पद्मपुराण अप्रमाण ही हो जायगा, इसलिए यही निर्णय है कि जैसे श्री वेदव्यास के उक्त व्याख्यानानुसार भैरव यातना के पौराणिक वाक्य काशी में धर्मसम्प्रदाय के रक्षणार्थ विभीषिका (डरवाना) मात्र ही है। वैसे ही *''काश्यां मृतस्तु सालोक्यं''* इत्यादि अनन्तरोक्त पद्मपुराण के वाक्य भी अलौकिक ब्रह्मानन्द रूपी सायुज्या मुक्ति में विषयानन्द (सुखभोग) के लोलुपजीवों की अश्रद्धा के निवारणार्थ केवल प्ररोचना मात्र ही हैं। और जैसे उक्त चार तीर्थ हैं वैसे काशीकेदारमाहात्म्य के पूर्वोक्त वाक्यानुसार केदारनाथ का अन्तर्गृह भी पांचवाँ क्षेत्र है। इति।

ऐसे ही महाभारत अश्वमेधपर्व के 'संवर्त मरुत्तीय' प्रकरण ६ अध्याय में यह कहा है कि 'एवमुक्तो'०—हे राजन् (जनमेजय)! नारद महर्षि के ऐसे वाक्यों को सुन कर राजा मरुत्त ने अपने उपाध्याय (बृहस्पति) से जो धोखा पाया था सब कह दिया कि ॥ १४ ॥ *''गतो''* में अंगिरा के पुत्र देवताओं के आचार्य बृहस्पति के समीप यज्ञ के लिए गया था, परन्तु उन्होंने यज्ञ कराना

मरुत्त उ०—गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्यं बृहस्पतिम् ।
यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत ॥ १५ ॥
प्रत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितुं नाद्य कामये ।
परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद ॥ १६ ॥
वैश० उ०—एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह ।
आविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव ॥ १७ ॥
नारद उवाच—राजन्नङ्गिरसः पुत्रः संवर्तो नाम धार्मिकः ।
चंक्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन् प्रजाः ॥ १८ ॥
तं गच्छ यदि याज्यं त्वां न वाञ्छति बृहस्पतिः ।
प्रसन्नस्त्वां महातेजाः संवर्तो याजयिष्यति ॥ १९ ॥
मरु० उ०—संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद ।
पश्येयं क्व नु संवर्तं शंस मे वदतां वर ॥ २० ॥
कथं च तस्मै वर्तेयं कथं मां न परित्यजेत् ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥
नारद उ०—उन्मत्तवेषं बिभ्रत्स चङ्क्रमीति यथा सुखम् ।
वाराणस्यां महाराज दर्शनेप्सुर्महेश्वरम् ॥ २२ ॥
तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथाः कुणपं क्वचित् ।
तं दृष्ट्वा यो निवर्तेत स संवर्तो महीपते ॥ २३ ॥

भाषा

स्वीकार नहीं किया ॥ १५ ॥ हे नारद ! ऐसा अनादर और परित्याग अपने गुरु से पाकर अब मैं जीना नहीं चाहता ॥ १६ ॥ 'वैशम्पा०'—हे महाराज ! ऐसा सुन कर नारद महर्षि ने अपने वाक्यों से मानो मरुत्त को जिला लिया अर्थात् यह कहा कि ॥१७॥ हे राजन् (मरुत्त) ! यदि आप को बृहस्पति यज्ञ नहीं कराते तो आप संवर्त के समीप जाइये । वह अङ्गिरा ही के छोटे पुत्र बृहस्पति के कनिष्ठ भ्राता हैं और मग्न हो कर अवधूत के वेष में स्वतंत्र दिशाओं में विहार करते रहते हैं, वह बड़े तेजस्वी हैं, और प्रसन्न हो कर आप का यज्ञ करावेंगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ मरुत्त ने कहा, हे नारद ! आप के इस वाक्य से मैं जी गया । आप यह बताइए कि मैं कहाँ संवर्त का दर्शन पाऊँ और उनके साथ कैसा बर्ताव करूँ जिससे कि वे मुझे परित्याग न करें क्योंकि यदि वे भी मुझे परित्याग देंगे तो मैं न जीऊँगा ॥ २० ॥ २१ ॥ नारद ने कहा कि वह उन्मत्त वेष धारण किए अपनी इच्छा से भ्रमण किया करते हैं । वह प्रतिदिन किसी समय वाराणसी में जाकर श्री शिव जी का दर्शन करते हैं । आप वाराणसी जाकर एक नवीन कुणप (मुर्दा) वाराणसी के द्वार पर रखवा दीजिये । वाराणसी में जाने वाला जो पुरुष उस कुणप को देख कर बाहर पलट जाय वही संवर्त है ॥ २२ ॥ २३ ॥ जहाँ वह जावें उनके पीछे आप चले आइये और एकान्त में 'अञ्जलि' को बाँध अपनी इस प्रार्थना को उनसे कहिए और यदि आप से पूछें कि मुझे किसने तुम्हें बतलाया,

तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत्स वीर्यवान् ।
तमेकान्ते समासाद्य प्राञ्जलिः शरणं व्रजेः ॥ २४ ॥
पृच्छेच्चां यदि केनाहं तवाख्यातं इति स्म ह ।
ब्रूयास्त्वं नारदेनेति संवर्तः कथितोऽसि मे ॥ २५ ॥
स च त्वामनुयुञ्जीत ममानुगमनेच्छया ।
शंसेथा वह्निमारूढं मामपि त्वमशङ्कया ॥ २६ ॥
व्यास उवाच०—स तथेति प्रतिश्रुत्य पूजयित्वा च नारदम् ।
अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम् ॥ २७ ॥
तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्य्यां द्वारे महायशाः ।
कुणपं स्थापयामास नारदस्य वचस्स्मरन् ॥ २८ ॥
यौगपद्येन विप्रश्च पुरीद्वारमुपाविशत् ।
ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा संन्यवर्तत ॥ २९ ॥
स तं निवृत्तमालोक्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
आविविक्तो महीपालः संवर्तमुपशिक्षितुम् ॥ ३० ॥
स च तं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्दमेन च ।
श्लेष्मणा चैव राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत् ॥ ३१ ॥
स तथा बाध्यमानोऽपि संवर्तेन महीपतिः ।
अन्वगादेव तमृषिं प्राञ्जलिः संप्रसादयन् ॥ ३२ ॥
ततो निवृत्य संवर्तः परिश्रान्त उपाविशत् ।
शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं बहुशाखिनम् ॥ ३३ ॥ इति

अत्र भारतभावदीपे नीलकण्ठचतुर्द्धरः ।

उन्मत्तवेशमिति । अत्र कुणपदर्शनेन महेश्वरदर्शनसिद्धिं दर्शयता कुणपस्य महेश्वर

भाषा

तो मेरा नाम लेना और यदि आप से मेरे समीप आने के लिए मुझे पूछें तो आप निःसंदेह यह कहियेगा कि नारद अग्निप्रवेश कर गये ॥ २४—२६ ॥

राजा मरुत्त श्री नारद को प्रणाम करके वाराणसी पुरी में आये और उसके द्वार पर कुणप का स्थापन कराया । इतने में एक ब्राह्मण बड़े वेग से आकर वाराणसी के द्वार में प्रविष्ट हुआ और उस कुणप को देख कर उसी वेग से पीछे को पलटा । राजा उसे देख कर उसके पीछे अंजलि बाँध कर चले ॥ २७—३० ॥ कुछ दूर जाकर उस ब्राह्मण ने राजा को अकेले देखकर धूलि फेंकी, पुनः कर्दम (कीच) फेंका, पुनः श्लेष्मा (खँखार) फेंका और राजा के ऊपर थूक भी दिया ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अनेक उपद्रव करने पर भी राजा ने उन ऋषि का पीछा न छोड़ा ॥३२॥ तदनन्तर जब संवर्त चलते चलते थक गये तब एक वट वृक्ष की शीतल छाया में बैठे । यहाँ 'भारतभावदीप' में ३२ और ३३ श्लोकों के ऊपर नीलकण्ठ चतुर्द्धर ने यह भाव कहा है कि यहाँ कुणप के देखने से श्री शिव

प्रतिमात्वं सूचितम् तथा च अविमुक्तम्प्रकृत्य "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवतीति श्रुत्या सिद्धः कुणपाभिमानिनो जीवस्य ब्रह्मभावोऽपूर्वो ज्ञापितः । एवं चोपरिधारणविधिवद्विधिरेवायमित्युपपादितमुत्तरयायते ॥ २२ ॥ इति ॥

अत एवेदानीं यावदपि काशीकुणपे दृष्टमात्रे तं नमस्यन्ति महादेवेति च संबोधयन्ति देवयात्रानिष्ठाश्च करस्थेन पुष्पगङ्गाजलादिना पूजासम्भारेण सहाभिद्रुत्य पूजयन्ति चेति शिष्टाचारो जागर्त्येव ।

किंच न खलु काशीमृतानामशेषप्राणिनां सद्यः सायुज्यमुक्तिरित्येतावानेव काश्या अनन्यसाधारणो महिमा अपि तु श्रीमान् भगवान् नारायणः श्रीविश्वनाथार्चनाय प्रत्यहं काशीमायातीत्यपि । तथा च ध्रुवं प्रति स्वयमेव भगवान्—

वैकुण्ठनगरात् काशीं नित्यं विश्वेशमर्चितुम् ।
अहमायामि नियमाज्जगदर्च्यं सदर्चिताम् ॥

(का० सं० अ० २१ श्लो० ४)

अपि च—अष्टौ मासान्विहारः स्याद् यतीनां नियतात्मनाम् ।
वार्षिकांश्चतुरो मासानेकत्र निवसेत्पुनः ।
अविमुक्तप्रविष्टानां विहारस्तु न विद्यते ।

(नि० सि० यति० मात्स्ये)

भाषा

श्री का दर्शन सिद्ध हो गया, इसी से कुणप ही को देख कर वाहर पलट जाना नारद महर्षि ने कहा है जिसका तात्पर्य यही है कि 'काशी का कुणप श्री शिव की प्रतिमा है क्योंकि 'अविमुक्त' के प्रकरण में जाबालि उपनिषद् का वाक्य है कि काशी में मरते समय प्राणी को श्री रुद्र तारक का उपदेश करते हैं, जिससे वह प्राणी ब्रह्मज्ञानी हो कर मोक्ष पाता है अर्थात् परब्रह्म रूपी हो जाता है' । तो जब कुणप (मृतक शरीर) का अभिमानी जीव परब्रह्म हो गया तब वह कुणप परब्रह्म ही का शरीर अर्थात् प्रतिमा है । यह व्याख्या पण्डित नीलकण्ठ चतुर्धर की है । और इसी से अब तक काशी में यह शिष्टाचार है कि काशी के कुणप को देख कर लोग नमस्कार करते हैं, और महादेव शब्द का उच्चारण भी करते हैं । तथा श्री विश्वनाथ का पूजन करने को जाते हुए कोई कोई विवेकी पुरुष दौड़ कर उसी कुणप पर पूजा की सामग्री पुष्पादि फेंकते हैं । और अन्य सब तीर्थों की अपेक्षा काशी की यह एक ही महिमा अधिक नहीं है कि काशी में मृत सब प्राणियों को तत्क्षण ही सायुज्य मुक्ति होती है, किन्तु यह भी असाधारण ही महिमा काशी की है कि "*वैकुण्ठनगरात्*" भगवान् वैकुण्ठ नाथ ने राजा ध्रुव से स्वयं कहा है कि जगत्पूज्य श्री विश्वनाथ जी को नित्य पूजने के अर्थ वैकुण्ठ नामक नगर से जगत्पूज्या काशी में मैं प्रति दिन आया करता हूँ । तथा यह भी काशी का एकलौता विशेष है कि "*अष्टौ मासान्*" संन्यासियों को ८ मास तक भ्रमण ही करना चाहिए, केवल वर्षा ऋतु के ४ मासों में एक स्थान पर रहना चाहिए ।

काश्यां च यद्यपि बहवो देवयात्राः काशीखण्डादौ कर्तव्यतयोक्तास्तथापि गङ्गाश्रीविश्वनाथयात्रे नित्ये। तत्रापि पूर्वाऽङ्गम्, पराऽङ्गिनी। तथा च काशीखण्डेऽन्तिमे अध्याये सूतं प्रति—

व्यासः—न वन्ध्यं दिवसं कुर्याद् विना यात्रां क्वचित् कृती।
यात्राद्वयं प्रयत्नेन कर्तव्यं प्रति वासरम् ॥१०१॥
आदौ स्वर्गतरङ्गिण्यास्ततो विश्वेशितुर्ध्रुवम्।
यस्य वन्ध्यं दिनं यातं काश्यां निवसतः सतः ॥१०२॥
निराशाः पितरस्तस्य तस्मिन्नेव दिनेऽभवन्।
स दष्टः कालसर्पेण स दष्टो मृत्युना स्फुटम् ॥१०३॥
स मुष्टस्तत्र दिवसे विश्वेशो यत्र नेक्षितः ॥ इति ॥

अत एवाहुः शिष्टाः—

असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शिवपूजनम् ॥ इति ॥

ननु काशीमृतानां भगवत्कृततारकोपदेशेन तत्वसाक्षात्कारान्मोक्षस्य सिद्धावपि तदतिरिक्तमुक्तिक्षेत्रेषु मृतानां तादृशोपदेशाभावेन तत्वज्ञानाभावात्कथं मोक्षः। न च तत्र मरण-

भाषा

परन्तु काशीमात्र में भ्रमण के विना वे जीवनपर्यन्त रह सकते हैं। अब प्रसङ्ग से एक आवश्यक बात यह कही जाती है कि *'न वन्ध्यं'* सूत से व्यास जी ने कहा है कि काशीस्थ बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए की देवयात्रा सर्वथा न करने से अपने दिन को व्यर्थ न वितावें। यदि बहुत सी यात्राओं को न कर सके तो प्रथम गङ्गा की और अनन्तर श्री विश्वनाथ की यात्रा तो प्रयत्न से प्रति दिन अवश्य किया करै क्योंकि काशी में रहते हुए जिस मनुष्य का जो दिन इन दो यात्राओं के त्याग से व्यर्थ हो कर बीता उसी दिन उसके पितृगण उससे निराश हो गये और जिस दिन (काशी में रह कर) जिस मनुष्य ने श्री विश्वनाथ का दर्शन नहीं किया उस दिन वह मानों काले सर्प से डसा गया और मृत्युदेव से भी स्पष्ट डसा गया तथा लूटा गया, (इन दो यात्राओं के त्याग में पितृगण की निराशता रूपी हानि को तुल्यरूप से कह कर केवल श्री विश्वनाथ के दर्शन को त्यागने में जो ये बड़ी बड़ी हानियाँ विशेष रूप से पुनः कही गईं इससे गङ्गायात्रा के प्रति श्री विश्वनाथ यात्रा की प्रधानता पूर्णरूप से सिद्ध है) और काशी की पूर्ण महिमा कौन कह सकता है ? इसलिए अब एक शिष्ट लोगों का श्लोक कहकर हम इस काशी वर्णन को समाप्त करते हैं कि *"असारे"* इस निःसार संसार में यदि कोई सार है तो यही चार हैं–(१) काशी में वास (२) सत्पुरुषों का संग (३) गङ्गा सेवन (४) शिवपूजन। काशी से अन्य मुक्तिक्षेत्रों में मृतों को जब तारक का उपदेश नहीं होता और इसी से ब्रह्मज्ञान भी नहीं होता तो वहाँ मृतों का मोक्ष कैसे होता है ? यह तो कह नहीं सकते कि वहाँ मरणमात्र ही से मोक्ष होता है। क्योंकि *"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"* (ब्रह्म के ज्ञान ही से मोक्ष पाता है, मोक्ष के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है)। इस वेदवाक्य से विरोध

मात्रादेव स इति वाच्यम् "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" श्रुत्या तत्त्वज्ञानं विना मोक्षाभावं प्रतिपादयन्त्या सह विरोधप्रसङ्गात् । तथा च पूर्वोपन्यस्तानां तीर्थान्तरेषु मोक्षप्रदत्वप्रतिपादकानां श्रुतिस्मृतिवाक्यानां प्रामाण्योपपत्तिः कथमिति चेत् इत्थम्—

तीर्थानि सर्वाण्यपि मोक्षदानि
श्रुतानि शास्त्रेष्वखिलेषु राजन् ।
वाराणसीप्राप्तिफलानि शीघ्रम्
कालेन चाप्तो व्यवधानवन्ति ॥

ब्रह्मवैवर्ते खिले काशीमूलरहस्ये काशीकेदारमाहात्म्ये १२ अध्याये—

पुरीषु षट्सु मरणं काशीमरणदं नृणाम् ॥
षट्पुरे काम्यपुण्या वै जनास्तपमहोऽलभन् ॥६८॥ इति वाक्येन ।

इति पूर्वोपन्यस्तसुरेश्वराचार्योद्धृतसनत्कुमारसंहितावाक्येन—

अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि हि ।
काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः ॥

भाषा

पड़ जायगा, इसलिए अन्य तीर्थों में मरने से मोक्ष होना कहने वाले काशी प्रकरण से पूर्व ही कहे हुए वेदवाक्य और स्मृतिवाक्य कैसे प्रमाण हो सकते हैं !

उ० १—इस रीति से वे वाक्य प्रमाण हैं कि अन्यमुक्तिक्षेत्रों में मरने से एक जन्म और होता है कि जिसमें उन जीवों को मरण के समय अवश्य ही काशी लाभ होता है जैसा कि सनत्कुमार संहिता का पूर्व ही सुरेश्वराचार्य का उद्धृत यह वाक्य है कि *'तीर्थानि'* (इसका अर्थ पूर्व में कहा जा चुका है) और० ब्र० वै० खिल काशी मूल रहस्य का यह वाक्य है कि *"पुरीषु"* अयोध्यादि ६ पुरिओं में से एक में मरण से मनुष्यों को उसके अनन्तर उत्तर जन्म में काशी में मरण का लाभ होता है और उन पुरिओं में काम्य धर्म करने से लोग तपोलोक और महोलोक को प्राप्त हुए । तथा त्रिस्थली सेतु में उद्धृत काशीखण्ड का वाक्य भी है कि *"अन्यानि"* काशी से अन्य मुक्तिक्षेत्र काशी का लाभ कराते हैं और काशी प्राप्त होने पर प्राणी की मुक्ति होती है । काशी के बिना कोटि तीर्थों से भी मुक्ति नहीं होती ।

उ० २—गरुडपुराण के प्रेतकल्प में यह श्लोक है कि–*"अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका । पुरी, द्वारवतीचैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।* यह श्लोक और इसका अर्थ भी बहुत ही प्रसिद्ध है । अब इस पर ध्यान देना चाहिए कि यह श्लोक इसी अर्थ में अनेक प्रकार से बन सकता था जैसे कि—*'अयोध्या, मथुरा, माया, पुरी, द्वारवती तथा ।* काशी, कांची, अवन्ती च सप्तैता मोक्षदायिकाः' तथा *"पुरी द्वारवती तद्वत्काशी, कांची, अवन्तिका । अयोध्या, मथुरा, माया, सप्तैता मोक्षदायिकाः"* इत्यादि । परन्तु ऐसी रचनाएँ इस कारण नहीं की गई कि इन प्रत्येक रचनाओं में ऐसा नहीं हो सकता था कि अन्य तीन २ पुरियों के मध्य में काशी पड़े और पूर्वोक्त श्लोक में ऐसी ही रचना है कि अन्य तीन २ पुरियों के मध्य में काशी कही है । इससे पूर्वोक्त श्लोक का अभिप्राय यही

इति त्रिस्थलीसेतौ काशीखण्डवाक्येन च मुक्तिः। तीर्थान्तरे मृतानां पुनर्जातानामवश्यं काश्यां मृत्युर्भवति ततश्च तारकोपदेशेन तत्त्वसाक्षात्कारात्तेषां मोक्षो भवतीति जन्मान्तरव्यवधानेन तीर्थान्तराणां स्वमृतमोक्षप्रदत्वं निश्चीयते। अत एव गारुडे प्रेतकल्पे "अयोध्या मथुरा माया काशी" ति पद्येऽन्यथाऽनेकधा पद्यरचनासंभवेऽपि षण्णामपि पुरीणां काशीप्राप्तिद्वारा स्वमृत मोक्षदात्रीत्वमभिव्यङ्क्तुं तिसृणां तिसृणां पुरीणां मध्ये काशी निवेशितेति ध्येयम्। ननु नैतत्क्षेत्रमिदानीं मुमुक्षुभिः सेवनीयं हरिवंशवाक्यैरस्यास्थिरत्वप्रतिपादनात्। तथा च हरिवंशे १ पर्वणि २९ अध्याये वाक्यानि यथा—

अकस्माच्च पुरी सा तु विद्रुता सर्वतो दिशम्।
तस्यां पुर्य्यां ततो देवो निर्ममे पदमात्मनः॥ ६२॥

रमते तत्र देवेशो रममाणो गिरेः सुताम्।
न रतिं तत्र वै देवी लभते गृहविस्मयात्॥ ६३॥

वसाम्यत्र न पुर्य्यां तु देवी देवमथाब्रवीत्।
देव उवाच—नाहं वेश्मनि वत्स्यामि अविमुक्तं हि मे गृहम्॥
नाहं देवि गमिष्यामि गच्छ देवि गृहं प्रति॥ ६४॥

हसन्नुवाच भगवांस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः।
तस्मात्तदविमुक्तं हि प्रोक्तं देवेन वै स्वयम्॥ ६५॥

एवं वाराणसी शप्ता अविमुक्तं च कीर्तितम्।
यस्मिन् वसति वै देवः सर्वदेवनमस्कृतः॥
युगेषु त्रिषु धर्मात्मा सह देव्या महेश्वरः॥ ६६॥

भाषा

स्पष्ट होता है कि पूर्व और पश्चात् की तीन २ पुरियाँ मध्यवर्तिनी काशी के ही द्वारा मोक्ष देती हैं। इससे अधिक देखना हो तो "त्रिस्थली सेतु के काशी सेतु" में देखना चाहिए।

प्र०—इस समय अर्थात् कलियुग में काशी है ही नहीं क्योंकि हरिवंश के प्रथम पर्व २९ अध्याय में यह कहा है कि—"*अकस्माच्च*" यह पुरी (काशी) तो अकस्मात् उजड़ गई। तदनन्तर श्री शिव जी ने उस पुरी में अपना स्थान बनवाया और श्री पार्वती के साथ वहाँ रहने लगे। परन्तु श्री पार्वती का मन अपने नैहर में अर्थात् हिमवान् के गृह ही में लगा था और पुरी में आश्चर्य देखती थीं, इसी से उन्होंने श्री शिव जी से कहा कि मैं इस पुरी में नहीं रहूँगी। श्री शिव जी ने कहा कि मैं हिमवान् के गृह में नहीं रहूँगा क्योंकि मेरा गृह अविमुक्त (काशी) ही है। हे देवि! मैं वहाँ नहीं जाऊँगा, तुम चाहो जाव॥६२–६४॥ हँसते हुए श्री शिव जी ने ऐसा कहा अर्थात् स्वयं श्री शिव जी ने काशी को अविमुक्त कहा। इस रीति से वाराणसी के ऊपर शाप हुआ और अविमुक्त भी कहा गया जिसमें कि सब देवों से पूजित श्री शिव जी पार्वती के साथ तीन युगों में रहते हैं। क्योंकि कलियुग में श्री शिव जी का वह स्थान गुप्त हो जाता है और उसके गुप्त होने पर भी पुरी तो बसी

अन्तर्द्धानं कलौ याति तत्पदं हि महात्मनः ।
अन्तर्हिते पदे तस्मिन्पुरी तु वसते पुनः ॥ ६७ ॥
एवं वाराणसी शप्ता निवेशं पुनरागता ॥ इति ॥

इति चेत् अत्रोच्यते—नेमानि वाक्यानि श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धशिष्टपरिगृहीतमहामाहात्म्यस्यासन्दिग्धस्थेम्नोऽस्य क्षेत्रस्य कथमप्यस्थिरत्वं प्रतिपादयितुमीशते। तथाहि—हरिवंशे हि दिवोदासस्य राज्ञ उद्वासार्थं महादेवप्रेषितेन निकुम्भगणेन सर्वान्नागरान्प्रति पुत्रहिरण्यायुः प्रभृतीन्सर्वान्कामान्वितरताऽपि राजपत्न्यै सुयशानाम्न्यै बहुनाऽप्याराधनेन पुत्रो न दत्तः। तथा कुपितेन राज्ञा तदायतनं नाशितमित्यर्थं प्रक्रम्य—

भग्नमायतनं दृष्ट्वा राजानमशपत्प्रभुः ।
पुर्यकस्मादियं शून्या तव नूनं भविष्यति ॥ ६० ॥
ततस्तु तेन शापेन शून्या वाराणसी तदा ।
शप्त्वा पुरीं निकुम्भस्तु महादेवमथागमत् ॥ ६१ ॥

इत्युक्त्वा 'अकस्मादि' त्याद्युक्तम्। तथा चायमर्थः—'सा पुरी' पुरीस्थो जनः सर्वतो" दिशं प्रद्रुत इति शून्यायां तस्यां 'देवः' महादेवः 'पदम्' मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यं प्रासादं निर्ममे। काशीखण्डे तस्यैव विश्वकर्मद्वारा निर्माणवचनात् 'गृहे' अविमुक्ते यो 'विस्मयः' आश्चर्यम्

भाषा

रहती है ॥ ६५–६७ ॥ इस रीति से वाराणसी के ऊपर शाप हुआ और पुनः बसाई गई, तब कैसे इस समय में भी काशी में मरने से मोक्ष कहा जाता है ?

उ० १—इन वाक्यों का यह सामर्थ्य कदापि नहीं हो सकता कि पूर्वोक्त इतने २ प्रबल प्रमाणों से सिद्ध और इस समय में भी प्रसिद्ध ऐसे असन्दिग्ध काशीक्षेत्र के माहात्म्य को ये वाक्य कलियुग से हटा दें क्योंकि इन श्लोकों के पूर्व हरिवंश ही में कहा है कि 'काशी के राजा दिवोदास को काशी से निकालने के लिए श्री शिवजी के प्रेषित निकुम्भ नामक गण ने काशी में आकर कुछ दिनों तक सब काशी वासियों को अपने पूजन के द्वारा पुत्र, धन, जीवन आदि सब कामों से पूर्ण किया किन्तु महाराज दिवोदास की रानी 'सुयशा' को बहुत पूजन और आराधन करने पर भी पुत्र नहीं दिया जिससे कि राजा दिवोदास ने कुपित होकर निकुम्भ के आयतन (मंदिर) को गिरवा दिया' इसके अनन्तर हरिवंश ही में कहा है कि–"*भग्नमायतनं०*" अपने आयतन को गिरा देख निकुम्भ ने राजा को यह शाप दिया कि तुम्हारी यह पुरी अकस्मात् ही अवश्य शून्या हो जायगी। "*ततस्तु०*" तदनन्तर उस शाप से वाराणसी पुरी शून्या हो गई और निकुम्भ भी पुरी को शाप देकर श्री महादेव जी के समीप चले गये ॥ ६० ॥ ६१ ॥ इन श्लोकों के अनन्तर ६२ संख्या से ये श्लोक हैं जो कि प्रश्न में कहे गये हैं। अब इस पूर्ण प्रकरण का भावार्थ कहा जाता है जिससे कि तब निकल आवेगा "वह पुरी उजड़ गई" इसका यह अर्थ है कि पुरी लोगों से शून्य हो गयी। श्री महादेव ने वहाँ अपना स्थान बनवाया। इसका यही अर्थ है कि 'मोक्षलक्ष्मीनिवास' नामक शिवालय बनवाया क्योंकि काशीखण्ड में विश्वकर्मा के द्वारा इस शिवालय का बनवाना कहा है और पार्वती का मन जो अविमुक्त में नहीं लगता

अनधिकारिणामप्यधिकारं सम्पाद्य मुक्तिप्रदानम् तस्माच्च हेतोस्तत्र क्षेत्रे न रमते। 'नाहं वेश्मनि वत्स्यामीति' 'अहम्' नित्यमुक्त ईश्वरः 'हि' यतः मे गृहम् 'अविमुक्तम्' अविमुक्ताख्यं क्षेत्रमन्वर्थसञ्ज्ञकम्। अतोऽस्य मया विमुक्तिर्न कदापि कार्या। अहम् तत्र न गमिष्यामि। त्वमेव 'गृहम्' पितृगृहम् गच्छ यतो मया भवत्या वियोगः सह्यो न त्वस्य क्षेत्रस्येति यावत्। यतः इति हसन्नुवाच भगवान् तस्मात् तेन देवेन इदं क्षेत्रमविमुक्तमिति स्वयमुक्तम्।

न विमुक्तं मया यस्मान्मोक्ष्यते न कदाचन।
मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्॥

इति लिङ्गपुराणादिनिबद्धेन मद्वचनेन पूर्वं प्रतिज्ञानमधुनापि च न त्यक्ष्यामीत्यभिप्रायेण पुनरविमुक्तमित्युक्तम्। एवमपि देवी मां पितृगृहं गमयितुमिच्छत्येवेत्यभिप्रेत्य हासः।

यस्मिन्वसतीत्यादिपदे त्रिषु युगेषु देव्या सह महेश्वरो देवः प्रत्यक्षं वसति 'तत्पदम्' मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यम् कलावन्तर्द्धानं याति पुरी तु पुनः पदे अन्तर्हितेऽपि सति स्वस्वरूपेण वसत्येवेति। अतश्च मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यप्रासादमात्रस्य भगवन्मन्दिरस्य। कलावन्तर्द्धानमेभ्यो वाक्येभ्यो लभ्यते न त्वविमुक्तस्य तीर्थस्य। 'यस्मिन्नि'ति 'तत्पद'मिति यत्तदोः सन्दंशे तादृशप्रासादरूपपदातिरिक्तसार्थस्यान्तर्द्धानकर्तृत्वेन प्रवेशासंभवात्। पुरी पुनर्वसत्येवेत्युक्त्या तादृशपदान्तर्द्धानस्यैव परिशेषितत्वाच्च। किंच काशीप्रकरणे—

मत्स्यपुराणे—महात्मा सर्वभूतात्मा देवदेवः सनातनः।
घोरं रूपं समास्थाय दुष्करं देवदानवैः॥

भाषा

था और उसका कारण आश्चर्य कहा गया है उसका यह तात्पर्य है कि श्री पार्वती माया रूपी हैं जिससे कि जीवों को बन्धरूपी संसार होता है और काशी में उनको आश्चर्य यह हुआ कि पात्रापात्र के विवेक विना ही काशी में मृतधर्मात्मा और पापात्मा सबको मोक्ष मिलता है जिससे माया के कर्तव्य संसारबन्ध का नाश ही हो जाता है। तथा श्री शिव जी ने जो यह कहा है कि "मैं हिमवान् के गृह न जाऊँगा क्योंकि मेरा गृह 'अविमुक्त' ही है" इसका यह अभिप्राय है कि इस काशी का 'अविमुक्त' नाम अर्थ के अनुसार है अर्थात् जो 'विमुक्त' (छूटा हुआ) नहीं है वह अविमुक्त कहलाता है। इसलिये इस पुरी को मैं (श्री शिव) अपने से विमुक्त नहीं कर सकता और तुम नैहर जाव निदान मैं तुमको छोड़ सकता हूँ परन्तु इस पुरी को मैं नहीं छोड़ सकता क्योंकि मेरा यह पूर्व वाक्य लिङ्गपुराण में है कि "न विमुक्तं" मैंने इस पुरी को विमुक्त नहीं किया और न करूँगा, इसी से यह मेरा क्षेत्र अविमुक्त कहलाता है। और ६६,६७ श्लोकों का यह अभिप्राय है कि जिस पद अर्थात् 'मोक्षलक्ष्मी निवास' नामक शिवालय में श्री पार्वती के साथ तीन युगों में श्री शिव जी प्रत्यक्षवास करते हैं वह शिवालय कलियुग में गुप्त हो जाता है। और पुरी के विषय में तो प्रश्नवाले अंतिम श्लोक ही में कहा है कि 'पुरी तो ज्यों की त्यों बसी रहती है' इसलिये हरिवंश में इस प्रकरण से काशीक्षेत्र का कलियुग में गुप्त होना कदापि सिद्ध नहीं होता।

उ० २—मत्स्यपुराण में काशी के प्रकरण में यह कहा है कि "*महात्मा*" महात्मा सर्वभूतों के

आभूतसंप्लवं यावत्स्थाणुभूतो यतः प्रभुः ।

इति वाक्यविरोधादपि न कलौ काशीव्यपगमः संभवतीति तदारोपोऽपि न युक्तः । किं च काशीखण्डे ३९ अध्याये—यियासुना च देवेन मन्दरं चित्रकन्दरम् ।

निजमूर्तिमयं लिङ्गमविज्ञातं विधेरपि ॥
स्थापितं सर्वसिद्धीनां साधकेभ्यः समर्पितुम् ।
विपन्नानां च जन्तूनां दातुं नैःश्रेयसीं श्रियम् ॥
सर्वेषामिह संस्थानां क्षेत्रं चैतामिरक्षितुम् ।
मन्दराद्रिगतेनापि क्षेत्रमेतत्पिनाकिना ॥
न मुक्तं लिङ्गरूपेण अविमुक्तमतः स्मृतम् ।

इति वाक्यैश्च विरोधात्कलावविमुक्तविमोकस्यारोपो निर्मूल एव एतानि च मात्स्यस्कान्दवचांसि,

न विमुक्तं मया यस्मान्मोक्ष्यते न कदाचन ।
मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम् ॥

भाषा

आत्मा, सनातन देवों के देव, महाप्रलय पर्यन्त इस काशीरूप से स्थित हैं । इससे भी विरोध पड़ जायगा यदि कलियुग में काशी का न रहना स्वीकार किया जाय ।

उ० ३—काशीखण्ड अध्याय ३९ में यह कहा है कि—"*यियासुना०*" जिस समय राजा दिवोदास के कारण श्री शिव जी ब्रह्मा जी के वर के अनुसार काशी को छोड़ मन्दर पर्वत को चलने लगे उस समय एक अपना शिवलिङ्ग काशी में ऐसा स्थापित कर दिया कि जिसको ब्रह्मा भी नहीं जानते थे और उसको इसलिये स्थापित किया कि जिसमें यहाँ मरे हुए सब प्राणियों को तारकोपदेश के द्वारा मोक्ष देने का काम निर्विघ्न चलता रहे और पुरी की रक्षा होती रहे । इस रीति से मन्दर पर्वत जाने पर भी श्री शिव जी ने काशी को नहीं छोड़ा, इससे काशी का नाम 'अविमुक्त' है । इन वाक्यों के विरोध से भी कलियुग में काशी का न रहना निर्मूल ही है । और इन काशी खण्ड और मत्स्यपुराण के वाक्यों को "*न विमुक्तम्* " यह अनन्तरोक्त लिङ्गपुराण का वाक्य (जिसमें अविमुक्त शब्द का अर्थ कहा हुआ है) ऐसा कस देता है कि जिससे इन वाक्यों का उक्त अर्थ से दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता ।

उ० ४—यदि थोड़े काल के लिये यह झूठी बात मान भी ली जाय कि कलियुग में काशी गुप्त हो जाती है तब भी कोई हानि नहीं हो सकती क्योंकि जैसे पूर्वोक्त काशी त्याग के समय ब्रह्मा को भी अज्ञात शिवलिङ्ग के द्वारा यहाँ मोक्ष देने का काम अविच्छिन्न चलता रहा वैसे ही यदि अब भी चलता ही है तो पुरी के गुप्त होने से क्या हानि हुई !

उ० ५—'काशीपुरी' यदि गृहों का नाम है तो वे प्रत्यक्ष ही हैं और यदि भूमि का नाम है तो भूमि भी प्रत्यक्ष ही है तथा यदि यहाँ के आकाश का नाम काशीपुरी है तो वह भी कहीं नहीं चला गया और यदि काशीपुरी की शक्ति (माहात्म्य) का नाम काशीपुरी है तो वह पूर्व में भी

इति लैङ्गवचनोपबृंहणेनाविमुक्तमिति समाख्या प्रमाणसहकारेण च दृढबद्धमूलत्वा-न्नार्थान्तराय चालयितुमपि शक्यते। किंच यदा दिवोदासराज्यकाले त्यागः स्मर्यते, तदपि न सर्वथा त्यागः। मुक्तिप्रदाने च नान्तराय इत्यपि स्मर्यते। अस्यां च दशायां कल्पितेऽपि निर्मूले कलिकालिके त्यागे नात्र मृतानां मोक्षे काचिदन्तरायसम्भावना। न वा विधेरप्यज्ञातस्य लिङ्गस्य कलावप्यविमुक्ते स्थितौ किंचिद्बाधकमिति निरर्थकमेव कलौ काशीत्यागकल्पनम्। अपि च—

मात्स्ये—ज्ञात्वा कलियुगं घोरं हाहाभूतमचेतनम्।
अविमुक्तं न मुञ्चन्ति कृतार्थास्ते नरा भुवि॥ इति॥

सौरपुराणे, व्यास उवाच—
एवं घोरे कलियुगे किं यच्छ्रेयस्करं भवेत्।
ब्रूहि तद्भगवन्मह्यं संसारान्मोचकं परम्॥
सनत्कु० उवाच—गच्छ वाराणसीं व्यास यत्र विश्वेश्वरः शिवः।
न तत्र युगधर्मोऽस्ति न च लग्ना वसुन्धरा॥ इति॥

सनत्कु० संहितायाम्—इदं कलियुगं घोरं संप्राप्तं पाण्डुनन्दन।
गतिमन्यां न पश्यामि मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम्॥ इति॥

प्रायश्चित्तकाण्डे पाराशरमाधवे लैङ्गे—
अस्मिन्कलियुगे घोरे लोकाः पापानुवर्तिनः।
भविष्यन्ति महाबाहो वर्णाश्रमबहिष्कृताः॥

भाषा

आँख से नहीं देख पड़ती थी और अब भी नहीं देख पड़ती। इस रीति से काशीपुरी का कलियुग में गुप्त होना विचार से भी विरुद्ध है।

उ० ६—जब कि कलियुग में काशीपुरी के गुप्त होने का कोई प्रमाण ही नहीं है तब पूर्वोक्त प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

उ० ७—अब कलियुग में विशेष रूप से काशीपुरी के माहात्म्य में प्रमाण दिखलाये जाते हैं जैसे मत्स्य पुराण में कि *"ज्ञात्वा कलियुगं०"* प्रजाओं में हाहाकार और मूर्खता फैलाने वाले भयानक कलियुग को जानकर इस लोक में जो लोग अविमुक्त को नहीं छोड़ते वे कृतार्थ हैं। सौर पुराण में—*"एवं घोरे कलियुगे०"* व्यास ने पूछा कि हे सनत्कुमार! ऐसे घोर कलियुग में संसार दुःख से छुड़ाने वाला बड़ा कल्याणकारी क्या है? सनत्कुमार ने कहा कि—*"गच्छ वाराणसीं०"* हे व्यास! वाराणसी को जाव, जहाँ कि विश्वेश्वर शिव हैं कि वहां युगों का प्रभाव नहीं है और न काशीपुरी से पृथ्वी लगी है अर्थात् काशीपुरी के चारों दिशाओं में एक सूक्ष्म छिद्र रूपी रेखा पाताल पर्यन्त है जिस कारण काशीक्षेत्र, पृथिवी से संबन्ध नहीं रखता। सनत्कुमार संहिता में भी कहा है कि—*"इदं कलियुगं घोरं०"* हे पाण्डुनन्दन! यह घोर कलियुग आ गया। अब मैं वाराणसी को छोड़ कर दूसरी गति नहीं देखता। पराशर माधव के प्रायश्चित्त काण्ड में उद्धृत लिङ्गपुराण यह है कि—*"अस्मिन्कलियुगे०"* हे महाबाहो! इस घोर कलियुग में लोग वर्ण और आश्रम से बहिर्भूत

नान्यत्पश्यामि जन्तूनां मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ।
सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं कलौ युगे ॥

इति च वचः सुमतिपदोक्तमेव कलौ वाराणस्याः स्थितिशक्त्यादीनां यथापूर्वत्वस्य-निर्णयाय गर्जत्सु कुतस्तरामुक्तकुसृष्टिकल्पनापिशाच्या पराक्याः श्वासप्रश्वासयोरप्यवकाशः । एवम् काशीखण्डे ६४ अध्याये—

उमापते महेशान सर्वज्ञ वर एष नः ।
काशी कदापि न त्याज्या भवता भवतापहृत् ॥
वचनाद्ब्राह्मणानां तु शापो मा प्रभवत्विह ।
कदाचिदपि केषां चित्काश्यां मोक्षान्तरायकः ॥

इत्यादि ब्राह्मणवाक्यानन्तरम्—

'श्रुत्वेति तेषां वाक्यानि तथाऽस्त्विति पिनाकिना । इत्यादि

तत्रैव ७३ अध्याये—अदृश्यान्यपि दृश्यानि दुरवस्थान्यपि प्रिये ।
भग्नान्यपि च कालेन तानि पूज्यानि सुन्दरि ॥
सिद्धलिङ्गानि तानीशे तिष्येऽदृश्यत्वमाययुः ॥ इति ॥

दुरवस्थानीति यवनादिभिरतिशयेन 'दुः' दुष्टाः अवस्था येषां तानि तथेति तट्टीका 'तिष्ये' (कलियुगे) तथा तत्रैव—

कलावतीव गोप्यानि भविष्यन्ति गिरीन्द्रजे ।
परं तेषां प्रभावस्तु स्वं स्वं स्थानं न हास्यति ॥ इति ॥

तत्रैव ८५ अध्याये क्रुद्धस्य दुर्वाससः शापप्रदानस्यानन्तरम्—

अथो दुर्वाससो लिङ्गादाविरासीत्कृपानिधिः ॥

भाषा

और पापी होंगे । कलियुग में वाराणसी से अन्य सब पापों का नाश करने वाला प्रायश्चित्त मैं कोई नहीं देखता । काशीखण्ड अध्याय ६४ में भी कहा है कि—"उमापते०" हे सर्वज्ञ उमापते महेशान ! हमारे लिये यही वर है कि संसार दुःख को हरण करने वाली काशी को आप कदापि न त्यागें और काशी पर कभी किसी ब्राह्मण के ऐसे शाप का प्रभाव न पड़े जिससे मोक्ष में कोई विघ्न हो । उन ब्राह्मणों के ऐसे वाक्यों को सुनकर श्री शिव जी ने कहा 'तथास्तु' । तथा काशीखण्ड ही के ७३ अध्याय में श्री शिव जी ने कहा है कि—"अदृश्यान्यपि०" हे सुन्दरि ! प्रिये ! ईशे ! तिष्य (कलियुग) में काशी के कतिपय सिद्ध शिवलिङ्ग अदृश्य हो जायेंगे और जो दृश्य रहेंगे उनमें भी कतिपयों को यवन आदि दुष्ट अवस्था को पहुँचा देंगे परन्तु तब भी वे सब शिवलिङ्ग पूज्य ही होंगे और कलियुग में यद्यपि वे लिङ्ग गुप्त हो जायेंगे तथापि उनका प्रभाव उनके अपने २ स्थानों को नहीं छोड़ेगा । तथा काशीखण्ड के ८५ अध्याय में काशी पर कुपित दुर्वासा ऋषि के शाप वाक्य के अनन्तर कहा है कि—"अथो दुर्वाससो०" तदनन्तर दुर्वासेश्वर लिङ्ग से कृपानिधि महातेजोमय श्री शिव जी दुर्वासा मुनि के मोक्ष विघ्नकारी शाप से पुरी की रक्षा करते हुए प्रसन्न निकल पड़े और

महातेजोमयः शंभुर्मुनिशापात्पुरीमवन् ॥
योऽभूच्छापो मुनेः काश्यां निर्वाणप्रतिबन्धकः । इति ॥

तथा तत्रैव दुर्वाससो वाक्यम्—

एवं भूतां तु यः काशीमन्योऽपि हि शपिष्यति ।
तस्यैव शापो भविता न तु काश्याः कथंचन ॥ इति ॥

तत्रैव ९६ अध्याये व्यासं प्रति स्वयं विश्वेश्वरः—

मामैवं ब्रूहि भोः विद्वन् शापं दद्याच्च यः क्रुधा ।
अलभन्स्वार्थसंसिद्धिमभाग्यात्तस्य कस्य सः ॥ इति ॥

स्वशापप्रत्यावर्तनाय व्यासोऽपि—

यः स्वार्थसिद्धिमलभन्न भाग्याच्छपति क्रुधा ।
स शापः प्रत्युत भवेच्छप्तुरेवाविवेकिनः ॥ इति ॥

एवमादिषु वचनेषु जाग्रत्सु काशीं शप्तुः शापोक्तिवद् कलौ काश्यन्तर्द्धानकल्पना कल्पयितुर्निजान्तर्द्धानकल्पनैव । ननु तर्हि निकुम्भदत्तस्य काशीशापस्य का गतिरिति चेत् नासौ मोक्षान्तरायकः । तादृशश्च शापोऽत्राकिंचित्करो भवतीति सन्तोष्टव्यम् । एतेन कलौ काश्येव स्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र गतेति कल्पनापि निरस्ता 'स्वं स्वं स्थानं न हास्यती'त्यनुपदोदाहृतवचनविरोधात् । तस्मात् कलौ काशी नास्तीत्यधुनातनाश्रद्धानजनव्यामोहमात्रम् । ननु स्कान्दे केदारखण्डे सौम्यकाशीमाहात्म्ये—

ऋषय ऊचुः—कलावन्तर्हिता काशी इति शप्ता किलाधुना ।
तत्खेदश्रवणात्प्राप्तपीड़ा ह्यत्र समागताः ॥

भाषा

दुर्वासा ने अपने मुख से यह कहा कि मेरी क्या बात है । जो दूसरा भी कोई काशी को शाप देगा वह काशी पर कभी नहीं पड़ेगा किन्तु जो शाप देगा उसी पर पड़ेगा । तथा काशीखण्ड ही के ९६ अध्याय में व्यास के प्रति श्री विश्वेश्वर ने स्वयं कहा है कि—"मामैवं०" हे विद्वन् ! न न, ऐसा न कहो। जो कोई अपने अभाग्य से अपने कार्य बिगड़ने के कारण क्रोध से शाप दे वह शाप किसको होगा ! और व्यास ने भी अपने शाप पलटाने के समय यह कहा कि जो कोई अपने अभाग्य से काम बिगड़ने के कारण क्रोध से शाप देगा वह पलट कर उसी अविवेकी पर पड़ेगा जिसने कि वह शाप दिया । जब इतने वाक्य कलियुग में काशी के विषय में हैं तब उक्त प्रश्न का अवसर ही क्या है ! किन्तु ऐसा प्रश्न करना नास्तिक्यमूलक काशीद्वेष ही का फल है ।

प्र०—यदि काशी पर शाप का प्रभाव नहीं पड़ता तो कैसे निकुम्भ के शाप से काशी उजड़ गई !

उ०—निकुंभ का शाप मोक्ष का विघ्नकारी न था और यह पूर्व में कहा जा चुका है कि मोक्ष में विघ्नकारी शाप का प्रभाव काशी पर नहीं पड़ता ।

प्र०—यदि कलियुग में भी काशी है तो स्कन्दपुराण केदारखण्ड के उत्तरकाशीमाहात्म्य में यह क्यों कहा है कि—"*कलावन्तर्हिता०*" ऋषियों ने श्री शिव जी से कहा कि हे देव ! कलि में

कलौ पापसमाविष्टे सर्वधर्मविवर्जिते ।
कथं काशीं विना देव गतिर्नृणां भविष्यति ॥
ईश्वर उवाच—यदा पापस्य बाहुल्यं यवनाक्रान्तभूतलम् ।
भविष्यति तदा विप्रा निवासं हिमवद्गिरौ ॥
काश्या सह करिष्यामि सर्वतीर्थैः समन्वितः ।
अनादिसिद्धं मत्स्थानं वर्तते सर्वदैव हि ॥
काश्यां हि यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि तत्र हि ।
वर्तन्ते सर्वदा नूनं भुक्तिमुक्तिकराणि च ॥
अन्येषु तीर्थराजेषु काश्यामपि द्विजोत्तमाः ।
अंशांशभावतो विप्रा निवसामि सदाऽनघाः ॥
केदारमण्डले अत्र साकल्येन स्थितिर्मम ।
अस्यास्तु दर्शनादेव मुक्तो भवति मानवः ॥
यथा काशी तथा चेयं मत्पुरी भेदवर्जिता ।
यः कश्चिद्भेदकृल्लोके स याति नरके ध्रुवम् ॥
अमङ्गलं जीवनं तु मरणं यत्र मङ्गलम् ।
इतः प्रभृति भो विप्रास्तत्रैव संवसाम्यहम् ॥
यावन्ति काश्यां तीर्थानि तानि तत्रैव सन्ति च ।
तथा—केदारमण्डले सारात्सारमेषैव मत्पुरी ।
इयमेव कलौ म्लेच्छजनसङ्कुलके ध्रुवम् ॥
काशीति ख्यातिं यात्येव नान्यथा मम भाषितम् ।
कलावन्तर्हिता काशी यवनप्रबलोद्धृता ॥
भविष्यति तदा ह्यस्याः काशी सञ्ज्ञा तु मुक्तिदा ।

भाषा

काशी अन्तर्हित है। यह शाप अभी सुना गया है, इसी खेद से हम यहाँ आये हैं। पापपूर्ण और धर्महीन इस कलि में काशी के बिना कैसे मनुष्यों की गति होगी ! श्री शिव जी ने कहा कि हे ब्राह्मणों ! जब पाप अधिक हो जायगा और पृथिवी को यवन आक्रमण करेंगे तब काशी और काशी के भीतर के तीर्थों के साथ मैं हिमवान् पर्वत पर वास करूँगा। मेरा अनादि काल से सिद्ध स्थान सर्वदा ही रहता है। काशी में जो २ तीर्थ, भोग और मुक्ति के देने वाले हैं वे सब वहाँ सदा ही रहते हैं और काशी तथा अन्य तीर्थों में मैं अंश २ से सदा रहता हूँ और इस केदारमण्डल में मेरी पूर्ण स्थिति है और इसके दर्शन ही से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। जैसे काशी वैसे यह मेरी पुरी है। इनमें जो भेद समझता है वह अवश्य नरक में जाता है। यहाँ मरण मङ्गल है जीवन ही अमङ्गल है, अब से मैं यहीं रहूँगा। काशी में जितने तीर्थ हैं सब यहीं हैं। केदारमण्डल में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ यह मेरी पुरी है और कलि में जब म्लेच्छ जन अधिक हो जाते हैं, तब यही मेरी पुरी

अन्ते०—इदं ते कथितं सर्वं मुक्तिक्षेत्रं तथोत्तरे।
पृथिव्यां त्रीणि क्षेत्राणि मोक्षदानि च पापिनाम् ॥
वाराणसी तथा पूर्वे शालग्रामाख्यतीर्थकम् ॥

इति वचनानां का गतिरिति चेत्, अत्रोच्यते—आक्षिप्तान्येवैतानि वचनानि अनन्तरोक्त-दृढ़तरप्रामाण्यानेकवचनविरोधात्। तेषु हि कलौ काशीस्थितिः प्रतिपदोक्तमेव प्रतिपाद्यते। किंच अविमुक्तमित्यौपनिपदसमाख्याविरोधोऽप्यत्र दुर्वारः। अपि च 'कलावन्तर्हिता काशीति' शाप-स्वरूपमेवेहोच्यते न तु शप्ता निर्दिष्टो नापि शापकारणम्। न च निकुम्भशापस्यानुवाद इह वक्तुं शक्यते तस्य 'सहस्रवर्षं शून्या भविष्यती' त्येतत्स्वरूपत्वात्। किंच शापस्वरूपमपि विधिप्रत्ययानुपादानान्न्यूनमेव। किंच शप्तेत्यस्य विशेष्यं नास्ति। काशीशब्दस्येति शब्दा-त्पूर्वमुपादानेन तस्य शापाकार एवान्तर्भावात्। 'कलावन्तर्हिता इति काशी शप्ता' इति कथं-चिद्योजनेऽपि क्लिष्टकल्पनैव 'यदा पापस्य बाहुल्यम्' इत्युत्तरविधोऽपि। नहि तत्र शापोऽनूद्यते

भाषा

काशी कहलाती है, यह मेरा वचन सत्य है। यवनों के उपद्रव से कलि में काशी गुप्त हो जायगी। उस समय इस पुरी का काशी नाम प्रसिद्ध होगा। यह मुक्तिक्षेत्र मैंने तुमसे कहा, पृथिवी में पापियों को मोक्ष देने वाले तीन क्षेत्र हैं—एक यह और दूसरा वाराणसी क्षेत्र, तथा तीसरा पूरब में शालग्राम तीर्थ।

उ० १—ये सब वचन वास्तविक में केदारखण्ड के नहीं हैं किन्तु प्रक्षिप्त ही हैं क्योंकि कलियुग में काशी के रहने को दृढ़ करने वाले पूर्वोक्त अनेक वचनों का विरोध इन वचनों में दुर्वार है।

उ० २—वाराणसी के विषय में 'अविमुक्त' इस नाम का जो अर्थ पूर्वोक्त लिङ्गपुराणादि में कहा है उसका भी विरोध इन वचनों में है।

उ० ३—"कलि में काशी गुप्त है" यह शाप का स्वरूप मात्र इन वचनों में कहा है परन्तु यह नहीं कहा है कि किसने और क्यों शाप दिया और यह तो कह नहीं सकते कि यह शाप निकुम्भ ही का है क्योंकि निकुम्भ के शाप का यह स्वरूप है कि "यह पुरी सहस्र वर्ष तक मनुष्यों से शून्य हो जायगी"।

उ० ४—शाप का स्वरूप भी उचित नहीं है क्योंकि शाप का स्वरूप यह होना चाहिये कि 'कलि में काशी अन्तर्हित हो जाय' न कि 'अन्तर्हित' है?

उ० ५—'जब पाप अधिक हो जायगा' यह जो शिव जी का उत्तर इन वचनों में है वह भी उक्त शाप से विरुद्ध है क्योंकि यदि शाप होता तो श्री शिव जी उसको इस स्थान पर अवश्य कहते।

उ० ६—ऋषियों का प्रश्न शाप के कारण है और श्री शिव जी ने उत्तर में पाप के अधिक होने के कारण काशी का त्याग करना कहा है, इसलिये प्रश्न और उत्तर का अन्योन्य में कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

उ० ७—यदि यह अर्थ मान भी लिया जाय कि सब तीर्थों और काशी के साथ शिव जी हिमवान् पर्वत पर वास करेंगे तो यह कहना चाहिए कि कलि में जब कोई तीर्थ नहीं है तो काशी में क्या विशेष है कि जो इसी के विषय में यह प्रश्न किया जाता है!

किन्तु पापघ्नाद्यन्यमेवोन्यत इति प्रश्नोत्तरयोर्विषयभेदः स्पष्ट एव । अपि च भूतले यवनाक्रान्ते सति सर्वतीर्थैः समन्वितोऽहम् काश्या सह हिमवद्गिरौ वासं करिष्यामित्यविशेषेण सर्वतीर्थानां काश्याश्च परित्यागोऽत्र स्मर्यते तत्कथं काश्या एव केवलम् स्वस्थानपरित्यागः कल्प्यते सर्वेषामेव तीर्थानामथ यावद्यत्प्रदेशेषु सत्वप्रसिद्धेरप्रसूद्दत्वात्सर्वतीर्थांशेऽस्य वचसोऽप्रामाण्यकल्पने तु काश्यांशेऽप्यप्रामाण्यमेव । उक्तप्रसिद्धेः काश्यामप्यविशेषात् सर्वतीर्थेभ्यः काश्याः पृथगुपादानं तु ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेनाप्युपपद्यते । किंच काशीस्थानां लिङ्गानां तीर्थानां च कलावपि काश्यामेव सत्वम् "अदृश्यान्यपि दृश्यानी"ति "स्वं स्वं स्थानं प्रमादो न दास्यती"ति चोक्ताभ्यां काशीखण्डवाक्याभ्यां प्रतिपादितम् तदविरोधायात्र काश्याः सर्वतीर्थैः समन्वित इति व्याख्याने पञ्चम्यन्तपाठकल्पनं सद्देत्यस्य वैयर्थ्यं च । किंच इतः प्रभृति अत्रैव (केदारखण्डे) अहं निवसामि यान्यन्ति काश्यां तीर्थानि तानि तत्रैव (काश्यामेव) सन्ति चेति "काश्यां हि यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि तत्र (काश्यां) हि वर्तन्ते सर्वदा नूनं मुक्तिमुक्तिकराणि च" इति चात्रस्थाभ्यां वाक्याभ्यां काशीगततीर्थानां सर्वेषां स्वदेश एव स्थितानां सर्वदा मुक्तिकरत्वं लभ्यते । तच्च कलावप्यविशिष्टम् । सर्वदेत्यनेन तस्याप्युक्तत्वात् । तथा च किमनिष्टम् ? किंच 'अन्येषु तीर्थेषु काश्यामपि च अंशांशभावेन सदा निवसामि केदारमण्डलेषु साकल्येन तिष्ठामीन्युक्त्या सह 'इतः प्रभृत्यत्रैव निवसामी'त्युक्तेः स्पष्ट एव विरोधः । किञ्च 'यथा काशी तथा त्वं वै' त्युक्तिरपि 'अंशांशभावेन सदा निवसामी'त्युक्तिविरुद्धैव अतः काश्यामन्यदितरप्रयागादितीर्थानां च त्यागात्यागकल्पने वैरूप्यमप्रामाणिकमापततीति कदाचिदपि न तदास्थेयम् । यदि तु यथा काशीखण्डे केदारोद्धारादितीर्थेष्वंशेनैव निवसामि साकल्येन तु काश्यामेवेत्येवमुक्तिः । काशीमाहात्म्यातिशयप्रदर्शनायार्थवादः, तथाऽत्रापि माहात्म्या-

भाषा

उ० ८—यदि यह कहा जाय कि काशी के भीतर के तीर्थ अब नहीं हैं तो पूर्वोक्त काशीखण्ड के वाक्यों से विरोध पड़ता है क्योंकि उनमें स्पष्ट यह कहा है कि *'कलि में भी ये तीर्थ काशी* ही में हैं और शिवलिङ्ग भी हैं' तथा उनमें से जो दो चार नहीं हैं उनका भी प्रमाण उनके स्थान को नहीं छोड़ता ।

उ० ९—अब इन्हीं वचनों में यह कहा हुआ है कि 'भोग और मोक्ष के देनेवाले जो काशी में तीर्थ हैं वे सदा वहीं रहते हैं' तब तो इन्हीं वाक्यों से कलियुग में भी काशी और उसके तीर्थों की स्थिति स्पष्ट ही निकलती है ।

उ० १०—'अन्य तीर्थों में और काशी में भी अंश २ से मैं रहता हूँ परन्तु केदारमण्डल में मेरी पूर्ण स्थिति है। इस वाक्य का 'अब से मैं केदारखण्ड ही में रहता हूँ' इस वाक्य से अन्योन्य में विरोध भी है ।

उ० ११—यदि पूर्वोक्त इन दश दूषणों के वारण के लिये यह कहा जाय कि इन वचनों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है किन्तु उत्तर काशी की प्रशंसा मात्र में तो इन वचनों से कलि में काशी का गुप्त होना नहीं निकल सकता और ऐसी दशा में यदि वे वचन ठीक भी हैं तो प्रकृत में कोई हानि नहीं है ।

तिशयप्रदर्शनमात्रे वाक्यानां तात्पर्यादियमप्यर्थवाद एवेति रीत्याऽनन्तरोक्तदूषणगणग्रासो निवार्यते तदा भवतु नाम तथेति न काचिद्धानिः। यत्तु पद्मपुराणे माघमाहात्म्ये काश्यां पापं कृत्वा तत्रैव मृतस्य कस्यचिद्दशजन्मानि स्मर्यन्ते काञ्चनमालिनीदत्तेन माघस्नानजन्यपुण्येन देवजन्म च—

अविमुक्ते कृतं पापं वज्रलेपो भवेद्दृढम्।
वज्रलेपेन पापेन तेन मे जन्म राक्षसम्॥
द्विर्जातो गृध्रयोनौ प्राक्त्रिर्व्याघ्रो द्विः सरीसृपः।
एकवारमुलूकश्च विड्वराहस्ततः परम्।
इदं तु दशमं जन्म राक्षसं मम भाविनि॥

इत्यादिना तत्तु प्रयागे माघस्नानप्राशस्त्यमात्रस्य समर्पकत्वादर्थवाद एव अन्यथा पूर्वोदाहृतैः काशीमृतमुक्तिप्रतिपादकैर्बहुभिः श्रुतिस्मृतिवाक्यैर्विरोधप्रसङ्गात् न चैवमत्र काशीमरणकीर्तनं व्यर्थं स्यात्। तेन विनापि प्राशस्त्योन्मीलसंभवादिति वाच्यम् काशीमरणेनापि यस्य निष्कृतिर्नाभूत्तस्य माघस्नानजन्यपुण्येनोद्धारो जात इति प्राशस्त्याधिक्यसमर्पकया तस्य सार्थक्यात्। वस्तुतस्तु साम्प्रतिकानां माहात्म्यानां मूलभूतेषु तत्तत्पुराणेषु नैतादृशां वचसामुपालम्भोऽस्तीति निर्मूलान्येवैतानि वचांसि इत्यनावश्यक एवैतद्विरोधोद्धारप्रयत्न इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। प्रकृतमनुस्रियते।

भाषा

प्र०—जब कि पद्मपुराण के माघमाहात्म्य में यह कहा है कि काशी में मरे हुए किसी मनुष्य के दश बार जन्म हुए और 'काञ्चनमालिनी' नामक स्त्री के दिये हुए माघस्नान के पुण्य से उसको देवजन्म मिला जैसा कि उसने कहा है कि—'अविमुक्ते०' हे भामिनि! अविमुक्त में किया हुआ पाप वज्रलेप होता है। उसी पाप से मुझे राक्षस का जन्म मिला है। इससे पूर्व गृध्र योनि में दो बार और व्याघ्र योनि में तीन बार तथा सर्प योनि में दो बार और उलूक (उल्लू) योनि में एक बार तथा विड्वराह (घरैला सूअर) योनि में एक बार जन्म होकर यह मेरा दशम जन्म राक्षस योनि में है। तब कैसे यह कहा जाता है कि काशी में मरे हुए सब प्राणियों का कदापि पुनर्जन्म नहीं होता?

उ० १—यह उपाख्यान सत्य नहीं है किन्तु आख्यायिकामात्र अर्थात् अर्थवाद ही है, निदान इसका तात्पर्य केवल प्रयाग में माघस्नान की प्रशंसामात्र में है कि काशीमरण से भी जिसका पाप नहीं छूटता वह प्रयाग के माघस्नान से छूट जाता है (अर्थवाद की रीति वेददुर्गसञ्जन के अर्थवाद प्रकरण में पूर्व ही कही जा चुकी है) क्योंकि यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो काशीमरण से पुनर्जन्म न होने का प्रतिपादन करने वाले पूर्वोक्त अनेक वेदवाक्यों और स्मृतिवाक्यों के साथ इस वाक्य का विरोध दुर्वार हो जायगा।

उ० २—वास्तविक में तो केवल मुद्रित पुस्तकों में ये वचन मिलते हैं। परन्तु पद्मपुराण के लिखित पुस्तकों में ये वचन नहीं हैं।

अथ तीर्थेषु स्मार्तः परिकरः—

तत्रैतत्प्रकरणोपन्यस्ते वीरमित्रोदये, "कीकटेषु गया पुण्या" इत्याद्येकमादिपुराणीयम् "शूद्रराज्येऽपि निवसेदि" त्यादीनि पैठामहानि पञ्च "ते देशास्ते जनपदा" इत्यादिकं व्यास-स्यैकम् "प्रभासे पुष्करे काश्यामित्यादिकं" विष्णुधर्मोत्तरीयमेकमिति वचनानीह स्मरणीयानि

तथा मनुः—यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।

तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्गमः ॥ (अ० ८ श्लो० ९२) इति।

अत्र गङ्गामिति जलतीर्थानां कुरूनिति च स्थलतीर्थानामुपलक्षणार्थम् । एवम् यथाऽस्मिन्नेव प्रकरणे "सप्तासिन्धुः" इति "सुखं रथं युयुजे" इति च मन्त्राभ्यां जलातिरिक्त-विग्रहवद्देवतारूपत्वं नदीनां साधितं तथैव स्मृतिभिरपि पुराणादिभिस्तत्र तत्र तत्प्रतिपादितम् तच सर्वं वाक्यजातं ग्रन्थगौरवभयादिहानुपन्यस्य दिङ्मात्रमुदाहियते । तथा हि महाभारते अनुशासनपर्वणि १६८ अध्याये—

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान् भीष्मः शांतनवस्तदा ।

तूर्ष्णी बभूव कौरव्य स मुहूर्तमरिन्दम ॥ १ ॥

भाषा

यहाँ तक प्रसङ्ग से काशी का विचार समाप्त हो गया । अब प्रकृत के अनुसार तीर्थों के विषय में स्मृति रूपी प्रमाण दिखलाये जाते हैं । इसी प्रकरण में पूर्व ही उद्धृत 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रन्थ में दिखलाये हुए इन श्लोकों को इस अवसर पर भूलना नहीं चाहिये कि—"*कीकटेषु गया पुण्या*" (यह एक आदि पुराण का है) "*शूद्रराज्येऽपि निवसेत्*" (ये पाँच ब्रह्मस्मृति के) "*ते देशास्ते जनपदाः*" (यह एक व्यासस्मृति का) "*प्रभासे पुष्करे काश्याम्*" (यह एक विष्णु धर्मोत्तर पुराण का) इति । तथा मनु—"*यमो वैवस्वतो०*" व्यवहार (मुकदमा) में प्रत्येक साक्षी से प्रथम ही यह कहा जाता है कि तुम्हारे हृदय में यह जो विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यमराज देवता स्थित हैं उनके साथ यदि तुमको विवाद नहीं है तो तुम न गङ्गा जाव, न कुरुक्षेत्र जाव अर्थात् तुम यदि मिथ्या साक्ष्य (गवाही) दोगे तो यमराज तुम पर क्रुद्ध हो जायँगे, तब उनके भय से तुमको इस पाप के नाशार्थ गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाना पड़ेगा । यहाँ 'गङ्गा' कहने का प्रत्येक जलतीर्थों में और 'कुरुक्षेत्र' कहने का प्रत्येक स्थलतीर्थों में तात्पर्य है । ऐसे ही इस प्रकरण में पूर्व ही "*सप्तासिन्धुः*" "*सुखं रथं*" (ऋ० म० १ अ० ३ सू ७१ मं० ८।१) *यथा महो भर्याः* (रि० मं० १ सू० ३ वर्ग ६ म० १२) पर यह स्पष्ट दिखला दिया गया है कि जल से अतिरिक्त एक एक देवता रूपी शरीर भी नदियों का होता है । तथा इतिहास और पुराण आदि में भी अनेक कथाओं से यह विषय पूर्ण सिद्ध है परन्तु यहाँ उन सब वाक्यों का यदि उद्धार किया जाय तो यह ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा । इसलिये "स्थाली पुलाक-न्याय" (बटुली में दो चावल के टोने से अन्य सब चावलों के कच्चे या पक्के होने का निश्चय का दृष्टान्त) से जलतीर्थों में प्रधान श्री गङ्गा के विषय में महाभारत के अनुशासन पर्व के १६८ अध्याय को मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ कि वैशम्पायन ने राजा जनमेजय से कहा कि—"*एवमुक्त्वा०*" हे अरिन्दम ! सब कौरवों से पूर्वोक्त बातें कह कर शन्तनु के पुत्र भीष्म मुहूर्त भर चुप हो गये ॥ १ ॥

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम् ।
तस्योर्द्धमगमन्प्राणाः सन्निरुद्धा महात्मनः ॥ २ ॥
यद्यन्मुञ्चति गात्राणां स शान्तनुसुतस्तदा ।
तत्तद्विशल्यमभवद्योगयुक्तस्य वै क्रमात् ॥ ३ ॥
इदमाश्चर्यमासीच्च मध्ये तेषां महात्मनाम् ।
सहितैर्ऋषिभिः सर्वैस्तथा व्यासादिभिर्नृप ॥ ४ ॥
क्षणेन प्रेक्षतां तेषां विशल्यः सोऽभवत्तदा ।
तद्दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ५ ॥
सहितैर्मुनिभिः सर्वैस्तथा व्यासादिभिर्नृप ।
सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै ॥ ६ ॥
जगाम भित्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ।
देवदुन्दुभिनादश्च पुष्पवर्षैः सहाभवत् ॥ ७ ॥
सिद्धा ब्रह्मर्षयश्चैव साधु साध्विति हर्षिताः ।
महोल्केव च भीष्मस्य मूर्द्धदेशाज्जनाधिप ॥ ८ ॥
निःसृत्याकाशमाविश्य क्षणेनान्तरधीयत ।
एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा ॥ ९ ॥
समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ।
ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान्बहून् ॥ १० ॥

भाषा

और यथाक्रम अर्थात् मूलाधार से अपने अधिष्ठान में और वहाँ से मणिपूर में, तथा वहाँ से अनाहत में और वहाँ से विशुद्धि में और विशुद्धि से आज्ञा में एवं क्रम से मन इन्द्रिय सहित प्राणवायु को योगरीति से रोकते २ भीष्म ऊपर को ले गये ॥ २ ॥ हे प्रभो ! सब ऋषि अर्थात् व्यासादि महात्माओं के मध्य में वहाँ यह प्रत्यक्ष बड़ा आश्चर्य हुआ कि ॥ ३ ॥ पादतल से लेकर जिस जिस अङ्ग को योगबल से भीष्म छोड़ते गये तत्क्षण ही उस अंग में चुभे हुये बाणों के टूटे फल (अग्रभाग) आप ही आप बाहर निकल कर गिर जाते थे और व्रण भी ऐसा पूर्ण हो जाता था कि मानो उस अङ्ग में कभी बाण लगे ही नहीं थे । यहाँ तक कि उन ऋषियों के देखते देखते भीष्म का सर्वाङ्ग पूर्ण और पूर्ववत् हो गया । इस बात को देख कर व्यास आदि मुनियों के सहित कृष्ण भगवान् आदि सब लोग बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुए और भीष्म का प्राणसंयुक्त मन एकाग्र हो उनके मस्तक के मध्य को तोड़ ऊपर को निकला । उस समय देवताओं के दुंदुभि आकाश में बजने लगे और उसी के साथ पुष्पवृष्टि भी भीष्म के शिर पर हुई ॥४—७॥ तथा हर्ष से सिद्ध और महर्षि लोग साधु साधु (वाह वाह) कहने लगे और भीष्म के शिर से बड़े लूक के समान तेज निकल कर आकाश में जा क्षण भर में गुप्त हो गया । हे राजशार्दूल ! भरत कुल के श्रेष्ठ वह राजा भीष्म इस प्रकार कालधर्म से संयुक्त हुए। तदनन्तर पाँच पाण्डव विदुर, युयुत्सु (धृतराष्ट्र का वैश्यकन्या से उत्पन्न पुत्र) ये सात, चन्दन आदि

चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा।
युयुत्सुश्चापि कौरव्य प्रेक्षकास्त्वितरेऽभवन् ॥ ११ ॥
युधिष्ठिरश्च गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥ १२ ॥
धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम्।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ॥ १३ ॥
उष्णीषे पर्यगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभावपि।
युधिष्ठिरश्च सहितो धृतराष्ट्रश्च पादतः ॥ १४ ॥
स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्वहम्।
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वशः ॥ १५ ॥
ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः।
यजनं बहुशश्चाग्नौ जगुः सामानि सामगाः ॥ १६ ॥
ततश्चन्दनकाष्ठैश्च तथा कालीयकैरपि।
कालागुरुप्रभृतिभिर्गन्धैश्चोच्चावचैरपि ॥ १७ ॥
समवच्छाद्य गाङ्गेयं संप्रज्वाल्य हुताशनम्।
अपसव्यमकुर्वन्त धृतराष्ट्रमुखाश्चिताम् ॥ १८ ॥
संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः।
जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरूद्वहाः ॥ १९ ॥
अनुगम्यमाना व्यासेन नारदेनासितेन च।
कृष्णेन भरतस्त्रीभिर्ये च पौराः समागताः ॥ २० ॥

भाषा

सुगन्धित काष्ठों और द्रव्यों से भीष्म की चिता बनाने लगे, और अवशिष्ट लोग उसके प्रेक्षक हो गये ॥ ८—११ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर और महामति विदुर ने भीष्म को उत्तम २ क्षौम वस्त्र तथा सुगन्धित पुष्पमालाओं को धारण करवाया और युयुत्सु ने भीष्म के ऊपर छत्र धारण किया तथा भीम और अर्जुन ने एक एक शुभ्र चामर हाथ में ले भीष्म के ऊपर हिलाने लगे। नकुल तथा सहदेव ने किरीट और शिरोवेष्टन (पगड़ी) भीष्म को धारण कराया। तथा कुरुवंश की सब रानियाँ भीष्म के ऊपर ताड़ का पंखा झलने लगीं। तदनन्तर चिता की अग्नि में होम और साममंत्रों का गान हुआ और भीष्म को चिता पर रख उनके ऊपर चन्दन अगर आदि काष्ठ तथा सुगन्धित अन्यान्य द्रव्य रख कर उनके शरीर को आच्छादित किया और धृतराष्ट्र को आगे कर सब कौरवों ने चिता पर जलते हुए भीष्म को बाईं ओर से भ्रमण किया ॥ १२—१८ ॥ दाह के अनन्तर वे कौरव पुण्या भागीरथी नदी को चले और पीछे से व्यास, नारद, असित, कृष्ण भगवान्, भरत कुल की स्त्रियाँ

उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः।
विधिवद्भरतश्रेष्ठ स च सर्वो जनस्तदा ॥ २१ ॥
ततो भागीरथी देवी तनयस्योदके कृते।
उत्थाय सलिलात्तस्माद्रुदती शोकविह्वला ॥ २२ ॥
परिदेवयती तत्र कौरवानभ्यभाषत।
निबोधत यथा वृत्तमुच्यमानं मयाऽनघाः ॥ २३ ॥
राजवृत्तेन सम्पन्नः प्रज्ञयाऽभिजनेन च।
सत्कर्ता कुरुवृद्धानां पितृभक्तो महाव्रतः ॥ २४ ॥
जामदग्न्येन रामेण यः पुरा न पराजितः।
दिव्यैरस्त्रैर्महावीर्यः स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ २५ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम पार्थिवाः।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं यन्न दीर्यति मेऽद्य वै ॥ २६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां स्वयम्वरे।
विजित्यैकरथेनैव कन्याश्चापजहार ह ॥ २७ ॥
यस्य नास्ति बले तुल्यः पृथिव्यामपि कश्चन।
हतं शिखण्डिना श्रुत्वा न विदीर्यति मे मनः ॥ २८ ॥
जामदग्न्यः कुरुक्षेत्रे युधि येन महात्मना।
पीडितो नातियत्नेन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ २९ ॥

भाषा

और पुर के प्रजा सब चले। गङ्गातीर में पहुँच कर सबने भीष्म को विधिवत् जलाञ्जलि दिया ॥ १९—२१ ॥ तदनन्तर शोक से विह्वल, रोती और चिल्लाती हुई भागीरथी गङ्गा ने अपने जल से निकल कर कौरवों से कहा कि ॥ २२ ॥ हे निष्पापो ! जो मैं कहती हूँ उसे सुनो कि राजधर्मो से युक्त, बुद्धि और कुल से सम्पन्न कुरुवृद्धों का सत्कार करने वाला पिता का भक्त जो महाव्रत (भीष्म) पूर्व ही दिव्य अस्त्रों के द्वारा आचार्य परशुराम से भी नहीं पराजित हुआ वह महावीर आज शिखण्डी के हाथ से मारा गया।

हे राजाओं ! मेरा यह हृदय अवश्य ही लोह का बना है जो कि आज प्रिय पुत्र के न देखने पर भी विदीर्ण नहीं हो जाता है। काशीपुरी वाले स्वयंवर में भूमण्डल के सब क्षत्रियों को एकरथ से जीत कर जिसने कन्याओं को हरण कर लिया तथा पृथिवी में कोई पुरुष, बल से जिसके तुल्य नहीं है उसको शिखण्डी के हाथ से मरा सुन कर भी मेरा हृदय फट नहीं जाता हाय ! कुरुक्षेत्र के युद्ध में जिसने थोड़े परिश्रम से परशुराम को दबा लिया उसको आज शिखण्डी ने मार डाला। इस प्रकार से बहुत विलाप करती महानदी श्री गङ्गा को श्रीयुत कृष्ण भगवान् ने उस समय आश्वासन

एवं विधं बहु सदा विलपन्तीं महानदीम् ।
आश्वासयामास तदा साम्ना दामोदरो विभुः ॥ ३० ॥

समाश्वसिहि भद्रे त्वं मा शुचः प्रियदर्शने ।
गतः स परमं लोकं तव पुत्रो न संशयः ॥ ३१ ॥

वसुरेष महातेजाः शापदोषेण शोभने ।
मानुषत्वमनुप्राप्तो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ ३२ ॥

स एष क्षत्रधर्मेण युध्यमानो रणाजिरे ।
धनञ्जयेन निहतो नैष देवि शिखण्डिना ॥ ३३ ॥

भीष्मं हि कुरुशार्दूलमुद्यतेषुं महारणे ।
न शक्तः संयुगे हन्तुं साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ३४ ॥

स्वच्छन्दतस्तव सुतो गतः स्वर्गं शुभानने ।
न शक्ता विनिहन्तुं वै रणे तं सर्वदेवताः ॥ ३५ ॥

तस्मान्मा देवि गङ्गे त्वं शोचस्व कुरुनन्दनम् ।
वसुरेष गतो देवि पुत्रस्ते विज्वरा भव ॥ ३६ ॥

वैशम्पा० उ०—इत्युक्ता सा तु कृष्णेन व्यासेन च सरिद्वरा ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज प्रकृतिं प्राप जाह्नवी ॥ ३७ ॥

सत्कृत्य ते तां सरितं तदा कृष्णमुखा नृप ।
अनुज्ञातास्तया सर्वे न्यवर्तन्त जनाधिप ॥ ३८ ॥ इति ।

भाषा

दिया और कहा कि हे भद्रे ! धीरज धरो, शोक मत करो ॥ २१—३० ॥ इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि वह तुम्हारे पुत्र 'वसु' नामक देवता थे, शाप से मनुष्य हुए थे। अब पुनः उत्तम लोक को गये, तो ऐसी दशा में तुमको शोक नहीं करना चाहिये। वह तुम्हारे पुत्र रणभूमि में क्षत्रिय धर्म के अनुसार लड़े। और हे देवि ! अर्जुन ने उनको मारा न कि शिखण्डी ने, क्योंकि महायुद्ध में बाण उठाये हुए कुरुशार्दूल भीष्म को साक्षात् इन्द्र भी मार नहीं सकते थे। हे शुभानने ! वह तुम्हारे पुत्र, अपनी इच्छा से मृत्यु पाकर स्वर्ग को गये, क्योंकि सब देवता एकत्रित होकर भी उनको नहीं मार सकते थे, इसलिये हे नदियों में श्रेष्ठ ! तुम उन कुरुनन्दन का शोक न करो। वह पुनः वसुदेवता हो गये ॥ ३१—३६ ॥

वैशम्पायन, हे—महाराज ! कृष्ण भगवान् के और तदनन्तर व्यास के वाक्यों के श्रवण से वह गङ्गा देवी शोक छोड़ अपने जल में उतर गयीं ॥ ३७ ॥ और वे कृष्ण आदि सब राजा उन श्री गङ्गा का सत्कार कर तथा उनसे आज्ञा ले वहाँ से चले ॥ ३८ ॥ श्री गंगा का माहात्म्य भी अनुशासन पर्व के अध्याय २६ में है जो उद्धृत किया जाता है। राजा जनमेजय से वैशम्पायन ने

एवम् गङ्गामाहात्म्यमपि तत्रैव २६ अध्याये—

वैशम्पाय० उ०—बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम् ।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥
गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरि तेजसम् ।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ ॥ २ ॥
शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम् ।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥
अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः सुयतात्मवान् ॥ ४ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः ।
बृहस्पत्युशनोव्यासाश्च्यवनः कश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजोऽथ रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥
स्थूलाक्षः शबलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः ।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाऽथैकतो द्वितः ॥ ७ ॥
नितम्भूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दो कृतव्रणः ।
जामदग्न्यस्तथा रामः कचश्चेत्येवमादयः ॥ ८ ॥
समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः ।
तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः ।
ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥ १० ॥
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः ।
भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ ११ ॥

भाषा

कहा कि—"बृहस्पतिसमं०" बुद्धि में बृहस्पति के, क्षमा में ब्रह्मा के, पराक्रम में इन्द्र के, और तेज में सूर्य के तुल्य अर्जुन के मारे हुए वीरशयन (शरशय्या) पर लेटे, अपने मृत्यु समय की प्रतीक्षा करते गंगा के पुत्र भीष्म को देखने के लिये अत्रि, वशिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, अगस्ति, सुमति, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रमति, दम, बृहस्पति, शुक्र, व्यास, च्यवन, कश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित, स्थूलाक्ष, शबलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृष्ण, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, द्वित, नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण, परशुराम, कच आदि महर्षि वहाँ आ गये और उनसे प्रथम युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न पूछ चुके थे और प्रश्न करते ही ये सब महर्षि आ गये। तदनन्तर भाइयों के सहित युधिष्ठिर सब काम छोड़ इन महात्माओं का यथाक्रम पूजन किया और ये आसनों पर सुखपूर्वक बैठ कर भीष्म के विषय की वार्ता

मेने दिविष्ठमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः ।
ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः ॥ १२ ॥
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम् ।
तानृषीन्सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि ॥ १३ ॥
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः ।
प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमम् ॥ १४ ॥
उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः ।
प्रभावात्तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ॥ १५ ॥
प्रकाशतो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः ।
महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते ॥ १६ ॥
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ।

वैशम्पा० उ०—कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः ॥ १७ ॥
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ।

युधि० उ०—के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः ॥ १८ ॥
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ।

भीष्म० उ०—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ १९ ॥
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ।
इमां कश्चित्परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषणाम् ॥ २० ॥
असकृद्द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ।
शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनार्चितः ॥ २१ ॥
उवास रजनीं तत्र सुमुखः सुखमागतः ।
शिलवृत्तिस्तु यत्कृत्यं प्रातस्तत्कृतवान्शुचिः ॥ २२ ॥

भाषा

करने लगे तथा भीष्म भी उनकी वार्ता सुनकर इतना प्रसन्न हुए कि अपने को स्वर्ग में स्थित समझा और उन ऋषियों के सम्बन्ध में भीष्म ने भी वार्ता की । तदनन्तर भीष्म और पाण्डवों से पूछकर उनके देखते २ वे सब महर्षि वहीं गुप्त हो गये और पाण्डवों ने उनको प्रणाम और उनकी स्तुति किया, तथा बड़े आश्चर्य में आकर भीष्म से उन महर्षियों के प्रभाव की वार्ता किया । तदनन्तर युधिष्ठिर ने भीष्म के चरणों को प्रणाम कर धर्म के विषय में प्रश्न किया कि ॥ १–१७ ॥

हे पितामह ! कौन २ देश (भूमिभाग) तथा कौन २ जनपद (बड़ों का निवासस्थान) और कौन २ आश्रम (ऋषिस्थान) तथा कौन २ पर्वत और कौन २ नदी श्रेष्ठ धर्मस्थान हैं ॥ १८ ॥

भीष्म—हे युधिष्ठिर ! इन प्रश्नों के विषय में शिलोञ्छवृत्ति (खेत में गिरे हुए दानों से जीवन करने वाले) ब्राह्मण और एक सिद्ध पुरुष के संवाद रूपी पुराना इतिहास यह है कि ॥ १९ ॥ एक पुरुष सब पृथ्वी को अनेक बार भ्रमण कर एक गृहस्थ ब्राह्मण शिलोञ्छवृत्ति

कृतकृत्यमुपातिष्ठत्सिद्धं तमतिथिं तदा ।
तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः ॥ २३ ॥

चक्रतुर्वेदसम्बद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ।
शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः ॥ २४ ॥

प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शिलवृ० उ०—के देशाः के जनपदाः के श्रमाः के च पर्वताः ॥ २५ ॥

प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ।
सिद्ध० उ०—ते देशास्ते जनपदास्ते श्रमास्ते च पर्वताः ॥ २६ ॥

येषां भागीरथी गङ्गा मध्ये याति सरिद्वरा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ॥ २७ ॥

गतिं तां लभते जन्तुर्गङ्गां संप्रेक्ष्य यां लभेत् ।
स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम् ॥ २८ ॥

न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद्विधीयते ।
सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कार्याणि देहिनाम् ॥ २९ ॥

गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति ते जनाः ।
पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः ॥ ३० ॥

पश्चाद्गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ।
स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम् ॥ ३१ ॥

भाषा

के यहाँ आये और विधिवत् सत्कार पाकर वहाँ एक रात्रि रहे। शिलवृत्ति ने प्रातः काल अपना नित्य-कृत्य कर उस अतिथि के समीप उपस्थित हुए और वे दोनों वेद के सम्बन्ध में वार्ता करने लगे। उसके अन्त में उन सिद्ध पुरुष से आज्ञा लेकर शिलवृत्ति ने उनसे इन्हीं प्रश्नों को पूछा जिनको तुम मुझसे पूछते हो ॥ २०—२५ ॥ सिद्ध पुरुष ने कहा कि वे देश, वे जनपद, वे आश्रम और वे पर्वत, पुण्य हैं कि जिनके बीच से नदियों में श्रेष्ठ भागीरथी गङ्गा जाती हैं ॥ २६ ॥ तप, ब्रह्मचर्य्य, यज्ञ और त्याग से भी वैसी गति को प्राणी नहीं पा सकता जैसी गति को गंगासेवन से पावेगा ॥ २७ ॥ गंगा के जल से जिन प्राणियों के अंग का स्पर्श हो गया अथवा अंग गंगा में डाला गया वे प्राणी स्वर्ग जाते हैं और वहाँ से कदापि नहीं निकाले जाते ॥ २८ ॥ जिन प्राणियों के मल शौच पर्यन्त सब कार्य गंगा जल से होते हैं वे अन्त में स्वर्ग जाते हैं ॥ २९ ॥ पूर्व अवस्था में पापों को कर वृद्धा-वस्था में भी जो मनुष्य गंगासेवन करते हैं वे भी उत्तम गति को पाते हैं ॥ ३० ॥ गंगाजल से स्नान करने वाले धर्मात्मा मनुष्यों की जितनी धर्मवृद्धि होती है उतनी शतयज्ञों से भी नहीं होती ॥ ३१ ॥ जिस मनुष्य की हड्डी जितने क्षणों तक गंगा जी में रहती है वह मनुष्य उतने सहस्र वर्ष तक स्वर्ग

व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि।
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति ॥ ३२ ॥
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते।
अपहत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः ॥ ३३ ॥
तथापहत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः।
विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा ॥ ३४ ॥
तद्वद्देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शिवैः।
वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः ॥ ३५ ॥
क्रतवश्च यथाऽसोमास्तथा गङ्गां विना जगत्।
यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना ॥ ३६ ॥
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः।
त्रिषु लोकेषु ये केचित्प्राणिनः सर्व एव ते ॥ ३७ ॥
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गङ्गाजलैः शुभैः।
यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम् ॥ ३८ ॥
गवां निर्हारनिर्मुक्तायावकात्तद्विशिष्यते।
इन्दुव्रतसहस्रं तु चरेद्यस्कायशोधनम् ॥ ३९ ॥
पिबेद्यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ।
तिष्ठेद्युगसहस्रं तु पादेनैकेन यः पुमान् ॥ ४० ॥
मासमेकं तु गङ्गायां समौ स्यातां न वा समौ।
लम्बेतावाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान् ॥ ४१ ॥

भाषा

लोक में पूजित होता है ॥ ३२ ॥ जैसे प्रातःकाल घन अन्धकार को नाश कर सूर्य चमकते हैं वैसे पापों को नाश कर गंगाजल में स्नान करने वाला मनुष्य चमकता है ॥ ३३ ॥ जैसे चन्द्रमा से हीन रात्रियाँ और पुष्पों से हीन वृक्ष होते हैं वैसे गंगाजल से हीन देश और दिशायें हैं ॥ ३४ ॥ जैसे धर्म और ज्ञान से वर्जित ब्राह्मण आदि वर्ण और गृहस्थादि आश्रम, तथा सोमलता से हीन यज्ञ होते हैं जगत् भी वैसे ही हो जायें यदि गंगा यहाँ न रहें ॥ ३५ ॥

इसमें कुछ संशय नहीं है कि जैसे सूर्य के बिना आकाश, पर्वतों के बिना पृथ्वी और वायु के बिना आकाश होता है वैसे ही गंगा से हीन देश और दिशायें हैं ॥ ३६ ॥ तीनों लोक में जो प्राणी हैं वे सभी गंगाजल के तर्पण से बड़ी तृप्ति पाते हैं ॥ ३७ ॥ सूर्य से तप्त गंगाजल का पान, यावकव्रत (गौ को यव खिला कर उसके गोमय में से उन यवों को निकाल उनके आटे के भोजन का नियम) की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥ शरीर को शुद्ध करने वाले सहस्र चान्द्रायणव्रत गंगा जलपान के तुल्य हो सकते हैं अथवा नहीं ॥ ३९ ॥ सहस्र युग पर्यन्त एक चरण से खड़ा रहना एक मास गंगा में खड़े रहने के तुल्य है अथवा नहीं ॥४० ॥ नीचे शिर कर दश सहस्र युग पर्यन्त

तिष्ठेद्यथेष्टं यश्चापि गङ्गायां स विशिष्यते ।
अग्नौ प्रास्तं प्रदूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम ॥ ४२ ॥
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वं पापं प्रदूयते ।
भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम् ॥ ४३ ॥
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः ।
भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात् ॥ ४४ ॥
गङ्गाया दर्शनात्तद्वत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अप्रतिष्ठाश्च ये केचिदधर्मशरणाश्च ये ॥ ४५ ॥
तेषां प्रतिष्ठा गङ्गेह शरणं शर्म वर्म च ।
प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्तानमेकैः पुरुषाधमान् ॥ ४६ ॥
पततो नरके गङ्गा संश्रितान्प्रेत्य तारयेत् ।
ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः ॥ ४७ ॥
येऽभिगच्छन्ति सततं गङ्गां मतिमतां वर ।
विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः ॥ ४८ ॥
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गङ्गामुपाश्रिताः ।
यथा सुराणाममृतं पितृणां च यथा स्वधा ॥ ४९ ॥
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम् ।
उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयार्दिताः ॥ ५० ॥

भाषा

लटकने की अपेक्षा गंगाजल में खड़ा रहना श्रेष्ठ है ॥ ४१ ॥ हे द्विजोत्तम ! जैसे अग्नि में फेंकी हुई रूई भस्म हो कर तत्क्षण उड़ जाती है वैसे गंगा में उतरते हुए प्राणी के पाप तत्क्षण ही भस्म हो कर उड़ जाते हैं ॥ ४२ ॥ गति को अन्वेषण करने वाले सब दुःखी प्राणियों के लिये गंगा के समान कोई दूसरी गति नहीं है ॥ ४३ ॥

जैसे गरुड़ के दर्शन से सर्प भागते हैं वैसे गंगा के दर्शन से सब पाप भागते हैं ॥ ४४ ॥ जो मनुष्य अप्रतिष्ठित अथवा अधर्मी हैं उनके लिए इस लोक में गंगा प्रतिष्ठा, शरण, कल्याण और रक्षक भी हैं ॥ ४५॥ बड़े २ पापों से ग्रस्त, नरक में गिरते हुए, अन्त काल में गंगा की शरण आये, अधम पुरुषों को गंगा तार देती हैं ॥ ४६ ॥ जो मनुष्य, प्रतिदिन गंगा के अभिमुख जाया करते हैं उनको अवश्य इन्द्रादि देवता और मुनिगण, इसी लोक में विशेष दृष्टि से देखते हैं ॥ ४७ ॥ जो नराधम विनय और आचार से हीन होने से अशुभ हैं वे गंगा के आश्रयण करने से शुभ हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ जैसे देवताओं के लिए अमृत, पितरों के लिए स्वधा, नागों के लिए सुधा (दूध अथवा नाग-लोक का असाधारण द्रव द्रव्य जिसके पीने से भीम की बलवृद्धि भारत में कही है) है वैसे, मनुष्यों के लिए गंगाजल पुष्टिकारी है ॥ ४९ ॥ जैसे भूखे बालक माता की उपासना करते हैं वैसे कल्याण

श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ।
स्वायंभुवं यथास्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ॥ ५१ ॥
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गङ्गा तद्वदिहोच्यते ।
यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां परा स्मृता ॥ ५२ ॥
तथोपजीविनां गङ्गा सर्वप्राणभृतामिह ।
देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ॥ ५३ ॥
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गङ्गाजलं नराः ।
जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितम् ॥ ५४ ॥
आत्मानं मन्यते लोको दिविष्टमिव शोभितम् ।
जाह्नवीतीरसंभूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ॥ ५५ ॥
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय निर्मलम् ।
गङ्गोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ॥ ५६ ॥
स्पृशते सोऽस्य पाप्मानं सद्य एवापकर्षति ।
हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ॥ ५७ ॥
पस्पर्द्ध गङ्गा गन्धर्वान् पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ।
हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ॥ ५८ ॥
गङ्गां गोकुलसंबाधां दृष्ट्वा सर्वोऽपि विस्मृतः ।
न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपासतः ॥ ५९ ॥

भाषा

चाहने वाले प्राणी गंगा की उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ जैसे ब्रह्मा का स्थान, सब स्थानों में श्रेष्ठ है वैसे इस लोक में स्नान के लिए सब नदियों में गंगा श्रेष्ठ है ॥ ५१ ॥ जैसे दूधवाली गौ, देवता आदि सब उपजीवियों की उपकारी है वैसे गंगा अपने उपजीवी सब प्राणियों की उपकारी है ॥ ५२ ॥ जैसे 'सत्र' आदि यज्ञों में देवतागण सोमरस रूपी अमृत से जीते हैं वैसे गंगाजल से मनुष्य ॥ ५३ ॥ उड़ी हुई गंगा की बालुका से आकीर्ण लोग, अपने को स्वर्गीयों के ऐसा शोभित समझते हैं ॥ ५४ ॥ जो मनुष्य गंगा की मृत्तिका को शिर में धारण करता है वह मानो पाप रूपी अन्धकार के नाशार्थ, सूर्य का निर्मल रूप धारण करता है ॥ ५५ ॥

गंगा की लहरों में स्नान किये हुए वायु, जिस समय जिन मनुष्यों को स्पर्श करते हैं उसी समय उन मनुष्यों के पापों का वह नाश कर देते हैं। द्यूत और मद्यपान आदि दुराचारों के दुःखरूपी फल को भोग करने वाले पुरुष के दुःखों को अन्तकाल में गंगा का दर्शन नष्ट कर देता है। हंस चकवाक आदि पक्षियों के शब्द से गंगा गन्धर्वों के तुल्य और ऊँचे २ तटों से पर्वतों के तुल्य जान पड़ती है। हंस आदि अनेक पक्षी और तैरती हुई गौओं के गणों से भूषित गंगा को देखकर देवता लोग स्वर्गलोक को भी भूल जाते हैं। जो प्रसन्नता गंगा के पुलिन में मनुष्यों

संभवेद्या परा प्रीतिर्गङ्गायाः पुलिने नृणाम् ।
वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ॥ ६० ॥
वीक्ष्य गङ्गां भवेत्पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ।
सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ॥ ६१ ॥
पुमाँस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वाऽवगाह्य च ।
श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टाऽवगाहिता ॥ ६२ ॥
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ।
दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गङ्गेति कीर्तनात् ॥ ६३ ॥
पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
य इच्छेत्सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ॥ ६४ ॥
स पितॄंस्तर्पयेद् गङ्गामभिगम्य सुरांस्तथा ।
न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ॥ ६५ ॥
प्राप्नुयात्पुरुषोऽत्यन्तं गङ्गां प्राप्य यदाप्नुयात् ।
जात्यन्धैर्हि तुल्यास्ते मृतैः पङ्गुभिरेव च ॥ ६६ ॥
समर्था ये न पश्यन्ति गङ्गां पुण्यजलां शिवाम् ।
भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ॥ ६७ ॥
देवैः सेन्द्रैश्च को गङ्गां नोपसेवेद्धि मानवः ।
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ॥ ६८ ॥

भाषा

को होती है वह प्रसन्नता स्वर्ग में स्वर्गवासिओं को भी नहीं होती क्योंकि ॥ ५६—६० ॥ मुझे इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि मन, वचन और कर्म के द्वारा किए हुए पापों से ग्रास किया हुआ मनुष्य भी इस लोक में गंगा के दर्शन मात्र से पवित्र हो जाता है । तथा गंगा को देखकर, स्पर्श कर और गंगा में स्नान कर मनुष्य अपनी नीचे और ऊपर की सात २ पीढ़ियों और उनसे भी अधिक २ पीढ़ियों को भी तार देता है । तथा गंगा के नाम का श्रवण, गङ्गा के देखने की इच्छा, गंगाजल का पान, गंगा का स्पर्श, दर्शन और स्नान करने से गङ्गा, मनुष्यों के पितृकुल और मातृकुल दोनों को तारती हैं ॥ ६१—६३ ॥ और उक्त ये काम सैकड़ों और सहस्रों पापी पुरुषों को सदा पवित्र करते रहते हैं जो मनुष्य अपने जन्म, जीवन और विद्या को सफल करना चाहे वह गङ्गा में देवताओं और पितरों का तर्पण करे । मनुष्य, पुत्र, धन और कर्मों से उस फल को नहीं पा सकता जिसको कि गङ्गा को पाकर पाता है । वे मनुष्य पंगुले और जन्मान्ध तथा मृतक के तुल्य हैं जो कि समर्थ हो कर गंगा का दर्शन नहीं करते और कौन बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा है कि जो त्रिकालदर्शी महर्षियों तथा इन्द्रादि देवताओं से सेवित श्री गंगा का सेवन न करे । तथा सब वर्ण और आश्रम वाले विद्वानों से आश्रित श्री गंगा को आश्रयण न करे । प्राण निकलने के

विषावद्भिः भितां गङ्गां पुमान् को नाम नाभयेत्।
उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसम्मतः ॥ ६९ ॥
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत्।
न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ॥ ७० ॥
आदेहपतनाद्गङ्गामुपास्ते यः पुमानिह।
महापुण्यां च गगनात्पतन्तीं वै महेश्वरः ॥ ७१ ॥
दधार शिरसा गङ्गां तामेव दिवि सेवते।
अलङ्कृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ॥
यस्तु तस्या जलं सेवेत्कृतकृत्यः पुमान्भवेत् ॥ ७२ ॥
दिवि ज्योतिर्यथाऽदित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः।
देवेशश्च यथा नृणां गङ्गा च सरितां तथा ॥ ७३ ॥
मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्वियुक्तस्य धनेन वा।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गङ्गावियोगजः ॥ ७४ ॥
नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः।
तथा प्रसादो भवति गङ्गां वीक्ष्य यथा भवेत् ॥ ७५ ॥
पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति।
तथा त्रिपथगां दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७६ ॥

भाषा

समय जो मनुष्य गंगा का स्मरण करता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है। जो मनुष्य अपने मृत्यु पर्यन्त गंगासेवन करता है, उसको व्याघ्रादि और पिशाचादि तथा ब्रह्मवधादि पाप और राजा से भय नहीं होता ॥ ६९—७० ॥

आकाश से गिरती हुई महापुण्या गंगा को महेश्वर ने शिर से धारण किया और अब भी उन्हीं की सेवा करते हैं ॥ ७१ ॥ गंगा की तीन धाराओं से तीनों लोक भूषित हैं तथा गंगा के जल को जो पान करता है वह मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७२ ॥

जैसे आकाश की ज्योतियों में सूर्य और पितृलोक में चन्द्रमा, तथा देवताओं में इन्द्र हैं, वैसे मनुष्यों के लिए नदियों में गंगा हैं ॥ ७३ ॥ बुद्धिमान् को माता, पिता, पुत्र, भार्या और धन के वियोग से इतना दुःख नहीं होता जितना गंगा के वियोग से होता है ॥ ७४ ॥

वनलोक के विषयों से अथवा स्वर्गीय विषयों से तथा पुत्र या धन के लाभ से विवेकी को उतनी प्रसन्नता नहीं होती जितनी गंगा के दर्शन से होती है ॥ ७५ ॥ जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देख कर नेत्र शीतल होते हैं वैसे गंगा को देखकर भी ॥ ७६ ॥ गंगा में श्रद्धा, भय और निरन्तर सेवन तथा एक गंगा ही को शरण मानना ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं वह गंगा का प्रिय होता

तद्भावस्तद्गतमनाः तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
गङ्गां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥ ७७ ॥
भूस्थैः खस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि ।
गङ्गा विगाह्या सततमेतत्कार्यतमं सताम् ॥ ७८ ॥
विश्वलोकेषु पुण्यत्वाद्गङ्गायाः प्रथितं यशः ।
यत्पुत्रान्सगरस्येतो भस्माख्याननयद्दिवम् ॥ ७९ ॥

भीष्म उ०—इति परमगतिर्गुणानशेषान् शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान् ।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान् गगनतलं द्युतिमान्विवेश विद्वान् ॥१०१॥
शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः सम्बोधितस्तदा ।
गङ्गामुपास्य विधिवत्सिद्धिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥१०२॥
तथा त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः ।
गङ्गामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥१०३॥

वैशम्पा० उ०—श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गङ्गायास्स्तवसंयुतम् ।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद्भ्रातृभिः सह ॥१०४॥
इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद्यः पठेत वा ।
गङ्गायास्स्तवसंयुक्तं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१०५॥ इति

तीर्थविषये वेदवैनाशिकमतं तु चार्वाकलीलामात्रत्वाद्भाषाग्रन्थेष्वन्यैर्दूषिततरत्वात् पूर्वव्याख्यानेनैव सुदूरनिराकृतत्वाच्चेह दूषयितुमपि नार्हमित्युपरम्यते ।

भाषा

है ॥७७॥ पृथिवी आकाश स्वर्ग के छोटे बड़े सब प्राणियों के लिए सज्जन लोग गंगास्नान को महा कर्तव्य मानते हैं ॥ ७८ ॥ राजा सगर के भस्मीभूत साठ सहस्र पुत्रों को (जिनकी हड्डी भी नहीं बची थी) श्री गंगा ने अपने स्पर्शमात्र से स्वर्ग पहुँचाया । यह कीर्ति सब लोक में अद्यावधि विख्यात है ॥ ७९ ॥

भीष्म—इस रीति से शिलवृत्ति ब्राह्मण को अनेक प्रकार गंगा के सत्य गुणों का उपदेश कर वह सिद्ध पुरुष आकाश मार्ग से चले गये और शिलवृत्ति ने सिद्ध के वाक्यानुसार गंगा का विधिवत सेवन कर अन्त में दुर्लभ गति को पाया ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

हे कौन्तेय (युधिष्ठिर) ! तुम भी वैसे ही पूर्ण भक्ति से प्रति दिन गंगा के अभिमुख जाया करो । अन्त में उत्तम गति को पाओगे ॥ १०३ ॥ इति ।

वेदवैनाशिक ने अपने सत्यार्थप्रकाश के ११ वें उल्लास में तीर्थों के विषय में जो कहा है वह तो यहाँ खडण्न करने के योग्य भी नहीं है क्योंकि वह चार्वाक् लीलामात्र है और यहाँ कहे हुए प्रमाणों और तर्कों से आप से आप खण्डित हो चुका है तथा भाषा के अन्यान्य ग्रन्थों ने उसको चूर २ कर उड़ा भी दिया है। इसलिए यह तीर्थानुसरण प्रकरण अब यहाँ समाप्त किया जाता है ।

३६—धर्म्ययुद्धम्

अथ "जीवितं दानभोगाभ्यां मरणं रणतीर्थयो" रितिस्मरणात्तीर्थानन्तरम् धर्म्ययुद्धं निरूप्यते सामान्यधर्मः। तथा च शिवपुराणे धर्मसंहिताखण्डे ४१ अध्याये व्यासं प्रति भगवान् सनत्कुमारः।

शक्यं त्विह समर्थैश्च यष्टुं क्रतुशतैरपि ॥ ३२ ॥
आत्मदेहपरित्यागः कर्तुं युधि सुदुष्करः।
युद्धे पुण्यतमः स्वर्ग्यः सुपथः सर्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
सर्वेषामेव वर्णानां क्षत्रियस्य विशेषतः ॥ ३४ ॥ इति

अत्र युद्धे आत्मदेहपरित्यागः, सर्वेषामेव वर्णानाम्, पुण्यतमः स्वर्ग्यः सर्वतोमुखः। सुपथ इति युद्धमृत्योः प्रतिपदोक्तमेव सामान्यधर्मता सर्वतोमुखत्वापरपर्याया। सर्वेषामेवेति श्लोकार्द्धकृतविवरणपुरःसरमभिधीयते वर्णपदस्य शौर्ययोग्यान्तःकरणमाणिमात्रोपलक्षणतां व्याचक्षाणेन हि 'सर्वेषामेवेत्युच्यते' 'सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने', इत्यादिवत्। किञ्च युद्धमृत्योः शूद्रपर्य्यन्तधर्मत्वादपि सङ्करादिसर्वधर्मत्वम् शूद्राणान्तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः (मि० आ० अ० श्लो० ९०) इति मिताक्षरोद्धृतस्मृतेः। अत्र च शिवपुराणस्याध्याये यद्यपि भगवता सनत्कुमारेण युद्धधर्मस्य स्वरूपं भेदाः फलानि च निपुणतरमुपवर्णितानि। तथापि नेह पूर्णः सोऽध्याय उद्ध्रियते विस्तरभयात्।

भाषा

३६—धर्मयुद्ध का निरूपण

"जीवितं दान०" दान और भोग से जीवन व्यतीत करना उत्तम है और तीर्थ तथा धर्मयुद्ध में मरण उत्तम है। इस वाक्य के अनुसार तीर्थानुसरण के अनन्तर अब धर्म्मयुद्ध का निरूपण किया जाता है।

धर्मयुद्ध के सामान्यधर्म होने में बहुत से प्रमाण हैं जो कि अब पूर्वोक्त प्रमाणों के सहित दिखलाये जाते हैं जैसे कि—"शक्यम्" इस मूलोक में बहुतेरे ऐसे समर्थ हैं कि जो वैदिक अश्वमेधादि यज्ञों को शतशः कर सकते हैं परन्तु युद्ध में अपनी देह का त्याग रूपी सर्वतोमुख (सबका कर्तव्य) उत्तम यज्ञ करना अत्यन्त कठिन है जो कि स्वर्गदाता, सब ही के लिये महान् धर्म और विशेष करके क्षत्रिय के लिये सब धर्मों से उत्तम है। (शिवपुराण में धर्मसंहिता खण्ड के इस ४१ वें अध्याय (जहाँ से ये वाक्य उद्धृत किये गये) में यद्यपि भगवान् सनत्कुमार ने व्यास जी से युद्धधर्म के स्वरूप और भेदों तथा फलों का विशेष रूप से वर्णन किया है तथापि ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से यहाँ वह पूर्ण अध्याय नहीं उद्धृत किया जाता है।

मनुः—उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षात्रधर्महतस्य च।
सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥
(अ० ५ श्लो० ६८)

अत्र कुल्लूकः—अपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तस्य सङ्ग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादिर्यज्ञः सन्तिष्ठते समाप्तिमेति तत्पुण्येन युज्यते तथा अशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति इयं शास्त्रमर्यादा इति।

ब्राह्मणार्थे विपन्नानामित्यनुपदवक्ष्यमाणपराशरवाक्येनोक्तमेकरात्रं युद्धहताशौचन्तु एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरे विपन्नस्य (याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्याये २१ श्लो०) इति मिताक्षरया व्यवस्थापितम्।

बृहस्पतिः—वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपाश्रितः।
अक्षय्यास्तस्य लोकाः स्युः सर्वकामागमास्तथा ॥ ७७ ॥

आचारकाण्डे अ० ३ पाराशरमाधवीये—उक्तस्य दशाहाद्याशौचस्य विषयान्तरेऽप्यपवादमाह—

भाषा

"*उद्यतैराहवे*" (मनु० अ० ५ श्लो० ६८) यह मर्य्यादा धर्मशास्त्र में कही गयी है कि युद्ध में विमुख न होना आदि क्षत्रिय धर्मों से संयुक्त होकर उद्यत शस्त्रों से युद्ध में मरने वाले के तत्क्षण ही ज्योतिष्टोमादि सब वैदिक यज्ञ पूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सब यज्ञों का पूर्ण फल उसको उस मृत्यु से मिलता है तथा उस पुरुष के मरने का अशौच भी उसके सपिण्डों को नहीं लगता।
याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय में—

"*हतानां नृपगोविप्रै०*" इस २१ श्लोक के व्याख्यान में मिताक्षराकार ने भी यह कहा है कि–"पराशरमहर्षि का कहा हुआ एक रात्रि का अशौच उन पुरुषों के विषय में है जो कि युद्ध में आहत होने से कालान्तर में मरते हैं" अर्थात् जो युद्ध में धर्मपूर्वक तत्क्षण मरते हैं उनका अशौच उनके सपिण्डों को नहीं लगता।

"*वीरासनं०*" बृहस्पतिस्मृति में वीरासन (रथ, अश्व, हस्ती आदि) और वीरस्थान (युद्ध-भूमि) पर आश्रित होकर जो पुरुष वीरशय्या पर आश्रित (अभिमुख) होकर मरते हैं उनके पुण्य-लोक अक्षय होते हैं और उनके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं।

"आचारकाण्ड अध्याय ३ में पराशर महर्षि ने २६ श्लोक से ३८ श्लोक तक युद्धमृत्यु के विषय में जो कहा है और माधवाचार्य ने जो उसका भाव वर्णन किया है वह यह है—

पूर्वोक्त दश दिन आदि का अशौच जिन विषयों में नहीं लगता, किन्तु न्यून अशौच लगता है, वे विषय अब कहे जाते हैं कि—

ब्राह्मणार्थे विपन्नानां बन्दीगोग्रहणे तथा । २६
आहवेषु विपन्नानामेकरात्रमशौचकम् । इति

ब्राह्मणप्राणरक्षणार्थं हतानां, बन्दीग्रहणे गोग्रहे च सति तद्विमोचनार्थं हतानाम्, आहवेष्वाभिमुख्येन हतानां ये सपिण्डास्तेषामेकरात्रमेवाशौचं न दशरात्रादिकमित्यर्थः। यत्तु सद्यः शौचमित्यनुवृत्तौ मनुनोक्तम्—

"डिम्बाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति भूमिपः ॥ इति

(डिम्बाहवो नृपतिरहित आहवः) तदसन्निधिविषयम् । ½ ॥ ½ ॥

रणहतसपिण्डानामाशौचविविशेषतया नवभिः श्लोकैराहवे हतं प्रशंसति । तत्र प्रथमं परिव्राजकदृष्टान्तेनादित्यमण्डलभेदित्वं दर्शयन्ब्रह्मलोकप्राप्तिं दर्शयति—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ३० ॥ इति ।

योगाभ्यासेनेश्वरमुपासीनः परिव्राजकोऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छन् मार्गमध्ये वाय्वादित्यचन्द्राणां मण्डलानि क्रमेण भित्वा तत्र तेभ्य उत्तरोत्तराधिकेभ्यः छिद्रेभ्यो निर्गत्य क्रमेण विद्युदादिलोकान् सञ्चरन् ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । छिद्रनिर्गमनं वाजसनेयिब्राह्मणे श्रुतम् । "स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा उदुम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते" इति ॥ ½ ॥ ½ ॥

तत्र चिरकालं महता प्रयत्नेन योगमभ्यस्यता परिव्राजकेन सह समानगतित्वं रणहतस्यायुक्तम् । तस्मादल्पकालप्रयासत्वादित्याशङ्क्य कालाल्पत्वेऽपि धैर्य्यातिशयेन प्रयाससाम्यं

भाषा

"ब्राह्मणार्थे०" ब्राह्मण की रक्षा और बन्दी (कैदी) तथा हरण की हुई गौ के छुड़ाने में मरने वालों और युद्ध में अभिमुख मरने वालों के सपिण्डों को एक ही रात्रि का अशौच लगता है और मनु ने जो अराजक युद्ध में मृतों और बिजली तथा राजदण्ड से मृतों, गौ और ब्राह्मण के लिये मृतों का कुछ भी अशौच न लगना कहा है वह देशान्तरवासी सपिण्डों के विषय में है ॥ ½ ॥ ½ ॥

अब युद्धहतों के विषय में ९ श्लोकों से प्रशंसा की जाती है और उसमें भी प्रथम सन्यासी के दृष्टान्त से युद्धहत का सूर्य्यमण्डल को भेदन कर ब्रह्मलोक पहुँचना दिखलाया जाता है कि—

"द्वाविमौ०" लोक में ये दो ही पुरुष सूर्य्यमण्डल को भेदन करने वाले हैं, एक योगाभ्यासी संन्यासी और दूसरा युद्ध में अभिमुख मरा हुआ ॥ ½ ॥ ½ ॥

इस उक्त श्लोक में अभिमुख कहने का यह तात्पर्य है कि यद्यपि योगाभ्यास में अधिक समय और परिश्रम लगता है इससे योगी संन्यासी की गति की तुल्यता युद्धहत की गति में अनुचित सी ज्ञात होती है क्योंकि उसमें बहुत अल्पकाल और परिश्रम लगता है तथापि धीरता अधिक होने के कारण

सूचयितुमभिमुख इत्युक्तम्। तमेव सूचितमर्थं विशदीकरोति—

"यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।
अक्षयान् लभते लोकान् यदि क्लीबं न भाषते ॥ ३१ ॥ इति

लोके शस्त्रधारिणमेकमपि दृष्ट्वा महती प्राणभीतिर्जायते। युद्धकाले तु प्रतिसैन्यगताः सर्वेऽपि शत्रवः शस्त्रधारिणो मारणोद्यता एनं परिवेष्टयन्ति। तदानीमुत्पद्यमानाया भीतेरियत्तैव नास्ति, तादृशीं भीतिं सोढ्वा प्रतिभटाभिमुखं गच्छतः शूरस्य धैर्यं योगिधैर्यादप्यधिकम्। न हि योगिनो यमनियमादिषु क्वचित्प्राणभीतिः सम्भाविता। ततो यथा जागरणे बहुषु वत्सरेषु अनुभवनीयस्य भोगस्य मुहूर्त्तमात्रवर्त्तिनि स्वप्ने न साकल्यं दृश्यते। तथा चिरकालभावियोगसाम्यं रणे धैर्यस्य किन्न स्यात्। धैर्यातिशयेन साम्यमत्र विवक्षितमिति दर्शयितुं यदि क्लीबं न भाषते इत्युक्तम्। क्लीबं नपुंसकत्वं विकलता तत्सूचकं भीत्याविष्कारकं वाक्यं यदि न भाषते तदानीं योगिसाम्यादक्षयान् ब्रह्मलोकावान्तरविशेषान् सालोक्यादीन् लभते ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

परिव्राजकदृष्टान्ते सूर्यमण्डलभेदित्वं सम्भावयति—

"सन्यस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं स्थानं प्रयास्यति ॥ ३२ ॥ इति

भाषा

उसकी गति योगी संन्यासी के तुल्य ही होती है और यही अभिप्राय इस अग्रिम श्लोक से स्पष्ट किया जाता है कि—

"यत्र यत्र०" अक्षरार्थ इसका यह है कि शत्रुओं से परिवेष्टित होकर शूर मनुष्य जहाँ जहाँ मरता है, अक्षय लोकों को पाता है यदि कायरता की बात नहीं कहता। तात्पर्य यह है कि लोक में एक शस्त्रधारी के देखने से भी प्राणभय अधिक होता है और युद्धकाल में तो शत्रुसैन्य के शस्त्रधारी मारने में उद्यत सब ही वीर एक शूर को भी चारों ओर से घेर लेते हैं, इसलिये उस समय उत्पन्न हुए प्राणभय का प्रमाण ही नहीं हो सकता कि कितना होता है तो ऐसी दशा में उस भय को सहन कर, शत्रुवीरों के अभिमुख चलने वाले शूर की धीरता योगी की धीरता से भी अधिक है क्योंकि योगाभ्यास के समय योगी को प्राणभय की संभावना नहीं होती, इससे जैसे जागने की अवस्था में अनेक वर्षों से अनुभव के योग्य भोग स्वप्न के मुहूर्त मात्र में पूर्ण होता देखा जाता है वैसे चिरकाल भावी योग की समता, रण में शूर की धीरता में क्यों नहीं हो सकती ? योगी और शूर की धीरताओं में तुल्यता दिखलाने के लिये ही इस श्लोक में महर्षि ने यह कहा है कि—"यदि कायरता की बात नहीं कहता" ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अब संन्यासी रूपी दृष्टान्त में सूर्यमण्डल का भेदन दिखलाया जाता है।

"संन्यस्तं" संन्यासी ब्राह्मण को देखकर "यह मेरा मण्डल भेदन कर ब्रह्मलोक को जायगा" इस बुद्धि से अपने स्थान से सूर्य चलित हो जाते हैं।

यद्यपि मण्डलस्याचेतनरश्मिसमूहरूपत्वात्तच्छेदेऽपि नास्ति काचिदादित्यस्य वेदना, तथापि पूर्वमत्यन्तनीचपदे वर्तमानस्येदानीमुच्चपदप्राप्तिर्विपक्षक्लेशहेतुर्भवति। अत एव भित्त्वा परं स्थानं प्रयास्यतीत्युक्तम्। एतदेवाभिप्रेत्य व्यास आह—

"क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय! देवलोकः समावृतः।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरिवर्तनम्॥

मुमुक्षुपरिव्राजकदर्शनमात्रेण निष्पन्नस्य भास्करमण्डलस्योपन्यासायोगिनो यथोक्तफलं दृढीकृतं भवति॥ [२१] ॥ [२२]॥

रणे चाभिमुखो हत इति दार्ष्टान्तिकेऽभिहितम्, तत्र हतत्वं धैर्यातिशयस्योपलक्षणम्, असत्यपि स्ववधे परत्राणप्रवृत्तस्य यथोक्तफलसद्भावादित्याह—

"यस्तु भग्नेषु सैन्येषु विद्रवत्सु समन्ततः। ३३
परित्रातुं यदा गच्छेत् स च क्रतुफलं लभेत्॥ इति

क्रतुरत्राश्वमेधः। ब्रह्मलोकप्राप्तिफलत्वात्। अश्वमेधस्य च तत्फलत्वं वाजसनेयिशाखायां भुज्युब्राह्मणे, "क्वान्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति" इत्यादि प्रश्नप्रतिवचनयोर्विस्पष्टमवगम्यते॥ [२३] ॥ [२४] ॥

यः परित्राणार्थं प्रवृत्तस्तस्य प्रवृत्तिमात्रेण क्रतुफलमुक्तम्। प्रवृत्तस्य गात्रच्छेदे सति हतत्वाभावेऽपि फलातिशयोऽस्तीत्याह—

"यस्यच्छेदक्षतं गात्रं शरमुद्गरयष्टिभिः॥ ३४
देवकन्यास्तु तं वीरं हरन्ति रमयन्ति च॥ इति

गात्रं शरीरम्, छेदक्षतं हस्तपादाद्यवयवच्छेदेनोपप्लुतम्॥ [२५] ॥ [२६] ॥

भाषा

यद्यपि तेज समूह रूपी मण्डल, अचेतन है इससे उसके भेदन में भी सूर्य्य देवता को कुछ वेदना नहीं हो सकती, तथापि पूर्वावस्था में अत्यन्त नीच पुरुष यदि एक ही बार अति उच्चपद को प्राप्त होता है तो उसके दर्शन से उस उच्च पद वालों को क्लेश होता है जैसा कि व्यास ने कहा है कि—

"*क्रियावद्भि०*" हे कौन्तेय! देवलोक यद्यपि यज्ञादि कर्मकारी लोगों से भरा है तथापि वहाँ मर्त्यलोक के लोगों का रहना, देवताओं को इष्ट नहीं है पराशर महर्षि ने यहाँ सूर्य के भेद कथन से संन्यासी के ब्रह्मलोक लाभ को स्पष्ट कर दिया है॥ [२१] ॥[२२] ॥

अब रण में अभिमुखहत शूर रूपी प्रकृत में उक्त दृष्टान्त की घटना को स्पष्ट नहीं कह कर यह कहते हैं कि—"अन्यों के रक्षार्थ युद्ध करते हुए शूर का यदि वध न हो तब भी उसको वही फल होता है" कि "*यस्तु भग्नेषु०*" आहत हो कर इधर उधर भागती हुई सेना के रक्षार्थ जो पुरुष शत्रुओं के ऊपर चलता है उसको अन्त समय में ब्रह्मलोक होता है जो अश्वमेध का फल है॥ [२३] ॥ [२४] ॥

"*यस्यच्छेद०*" और यदि आहत सैन्य के रक्षक शूर उस युद्ध में वध न हो तब भी यदि बाण मुद्गर आदि आयुधों से हस्त, पाद आदि अङ्ग कट जाय तो अन्तकाल के अनन्तर उस वीर को

परित्राणाय प्रवृत्तस्य गात्रच्छेदे यत्फलं ततोऽप्यतिशयं मरणे दर्शयति—

देवाङ्गनासहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ३५ ॥
त्वरमाणाः प्रधावन्ति मम भर्त्ता ममेति च ॥ इति ॥

यद्यपि यज्ञसङ्घादिकं युद्धमरणं चोभयमप्येकविधस्य फलस्य समानं साधनं, तथापि युद्धमरणस्यात्यल्पकालसाध्यत्वेन वैकल्यासम्भवादुत्तमसाधनत्वमित्याह—

"यं यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः
स्वर्गैषिणो वाऽत्र यथैव यान्ति ।
क्षणेन यान्त्येव हि तत्र वीराः ।
प्राणान् सुयुद्धेन परित्यजन्तः ॥ ३६ ॥ इति

विप्रशब्देन निष्कामा विवक्षिताः । तथा च स्वर्गैषिणो वेति विकल्प उपपद्यते । अत्र पुण्यलोकेषु यं लोकविशेषं यथैव येन प्रकारविशेषेण देवकन्यावरणादिना युक्ताः सन्तो यान्ति । तत्र तेषु पुण्यलोकेषु तमेव लोकविशेषं तैनैव प्रकारेण युद्धहता वीराश्च यान्ति । क्षणेनेत्युक्तं कालाल्पत्वमेतेष्वतिशयः ॥ ३६ ॥

ननु कालस्याल्पत्वेऽपि प्राणभीतेर्दुष्परिहरत्वात् पूर्वोक्तं युद्धधैर्यं दुर्लभमित्याशङ्क्य विचारवतः पुरुषस्य तत्सुलभमित्यभिप्रेत्य तं विचारं दर्शयति—

जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गना ।
क्षणध्वंसिनि कायेऽस्मिन् का चिन्ता मरणे रणे ॥ ३७ ॥

जितेनेति कर्तरि निष्ठा । ततो जयेन लक्ष्मीलाभः मरणेन सुराङ्गनालाभः । यदि कायजीवनलोभाल्लक्ष्मीदेवाङ्गनालाभौ न पर्य्यालोच्येते । तथापि लाभपरित्यागमात्रं

भाषा

देवकन्याएँ हरण करती हैं और उसके साथ रमण भी करती हैं ॥ ३४/२ ॥ ३५/१ ॥ "देवाङ्गना०" और यदि रक्षक शूर उस युद्ध में मृत्यु पावे तो तत्क्षण ही उसके ऊपर "मेरा पति है" "मेरा पति है" कहती हुई सहस्रों देवाङ्गनाएँ दौड़ पड़ती हैं ॥ ३५/२ ॥ ३६/१ ॥

अब यह कहा जाता है कि यद्यपि अश्वमेधादि मुख्य यज्ञ और युद्धमरण का ब्रह्मलोक लाभ रूपी फल तुल्य ही है तथापि उक्त यज्ञ बहुत काल में होते हैं, इससे उनमें विघ्न का संभव है परन्तु युद्ध-मरण थोड़े ही काल में साध्य है, इससे निर्विघ्न होने के कारण यही उपाय उत्तम है। "यं यज्ञ०" संन्यासी ब्राह्मण अथवा स्वर्गकामी यज्ञकर्ता जिन पुण्यलोकों को जिस प्रकार से जाते हैं, क्षणमात्र में युद्धहत शूर, उसी प्रकार से उन्हीं लोकों को जाते हैं ॥ ३६ ॥

प्र०—यद्यपि युद्धमृत्यु में काल थोड़ा लगता है तथापि उतने बड़े प्राणभय को पीठ पीछे कर धीरता को अवलम्बन करना कैसे हो सकता है ?

उ०—"जितेन०" इस विचार से उस समय धीरता सुलभ हो जाती है कि "यदि जीतेंगे तो लक्ष्मी का लाभ होगा और यदि मरेंगे तो सुराङ्गना मिलेंगी" तथा जीवन के लाभ से यदि लक्ष्मी और देवाङ्गना को छोड़ें तो यह शरीर सर्वथा चिरञ्जीवी नहीं है किन्तु प्रारब्ध कर्म के वश में है। जब ही

तस्य केवलमवशिष्यते। क्षयस्तु सर्वथा न चिरं जीवति, तस्य कर्मप्रापितायुर्वशवर्तित्वेन क्षणप्रध्वंसिसमाप्तत्वात् ॥ ३७ ॥

अत्यन्तनिषिद्धमपि रुधिरपानं यत्र निरतिशयसुकृतत्वेन परिणमते तत्र पुण्यलोकप्राप्तौ को विस्मय इत्याह—

"ललाटदेशे रुधिरं स्रवच्च"

यस्याहवे तु प्रविशेच्च वक्त्रम्।

तत्सोमपानेन किलास्यतुल्यम् ॥

संग्रामयज्ञे विधिवच्च दृष्टम् ॥ ३८ ॥ इति

संग्रामयज्ञप्रतिपादके नीतिशास्त्रादौ पुरोभागे प्रहारो वीरलक्षणत्वेनोपवर्णित इति विविधितत्वात् विधिवद्दृष्टमित्युक्तम्। तदेव नवभिः श्लोकैराशौचविधिस्तावकत्वेन युद्धमरणस्य प्रशंसा कृता। यस्माद्रणहतोऽत्यन्तपुण्यात्मा, तस्मात्तन्मृतौ परिव्राजकमरण इवाधिकाशौचाभाव उपपद्यते। ३८ इति। यत्तु तदन्तरमेव अथवा त एते नव श्लोकाः प्रकरणादुत्कृष्टा राजधर्मेषु स्थापनीयाः, युद्धस्य क्षत्रियधर्मत्वात्। यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयमाणो रजस्वलाव्रतकलापः प्रकरणादुत्कृष्य क्रत्वर्थत्वपरिहारेण पुरुषार्थतयोपवर्णितस्तद्वत् इति माधवेनोक्तम्।

तदयुक्तम्; प्रकरणादुत्कर्षे मानाभावात्। न हि दृष्टान्तमात्रेणोत्कर्षः सम्भवति। तस्य सम्भावकमात्रत्वात्। न च युद्धस्य क्षत्रियमात्रधर्मत्वादुत्कर्ष इति वाच्यं तत्रैव, प्रमाणाभावात्

भाषा

होगा तब ही क्षणमात्र में नष्ट हो जायगा और उस समय लक्ष्मी और देवाङ्गना छोड़ने का पश्चाताप ही हाथ लगेगा, इससे युद्ध से मरने में क्या चिन्ता है ॥ ३७ ॥

रुधिर का पान अत्यन्त निषिद्ध है परन्तु जब वह भी धर्म्ययुद्ध में परमधर्म है तब युद्ध में मृत के ब्रह्मलोक जाने में क्या आश्चर्य है? यह बात अग्रिम श्लोक से कही जाती है कि "*ललाटदेशे०*" युद्ध में अपने छिन्न भिन्न ललाटदेश से चूता हुआ रुधिर जिस पुरुष के मुख में पड़ता है उसके लिये उस समामरूपी यज्ञ में वह रुधिरपान, सोमरस के पान के तुल्य है और संग्रामरूपी यज्ञ के प्रतिपादक नीतिशास्त्र आदि में अग्रिम शरीर भाग पर चोट खाना शूरों का लक्षण कहा है इससे यह रुधिरपान विधिवत् है ॥ ३८ ॥

इस रीति से अशौच विधि के स्तुति करने वाले इन नव श्लोकों से युद्धमृत्यु की प्रशंसा की गयी, जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि युद्धहत अत्यन्त ही पुण्यात्मा है। इसी से जैसे संन्यासी के मरण में उसके सपिण्डों को अशौच नहीं लगता वैसे इसके मरण में भी। यहाँ तक पराशर महर्षि के इन श्लोकों का व्याख्यान माधवाचार्य्य का किया है। यहीं पर यह ध्यान देना चाहिए कि अनन्तरोक्त स्मृतिवाक्यों में वर्णविशेष वा जातिविशेष का उद्देश न कर केवल शूरता के ही उद्देश से शूर के ब्रह्मलोकादि की प्राप्तिरूपी फल कहे हुए हैं, इससे यह दृढ़ सिद्ध होता है कि धर्मयुद्ध सर्वसाधारण का

न च क्षत्रियधर्मेषु युद्धपरिगणनं स्मार्त्तं तत्र मानमिति वाच्यम्, तस्य क्षत्रियधर्मत्वप्रत्यायनमात्रविश्रान्ततयाऽन्यधर्मत्वाभावे ताटस्थ्यात् नचोत्कर्षेणैव न युद्धस्यान्यधर्मत्वमिति वाच्यम् अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् न चास्य सामान्यधर्मत्वे क्षत्रियधर्मताया अपि प्राप्तत्वादुक्तपरिगणनानर्थक्यापत्तिरिति वाच्यम्, क्षत्रियधर्मेषु तस्य मुख्यता बोधार्थतया तत्सार्थक्यात्। अत एव पूर्वोक्ते शैववाक्ये "क्षत्रियस्य विशेषतः" इत्युक्तम् ।

भाषा

धर्म है और अनन्तरोक्त व्याख्यान के अनन्तर जो माधवाचार्य्य ने एक दूसरा व्याख्यान यह किया है कि "अथवा युद्धमरण के प्रशंसारूपी ये नव श्लोक, इस अशौच के प्रकरण से निकाल कर राजधर्मों में रखने के योग्य हैं" क्योंकि युद्ध, क्षत्रियों का धर्म है। जैसे कि दर्शपूर्णमास यज्ञ के प्रकरण में कहा हुआ रजस्वला का नियम, उस प्रकरण से निकाल कर सामान्य से अर्थात् यज्ञ से अन्यकाल में भी कर्तव्य माना जाता है। इति।

वह तो ठीक नहीं है क्योंकि—

खं० १—इस आशौच के प्रकरण से ये ९ श्लोक खींच कर अन्य प्रकरण में नहीं ले जाये जा सकते क्योंकि खींचने में कोई प्रमाण मिल नहीं सकता और जब खींचने में कोई कारण नहीं है तब रजस्वला रूपी नियम के केवल दृष्टान्तमात्र से ये नहीं खींचे जा सकते क्योंकि दृष्टान्त, कोई प्रमाण नहीं है किन्तु दृष्टान्त के विषय में खींचने का जैसा कारण है वैसा कारण जब प्रकृत में दिखलाया जाय तभी ये श्लोक खींचे जा सकते हैं।

समाधान—युद्ध क्षत्रिय का ही धर्म है, इसी से ये ९ श्लोक क्षत्रियधर्म के प्रकरण में खींचे जाते हैं।

खं०—प्रथम इसी में कोई प्रमाण नहीं है कि धर्मयुद्ध, क्षत्रिय से अन्य का धर्म नहीं है।

समा०—क्षत्रियधर्मों में जब युद्ध परिगणित है, तब वह अन्य का धर्म नहीं हो सकता।

खं०—उस परिगणन से इतना ही निकल सकता है कि युद्ध, क्षत्रिय का धर्म है और यह नहीं निकल सकता कि वह अन्य का धर्म नहीं है और जहाँ क्षत्रियों के धर्म का परिगणन है वहाँ प्रजारक्षण धर्म कहा हुआ है न कि युद्ध, किन्तु प्रजारक्षण में युद्ध भी उपयोगी होता है, इससे युद्ध में क्षत्रिय का अधिकार है तो ऐसी दशा में जो ही किसी की रक्षा करे और वह रक्षा युद्ध के विना न हो सके उसी को युद्ध में अधिकार हो सकता है न कि क्षत्रियों ही को, क्योंकि जब प्राणी की रक्षा करना दयारूपी होने से सामान्यधर्म है तब उसका उपयोगी युद्ध कैसे नहीं सबका सामान्यधर्म होगा ?

समा०—इन नव श्लोकों को खींच कर ले जाना ही इस विषय में प्रमाण है कि युद्ध, क्षत्रिय से अन्य का धर्म नहीं है।

खं०—इस समाधान में अन्योऽन्याश्रय दोष (जिसका स्वरूप वेददुर्गसज्जन में पूर्व ही कहा जा चुका है) दुर्वार है क्योंकि जब ये नव श्लोक इस प्रकरण से खींच कर क्षत्रियधर्म के प्रकरण में जायँ तभी यह सिद्ध हो सकता है कि "युद्ध, क्षत्रिय से अन्य किसी का धर्म नहीं है" और

एवम् उक्तपाराशरवाक्यानां प्रकरणादुत्कर्षेण धर्म्ययुद्धस्य सामान्यधर्मतायाः प्रसञ्जने 'शक्यं त्विह' इत्यादि पूर्वोद्धृतशैववाक्यविरोधो यत्नेनापि नापयाति ।

किञ्च धर्म्ययुद्धस्य सामान्यधर्मत्वाभावे भारतीयकथासन्दर्भविरोधः, तथा हि-उद्योगपर्वणि विराटसभायां द्रुपदेन पाञ्चालराजेन—

अ० ३—"एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयामो मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

इत्युपक्रम्य—कैकेयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ।
आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १३ ॥

इति भारतयुद्धे पाण्डवानां साहाय्यकाय दूतप्रेषणयोग्यानां राज्ञां परिगणने—

शकानां पह्लवानां च दरदानाञ्च ये नृपाः ।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
एकलव्यः सहात्मजैः १७

इत्यत्र क्षत्रियाणामपि राज्ञां परिगणनं कृत्वा
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते" ॥ २४ ॥

इत्युपसंहारेणाज्ञसम्—

भाषा

जब यह सिद्ध हो जाय तभी इस के अनुसार ये श्लोक अपने प्रकरण से खींचे जा सकते हैं । प्रथम खण्डन समाप्त हुआ ।

खं० २—ऐसे ही यदि माधवाचार्य के कथनानुसार पूर्वोक्त पराशर वाक्यों को उनके प्रकरण से निकाल कर क्षत्रिय धर्म के प्रकरण में उनकी खींच खाँच रूपी बलात्कार से धर्म्ययुद्ध की सामान्यधर्मता तोड़ने में 'शक्यं' इत्यादि पूर्वोक्त शिवपुराण वाक्यों का विरोध, किसी उपाय से भी नहीं हटाया जा सकता है क्योंकि उनमें बहुत ही स्पष्ट रूप से यह कहा है कि 'युद्धमृत्यु, सर्वतोमुख (सबका कर्तव्य) और सभी के लिए महाधर्म है ।

खं० ३—माधवाचार्य के इस अन्तिम व्याख्यान में महाभारत के कथाओं के विरोध भी पड़ते हैं जैसे कि—

उद्योग पर्व अध्याय तृतीय में राजा विराट की सभा में पञ्चाल के राजा द्रुपद ने कहा है कि—"एतच्चैव०" दुर्योधन के साथ सन्धि होने के लिये यत्न भी किया जाय और मित्रों के समीप हम दूतों को भी भेजते हैं जिसमें कि उनके सैन्य सन्नद्ध हुए रहें । तदनन्तर यह आज्ञा दिया कि अमुक अमुक राजाओं के यहाँ पाण्डवों की सहायता के लिये शीघ्रगामी दूत भेजे जायँ और उन राजाओं के नामों में "शकानां०" शक, पह्लव दरद, इन म्लेच्छ देश के राजाओं तथा किरात जातीय एकलव्य का भी नाम लिया अर्थात् क्षत्रिय से भिन्न इन राजाओं का भी नाम लेकर द्रुपद ने यह कहा कि मेरी मति है कि इन राजाओं के समीप शीघ्र ही दूत भेजे जायँ । विचार करना चाहिये कि यदि युद्ध

एवम् अ० १८—तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्द्धयन्। १४
भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव सम्वृतम् ॥ १५ ॥
वभौ वलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ॥ १६ ॥
तथा तत्रैव—सुदक्षिणश्च काम्वोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशांपते।

इति धार्तराष्ट्रवले क्षत्रियेतराणां युद्धाय समवाय उक्तः युद्धस्तथा शङ्काकुलस्य धृतराष्ट्रस्य रात्रिजागरणे विदुरेण—

अ० ३३—द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६५ ॥

इति वदता इहैव पूर्वोपन्यस्तं द्वितीयं पराशरवाक्यं सर्वपुरुषसाधारण्येनानूदितम्। एवम्—भीष्म प० अ० २०—

शारद्वतश्चोत्तमधीर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी।
शकैः किरातैर्यवनैश्च सार्द्धम्
तदा चमूरुत्तरतोऽभियाति ॥ १३ ॥

इति कुरुक्षेत्रे रणभूमौ रच्यमाने दुर्योधनवलव्यूहे शककिरातयवनानां सन्निवेश उक्तः।
तथा अ० ४३—म्लेच्छाचार्य्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तदा।
वृत्तं तत्पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥१०२॥

भाषा

क्षत्रिय ही का धर्म होता है तो धर्मज्ञ राजा द्रुपद, म्लेच्छों और किरातों के समीप, अधर्म करने के लिये दूतप्रेषण करने को क्यों अनुमति देते? तथा उद्योग पर्व ही के १८ अध्याय में यह कहा है कि—"*तथैव०*" दुर्योधन के हर्ष वढ़ाने के लिये राजा भगदत्त ने चीनों और किरातों की एक अक्षौहिणी सेना दिया तथा यवनों और शकों की एक अक्षोहिणी सेना लेकर कम्वोज देश के राजा सुदक्षिण, हस्तिनापुर में आये। यहाँ भी ध्यान देना चाहिये कि चीन, किरात, यवन और शक ये कोई क्षत्रिय नहीं हैं। इतना ही नहीं है किन्तु ये आर्य्य भी नहीं हैं। तथा अध्याय ३२ में सैन्यों की वटोर देख युद्ध शंका से व्याकुल राजा धृतराष्ट्र के रात्रि जागरण में विदुर ने "*द्वाविमौ*" इस पूर्वोक्त पराशर का वाक्य ही धृतराष्ट्र से इस तात्पर्य्य से कहा कि ये जितने वीर, युद्ध के लिये एकत्रित हो रहे हैं वे सव मर कर उत्तम लोकों में जायँगे।

तथा भीष्म पर्व अध्याय २० में "*शारद्वत०*" इस श्लोक १३ से यह कहा है कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में दुर्योधन के सैन्यों की व्यूहरचना में शक, किरात और यवन भी कृपाचार्य्य के साथ उस व्यूह में उत्तर ओर खड़े कराये गये और उसी पर्व के अध्याय ४३ में १०२ श्लोक से यह कहा है कि—"*म्लेच्छाश्चार्य्याश्च०*" उस समय वहाँ म्लेच्छ और आर्य जितने रहे सव पाण्डवों के कामों और

इति सेनासमवेतानां योद्धुमुपगतानां म्लेच्छानामप्यार्याणामिव रोदनमुक्तम् ।
एवं सौप्तिकपर्वणि ९ अध्याये—

सञ्जय०—ते हत्वा सर्वपाञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
आगच्छन् सहितास्तत्र यत्र दुर्य्योधनो हतः ॥ १ ॥
गत्वा चैनमपश्यन्त किञ्चित् प्राणं जनाधिपम् ।
ततो रथेभ्यः प्रस्कन्द्य परिवव्रुस्तवात्मजम् ॥ २ ॥
तं भग्नसक्थं राजेन्द्र कृच्छ्रप्राणमचेतनम् ।
वमन्तं रुधिरं वक्त्रादपश्यन् वसुधातले ॥ ३ ॥
वृतं समन्ताद्बहुभिः श्वापदैर्घोरदर्शनैः ।
शालावृकगणैश्चैव भक्षयिष्यद्भिरन्तिकात् ॥ ४ ॥
निवारयन्तं कृच्छ्रात्तान् श्वापदांश्च चिखादिषून् ।
विचेष्टमानं मह्यां च सुभृशं गाढवेदनम् ॥ ५ ॥
तं शयानं तथा दृष्ट्वा भूमौ स्वरुधिरोक्षितम् ।
हतशिष्टास्ततो वीराः शोकार्त्ताः पर्यवारयन् ॥ ६ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
तैस्त्रिभिः शोणितादिग्धैर्निःश्वसद्भिर्महारथैः ॥ ७ ॥
शुशुभे संवृतो राजा वेदी त्रिभिरिवाग्निभिः ।
ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य राजानमतथोचितम् ॥ ८ ॥

भाषा

बातों को देख और सुन कर गद्गद (गिड़गिड़ा) शब्द से रोने लगे (तथा सौप्तिक पर्व अ० ९ की यह कथा है कि—

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजेन्द्र ! सब पाञ्चालों और द्रौपदी के पुत्रों को मार कर अश्वत्थामा, कृपाचार्य्य और कृतवर्मा ये तीनों एक साथ वहाँ आये जहाँ कि दुर्य्योधन मारे हुए पड़े थे ॥ १ ॥ वहाँ आकर राजा दुर्य्योधन को घेर किञ्चित् प्राण देखा । तदनन्तर रथों से कूद कर आपके पुत्र को घेर लिया ॥ २ ॥ और उनको ऐसा देखा कि ऊरू (जाँघें) टूटी और प्राणकष्ट में पड़े चेतना नहीं है, मुख से रुधिर वमन करते हैं, पृथिवी पर पड़े हैं, गीध, गीदड़ और हुड़ार आदि अनेक भयानक प्राणियों से चारों ओर वेष्टित हैं । मांस खाने की इच्छा किये उन सबको बड़े दुःख से वारण कर रहे हैं, पृथिवी पर लोट रहे हैं । बड़ी वेदना (पीड़ा) को अनुभव कर रहे हैं तथा अपने रुधिर और धूली की कीच में सने हुए हैं । तदनन्तर मरने से बचे हुए और शोक से व्याकुल वे तीन वीर राजा के समीप उनको वेष्टित कर खड़े हो गये । रुधिर से लाल लिये और खींच खींच कर श्वास लेते हुए उन वीरों से वेष्टित राजा दुर्य्योधन की ऐसी शोभा हुई कि जैसी गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि, इन तीन अग्नियों से वेष्टित यज्ञ वेदी की होती है । राजा को

अविपह्येण दुःखेन ततस्ते रुरुदुस्त्रयः ।
ततस्तु रुधिरं हस्तैर्मुखान्निर्मृज्य तस्य हि ॥ ९ ॥
रणे राज्ञः शयानस्य कृपणं पर्यदेवयन् ।
कृप०—न दैवस्यातिभारोऽस्ति यदयं रुधिरोक्षितः ॥ १० ॥
एकादशचमूभर्त्ता शेते दुर्योधनो हतः ।
पश्य चामीकराभस्य चामीकरविभूषिताम् ॥ ११ ॥
गदां गदाप्रियस्येमां समीपे पतितां भुवि ।
इयमेनं गदा शूरं न जहाति रणे रणे ॥ १२ ॥
स्वर्गायापि व्रजन्तं हि न जहाति यशस्विनम् ।
पश्येमां सह वीरेण जाम्बूनदविभूषिताम् ॥ १३ ॥
शयानां शयने हर्म्ये भार्य्यां प्रीतिमतीमिव ।
योऽयं मूर्द्धाभिषिक्तानामग्रयायी परन्तपः ॥ १४ ॥
स हतो ग्रसते पांसून् पश्य कालस्य पर्य्ययम् ।
येनाजौ निहता भूमावशेरत हतद्विषः ॥ १५ ॥
स भूमौ निहतः शेते कुरुराजः परैरयम् ।
भयान्नमन्ति राजानो यस्यस्म शतसंघशः ॥ १६ ॥
स वीरशयने शेते क्रव्याद्भिः परिवारितः ।
उपासन्त द्विजाः पूर्वमर्थहेतोर्यमीश्वरम् ॥ १७ ॥

भाषा

अनुचित दशा में देख कर असह्य (मर्मवेधी) दुःख से वे तीनों वीर रोने लगे । तदनन्तर पड़े हुये राजा के मुख में लगे हुए रुधिर को अपने हाथों से पोंछ रो रो कर वे यह कहने लगे ॥ ३—९ ॥

कृपा०—भाग्य को, किसी काम के करने में भार नहीं पड़ता क्योंकि ११ अक्षौहिणी सैन्यों के स्वामी यह दुर्योधन, रुधिर से नहाये हुए मारे पड़े हैं । देखो ! गदा के व्यसनी, सुवर्ण ऐसे चमकते हुए इन राजा के समीप, सुवर्ण से चित्रित यह गदा, भूमि पर पड़ी हुई है । प्रत्येक युद्धों में यह गदा इन शूर को नहीं छोड़ती थी और अब स्वर्ग जाते समय भी इनको नहीं छोड़ती बल्कि पृथिवी पर इन वीर के साथ सोई हुई यह स्वर्णभूषित गदा ऐसी ज्ञात होती है कि मानो राजभवन में शय्या पर इनके साथ सोई हुई इनकी प्यारी महारानी है । देखो ! काल के उलटफेर को कि जो शत्रुघाती और सब क्षत्रियों का अग्रगामी था, वह इस समय मरा हुआ पृथिवी की धूलि को फाँक रहा है । जिनके मारे हुए अनेक शूर वीर पृथिवी पर सो रहे हैं यह वह कुरुराज, शत्रुओं से मारे हुए स्वयं पृथिवी पर सोते हैं । जिसके भय से सैकड़ों राजा प्रणाम करते घेरे रहते थे वह इस समय मांस-भक्षी पशुपक्षियों से घिरे हुए वीरशय्या पर शयन करते हैं । पूर्व ही धन के लिये ब्राह्मण लोग जिनकी उपासना करते थे आज मांस के लिये मांसभक्षी पशु और पक्षी उनकी उपासना करते हैं ॥ १०–१७ ॥

उपासते च तं श्रथ क्रव्यादा मांसहेतवः ।
सञ्जय०—तं शयानं कुरुश्रेष्ठं ततो भरतसत्तम ॥ १८ ॥
अश्वत्थामा समालोक्य करुणं पर्य्यदेवयत् ।
आहुस्त्वां राजशार्दूल मुख्यं सर्वधनुष्मताम् ॥ १९ ॥
धनाध्यक्षोपमं युद्धे शिष्यं सङ्कर्षणस्य च ।
कथं विवरमद्राक्षीद् भीमसेनस्तवानघ ॥ २० ॥
बलिनः कृतिनो नित्यं स च पापात्मवान्नृप ।
कालो नूनं महाराज लोकेऽस्मिन् बलवत्तरः ॥ २१ ॥
पश्यामो निहतं त्वां च भीमसेनेन संयुगे ।
कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं क्षुद्रः पापो वृकोदरः ॥ २२ ॥
निकृत्या हतवान् मन्दो नूनं कालो दुरत्ययः ।
धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण समाहूयौजसा मृधे ॥ २३ ॥
गदया भीमसेनेन निर्भग्ने सक्थिनी तव ।
अधर्मेण हतस्याजौ मृद्यमानं पदा शिरः ॥ २४ ॥
य उपेक्षितवान् क्षुद्रं धिक् तमस्तु युधिष्ठिरम् ।
युद्धेष्वपवदिष्यन्ति योधा नूनं वृकोदरम् ॥ २५ ॥
यावत्स्थास्यन्ति भूतानि निकृत्या ह्यसि पातितः ।
ननु रामोऽब्रवीद्राजंस्त्वां सदा यदुनन्दनः ॥ २६ ॥
दुर्योधनसमो नास्ति गदया इति वीर्यवान् ।
श्लाघते त्वां हि वार्ष्णेयो राजन् संसत्सु भारत ॥ २७ ॥

भाषा

सञ्जय—हे भरतसत्तम (धृतराष्ट्र)! तदनन्तर राजा की यह दशा देख अश्वत्थामा ने बड़ी करुणा से रोकर कहा कि—हे राजशार्दूल ! तुमको लोग सब धनुर्द्धरों में मुख्य तथा गदायुद्ध में कुबेर के तुल्य और श्री बलदेव का शिष्य कहते हैं। हे निष्पाप ! ऐसे बली और गदायुद्ध में निपुण तुम्हारे छिद्र (खाली) को उस पापी भीमसेन कैसे देख पाया ? हे महाराज ! काल अवश्य बड़ा बली है कि जिसके कारण युद्ध में भीमसेन से मारे हुए आप को हम देखते हैं। उस क्षुद्र, पापी और मन्द-बुद्धि भीमसेन ने आप ऐसे धर्मज्ञ को कैसे छल से मारा ? यह अवश्य है कि काल का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। धर्मयुद्ध में ललकार कर भीमसेन ने अधर्म से आप के दोनों उरुओं को तोड़ दिया। उस क्षुद्र युधिष्ठिर को धिक्कार है कि जिसने युद्ध में अधर्म से मारे हुए आप के शिर को भीमसेन के चरणों से दब कर पृथिवी में रगड़ जाते देख कर भी उपेक्षा कर दिया। 'आप छल से मारे गये' इस भीमसेन के अपवाद को जब तक पृथिवी रहेगी तब तक वीर लोग कहेंगे। हे भारत ! यदु के नन्दन वीर्यवान् राम (बलभद्र) सदा कहते थे कि गदा में दुर्योधन के जैसा कोई

सुशिष्यो मम कौरव्यो गदायुद्ध इति प्रभो ।
यां गतिं क्षत्रियस्याहुः प्रशस्तां परमर्षयः ॥ २८ ॥
हतस्याभिमुखस्याजौ प्राप्तस्त्वमसि तां गतिम् ।
दुर्योधन न शोचामि त्वामहं पुरुपर्षभ ॥ २९ ॥
हतपुत्रौ तु शोचामि गान्धारीं पितरञ्च ते ।
भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम् ॥ ३० ॥
धिगस्तु कृष्णं वार्ष्णेयमर्जुनं चापि दुर्मतिम् ।
धर्मज्ञमानिनौ यौ त्वां वध्यमानमुपेक्षताम् ॥ ३१ ॥
पाण्डवाश्चापि ते सर्वे किं वक्ष्यन्ति नराधिप ।
कथं दुर्योधनोऽस्माभिर्हत इत्यनपत्रपाः ॥ ३२ ॥
धन्यस्त्वमसि गान्धारे यस्त्वमायोधने हतः ।
प्रयातोऽभिमुखः शत्रून् धर्मेण पुरुपर्षभ ॥ ३३ ॥
हतपुत्रा हि गान्धारी निहतज्ञातिबान्धवा ।
प्रज्ञाचक्षुश्च दुर्धर्षः कां गतिं प्रतिपत्स्यते ॥ ३४ ॥
धिगस्तु कृतवर्माणं मां कृपं च महारथम् ।
ये वयं न गताः स्वर्गं त्वां पुरस्कृत्य पार्थिवम् ॥ ३५ ॥
दातारं सर्वकामानां रक्षितारं प्रजाहितम् ।
यद्वयं नानुगच्छामस्तान् धिगस्मान् नराधमान् ॥ ३६ ॥

भाषा

नहीं है। और ऐसी ही स्तुति आप की राजाओं के बीच में भी करते थे, तथा यह भी कहते थे कि गदायुद्ध में मेरा शिष्य दुर्योधन बड़ा अच्छा है। आप का शोक मैं नहीं करता क्योंकि हे पुरुपर्षभ (दुर्योधन)! आप उस गति को प्राप्त हो गये जिस गति को अभिमुख मरे हुए क्षत्रिय के लिये महर्षि लोग अति श्रेष्ठ कहते हैं किन्तु मैं आप के पिता और माता का शोक करता हूँ कि जो शोकग्रस्त और भिक्षुक हो कर पृथिवी पर भ्रमण करेंगे ॥ १८—३० ॥

वृष्णिवंशी कृष्ण और दुर्बुद्धि अर्जुन को धिक्कार है कि जिन्होंने धर्मज्ञ बन कर तुम्हारे वध की उपेक्षा किया ॥ ३१ ॥

हे नराधिप! निर्लज्ज वे सब पाण्डव भी यह क्या कहेंगे कि हमने कैसे दुर्योधन को मारा? ॥ ३२ ॥ हे गान्धारे! तुम धन्य हो जो युद्ध में शत्रुओं के अभिमुख अपने धर्म से मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ३३ ॥ परन्तु जिनके पुत्र, बन्धु और मित्र सब मारे गये वह गान्धारी और जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्र किस गति को पहुँचेंगे? ॥ ३४ ॥ हम तीनों को भी धिक्कार है कि जो आप जैसे राजा को आगे कर, स्वर्ग को नहीं चले गये। जो हम, सब कामों के दाता, प्रजा के हितकर्त्ता आप जैसे स्वामी के पीछे नहीं जाते हैं उन हम नराधमों को धिक्कार है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ आप के वीर्य्य से

कृपस्य तव वीर्येण मम चैव पितुश्च मे ।
समृद्धानां नरव्याघ्र रत्नवन्ति गृहाणि च ॥ ३७ ॥
भवत्प्रसादादस्माभिः समित्रैः सह बान्धवैः ।
अवाप्ताः क्रतवो मुख्या बहवो भूरिदक्षिणाः ॥ ३८ ॥
कुतश्चापीदृशं पापाः प्रवर्तिष्यामहे वयम् ।
यादृशेन पुरस्कृत्य त्वं गतः सर्वपार्थिवान् ॥ ३९ ॥
वयमेव त्रयो राजन् गच्छन्तं परमां गतिम् ।
यद्वै त्वां नानुगच्छामस्तेन तप्स्यामहे वयम् ॥ ४० ॥
त्वत्स्वर्गहीनाहीनार्थाः स्मरन्तः सुकृतस्य ते ।
किं नाम तद्भवेत्कर्म येन त्वां न व्रजाम वै ॥ ४१ ॥
दुःखं नूनं कुरुश्रेष्ठ चरिष्याम महीमिमाम् ।
हीनानां नस्त्वया राजन् कुतः शान्तिः कुतः सुखम् ॥ ४२ ॥
गत्वैतस्तु महाराज समेत्य च महारथान् ।
यथा श्रेष्ठं यथा ज्येष्ठं पूजयेर्वचनान्मम ॥ ४३ ॥
आचार्यं पूजयित्वा च केतुं सर्वधनुष्मताम् ।
हतं मयाद्य शंसेथा धृष्टद्युम्नं नराधिप ॥ ४४ ॥
परिष्वजेथा राजानं बाह्लीकं च महारथम् ।
सैन्धवं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ॥ ४५ ॥

भाषा

हमारे और कृपाचार्य के तथा हमारे पिता के और हम तीनों के भृत्यों के भी गृह रत्नों से पूर्ण हैं ॥ ३७ ॥ बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञ, आप के प्रसाद से हम तीनों को करने को मिले ॥ ३८ ॥ परन्तु आप जैसे कर्म से सब राजाओं को आगे कर स्वर्ग को जा रहे हैं वैसे कर्म हम पापियों के कहाँ हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! परमगति को जाते हुए आप के पीछे हमीं तीन नहीं जाते हैं इसी से ऐसा कहते हैं ॥ ४० ॥ आपसे विहीन होकर, बड़े शोक के साथ, आपके किये हुए बड़े बड़े उपकारों को स्मरण करते हम तीन के कौन ऐसे दुष्ट भाग्य हैं कि जिनके कारण हम आपके पीछे नहीं जा रहे हैं ॥ ४१ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! अवश्य ही दुखी होकर हम इस पृथिवी पर इधर उधर भ्रमण करेंगे । क्योंकि आपसे विहीन होने पर हमारे लिये कहाँ से शान्ति और कहाँ से सुख होगा ? ॥ ४२ ॥

हे महाराज ! आप यहाँ से जाइये और महारथियों से मिलकर, बड़े छोटे के क्रमानुसार मेरी ओर से उनकी पूजा कीजियेगा ॥ ४३ ॥ अर्थात् हे नराधिप ! सब धनुर्धरों के केतुभूत, आचार्य द्रोण की पूजा कर उनसे यह कहियेगा कि आज मैंने (अश्वत्थामा) धृष्टद्युम्न को मार डाला ॥ ४४ ॥ और मेरी ओर से राजा बाह्लीक, जयद्रथ और भूरिश्रवा को अंकमालिका (अँकवार)

तथा पूर्वगतानन्यान् स्वर्गे पार्थिवसत्तमान् ।
अस्माद् वाक्याद् परिष्वज्य पृच्छेथास्त्वमनामयम् ॥ ४६ ॥

सञ्जय०—इत्येवमुक्त्वा राजानं भग्नसक्थमचेतनम् ।
अश्वत्थामा समुद्वीक्ष्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
दुर्योधन जीवसि त्वं वाक्यं श्रोत्रसुखं शृणु ।
सप्त पाण्डवतः शेषाः धार्त्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ॥ ४८ ॥
ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ४९ ॥
द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
पाञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्यशेषश्च भारत ॥ ५० ॥
कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।
सौप्तिके शिविरं तेषां हतं सनरवाहनम् ॥ ५१ ॥
मया च पापकर्माऽसौ धृष्टद्युम्नो महीपते ।
प्रविश्य शिविरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥ ५२ ॥
दुर्य्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियाम् ।
प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥
न मेऽकरोत्तद्गाङ्गेयो न कर्णो न च ते पिता ।
यत्त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतम् ॥ ५४ ॥

भाषा

दीजियेगा तथा इस युद्ध में मर कर पूर्व ही से गये हुए मेरे मित्रों अन्यान्य राजाओं को भी मेरी ओर से आलिङ्गन देकर अनामय पूछियेगा ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

सञ्जय—अश्वत्थामा ने मूर्छित राजा से ऐसा कह कर पुनः उच्चस्वर से यह कहा कि ॥ ४७ ॥ हे दुर्योधन ! अभी तुम जीते हो, कान की सुहावनी इस बात को सुनो कि पाण्डवों के दल में पाँच पाण्डव तथा कृष्ण और सात्यकि, ये सात और आपके दल में हम, कृतवर्मा और कृपाचार्य ये तीन ही मृत्यु से बचे हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ द्रौपदी के और धृष्टद्युम्न के सब पुत्र तथा पाञ्चाल और मत्स्य देश के जितने वीर बचे थे सब मारे गये ॥ ५० ॥ हे भारत ! इस बदला लेने को देखिये कि पाण्डवों का निर्वंश हो गया । इसी रात्रि में पाण्डवों का सेनागृह, मनुष्यों और वाहनों के साथ नष्ट कर दिया गया और हे महीपते ! रात्रि समय सेना-गृह में घुस कर उस पापकर्मा धृष्टद्युम्न को जैसे यज्ञ में (शस्त्र के विना) पशु मारे जाते हैं वैसे मैंने मार डाला ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

राजा दुर्योधन, यद्यपि मूर्छित थे तथापि इस अपने मन की परम प्यारी वाणी के सुनने से चैतन्य होकर उन्होंने यह कहा कि ॥ ५३ ॥ वह मेरा काम, न भीष्म ने, न कर्ण ने किया और न आपके पिता ने किया, जो मेरा काम कृपाचार्य और कृतवर्मा के साथ आपने किया और

स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्द्धं शिखण्डिना ।
तेन मन्ये मघवता सममात्मानमद्य वै ॥ ५५ ॥
स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः सङ्गमः पुनः ।
इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥ ५६ ॥
प्राणानुपासृजद्वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन् ।
आक्रामत दिवं पुण्यां शरीरं क्षितिमाविशत् ॥ ५७ ॥
एवं ते निधनं यातः पुत्रो दुर्योधनो नृप ।
अग्रे यात्वा रणे शूरः पश्चाद् विनिहतः परैः ॥ ५८ ॥
तथैव ते परिष्वक्ताः परिष्वज्य च ते नृपम् ।
पुनः पुनः प्रेक्षमाणाः स्वकानारुरुहू रथान् ॥ ५९ ॥
इत्यहं द्रोणपुत्रस्य निशम्य करुणां गिरम् ।
प्रत्यूषकाले शोकार्त्तः प्राद्रवं नगरम्प्रति ॥ ६० ॥
एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
घोरो विशसनो रौद्रो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ६१ ॥
तव पुत्रे गते स्वर्गं शोकार्त्तस्य ममानघ ।
ऋषिदिष्टं प्रणष्टं तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै ॥ ६२ ॥
वैशम्पा०—इति श्रुत्वा स नृपतिः पुत्रस्य निधनं तदा ।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६३ ॥

भाषा

वह क्षुद्र सेनापति (धृष्टद्युम्न) शिखण्डी के साथ जो मारा गया इस काम से आज मैं अपने को इन्द्र के तुल्य मानता हूँ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ आप तीनों का कल्याण हो और स्वर्ग में पुनः मुझे आपका दर्शन हो । महाशय कुरुराज वीर ने ऐसा कह कर चुप हो प्राणों को त्याग दिया और पृथिवी पर शरीर छोड़ तत्क्षण ही स्वर्गलोक में पहुँच गये ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

हे नृप (धृतराष्ट्र) ! आपके पुत्र दुर्योधन, रण में आगे चल कर अन्त में शत्रुओं के हाथ से निधन को प्राप्त हुए ॥ ५८ ॥ और जीते समय उन्होंने उन तीनों वीरों को जैसे अपनी गोद में लपटा लिया था वैसे ही मरने पर उन वीरों ने राजा को लपट लपट कर पुनः पुनः ग्रीवाएँ मोड़ २ कर राजा को देखते हुए अपने अपने रथ पर आरूढ़ हो गये ॥ ५९ ॥ प्रातःकाल द्रोण पुत्र की इन करुणापूर्ण वाणियों को सुन कर शोकार्त्त हो, मैं इस नगर की ओर दौड़ा ॥ ६० ॥ हे राजन् ! कौरवों और पाण्डवों की सेनाओं का अति भयानक, यह काटकूट रूपी क्षयकार, आपके दुष्ट मन्त्रणा के कारण ऐसा हुआ कि जैसा मैंने कहा और आपके पुत्र के स्वर्ग जाने पर आज मेरी वह दिव्य दृष्टि नष्ट हो गई जो कि व्यास महर्षि ने युद्धदर्शन के लिये मुझे दिया था ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन—उस समय, पुत्र-मृत्यु को सुन और लम्बी उष्ण श्वास खींच, राजा धृतराष्ट्र शोक में तत्पर हो गये ॥ ६३ ॥

अत्र "सप्त पाण्डवतः शेषा धार्त्तराष्ट्रास्त्रयो वयम्" इत्यश्वत्थामोक्त्या कुरुपाण्डवसेनयोर्मध्ये दशैव वीरा अवशिष्टाः अन्ये तु सर्वे एवार्य्या म्लेच्छाश्च योधा हता इत्युक्तम्। किं च यथा ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छन् गम्यग्रामनिष्ठान् पुरुषानुद्दिश्य त्याज्यग्रामनिष्ठैः सन्देशान्हार्यते तथैव युद्धहतः स्वर्गं गमिष्यन् राजा दुर्योधनः समरनिहतांस्तत्क्षणादेव स्वर्गं गतान् द्रोणाचार्यप्रभृतीन् वीरानुद्दिश्य सन्देशान् हारितोऽश्वत्थाम्नेति पराशरोक्तानां पूर्वोपन्यस्तानां युद्धविध्यर्थवादानां नवानामपि श्लोकानां प्रमाणान्तराबाधितार्थकत्वात् स्वार्थे तात्पर्य्यमपि देवताविग्रहप्रतिपादकानां वैदिकार्थवादानामिव प्रतिपादितमतो न तेषामध्यारोपितगुणमूलकप्रशंसापरत्वम् किन्तु तेषामर्थः सत्यतर एवेति सिद्धम्।

स्त्रीपर्व अ० २६—धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिर्निगृह्याबुद्धिजं तमः।
पर्य्यपृच्छत धर्मात्मा धर्मराजं युधिष्ठिरम्॥ ७॥
जीवतां परिमाणज्ञः सैन्यानामपि पाण्डव।
हतानां यदि जानीषे परिमाणं वदस्व मे॥ ८॥
युधि०—दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः।
कोट्यः षष्टिश्च षट् चैव येऽस्मिन् राजन्मृधे हताः॥ ९॥
अलक्ष्याणां तु वीराणां सहस्राणि चतुर्दश।
दश चान्यानि राजेन्द्र शतं षष्टिश्च पञ्च च॥ १०॥

भाषा

अब यहाँ इतनी बातें ध्यान देने के योग्य हैं कि अश्वत्थामा के कथन से यह सिद्ध है कि कौरव और पाण्डव की सब सेनाओं में केवल दश ही वीर बचे और जितने आर्य्य और म्लेच्छ वीर थे सब मारे गये। तथा एक ग्राम वा नगर से जैसे अन्य ग्राम वा नगरवासियों के समीप लोग दूत के द्वारा सन्देश कहलाते हैं वैसे ही युद्ध में मरे हुए द्रोणाचार्य्य आदि शूरवीरों के समीप अश्वत्थामा ने मरते हुए राजा दुर्योधन के द्वारा सन्देश कहलाया, जिससे एक यह बात प्रत्यक्ष ही सिद्ध होती है कि भारत के मरे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब वीर तत्क्षण ही उत्तम लोकों में पहुँच गये तथा दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि पराशर महर्षि ने जो पूर्वोक्त ९ श्लोकों में युद्ध मृत्यु की प्रशंसा की है उसमें लेशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है किन्तु उसके एक एक वर्ण सत्य हैं। तथा स्त्रीपर्व के अध्याय २६ में यह कहा है कि—"धृतराष्ट्रस्तु०" कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में धृतराष्ट्र राजर्षि ने अपने शोक के वेग को विवेक से रोककर राजा युधिष्ठिर से पूछा कि हे पाण्डवश्रेष्ठ! तुम जीते हुए दोनों सेनाओं के वीरों की संख्या को जानते ही होगे परन्तु यदि इन मृतक वीरों की संख्या को जानते हो तो मुझसे कहो।

युधि०—हे राजन्! इस भारत-युद्ध में जो देखे हुए वीर मरे हैं उनकी संख्या एक अरब, छाछट करोड़, बीस हजार १६६०००२०००० है॥ ७—९॥ और जो ऐसे वीर मरे कि जिनको मैं नहीं जानता कि कब और कहाँ से आये, कब लड़े और कब मरे और वे कौन थे? ऐसे वीरों की

धृत०—युधिष्ठिर गतिं कां ते गताः पुरुषसत्तमाः ।
आचक्ष्व मे महाबाहो सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ११ ॥

युधि०—यैर्हुतानि शरीराणि हृष्टैः परमसंयुगे ।
देवराजसमान् लोकान् गतास्ते सत्यविक्रमाः ॥ १२ ॥
ये त्वहृष्टेन मनसा मर्तव्यमिति भारत ।
युध्यमाना हताः संख्ये ते गन्धर्वैः समागताः ॥ १३ ॥
ये च संग्रामभूमिष्ठाः याचमानाः पराङ्मुखाः ।
शस्त्रेण निधनं प्राप्ता गतास्ते गुह्यकान्प्रति ॥ १४ ॥
पीड्यमानाः परैर्ये तु हीयमाना निरायुधाः ।
ह्रीनिषेवा महात्मानः परानभिमुखा रणे ॥ १५ ॥
छिद्यमानाः शितैः शस्त्रैः क्षत्रधर्मपरायणाः ।
गतास्ते ब्रह्मसदनं हता वीरा सुवर्चसः ॥ १६ ॥
ये तत्र निहता राजन्नन्तरायोधनं प्रति ।
यथा कथंचित्ते राजन् सम्प्राप्तास्तूत्तरान् कुरून् ॥ १७ ॥

भाषा

संख्या चौबीस हजार एक सौ पैंसठ है । (यहाँ यह शंका न होनी चाहिये कि पाण्डवों की सात और कौरवों की ग्यारह इन मिलित अठारह अक्षौहिणियों की अपेक्षा मृतक वीरों की यह संख्या क्यों अधिक है ? क्योंकि दुर्योधन "एकादशचमूभर्ता" कहे जा चुके हैं । इससे यह निश्चित है कि उनकी साक्षात् (मूल) सेना केवल ग्यारह अक्षौहिणी थी परन्तु भगदत्तादि अन्यान्य सहायक राजाओं की सेनाएँ अनेक अक्षौहिणियां जो थीं उनकी संकलना के अनुसार यह मृतक वीरों की संख्या ठीक ही है) ॥१०॥ धृत०—हे युधिष्ठिर ! ये सब मृत वीर किस २ गति को गये यह मुझसे कहो क्योंकि मैं तुमको सर्वज्ञ समझता हूँ ॥ ११ ॥

युधि०—जिनने इस युद्ध रूपी अग्नि में अपने शरीरों को हर्षपूर्वक होम कर दिया वे सत्य-विक्रम इन्द्रलोक को गये । और हे भारत ! लड़ते समय जिनके मन में हर्ष नहीं था किन्तु यह निश्चय था कि (मरना है) वे वीर मर कर गन्धर्वलोक को गये और जो लोग युद्ध-भूमि में विमुख हो कर *प्राणदान माँगते हुए भी शस्त्रों से मारे गये वे गुह्यक (देवयोनि विशेष) के लोक को* केवल कुरुक्षेत्र के माहात्म्य से गये । और जिन वीरों के अस्त्र, शस्त्र दूसरों के अस्त्र-शस्त्र से कट गये और उनके अङ्ग भी शस्त्रों से काटे जाते थे जिससे उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी तथापि लोकलज्जा के कारण और क्षत्रिय धर्म के अनुसार वे आगे ही बढ़ते जाते थे और मारे गये वे महात्मा वीर ब्रह्मलोक को गये और हे राजन् ! जो लोग उस युद्ध में अस्त्र से नहीं मरे किन्तु दब दुब कर या दूसरे किसी कारण से मर गये वे उत्तरकुरु (देवभूमि विशेष) को गये ॥ १२—१७ ॥

धृत०—केन ज्ञानबलेनैवं पुत्र पश्यसि सिद्धवत् ।
तन्मे वद महाबाहो श्रोतव्यं यदि मन्यसे ॥ १८ ॥
युधि०—निदेशाद्भवतः पूर्वं वने विचरता मया ।
तीर्थयात्रा-प्रसङ्गेन सम्प्राप्तोऽयमनुग्रहः ॥ १९ ॥
देवर्षिर्लोमशो दृष्टस्ततः प्राप्तोस्म्यनुस्मृतिम् ।
दिव्यं चक्षुरनुप्राप्तं ज्ञानयोगेन वै पुरा ॥ २० ॥

अत्र हि भारतयुद्धे हतानार्य्यान् म्लेच्छांश्च वीरान् सर्वानविशेषेण परिगणय्य तेषामनेकविधपुण्यलोकप्राप्तयोऽपि तथैवाविशेषाद्युधिष्ठिरेणोक्ताः माधवोक्तरीत्या पराशरश्लोकानां क्षत्रियधर्मप्रकरणं प्रत्युत्कर्षे तु युद्धस्य क्षत्रियमात्रधर्मत्वाङ्गीकारात्क्षत्रियातिरिक्तानां युद्धमृतानां पुण्यलोकप्राप्तिर्नोपपद्येत न च क्षत्रियादन्येषां युद्धे प्रवृत्तिर्युद्धे तेषामाह्वानं चोपपद्येतेति सर्व इमे भारतकथानां सन्दर्भा उपन्यस्ता विरुध्येरन् एवं चैतद् विरोधान्न तेषां प्रकरणान्तरे कथंचिदप्युत्कर्षो युक्त इति धर्मयुद्धस्य सामान्यधर्मतैव किं च सर्वमिदमुपन्यस्तं भारतकथा जातमपि धर्म्ययुद्धस्य सामान्यधर्मत्वे दृढतरं प्रमाणम् किं च एतत्प्रकरणोपक्रमोपन्यस्ते वाक्ये "क्षत्रहतस्ये" त्यनभिधाय पुरुषसामान्यधर्मत्वविवक्षया क्षत्रधर्मेणापराङ्मुखत्वादिना हतस्य यस्य कस्यापीत्यर्थमभिप्रेत्य "क्षत्रधर्महतस्ये" त्यभिदधानस्य मनोरपि धर्म्ययुद्धस्य सामान्यधर्मत्वमभिप्रेतमिति निश्चीयते ।

भाषा

धृत०—हे महाबाहो ! यदि मेरे श्रवण के योग्य हो तो मुझसे यह कहो कि किस विद्या के बल से तुम्हारी यह दृष्टि सिद्ध पुरुषों की नाईं है ॥ १८ ॥

युधि०—पूर्व समय में आप की आज्ञा से वन में भ्रमण करते २ तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से मुझे लोमश देवर्षि का दर्शन हुआ और उन्हीं के अनुग्रह से मुझे यह दिव्य दृष्टि मिली ॥ १९ ॥ २० ॥

अब यहाँ यह देखना चाहिये कि राजा युधिष्ठिर ने भारत-युद्ध में मरे हुए आर्य और म्लेच्छ सब वीरों की निर्विशेष गणना कर उनके अनेक प्रकार पुण्यलोकों की प्राप्तियों को कहा और उन प्राप्तियों में जाति-भेद को कारण नहीं कहा बल्कि मरने के समय अन्तःकरण की दशाओं को कारण कहा । और माधवाचार्य का अन्तिम व्याख्यान यदि स्वीकार किया जाय तो राजा युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी की बातें झूठी हो जाती हैं तथा क्षत्रियों से अन्य उन सब वीरों को युद्ध-मरण रूपी पाप करने के कारण नरक ही होना चाहिये, इसलिये यहाँ तक महाभारत के जितने भाग उद्धृत किये हैं वे सब इस विषय में अटल प्रमाण हैं कि धर्मयुद्ध केवल क्षत्रिय ही का धर्म नहीं है किन्तु सबका सामान्य धर्म है ।

खं० ४—इस प्रकरण के आदि में उद्धृत "उद्यतैराहवे०" इस श्लोक में मनु ने यही कहा है कि—"विमुख न होना आदि क्षत्रिय धर्मों से संयुक्त हो कर, उद्यत शस्त्रों से मरने वाले का" जिससे यही सिद्ध होता है कि अभिमुख हो कर युद्ध में जो कोई शस्त्र से मरे उसके विषय में यह

अपि च अशौचप्रकरणस्यान्येव हि पूर्वोदाहृतानि मनुपराशरवचनानीति प्रकरणमपि तत्, धर्मयुद्धस्य सामान्यधर्मतामनुगृह्णाति किं च माधवोक्तो दृष्टान्तोऽपि विषमतमः तत्र हि वेदवाक्यान्तरविरोधाभावाद् प्रकरणादुत्कर्षो भवति प्रकृते तु स्मार्ते विधौ स्मार्त्तानामर्थवादश्लोकानां क्षत्रधर्मप्रकरणं प्रत्युत्कर्षेऽनन्तरोक्तभारतस्मृतिवाक्यजातविरोधो दुर्वार एव स्यादिति नात्र कथमप्युत्कर्षकल्पना घटते। धर्मयुद्धे क्षत्रधर्मत्वव्यवहारस्तु स्मृतिपरिगणितेषु क्षत्रधर्मेषु धर्मयुद्धस्य प्रकर्षादिसोपपद्यते वेदाध्ययनस्य ब्राह्मणधर्मत्वव्यवहारवत् अपि च भविष्यति भारतयुद्धे घानिष्यमाणानामभिमुखानां क्षत्रियाणामितरेषां च सूर्य्यमण्डलभेदनद्वारा-ब्रह्मलोकप्राप्तिर्भविष्यतीत्यभिप्रेत्य विदुरेण धृतराष्ट्रं प्रति कृतः पूर्वोपन्यस्त 'द्वाविमावि' त्यादि पूर्वोक्तपराशरस्मृतिवाक्यानुवादोऽपि धर्मयुद्धस्य साधारणधर्मत्वे प्रमाणम् किं च पूर्वोक्तं "वीरासनं वीरशय्या" मित्यादिबृहस्पतिवाक्यमप्यविशेषप्रवृत्तत्वाद्धर्म्ययुद्धस्य सामान्यधर्मतेऽनन्यथा सिद्धं मानमिति ध्येयम्।

एवम् आश्रमवासिके पर्वणि अध्याये ३२—

वैश०—ततो निशायां प्राप्तायां कृतसायाह्निकक्रियाः।
व्यासमभ्यागमन् सर्वे ये तत्रासन् समागताः॥ १॥

भाषा

वाक्य है क्योंकि यदि केवल क्षत्रिय ही के विषय में मनु को कहना होता तो वह ऐसा ही कहते कि—"अभिमुख हो कर युद्ध में शस्त्र से मरने वाले क्षत्रिय का"।

सं० ५—मनु और पराशर के इस विषय में पूर्वोक्त सब वचन, मरणाशौच ही के प्रकरण में हैं। इससे प्रकरण के अनुसार भी धर्म-युद्ध सामान्य धर्म है।

सं० ६—माधवाचार्य का रजस्वला नियम रूपी दृष्टान्त भी उलटा ही है क्योंकि वहाँ उसके खींचने में वाक्यान्तर का विरोध नहीं पड़ता और प्रकृत में यदि ये २ श्लोक अशौच के प्रकरण से खींचे जायँ तो महाभारत के अनन्तरोक्त भागों का विरोध दुर्वार ही है।

सं० ७—जब कि विदुर यह जानते थे कि भारत-युद्ध में क्षत्रिय से अन्य बहुत से वीर मारे जायँगे तब यदि युद्ध मृत्यु, क्षत्रिय ही का धर्म होता तो "*द्वाविमौ०*" इस पराशर महर्षि के वाक्य को (जिसमें सामान्य से सबके लिये युद्ध-मरण होने पर सूर्यमण्डल के भेदन द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है) उद्योग प० अ० ३२ श्लोक ६५ में, वह धृतराष्ट्र से नहीं कहते, इसलिये इस पराशर वाक्य का कथन भी विदुर का धर्मयुद्ध के सामान्य धर्म होने में प्रमाण है।

सं० ८— इसी प्रकरण के आदि में उद्धृत "*वीरासनं*" इस बृहस्पति स्मृति के अनुसार भी धर्मयुद्ध सर्वसाधारण का धर्म है, क्योंकि इस स्मृति में क्षत्रिय या किसी जाति का नाम लेकर युद्धमृत शूर की गति कही हुई है।

सं० ९—आश्रमवासिक पर्व अध्याय ३२—

"*ततो निशायाम्*" वैशम्पायन ने कहा कि हे जनमेजय तदनन्तर जो लोग धृतराष्ट्र के आश्रम पर आये थे वे सब सायंकाल की क्रिया समाप्ति होने पर कृष्णद्वैपायन व्यास के समीप आये। उस

धृतराष्ट्रस्तु धर्मात्मा पाण्डवैः सहितस्तदा ।
शुचिरेकमनाः सार्द्धमृषिभिस्तैरुपाविशत् ॥ २ ॥
गान्धार्या सह नार्यस्तु सहिताः समुपाविशन् ।
पौरजानपदश्चापि जनः सर्वो यथा वयः ॥ ३ ॥
ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् ।
अवगाह्याजुहावाथ सर्वान् लोकान् महामुनिः ॥ ४ ॥
पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः ।
राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ॥ ५ ॥
ततः स तुमुलः शब्दो जलान्ते जनमेजय ।
प्रादुरासीद्यथापूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
ससैन्याः सलिलात्तस्मात् समुत्तस्थुः सहस्रशः ॥ ७ ॥
विराटद्रुपदौ चैव सहपुत्रौ ससैनिकौ ।
द्रौपदेयांश्च सौभद्रो राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ८ ॥
कर्णदुर्योधनौ चैव शकुनिश्च महारथः ।
दुःशासनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ ९ ॥
जारासन्धिर्भगदत्तो जलसन्धश्च वीर्य्यवान् ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनश्च सानुजः ॥ १० ॥
लक्ष्मणो राजपुत्रश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजः ।
शिखण्डिपुत्राः सर्वे च धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ११ ॥

भाषा

समय पाण्डवों के सहित धृतराष्ट्र, शुद्ध और सावधान हो कर, उन ऋषियों के साथ वहाँ बैठे और महारानी गान्धारी के साथ नाना देशों की आई हुई महारानी आदि स्त्रियां तथा हस्तिनापुर और अन्यान्य देशों के लोग भी यथोचित स्थानों पर बैठे ॥ १—३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी व्यास मुनि ने भागीरथी के जल में घुस कर पाण्डवों और कौरवों के दल के जितने वीर मारे गये थे तथा अनेक देशनिवासी जितने राजा भारत-युद्ध में मरे थे सबको आवाहन किया ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदनन्तर उस जल में अनेक प्रकार के ऐसे महाशब्द मिलजुल कर महा कोलाहल रूप से प्रकट हुये कि जैसे युद्ध के समय में कौरव और पाण्डव के दलों में होते थे। उसके अनन्तर भीष्म और द्रोण को आगे कर अपने २ सैन्यों के साथ सहस्रों राजा उस जल से निकल खड़े हुए अर्थात् अपने पुत्रों और अपने सेनाओं के सहित विराट और द्रुपद, द्रौपदी के पाँचो पुत्र, सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु, घटोत्कच राक्षस, कर्ण, दुर्योधन, धृतराष्ट्र के पुत्र दुःशासन आदि, जरासंध के पुत्र भगदत्त, जलसंध, भूरिश्रवा, शल, शल्य, अपने छोटे भ्राताओं के सहित वृषसेन. राजपुत्र लक्ष्मण, धृष्टद्युम्न के पुत्र, शिखण्डी के सब पुत्र, छोटे भाइयों के सहित धृष्टकेतु, अचल, वृषक, अलायुध राक्षस, बाह्लीक,

अचलो वृषकश्चैव राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
वाह्लीकः सोमदत्तश्च चेकितानश्च पार्थिवः ॥ १२ ॥
एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद्येन कीर्तिताः ।
सर्वे भासुरदेहास्ते समुत्तस्थुर्जलात्ततः ॥ १३ ॥
यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम् ।
तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः ॥ १४ ॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः ।
निर्वैरा निरहङ्कारा विगतक्रोधमत्सराः ॥ १५ ॥
गन्धर्वैरुपगीयन्त स्तूयमानाश्च बन्दिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा वृताश्चाप्सरसां गणैः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रस्य च तदा दिव्यं चक्षुर्नराधिप ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रः प्रीतः प्रादात्तपोबलात् ॥ १७ ॥
दिव्यज्ञानबलोपेता गान्धारी च यशस्विनी ।
ददर्श पुत्राँस्तान् सर्वान् ये चान्येऽपि मृधे हताः ॥ १८ ॥
तदद्भुतमचिन्त्यं च सुमहल्लोमहर्षणम् ।
विस्मितः स जनः सर्वो ददर्शानिमिषेक्षणः ॥ १९ ॥
तदुत्सवमहोदग्रं हृष्टनारीनराकुलम् ।
आश्चर्यभूतं ददृशे चित्रं पटगतं यथा ॥ २० ॥
धृतराष्ट्रस्तु तान् सर्वान् पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ।
मुमुदे भरतश्रेष्ठ प्रसादात्तस्य वै मुनेः ॥ २१ ॥

भाषा

सोमदत्त, ये और अन्यान्य बहुत से लोग जिनका नाम मैं बहुत्व के कारण नहीं लेता हूँ सभी अपने २ चमकीले शरीरों के साथ, तथा जिस वीर का भारतयुद्ध में जो वेष, जो ध्वज और जो वाहन था उसी ध्वज, वेष और वाहन के साथ वह निकला । सब दिव्य वस्त्रों को धारण किये, चमकीले कुण्डलों को पहिरे तथा वैर, अहंकार, क्रोध और द्वेष से रहित थे ॥ ६—१५ ॥ और राजाओं के अग्र भाग में गन्धर्व गाते थे, बन्दीजन स्तुति करते थे और अप्सरा नाचती थीं ॥ १६ ॥

हे नराधिप ! उस समय प्रसन्न हो कर सत्यवती के पुत्र (व्यास) मुनि ने जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्र को अपने तपोबल से दिव्य नेत्र दिया और दिव्य ज्ञान से युक्त उनकी महारानी गान्धारी अपने उन पुत्रों को और जितने भारत-युद्ध में मरे थे सबको देखने लगीं ॥ १७ ॥ १८ ॥ विस्मय से आँखों के पलकों को तान तान कर वहाँ से सब लोगों ने रोम के खड़ा करने वाले इस अचिन्त्य महाश्चर्य्य को देखा । उत्सवों से उत्साहित, हृष्ट नर-नारियों से संकुल वह आश्चर्य रूपी महा-समाज पटगत चित्र सा देख पड़ता था । धृतराष्ट्र तो उस मुनि के प्रसाद के अनुसार अपने दिव्य नेत्रों से उन सबको देख कर बहुत बड़े हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २० ॥ २१ ॥

तत्रैव अ० ३३, वैश०—ततस्ते पुरुषश्रेष्ठा समाजग्मुः परस्परम् ।
विगतक्रोधमात्सर्य्याः सर्वे विगतकल्मषाः ॥ १ ॥
विधिं परममास्थाय ब्रह्मर्षिविहितं शुभम् ।
संहृष्टमनसः सर्वे देवलोक इवामराः ॥ २ ॥
पुत्रः पित्रा च मात्रा च भार्य्याश्च पतिभिः सह ।
भ्राता भ्रात्रा सखा चैव सख्या राजन् समागताः ॥ ३ ॥
पाण्डवास्तु महेष्वासं कर्णं सौभद्रमेव च ।
संप्रहर्षात्समाजग्मुर्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ४ ॥
ततस्ते प्रीयमाणा वै कर्णेन सह पाण्डवाः ।
समेत्य पृथिवीपाल सौहृद्ये च स्थिताभवन् ॥ ५ ॥
परस्परं समागम्य योधास्ते भरतर्षभ ।
मुनेः प्रसादात्ते ह्येवं क्षत्रिया नष्टमन्यवः ॥ ६ ॥
असौ हृदं परित्यज्य सौहृद्ये पर्यवस्थिताः ।
एवं समागताः सर्वे कुरुभिर्बान्धवैः सह ॥ ७ ॥
पुत्रैश्च पुरुषव्याघ्राः कुरवोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तां रात्रिमखिलामेवं विहृत्य प्रीतमानसाः ॥ ८ ॥
मेनिरे परितोषेण नृपाः स्वर्गसदो यथा ।
नात्र शोको भयं त्रासो नारतिर्नायशोऽभवत् ॥ ९ ॥
परस्परं समागम्य योधानां भरतर्षभ ।
समागतास्ताः पितृभिर्भ्रातृभिः पतिभिः सुतैः ॥ १० ॥
मुदं परमिकां प्राप्य नार्य्यो दुःखमथात्यजन् ।
एकां रात्रिं विहृत्यैव ते वीरास्ताश्च योषितः ॥ ११ ॥

भाषा

अ० ३३, तदनन्तर क्रोध और द्वेष तथा पाप से रहित ब्रह्मर्षियों के तुल्य, हर्षयुक्त वे सब महापुरुष देवलोक में देवताओं की नाईं अन्योन्य में मिल गये अर्थात् पुत्र, पिता और माता से तथा पत्नियाँ अपने २ पतियों से, भाई भाई से और मित्र मित्र से मिला ॥ १—३ ॥ पाण्डव तो कर्ण, अभिमन्यु और द्रोपदी के सब पुत्रों से मिले और कर्ण से उनकी गाढ़ी मित्रता हुई ॥ ४ ॥ ५ ॥

वे सब क्षत्रिय मुनि के प्रसाद से क्रोध और द्वेष छोड़ २ कर अन्योन्य की मित्रता में स्थित हो गये। ऐसे ही वे सब कौरव तथा अन्यान्य राजा अन्योन्य में आमोद और प्रमोद को प्राप्त हुए और रात्रि भर स्वर्गवासियों की नाईं वे राजा अन्योन्य समागम से अति सन्तुष्ट हुए। वहाँ किसी को शोक, भय, वैमनस्य या अपयश उस समागम में नहीं हुआ। इस लोक की सब स्त्रियों ने अपने अपने पिता, भ्राता, पति और पुत्रों से अनेक वार यथेच्छ मिलने के कारण अपने शोकों और दुःखों को

आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ततो विसर्जयामास लोकांस्तान् मुनिपुङ्गवः ॥ १२ ॥
क्षणेनान्तर्हितारचैव प्रेक्षतामेव तेऽभवन् ।
अवगाह्य महात्मानः पुण्यां भागीरथीं नदीम् ॥ १३ ॥
सरथाः सध्वजाश्चैव स्वानि वेश्मानि भेजिरे ।
देवलोकं ययुः केचित् केचिद्ब्रह्मसदस्तथा ॥ १४ ॥
केचिच्च वारुणं लोकं केचित्कौवेरमाप्नुवन् ।
ततो वैवस्वतं लोकं केचिच्चैवाप्नुवन्नृपाः ॥ १५ ॥
राक्षसानां पिशाचानां केचिच्चाप्युत्तरान् कुरून् ।
विचित्रगतयश्चान्ये मानवाप्यामरैः सह ॥ १६ ॥
आजग्मुस्ते महात्मानः सवाहाः सपदानुगाः ।
गतेषु तेषु सर्वेषु सलिलस्थो महामुनिः ॥ १७ ॥
धर्मशीलो महातेजाः कुरूणां हितकृत्तथा ।
ततः प्रोवाच ताः सर्वाः क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ १८ ॥
या याः पतिकृताल्लोकानिच्छन्ति परमस्त्रियः ।
ता जाह्नवीजलं क्षिप्रमवगाहन्त्वतन्द्रिताः ॥ १९ ॥
ततस्तस्य वचः श्रुत्वा श्रद्दधाना वराङ्गनाः ।
श्वशुरं समनुज्ञाप्य विविशुर्जाह्नवीजलम् ॥ २० ॥
विमुक्ता मानुषैर्देहैस्ततस्ता भर्तृभिः सह ।
समाजग्मुस्तदा साध्व्यस्सर्वा एव विशाम्पते ॥ २१ ॥

भाषा

त्याग दिया । एक रात्रि ऐसा विहार कर वे वीर और वे स्त्रियाँ अन्योन्य में अंकमालिका दे २ कर चल दो गये । तदनन्तर मुनिपुङ्गव व्यास ने उन लोगों को विसर्जन किया और वहाँ के लोगों के देखते देखते क्षणमात्र में वे सब गुप्त हो गये अर्थात् रथ और ध्वज आदि के सहित, भागीरथी में घुस घुस कर कोई देवलोक, कोई ब्रह्मलोक, कोई वरुणलोक, कोई कुबेरलोक, कोई यमलोक, कोई राक्षसलोक और कोई उत्तर कुरु को गये; क्योंकि प्रत्येक मनुष्यों की लोकगति विलक्षण विलक्षण थी । इसलिये जहाँसे जो जैसे आया था वहाँ वैसे वह चला गया । और उन लोगों के जाने पर कुरुओं के हितकारी धर्मशील और महा तेजस्वी जलस्थित महामुनि ने सब क्षत्रिय विधवाओं से कहा कि ॥ ६—१८ ॥ जो स्त्रियाँ अपने अपने पतिलोक को जाना चाहती हों, वे सब इसी समय अपने अपने शरीरों को समाप्त कर इस जाह्नवीजल में प्रवेश करें ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्वशुर (व्यास) के समीप पहुँच कर उनके वाक्य के अनुसार श्रद्धाशाली सहस्रों सहस्र क्षत्रिया विधवा, जाह्नवीजल में प्रवेश कर गईं । तदनन्तर वे सब स्त्रियाँ मनुष्य शरीरों को

एवं क्रमेण सर्वास्ताः शीलवत्यः पतिव्रताः ।
प्रविश्य क्षत्रिया मुक्ता जग्मुर्भर्तृसलोकताम् ॥ २२ ॥
दिव्यरूपसमायुक्ता दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा यथाऽऽसां पतयस्तथा ॥ २३ ॥
ताः शीलगुणसम्पन्ना विमानस्था गतक्लमाः ।
सर्वाः सर्वगुणोपेताः स्वस्थानं प्रतिपेदिरे ॥ २४ ॥
यस्य यस्य तु यः कामस्तस्मिन् काले बभूव ह ।
तं तं विसृष्टवान् व्यासो वरदो धर्मवत्सलः ॥ २५ ॥
तच्छ्रुत्वा नरदेवानां पुनरागमनं नराः ।
जहृषुर्मुदिताश्चासन्नानादेशगता अपि ॥ २६ ॥ इति

अत्र च "३२ अ० आजुहाव सर्वांल्लोकान्महामुनिः ४" पाण्डवानाञ्च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ५, इति 'सर्वान्' 'सर्वश' इति सर्वशब्दाभ्यां यथा पूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ६ 'इत्युपमया, ततस्ते पार्थिवाः सर्वे, ७ इति सर्वशब्देन' 'एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद्ये न कीर्तिताः सर्वे भासुरदेहास्ते' १३ इति वाक्येन च भारतयुद्धे ये ये हता आर्य्या म्लेच्छाश्च ते सकला एवाविशेषं व्यासेनाहूताः प्रादुर्भूताश्च तत्र गङ्गातीरे न तु केचनोर्वरिता इति स्पष्टमेव प्रतीयते 'भीष्मद्रोणपुरोगमाः' 'इत्यारभ्य' चेकितानश्च पार्थिवः, १२ इत्यन्ते विशिष्टराजपरिगणनप्रकरणेऽपि 'राक्षसश्च 'घटोत्कचः' ८ राक्षसश्चाप्यलायुधः १२ इति राक्षसयोरपि पुण्यलोकदाह्वानं प्रादुर्भावश्च गङ्गातीरे कथिते इति राक्षसानामप्यभिमुखानां युद्धमृतानां पुण्यलोकप्राप्तिरन्यथानुपपत्या प्रतिपाद्यते ।

३२ अध्याये च (देवलोकं ययुः केचित्) १४ इत्यारभ्य 'सवाहाः सपदानुगाः' १७

भाषा

छोड़ छोड़ तत्क्षण ही अपने अपने पतियों के समीप चली गईं । इस क्रम से वे सब शीलवती पतिव्रता क्षत्रियाँ अपने अपने पतिलोक को जाकर उनके पति जैसे दिव्य रूप, दिव्य वस्त्र, दिव्य भूषण और दिव्य पुष्पमालाओं से भूषित थे वैसे ही दिव्य रूप आदि से संयुक्त और भूषित हो गईं और विमानों पर चढ़ कर अपने २ लोक में पतियों के साथ विहार करने लगीं ॥ २०—२४ ॥ और उस समय वहाँ उपस्थित नरों और नारियों के समाज में जिसके जिसके मन में जो जो कामनाएँ हुईं धर्मवत्सल और वरदाता व्यास ने उन सब कामनाओं को तुरत ही पूर्ण किया ॥ २५ ॥ मृत राजाओं के इस पुनरागमन को सुन सुन कर सब देशों के मनुष्यों को बड़ा हर्ष और आनन्द प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

अब ध्यान देना चाहिये कि जब व्यास ने भारत-युद्ध में मरे हुए आर्य्य और म्लेच्छ सब वीरों तथा द्रोणाचार्य्य ब्राह्मण और घटोत्कच, अलायुध, राक्षसों को पुण्य लोकों से बुलाया और रात्रिभर रख कर उनको अपने अपने लोक में पहुँचा दिया, तब क्षत्रिय से अन्य युद्धमृत की उत्तम लोकगति में क्या सन्देह रह गया ? और यह भी ध्यान करने योग्य है कि पूर्व ही उद्धृत श्री पर्व

इत्यन्तेन प्रबन्धेन सर्वेषामेव तेषामार्य्याणां म्लेच्छानां चाविशेषेण तत्तल्लोकगमनमुक्त्वा 'गतेषु तेषु सर्वेषु' १७ इति सर्वपदघटितवाक्येन तथैव तदनूदितम् 'प्रविश्य क्षत्रिया मुक्ताजग्मुर्भर्तृसलोकताम्' २२ इति क्षत्रियपत्नीनां पातिव्रत्यं च प्रतिपादितमित्यलमियता ।

३७—अथ भगवद्भक्तिः

अस्याः साधारणधर्मत्वे प्रमाणं साधारणधर्मोपक्रमे पूर्वमुक्तम् ।

किञ्च—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेता० उ० अ० ६ श्लो० १८)

इति श्रुतिरत्रमानम् अत्र हि साधारणस्य मुमुक्षामात्रस्य भगवद्भक्तावधिकारत्वमुच्यते अत एव—

शाण्डिल्यमहर्षिनिर्मिते भक्तिमीमांसादर्शने २ अध्याये २ आह्निके—
आनिन्द्य योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत् ॥ २२ ॥

इति सूत्रम् अस्य चायमर्थः 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति श्रुतेर्मुमुक्षामात्रस्य भगवद्भक्तावधिकारत्वं लभ्यते मुमुक्षायाश्च साधारण्येन हिरण्यगर्भादारभ्य निन्द्ययोनिपर्यन्तं संभवात्सर्व एवात्राधिक्रियन्ते । यद्यपि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादिन्यायाद्-

भाषा

में राजा युधिष्ठिर ने भारतयुद्ध में जिस जिस प्रकार से मरने वालों के लिये जिस जिस लोक का नाम लिया है वहाँ भी उन्हीं लोकों में उन वीरों का पलट जाना कहा हुआ है ।

अब धर्म्मयुद्ध का प्रकरण समाप्त किया जाता है ।

३७—भगवद्भक्ति का निरूपण

श्री १००००८ भगवान् में भक्ति करना सर्वसाधारण का धर्म है । इस विषय में पूर्व ही "सामान्य धर्मसंग्रह" प्रकरण में प्रमाण कहा जा चुका है । तथा भगवद्भक्ति के सामान्य धर्म होने में अन्यान्य प्रमाण भी अब दिखलाये जाते हैं जैसे कि—"*यो ब्रह्माणं०*" जो प्रथम ब्रह्मा को बनाता है, और जो ही उनके हृदय में वेदों को पहुँचाता है, संसार दुःख से मोक्ष चाहता हुआ मैं उन्हीं स्वयं प्रकाश देव की शरण जाता हूँ । इस 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में जाति वा वर्ण न कह कर मोक्ष चाहने मात्र से सर्वसाधारण का भगवद्भक्ति में अधिकार कहा है ।

तथा "*आनिन्द्य योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत्*" (भ० मी० द० अ० २ आ० २ सू० २२) जिसका यह अर्थ है कि '*यो ब्रह्माणं*' इस अनन्तरोक्त श्रुति के अनुसार मुक्ति चाहने वाला जो ही हो वह भगवद्भक्ति का अधिकारी है । इसी से हिरण्यगर्भ से लेकर चाण्डाल योनि पर्य्यन्त सभी का भगवद्भक्ति में अधिकार कहा है ।

यद्यपि "*चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः*" (पू० मी० द० अ० १ पा० १ सू० २) और "*शास्त्रयोनित्वात्*" (वे० द० अ० १ पा० १ सू० ३) इन जैमिनि और व्यास महर्षि के सिद्धान्तों के अनु-

लौकिकोऽर्थः श्रुत्येकगम्य इत्यत्र न विवादः तथापि स्त्रीशूद्रादीनामितिहासपुराणद्वारा चाण्डालादीनां च स्मृत्याचारवदुपदेशपारम्पर्याज्जायमानं ज्ञानमपि श्रुतिमूलकमेव, तद्वदेव भक्तिरपि। यथा च सामान्यधर्माणां सत्यादीनां ज्ञानं तेषाम्भवति कथमन्यथा ते तैरनुष्ठीयन्ते तथैव तेषां भगवद्भक्तिरपीति।

गीतायाम् ६ अध्याये—

किञ्च—मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

इति भगवतैवात्मभक्तौ सामान्याधिकार उक्तः अत एव च—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
अन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

भाषा

सार इस विषय में कुछ भी विवाद नहीं है कि अलौकिक अर्थ वेदमात्र ही से ज्ञात होता है और स्त्री शूद्रादि को वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है तथा भगवद्भक्ति भी धर्म ही है जो कि वेद ही से ज्ञात हो सकती है तो ऐसी दशा में जब स्त्री शूद्र आदि, वेद के द्वारा भगवद्भक्ति रूपी धर्म को जान ही नहीं सकते तब उसमें उनका अधिकार नहीं हो सकता तथापि स्त्री शूद्र आदि को इतिहास और पुराण के द्वारा अन्य धर्मों की नाईं भगवद्भक्ति का भी ज्ञान हो सकता है और वह ज्ञान भी परम्परा से वेदमूलक ही है। तथा जिन (चाण्डाल आदि) को इतिहास और पुराण के श्रवण में अधिकार नहीं है उनको भी जैसे शिष्टजनों की देखादेखी और उपदेशपरम्परा से सत्य आदि सामान्य धर्मों का ज्ञान अवश्य ही होता है क्योंकि यदि सत्य आदि का ज्ञान चाण्डालादि को न होता तो उनमें सत्य आदि का अनुष्ठान कदापि न होता वैसे भगवद्भक्ति का भी ज्ञान उनको हो सकता है, इसलिए भगवद्भक्ति में सर्वसाधारण को अधिकार है।

तथा भगवद्गीता अध्याय ९ में कहा है कि—

"मां हि पार्थ०" हे पार्थ! पुण्ययोनि में उत्पन्न ब्राह्मण और राजर्षि भक्तों की तो बात ही क्या है क्योंकि स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा चाण्डाल आदि पापयोनि भी मेरे शरण आकर मोक्षरूपी उत्तम गति को पाते हैं।

तथा श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि—

"किरात०" किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि तथा अन्यान्य पापयोनिवाले भी, जिनके भक्तों के भक्त होने से भी शुद्ध हो जाते हैं उन सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को नमस्कार है। ऐसे ऐसे सहस्रों वाक्य और उपाख्यान, इतिहास और पुराणों

इत्यादीनि वाक्यान्युपाख्यानानि च सहस्रशः पुराणेतिहासादावुपलम्यन्त इति दिक्।

अथ केयं भक्तिः

न तावदसौ क्रियात्मिका, तथा सति 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुत्या तस्या निःश्रेयसहेतुत्वस्यैवानुपपत्तेः न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम् भक्तिर्न क्रियात्मिका, प्रयत्नाजन्यत्वात् यद्यत्र प्रयत्नजन्यं न तत्क्रियात्मकम् यथा ज्ञानम् भक्तिरपि न प्रयत्नजन्या तस्माच्च क्रियाऽऽत्मिकेत्यनुमानेन तस्याः क्रियात्वाभावसिद्धेः यथा हि प्रमाणसम्पत्त्यधीनं ज्ञानं न पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यते तथा भक्तिरपि न हि रागिणां प्रमदापुत्रादिविषयिणी रती रागिप्रयत्नानुसारेण तथा तथा परिणमन्ती दृश्यते किंतु पूर्वभविकवासनाविशेषानुविधायिनी सा। अत एव भगवद्भक्तिफलस्यानन्त्यमुपपद्यते भक्तेः क्रियाऽऽत्म-

भाषा

में प्रसिद्ध ही हैं। इसलिये भगवद्भक्ति के सामान्यधर्म होने में कुछ भी सन्देह नहीं है।

प्र०—इस भक्ति का क्या स्वरूप है?

उ०—जैसे गमन, भोजन आदि क्रिया हैं, वैसे भक्ति भी एक क्रिया ही है।

सं० १—यह भक्ति यदि क्रियारूपी हो तो इससे मोक्ष नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया से मोक्ष नहीं होता जैसा कि "*न कर्मणा*०" कर्म (क्रिया) पुत्र वा धन से मोक्ष नहीं होता किन्तु एक संन्यास (त्याग) ही से मोक्ष होता है। इस वेदवाक्य में क्रिया से मोक्ष का न होना कहा है।

प्र०—यदि भगवद्भक्ति से मोक्ष न हो तो क्या हानि है?

उ०—अनन्तरोक्त "*यो ब्रह्माणं*०" इस श्रुति से विरोध पड़ जायगा, यही हानि है क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा है कि "मोक्ष चाहने वाला मैं परमेश्वर के शरण जाता हूँ"।

सं० २—भक्ति के क्रियारूपी न होने में यह अनुमान प्रमाण है कि जो २ क्रिया रूपी होता है वह आत्मा के आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे भोजन आदि, और भक्ति तो आत्मा के आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती इससे क्रियारूपी नहीं है।

प्र०—यह निश्चय कैसे हो सकता है कि भक्ति आत्मा के आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती।

उ०—जैसे नेत्र आदि इन्द्रियों से पुरुष, व्याघ्र आदि जिन प्रतिकूल पदार्थों को प्रत्यक्ष करना नहीं चाहता और इसी से उनके प्रत्यक्ष होने के लिये प्रयत्न नहीं करता परन्तु उन पदार्थों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर उन पदार्थों का प्रत्यक्ष हो ही जाता है वैसे ही पिता, माता, पुत्र, पत्नी आदि में भक्ति उत्पन्न होने के लिए कोई आन्तरिक प्रयत्न नहीं करता किन्तु पूर्वजन्म के वासनाओं के अनुसार उनमें स्वाभाविक (आप से आप) ही भक्ति होती है अर्थात् भक्ति उत्पन्न करना अथवा भक्ति उत्पन्न न होने देना, पुरुष के आन्तरिक प्रयत्न के अधीन नहीं है।

सं० ३—और इस कारण भी भक्ति क्रियारूपी नहीं है कि यदि भक्ति क्रियारूपी होती तो उसका फल अक्षय न होता किन्तु अनित्य ही होता क्योंकि क्रिया का फल अक्षय नहीं होता

कत्वे तु "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इति श्रुत्या तस्या नित्यत्वमेव प्रसज्येत तथा च—

न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् (७) (भ० मी० अ० १ आ० १)

अत एव फलानन्त्यम् (८) इति सूत्रद्वयम्। नाप्याराध्यत्वादिज्ञानरूपा,

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गी० अ० ७ श्लो० १६)

इति भगवद्वाक्यात् अत्र हि "वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्, मां प्रपद्यते" इत्यनेन "पुण्यवान् सुखी" त्यनेन सुखपुण्ययोरिवोद्देश्यतावच्छेदकविधेयभावमहिम्ना प्रपत्तिज्ञानयोः कार्यकारणभावो बोध्यते तथा तत्रैव—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः॥ २०॥

इत्यनेन देवतान्तरप्रपत्तिनिन्दामुखेनैवेश्वरप्रपत्तिः स्तूयते अत्र च देवतान्तरभक्तेरेव प्रपद्यतिना कथनं न ज्ञानस्य, तस्या एव प्रपत्तेरुभयत्र प्रत्यभिज्ञानात् कार्यकारणभावश्च संसर्गमर्यादया प्रकृते गम्यमानः स्वान्यथानुपपत्त्यैव भक्तिं ज्ञानाद्भिनत्ति न हि तयोरैक्येऽसौ सम्भवति भेदनियतत्वात्।

किञ्च—महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गी० अ० ६ श्लो० १३)

भाषा

जैसा कि "*तद्यथेह०*" जैसे पुण्य और पाप के फल सुख और दुःख का इस लोक में नाश देखा जाता है, ऐसे ही पुण्यों के फल, परलोक वाले सुखों का भी अन्त में नाश होता है, यह वेदवाक्य में कहा है। यहाँ तक भक्ति के क्रियारूपी होने का जो खंडन किया गया उसी के तात्पर्य से "*न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्*" ॥ ७ ॥ "*अत एव फलानन्त्यम्*" ॥ ८ ॥ (भ० मी० द० १ आ० १) ये दो सूत्र हैं।

प्र०—अनन्तरोक्त रीति से जब यह भक्ति क्रियारूपी नहीं है तब इसका क्या स्वरूप है?

उ०—आराध्यत्व, सर्वज्ञत्व, आदि का ज्ञान अर्थात् "यह मेरे आराधनीय हैं०" और 'यह सर्वज्ञ हैं' इत्यादि ज्ञान ही भक्ति है।

खं० १—"*बहूनां जन्मनां०*" बहुत से जन्मों के अन्त में "सब जगत परमेश्वर ही हैं" ऐसे ज्ञान से युक्त पुरुष, मुझमें प्रपत्ति (भक्ति) करता है और वह महात्मा बहुत दुर्लभ है। इस गीतावाक्य में ब्रह्मज्ञान से भक्ति का होना कहा है। इससे स्पष्ट ही निश्चित होता है कि भक्ति ज्ञान से अन्य ही पदार्थ है।

खं० २—"*महात्मानस्तु०*" हे पार्थ! दैवी प्रकृति वाले महात्मा तो मुझे जगत् का कारण और अविनाशी जानकर एकाग्र हो भजते हैं। इस गीतावाक्य में भी ज्ञान को भक्ति का कारण

अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(गी० अ० १० श्लो० ८)

इति भगवद्वाक्ययोः "ज्ञात्वा भजन्ति०" "मत्वा भजन्ते०" इति क्त्वाप्रत्ययाभ्यां निर्दिश्यमानमानन्तर्यमपि भक्तेर्ज्ञानत्वाभावे पर्यवस्यति तथा चोपन्यस्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत् ॥ ६ ॥ इति

अस्यार्थस्तु भक्तिः न ज्ञानम्, तद्वतः ज्ञानवतः प्रपत्तिशब्दात् "बहूनां जन्मनामन्ते" इति वाक्यात् "कामैस्तैस्तै" रित्युक्तदेवतान्तरप्रपत्तिवत् इति । न हि देवतान्तरज्ञानमात्रस्य क्वचित्फलं श्रूयते येन "प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता" इत्यत्र प्रपदिना ज्ञानमभिधातुं युज्यते एवं च तदेकवाक्यतया 'बहूना' मिति पूर्ववाक्येऽपि प्रपद्यतिना न ज्ञानमभिधीयते किन्तु भक्तिरेवेति सूत्रान्ताभिप्रायः । च शब्दस्तु "महात्मानस्तु" "अहं सर्वस्य" इत्युक्तवाक्यद्वयस्यक्त्वाऽर्थान्तर्यसङ्ग्रहार्थः अतो भक्तिर्न ज्ञानात्मिकेति भावः अनेनैव च सूत्रेण

भाषा

कहा है । इससे भी यह सिद्ध है कि भक्ति, ज्ञान का कार्य है न कि ज्ञान ।

सं० ३—"अहं सर्वस्य०" मुझ (वासुदेव) को सब जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण समझ कर भावयुक्त विद्वान् भजते हैं । इस गीतावाक्य में भी समझ (ज्ञान) भक्ति का कारण कहा है । इससे स्पष्ट है कि भक्ति, ज्ञानरूपी नहीं है किन्तु ज्ञान का कार्य अर्थात् ज्ञान से अन्य ही है । इन्हीं गीतावाक्यों के प्रमाण से शाण्डिल्य महर्षि ने भी अनन्तरोक्त सूत्र के अनन्तर यह सूत्र कहा है कि—

"*तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्*" ॥ ६ ॥ इसका अर्थ यह है कि जैसे "*कामैस्तैस्तै०*" उन उन कामनाओं से अज्ञानी लोग मुझ (वासुदेव) से अन्य इन्द्रादि देवताओं की प्रपत्ति (भक्ति) करते हैं । इस गीतावाक्य में '*प्रपद्यन्ते*' शब्द का प्रपत्ति (भक्ति) अर्थ है न कि ज्ञान क्योंकि इन्द्रादि देवताओं को जानने का कोई फल नहीं है किन्तु उनमें भक्ति ही करने का फल होता है वैसे "*बहूनां*" इस अनन्तरोक्त गीतावाक्य में भी प्रपद्यन्ते का प्रपत्ति (भक्ति) ही अर्थ है न कि ज्ञान । इसी रीति से भक्ति के वाचक '*प्रपद्यन्ते*' '*भजन्ति*' और '*भजन्ते*' आदि शब्द वाले, गीता के अनन्तरोक्त तीनों वाक्यों से स्पष्ट ही सिद्ध है कि भक्ति, ज्ञान रूपी नहीं है ।

प्र०—'शब्द' इस पद से सब दर्शनों में वेद ही कहा जाता है तब कैसे इस अनन्तरोक्त सूत्र में शाण्डिल्य महर्षि ने गीतावाक्यों को शब्द कहा है ? क्योंकि गीता तो वेद नहीं है किन्तु महाभारत इतिहास रूपी स्मृति में अन्तर्गत होने से स्मृति है ।

उ० १—इस प्रश्न के विषय में पूर्व पण्डितों का यह उत्तर है कि इस सूत्र में 'शब्द' पद से अनन्तरोक्त गीतावाक्यों के मूलभूत '*यो ब्रह्माणं*' इस पूर्वोक्त श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य ही का ग्रहण है ।

भजिर्ब्रह्मज्ञाने गौण इति शङ्काऽपि निरस्यते। ननु भगवद्गीतावाक्यानि न शब्दविधया वेदवत्प्रमाणम् किन्तु भारतस्मृतित्वेनैव, तथा च कथमत्र सूत्रे शब्दादिति निर्देश इति चेन्न 'शब्दादित्यस्य बहूनां जन्मना' मिति स्मृत्याऽनुमितात्तत्समानार्थकवेदवाक्यरूपाच्छब्दादित्यर्थकत्वेनादोषात्। शाण्डिल्यसूत्रभाष्यकृतस्तु अदृष्टार्थकभगवद्वाक्यत्वमेव वेदत्वम् तच्च भगवद्गीतास्वप्यविशिष्टम् अत एव "भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इति दृश्यते केवलं त एव श्लोका व्यासेनोपनिबद्धाः तथा च पुराणान्तरम्।

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ इति ॥

न चैवं शूद्राणामश्रवणप्रसङ्गः भारतश्रवणाभ्यनुज्ञानेनैव तदुपपत्तेः प्रणवादिश्रुत्यादिवत्। तद्विहायेति चेन्न लक्ष्यताया अपरिपूर्त्तेः तथा चोक्तमाचार्यैः—

तानेव वैदिकान्मन्त्रान्भारतादिनिवेशितान्।
स्वाध्यायनियमं हित्वा लोकबुद्ध्या प्रयुञ्जते ॥ इति ॥

भाषा

उ० २—शाण्डिल्य महर्षिकृत मीमांसादर्शन के भाष्यकार स्वप्नेश्वर पण्डित ने तो उक्त प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि इस सूत्र में 'शब्द' पद का वेद ही अर्थ है। और गीता भी वेद ही है, क्योंकि अन्य प्रमाणों से जो विषय ज्ञात नहीं होता उसका बोध कराने वाला, भगवान् का वाक्य ही वेद कहा जाता है न कि अपौरुषेय वाक्य। तथा गीता भी जब भगवान् का वैसा ही वाक्य है तब यह, और कैसे नहीं वेद है? इसी से गीता के अध्यायों की अन्तिम पुष्पिकाओं में "*भगवद्गीतासु उपनिषत्सु*" ऐसा देखा जाता है जिससे यह सिद्ध है कि भगवद्गीता, उपनिषद् (वेद) है। और यह गीता व्यास की रचित नहीं है किन्तु श्री कृष्ण भगवान् की रचित है। व्यास ने तो इसको केवल अपने महाभारत में डाल दिया है जैसा कि पुराणान्तर में कहा है कि—

"*गीता सुगीता*" अन्य शास्त्रों से क्या फल है? केवल गीता को भली भाँति पढ़ना चाहिये जो कि भगवान् के मुख कमल से साक्षात् निकली है। और यह शंका तो नहीं करनी चाहिये कि गीता यदि वेद है तो शूद्र कैसे इसका श्रवण करेंगे? क्योंकि जब "*श्रावयेच्चतुरो वर्णान्*" इस वाक्य के अनुसार भारत के श्रवण में शूद्र का अधिकार है तो गीता के श्रवण में भी अधिकार हो ही गा, क्योंकि शूद्रों के अधिकार ही के लिये व्यास ने गीता को भारत में डाल दिया है। तथा यह भी ध्यान नहीं करना चाहिए कि जैसे शूद्र के अधिकार वाले तान्त्रिक मन्त्र, ओङ्कार को निकाल कर शूद्रों को सुनाये जाते हैं वैसे गीता को निकाल कर महाभारत, शूद्रों को सुनाना चाहिये, क्योंकि तब यह महाभारत पूर्ण ही नहीं होगा किन्तु खण्डित ही रहेगा। और इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है कि—

"*तानेव०*" वे ही वैदिक मन्त्र जब भारत आदि में डाल दिए गये तब लौकिक वाक्यों की नाईं उनके सुनने में शूद्र को भी अधिकार है अर्थात् उन मन्त्रों के विषय में वेद का कोई नियम नहीं रहता।

इति समादधिरे । नापि श्रद्धारूपा,

यदेव श्रद्धया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति

इति श्रुत्या हि श्रद्धायाः साधारण्येन सर्वकर्माङ्गत्वम्प्रत्याय्यते भगवद्भक्तस्तु न सर्वकर्माङ्गत्वमस्तीति श्रद्धासव्यापकस्य सर्वकर्माङ्गत्वस्याभावादेव भक्तेः श्रद्धात्वासम्भवात् किञ्च भक्तेः श्रद्धात्वे—

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। (गी० अ० ६ श्लो० ४७)

इति भगवद्वाक्येन भक्तिश्रद्धयोः कार्यकारणभावस्य बोधनादात्माश्रयप्रसङ्गः व्यक्तिद्वयकल्पनया तत्परिहारे त्वन्योन्याश्रयापत्तिः व्यक्तित्रयकल्पने तु चक्रकप्रासः ततोऽप्यधिकव्यक्तिकल्पनया तद्वारणे त्वनवस्था दुर्वारा । तथा च—

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात् ॥ १४ ॥

तस्यास्तत्त्वे चानवस्थानात् ॥ १५ ॥

(भ० मी० द० अ० १ आ० २)

इति सूत्रे । अपि च "श्रद्धाभक्तिसमन्वित" इत्यादौ श्रद्धाभक्त्योः प्रथङ्निर्देशाच्च कथञ्चिदपि भक्तेः श्रद्धात्वम् विश्वासो हि श्रद्धा । नापीच्छारूपा इच्छायामसिद्धविषयकतानियमात् भक्तौ तदभावात् तथा च किमात्मिकेयं भक्तिरिति चेत्—

अत्रोच्यते रागस्तावदयमन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषो भजामि रज्यामि प्रपद्य इत्याद्यनुव्यवसायसाक्षिक आकीटपतङ्गमाहिरण्यगर्भश्च यावत्स्वेव प्राणिष्वोतप्रोतायमानत्वाभापह्नोतुं

भाषा

प्र०—यदि यह भक्ति, ज्ञानरूपी भी नहीं है, तो इसका क्या स्वरूप है ?

उ० १—यह भक्ति श्रद्धा रूपी है ।

खं० १—जब कि श्रद्धा के बिना, किये हुये किसी धर्म का फल नहीं होता जैसा कि "यदेव श्रद्धया०" इस वेदवाक्य में कहा है । और भगवद्भक्ति के बिना भी केवल धर्मबुद्धि से यज्ञादि कर्म सफल होते हैं तब भक्ति, कैसे श्रद्धारूपी हो सकती है ?

खं० २—"श्रद्धावान् भजते०" जो श्रद्धावान् योगी मेरी भक्ति करता है उसको मैं बड़ा योगी समझता हूँ । इस गीतावाक्य में श्रद्धा को भक्ति का कारण कहा है इससे भक्ति, श्रद्धारूपी नहीं है । क्योंकि कारण से कार्य, भिन्न होता है न कि जो कारण है वही कार्य है । और इसी तात्पर्य से शाण्डिल्य महर्षि का यह सूत्र है कि "नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्०" (भ० मी० द० अ० १ आ० २) ॥ १४ ॥

खं० ३—"श्रद्धाभक्ति समन्वितः०" इत्यादि वाक्यों में श्रद्धा से पृथक् भक्ति कही हुई है क्योंकि श्रद्धा नाम विश्वास का है न कि भक्ति का । इससे भी भक्ति, श्रद्धा से अन्य ही है ।

प्र०—जब कि भक्ति श्रद्धारूपी भी नहीं है तब इस भक्ति का क्या स्वरूप है ?

उ०—इच्छा ही भक्ति है, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि "भक्त भगवान् को चाहता है"

खं०—इच्छा में यह नियम है कि वह असिद्ध ही की होती है अर्थात् जो सिद्ध है उसकी

शक्यते अयमेवासाद्यालम्बनविशेषांस्तदनुसारेण विहितान्प्रतिषिद्धाननुभयविधाँश्च व्यवहारानविरतमाहरन् रत्यनुरक्तिमायामोहादिशब्दैरपि लोके व्यवह्रियमाणोऽर्थधर्मादीन् कामक्रोधादीन् सुखान्दुःखांश्च वर्गाननुबध्नन् विजयते यथा च कुल्यासलिलप्रवाहः केदारपङ्क्तिकामाप्लाव्य तदायामविस्तरात्रिचतुरकोणत्वाद्याकारीभूयात्मानं तामिव भावयति तथा रागोऽपि तत्तदालम्बनानामाकारानुररीकुर्वन्नात्ममयीभूतान्प्राणिनस्तन्मयी भावयति। अत एव चेमं कामिनीविषयं स्थायिपदेन व्यपदिश्य विगलितवेद्यान्तरत्वादिरूपदशाविशेषविशेषितं रसपदेन शृङ्गारपदेन च व्यवहरन्ति, व्यवहरन्ति च गुर्वादिष्वालम्बनविशेषेषु सञ्चारिव्यभिचारिशब्दाभ्यां रसविद्याविदः। किं बहुना यत्र—

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति

इति श्रुतिः 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति तदनुसारि भरतमहर्षिसूत्रं च रसशब्देनैनमेव प्रतिपादयति। अयमेव च निरतिशयम्भगवन्तमालम्बनमासादयन् भक्तिरित्युच्यते। गुर्वाद्यनुरागेषु भक्तिपदप्रयोगस्तु गौण इत्युपरिष्टात्स्फुटी भविष्यति। तथा च सम्वमेश्वरभाष्यं सूत्रम्—

ननु तथापि भक्तेरागरूपत्वे किं प्रमाणमित्यपेक्षायामाह—

भाषा

इच्छा नहीं होती जैसे जिसको जिस पदार्थ का लाभ हो चुका है वह उस पदार्थ के लाभ की इच्छा नहीं करता और भक्ति में यह नियम नहीं है। जैसे मिले हुए पिता आदि और मिलने वाले गुरु आदि में भी भक्ति होती है। इसलिए भक्ति, इच्छा से भी अन्य ही है। इस विचार से यह सिद्ध होता है कि भक्ति का कोई स्वरूप ही नहीं है।

सिद्धान्त—अन्तःकरण का वृत्ति विशेषरूपी राग (प्रेम) एक ऐसा अति प्रसिद्ध पदार्थ है जो कीट-पतंग से लेकर ब्रह्मदेव पर्यन्त सभी के हृदय में प्रकाशमान है, इसी से उसके लिये किसी प्रमाण की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। बल्कि सभी सांसारिक व्यवहार उसी से चलते हैं अर्थात् यदि वह न हो तो एक दूसरे का कोई प्रयोजन न रह जाय। और उसी से काम, क्रोध आदि लौकिक तथा धर्म, अधर्म आदि पारलौकिक अच्छे और बुरे सब उत्पन्न होते हैं। और जैसे खेतों में जब पानी जाता है तब क्यारिओं के अनुसार उसकी लम्बाई, चौड़ाई आदि आकार हो जाते हैं वैसे ही यह राग भी जिसका जिस पर होता है उसको तन्मय बनाने के लिए तदाकार हो जाता है। इसी से साहित्य विद्या के आचार्य लोग प्रथम, इस राग को स्थायीभाव कह कर पुनः जब इस राग की अवस्था पूर्ण अखण्डानन्दरूपी हो जाती है तब इसे 'शृङ्गार' और गुरु, देवता आदि के विषय में इस राग को संचारीभाव भी कहते हैं। अधिक क्या कहना है जब कि वेदवाक्य "रसो वै सः" इत्यादि भी इसी 'राग' को रस शब्द से कहते हैं और संगीत शास्त्र के आचार्य भरत आदि महर्षि भी इसी 'राग' के प्रति कारण होने मात्र से श्रुति, स्वर, ग्राम, तान, मूर्च्छना आदि के समुदाय रूपी भैरव, मालव, कौशिक, हिण्डोल आदि को भी 'राग' कहते हैं और यही राग, जब जगत् के महागुरु परमे-

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः। (भ० मी० द० अ० १ आ० सू० ६)

भक्तिः खलु राग एव भवितुमर्हति कुतः द्वेषं प्रति विरोधित्वात् लौकैर्हि द्वेष्टाऽयम् भक्तोऽयमिति विरुद्धधर्माविति व्यवह्रियते तत्र द्वेषविरोधी च राग एव प्रसिद्धो न ज्ञानादिः। एवं च वैष्णवे भगवति शिशुपालस्य द्वेषानुबन्धमभिधाय "अयं हि भगवान् कीर्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरदुर्लभं फलं प्रयच्छति किमुत सम्यग्भक्तिमता"मित्युक्तम्। तथा च अत्रिस्मृतौ—विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन्।

शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः॥ इति

अत्रापि द्वेषविरोधित्वेन भक्तेरभिधानम्।

तथा च गीतासु—मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्॥

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ (गी० अ० १६।१८) इति

अत्र च तद्विरोधिनी च भक्तिरीश्वरविषयैवानुरक्तिरिति युज्यते किं च "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति अत्रानन्दाविर्भावलक्षणमुक्तेर्भगवोचररसस्य हेतुताऽवगम्यते

भाषा

श्वर के विषय में होता है तब इसे भक्ति कहते हैं। और इसी अभिप्राय से यह सूत्र भी है कि "*द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः*" (भ० मी० द० अ० १ आ० १ सू० ६) इसका अर्थ यह है कि भक्ति राग ही है क्योंकि यह, द्वेष का विरोधी है क्योंकि लोक में "यह द्वेष्टा (द्वेष करने वाला) है" "यह भक्त है" ऐसे व्यवहार से द्वेष और भक्ति के अन्योन्य में विरोध प्रसिद्ध है। तथा यह भी प्रसिद्ध है कि द्वेष से भी भगवान् की चर्चा और स्मरण करने वालों को ऐसा फल मिलता है जो सब देवता और दैत्यों को दुर्लभ है और अच्छे भक्तों को तो कहना ही क्या! तथा अत्रि महर्षि की स्मृति में भी यह कहा है कि—

"*विद्वेषादपि०*" भगवद्भक्त के मोक्ष मिलने की तो बात ही क्या है? जब कि दमघोष का पुत्र (शिशुपाल) भगवान् को द्वेषपूर्वक स्मरण करने से भी मोक्ष को प्राप्त हुआ। यहाँ भी भक्ति और द्वेष का अन्योन्य विरोध स्पष्ट है। तथा गीता में भी "*मामात्मपरदेहेषु०*" जो नराधम अपने और पराये देहों में मुझसे द्वेष करते हैं वे आसुरी योनियों में अनेक जन्म पा कर अधम गति को प्राप्त होते हैं, मुझको नहीं पाते। ऐसा कहने से भक्ति और द्वेष का अन्योन्य में विरोध प्रकाश किया गया है। तथा विष्णुपुराण में भी रामलक्ष्मणादि का स्वर्गारोहण कह कर यह कहा है कि कोसल-नगर और देश के जो लोग श्रीराम के अनुरागी थे वे भी उनके लोक को गए। यहाँ तो 'अनुराग' शब्द से स्पष्ट ही भक्ति कही हुई है। इन सब प्रमाणों से भक्ति, रागरूपी है तथा—

"*रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति०*" यह आत्मा रस ही को पा कर आनन्द रूपी मोक्ष को

रसश्च रागः "रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" इत्यादौ प्रसिद्धः अत्र रसो रागः तथा च वैष्णवे एव रामलक्ष्मणादीनां स्वर्गारोहणमुक्त्वा "येऽपि तेषु भगवदंशेष्वनुरागिणः कोशलनगरजनपदस्थास्तेऽपि तन्मनसस्तत्सलोकतामापुः" इति साक्षादेवानुरागशब्दो भक्तौ प्रयुक्त इति तस्मादपि न ज्ञानं किन्तु अनुरागरूपैव भक्तिर्निःश्रेयसफलेति। ननु द्वेषविरोधित्वं न रागत्वे लिङ्गम् उदासीनेष्वनैकान्त्यादिति चेत् उच्यते द्वेषकार्यं निवृत्तिस्तद्विरोधिनी च प्रवृत्तिः। भवति तु भक्तानां भजनीयानुवर्तनादौ प्रवृत्तिस्तद्विरोधिनां तदनुवर्तनादेर्निवृत्तिः।

एवं च कार्यमुखेन विरोधिनमभिप्रेत्य द्वेषप्रतिपक्षेत्युक्तम् तथा च प्रयोक्तव्यम् भक्तिः भजनीयगोचररागरूपा, तदनुवर्तनादिहेतुतत्साधनताधीभिन्नात्मविशेषगुणत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा द्वेष इति। रागोत्कर्षेण तदनुवर्तनाद्युत्कर्षस्य दृष्टत्वाच्च किं च यो यत्र भक्तस्तत्र तस्यौदासीन्याभावेऽवगते, भक्तिः तादृशानुवर्तनाद्यनुकूलद्वेषविरोधिगुणरूपा, अनुवर्तनहेत्वात्मविशेषगुणत्वात् इष्टसाधनताधीवत् इति साधनताधीत्वबाधसहकारेण परिशेषाद्रागत्वसिद्धिः 'किमुत सम्यग्भक्तिमताम्' इत्येतत्कैमुत्यन्यायेन च द्वेषविरोधिन्येव द्रष्टव्या "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या" इत्यादौ। एवं 'मामात्मपरदेहेषु' इत्यनेन द्वेषस्य संसारहेतुत्वाभिधानात्तद्विरुद्धगुणोपाधिपरिहारेण परात्मगोचर राग एव भक्तिरूपः संसारनाशहेतुः। एतदेवोक्तम् 'मामप्राप्यैवे'ति। चकारात्पुलकादिरागलिङ्गेनापि रागत्वम् प्रसिद्धं हि 'पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेने' त्यादौ तत्। भक्तेर्गुणान्तरत्वे तु पृथग्लिङ्गताकल्पने गौरवम्। स च रागः केषाञ्चिदिष्टसाधनताज्ञानजन्योऽपि यागादिवदिच्छारूप एव अस्माकं तु प्रीणाम्यनुरज्यामीच्छामित्यादि प्रतीते रागः पृथगेव, द्वेषवत् इच्छाया असिद्धमात्रविषयत्वात् रागस्य सिद्धासिद्धविषयत्वाच्च प्रत्युत तस्येच्छात्वादिनाऽपि ज्ञानजन्यत्वकल्पने गौरवाच्चेति दिक् इति।

अथ भक्तेर्लक्षणं किमिति चेत् अत्र सूत्रम्—

सा परानुरक्तिरीश्वरे (भ० मी० द० अ० १ आ० सू० ६)

अत्र सा परेति लक्ष्यनिर्देशः। शेषं लक्षणम्। परेति गौणीं व्यावर्तयति ईश्वर इति प्रकृताभिप्रायम् आराध्यविषयकराग एव सा आराध्यनिष्ठाराधनानुगुणगुणज्ञानमपि भक्त्यङ्गतया

भाषा

पाता है। इस वेदवाक्य में रस शब्द से राग कहा हुआ है तथा गीता में भी "*रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते०*" भोजन छोड़ने से सब रस निवृत्त हो जाते हैं परन्तु रस (राग) रह जाता है और वह भी ब्रह्मसाक्षात्कार से नष्ट हो जाता है। यहाँ राग ही में रस शब्द का प्रयोग है। इससे भक्ति राग रूपी ही है। इति।

प्र०—भक्ति का लक्षण क्या है ?

"*सा परानुरक्तिरीश्वरे*" (भ० मी० द० अ० १ आ० १ सू० १) इस सूत्र से भक्ति का लक्षण कहा हुआ है। इस सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि आराधनीय पदार्थ अर्थात् परमेश्वर में उत्तम

तत्रोपयुज्यते इतीश्वरपदेन सूच्यते इह तु परमेश्वरविषयकान्तःकरणवृत्तिविशेष एवानुरक्तिः तद्वैशेष्यं च लौकिकानुरागादौ सुग्रहम् यथोक्तं परमभक्तिमता प्रह्लादेन—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥ इति

(वि० पु० अ० १ अ० २०।१७

अत्र प्रीतिपदेन सुखनियतो विषयेषु राग एव सूचितः अन्यथा प्रीतेः सुखरूपाया निर्विषयत्वेन विषयसप्तमी न स्यात् तस्याः सुखज्ञानरूपत्वेऽपि सुखविषयकतया विषयविषयकत्वासम्भवात् तस्मादनुरक्तिरेव सविषयाभक्तिः न च विषयजन्याप्रीतिरित्यर्थः जनकसम्मत्या अननुशासनात् किं च—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि ॥

इति तदीयपूर्ववाक्ये भक्तेरीश्वरविषयतासिद्धौ प्रीतिपदेनापि तदेकवाक्यतया सैवोच्यते पूर्वं प्रतिजन्म, भक्तिप्रार्थनम् । इह तु विषयरागदृष्टान्तेन तस्या एव सर्वदाऽप्यपरिहार्यत्वप्रार्थनमिति विशेषः विषयजन्या प्रीतिरपि रागं विना न संभवतीति रागावश्यकत्वम् तथा च पातञ्जलसूत्रम् "सुखानुशयी रागः" (पा० २।७) इति तस्यैव वक्ष्यमाणलिङ्गेषु व्यापनात् लघुत्वाच्च भक्तित्वम् न तु क्वचित् स्मरणस्य क्वचित् कीर्तनादेः, अननुगमात् न च तज्ज्ञानस्य तत्त्वम् द्वेषादिमत्स्वपि तत्प्रसङ्गात् नाप्याराध्यत्वेन ज्ञानं सा, पूजननमस्काराद्याराधनास्वननुगमात् अपि च बलाद्भयाद्वा नमस्कार्यत्वादिज्ञानवत्यपि भक्तोऽयमिति व्यवहारापत्तेः । ननु रागादिरहिताराध्यत्वज्ञानमिति चेत् तर्हि अनुराग एवास्तु अत एव—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (गी० अ० १०।६)
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

भाषा

अनुराग ही भक्ति है । और तात्पर्य इसका यह है कि उक्त अनुराग में उत्तमता तीन प्रकार की होती है जैसा कि "*याप्रीत्यविवेकानां*" इस प्राचीनों के श्लोक से उक्त अनुराग में तीन विशेषण लगाये गये हैं जिनके कारण उक्त राग को भक्ति कहते हैं । वे विशेषण ये हैं कि—

१—*जिसके विषय में जो अनुराग हो वह उसमें आराध्यत्व (पूज्यता) के ठीक ज्ञान* से हो ।

२—राग दृढ़ हो, अर्थात् उस राग से किसी समय में शोक न उत्पन्न हो सके ।

३—राग वाला जिससे भिन्न है उसमें जब वह राग न हो ।

यहाँ यदि प्रथम विशेषण न दिया जाय तो आराध्यत्व के भ्रम से जो राग होता है जैसे

इत्यादौ तद्गतचित्तप्राणादीनां भजनमुक्तं न त्वाराध्यत्वेन ज्ञानवतामेव, अत एव श्रीकृष्णस्य कमनीयाकृतिदर्शनेनानुरक्तानां गोपीनामपि परमभक्तिफलं मुक्तिः स्मर्यते। अनुशब्दार्थस्तु न लक्षणान्तर्गतः किन्तु भगवन्महिमादिज्ञानात् अनु पश्चात् जायमानत्वाद-नुरक्तिरित्युक्तम्। अत्रेदमाकूतम्। माहात्म्यं महत्त्वम् तत्, विषयनिष्ठप्रभावविशेषवत्तया, तन्निष्ठमाधुर्यभावविशेषवत्तया, तन्निष्ठमुग्धभावविशेषवत्तया, तन्निष्ठसख्यभावविशेषवत्तया, च तज्ज्ञानस्याराध्यनिष्ठानुरागदाढ्यानुकूलतयाऽऽवश्यकत्वम् तत्राद्यम् अक्रूरस्य यथा 'प्रभो-रमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति'। द्वितीयम् व्रजसुन्दरीणाम् 'वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः' इति। तृतीयम् वात्सल्यभाववतां मातृचरणप्रभृतीनाम् 'मोहेतावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम्' इति। चतुर्थम् गोपादीनाम् 'पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः' इति। अत्र त्रयाणां प्रभावं पश्यतामपि न तत्स्फूर्तिरिति। ननु पित्रादिगोचरानुरागस्यापि प्रकृतभक्तित्वम् प्रसज्येत जगत एव परमेश्वरात्मकत्वात्। अथ विकारविशिष्ट एव तथात्वं वाच्यम् तथापि गोपीनां प्रादुर्भावावच्छिन्नेश्वरभक्ताव्याप्तिः, न यतः जीवोपाध्यनवच्छिन्नचैतन्यविषयानु-रक्तिरेव सा। एवं च प्रादुर्भावावच्छिन्ने परिपूर्णे च भक्तिः संगृहीता भवति। इति

अत्रेदमवधेयम् 'अथातो भक्तिजिज्ञासा'॥ १ ॥ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'॥ २ ॥ तत्र 'सेति' लक्ष्यस्य 'ईश्वर' इत्यालम्बनस्य 'अनुरक्ति' रित्युक्तरूपस्य रागस्य 'परा' इति तद्विशेषणानां च निर्देशः। वर्तिपदार्थस्यापि भक्तेः 'अथ शब्दानुशासनम् केषां शब्दानाम्' इति वत् सेति तदा परामर्शः विशेषणानि तु प्राचीनैः।

यथात्म्यज्ञानमूलो यः सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

इत्यत्र परिगणितानि। आराध्यत्वभ्रान्तिमूलस्य विशेषदर्शननिवर्त्यस्य विप्रलम्भकादि-गोचरस्य रागाभासस्य वारणायाराध्यत्वप्रमामूलत्वपर्यवसितमाद्यं विशेषणम् अनित्यत्वादि-दोषाक्रान्तगुर्वाद्यालम्बनस्य परिणामे शोकजनकस्य लौकिकविषयरागस्य व्यावर्तनाय नित्य-विषयकत्वपर्यवसन्नं द्वितीयम्। तथा चोक्तम्—

भाषा

निर्गुण पदार्थ को गुणी समझ कर उसके विषय में जो राग होता है वह भी भक्ति कहलाने लगेगा। और इस विशेषण के लगाने पर उसे 'भक्ति' नहीं कह सकते क्योंकि वह राग, पदार्थ ज्ञान से नहीं है किन्तु भ्रम (भूल) से है।

दूसरा विशेषण यदि न दें तो कामिनी आदि विषयों में जो अनुराग होता है उसे भी भक्ति कहना पड़ेगा और इस विशेषण के लगाने पर उसे भक्ति नहीं कह सकते क्योंकि वे सभी नष्ट होने वाले हैं। इसलिए उनके नाश से रागियों को उसी श्रेणी का शोक झेलना पड़ता है कि जिस श्रेणी

नोट:—पृष्ठ १४२०, १४२१ में कहे विषय अति उपयोगी नहीं हैं और भाषा करने पर भी दुर्बोध हैं, इससे अनुवाद नहीं किया गया।

प्रभवति विषयेषु येषु रागः।
परिणमते विरतेषु तेषु शोकः॥
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते।
रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि॥ इति

एवं भेदवादिनां मते स्वस्वनिष्ठभेदप्रतियोगिविषयस्य रागस्य निरसनाय तृतीयम् तदेव निरुपाधिकत्वम् अत्र च स्वं स स आत्मा निरुपाधित्वं च स्वस्वनिष्ठभेदाप्रतियोगिविषयकज्ञानमात्रजन्यत्वम् फलतः फलानुसन्धानाजन्यत्वपर्यवसितम् तेन सुखस्यापि फलतया तद्विषये रागे तज्ज्ञानजन्यत्वसत्त्वेऽपि नातिप्रसङ्गः ईश्वरशब्देन चेह नाद्वैतवेदान्तदर्शनसिद्धं मायोपाधिकचैतन्यमेव गृह्यते किन्तु निरुपाधिकं ब्रह्मापीति स्वरूपव्याकरणेनैवाग्रे स्फुटीभविष्यति स चायमुक्तरूपोपपन्नो रागः स्वात्मन्येव सम्भवी अन्यत्र तस्य निरुपाधिकताया अति दुर्लभत्वात् न ह्यन्यत्रेव कस्मादात्मनि प्रेमेति प्रष्टुं कश्चिदीष्टे प्रेमकारणस्यात्मत्वस्यातिप्रसिद्धत्वात् तथा च—

वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषदि श्रूयते—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोवित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। इति,
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। इति च
अत्र चात्मशब्दो जीवमीश्वरं तत्सामान्यभूतचैतन्यञ्चात्मत्वसामान्याद्बोधयति एवं च

भाषा

का उनका राग होता है। देखिए, परमभक्त पण्डितवर का श्लोक "*प्रभवति०*" इसका यह अर्थ है कि हे परमेश्वर! जिन जिन अन्य विषयों में जो जो राग होता है उन विषयों के नाश होने पर वह राग, शोक रूप से परिणत हो जाता है। केवल एक आप ही ऐसे हैं कि जिनमें राग, कदापि शोक रूप से परिणत नहीं होता किन्तु वह राग सदा राग ही बना रहता है, क्योंकि आप नित्य और सदा सुन्दर हैं। इसलिये आप ही के विषय में राग, उचित और सदा आनन्दकारी है।

तीसरा विशेषण यदि न लगाया जाय तो जीव और परमेश्वर के परस्पर में भेद मानने वाले दर्शनशास्त्रों के मत में जीव का जो परमेश्वर में राग है वह भी भक्ति कहलाने लगेगा। तात्पर्य यह है कि अपनी भक्ति, उसमें कदापि नहीं हो सकती जिससे कि आप भिन्न हैं अर्थात् आप जिससे अभिन्न हैं उसी में अपनी भक्ति हो सकती है क्योंकि 'भक्ति' उस अनुराग को कहते हैं जो स्वाभाविक हो अर्थात् किसी इच्छा से न हो। निचोड़ यह है कि ऐसा अनुराग अपना, अपने ही में होता है क्योंकि अपने से अत्यन्त भिन्न पुत्र, पत्नी आदि में भी जो अनुराग होता है वह अपने ही प्रयोजन से होता है न कि उनके प्रयोजन से—यह सभी पर विदित है और बृहदारण्यक उपनिषद् में भी "*तदेतत्प्रेयः*" "*न वा अरे*" इन वाक्यों से ऐसा ही कहा हुआ है और अपने में अपने राग का कोई कारण नहीं होता किन्तु वह आप ही आप रहता है तथा कोई पूछ भी नहीं सकता कि अपने में क्यों अपना अनुराग होता है! और पूछे भी तो इससे अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं हो

जीवानामीश्वरात्पारमार्थिके भेदे तेषां तत्रोक्ता भक्तिः सुतरामेव न सम्भवति स्वनिष्ठभेदप्रतियोगिविषयकस्य प्रेम्णः सोपाधितायाः भक्तित्वाभावप्रयोजिका लोकवेदसिद्धत्वात् स्पष्टीकृतश्चायमर्थः शुकाचार्यश्रीपादैः तथा हि—

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याऽब्दमन्वहम् ।
शनैर्निःसीमववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥
(भा० स्कं० १० पू० अ० १३)

इति श्री शुकाचार्येणोक्ति—

अ० १४, राजोवाच—ब्रह्मन्परोद्भवे कृष्णे इयान्प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४६ ॥
श्रीशुक उवाच—सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैकवल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥
तद्राजेन्द्र यथास्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालंवि पुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥

भाषा

सकता कि "अपने तो आप ही हैं जिसके कारण दूसरों में राग होता है तो अपने में अनुराग का कारण क्यों पूछते हो" ? और यदि प्रश्नकर्त्ता आग्रह से उत्तर ही लेना चाहे तो उसको इसी उत्तर पर सन्तोष करना पड़ेगा कि "अपने तो आप ही हैं" इसी से अपना राग अपने ही में है अर्थात् अपने में अपना अनुराग स्वाभाविक है, इसमें कोई कारण नहीं है। यह विषय पूज्यपाद श्री शुकाचार्य का भी स्पष्ट कहा हुआ है कि—

"*व्रजौकसां०*" यशोदा के नन्दन श्री कृष्ण भगवान् पर व्रजवासियों का अपने पुत्रों की अपेक्षा जैसे पूर्व ही से अधिक और असीम स्नेह था वैसे जब ब्रह्मदेव ने सब वत्सों और वत्सपाल बालकों को हरण कर लिया तथा कृष्ण भगवान् ने स्वयं उन वत्सों और वत्सपालों का रूप धर एक वर्ष तक सब कामों को चलाया उस समय भी व्रजवासी मनुष्यों तथा गौओं का अपने अपने उन बनावटी वत्सों और बालकों पर पूर्व के वास्तविक वत्सों और बालकों की अपेक्षा अधिक और असीम स्नेह बढ़ गया ॥ २६ ॥

"*ब्रह्मन्*" राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से कहा कि हे ब्रह्मन् ! यह कहा जाय कि दूसरे के पुत्र श्री कृष्ण भगवान् पर ऐसे अधिक प्रेम का होना जो कि अपने पुत्रों पर भी नहीं हुआ कैसे सम्भव में आ सकता है ? ॥ ४९ ॥

"*सर्वेषां*" श्री शुकदेव जी ने कहा कि हे नृप ! अपना आत्मा ही सब प्राणियों का स्वाभाविक परम प्रिय होता है और पुत्र तथा धन आदि आत्मीय वस्तु तो आत्मा के केवल उपकारी होने के कारण प्रिय हुआ करते हैं क्योंकि यह सबके अनुभव की बात है कि सब देहधारियों का अपने अपने आत्मा अर्थात् जिसको वे यह समझते हैं कि "यह मैं हूं" उसमें जैसा प्रेम होता है वैसा प्रेम उनका आत्मीय पुत्र, धन, गृहादि में नहीं होता ॥ ५० ॥ ५१ ॥ परन्तु उक्त स्वाभाविक अपने में

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥ ५२ ॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥ ५३ ॥
तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥ ५४ ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥ इति

अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपतया विशेषरूपेभ्यो जीवात्मभ्यस्तु पूर्वाभिहितस्य सोपाधिकस्य निरूपाधिकस्य चेश्वरस्य भेद एव साम्व्यवहारिकप्रतियोगिकः साम्व्यवहारिकमे-

भाषा

अपने प्रेम का मूर्ख और पण्डित के भेदानुसार इतना ही भेद है कि—

"देहात्म०" मूर्ख देह ही को आत्मा मानते हैं, इसलिये उनका स्वाभाविक परम प्रेम देह में जैसा होता है वैसा देह के सम्बन्धी पुत्रादि में नहीं होता ॥ ५२ ॥

"देहोऽपि०" और पण्डित पुरुष देह को आत्मा नहीं समझता किन्तु यह समझता है कि आत्मा (मैं देह से अन्य ही हूँ) ऐसा समझता है। इसी से उसके लिए देह भी आत्मीय ही है, किन्तु पुत्रादि आत्मीयों की अपेक्षा अन्तरङ्ग है क्योंकि देह ही के सम्बन्धी पुत्रादि हैं, इस कारण पण्डित का स्वाभाविक परम प्रेम आत्मा ही में होता है न कि देह में। क्योंकि जब देह अत्यन्त वृद्ध मरणासन्न हो जाता है अर्थात् जब यह निश्चय हो जाता है कि "अब यह देह नहीं रहेगा" तब भी आत्मा के सम्बन्धी ही होने से देह पर उसका प्रेम रहता है जिससे वह तब भी जीवन चाहता है ॥ ५३ ॥

"तस्मात्प्रिय०" इसलिए सब प्राणियों का अपना आत्मा ही परम प्रिय है और उसी के लिए स्थावर और सब जगत् प्रिय होता है ॥ ५४ ॥

"कृष्णमेन०" हे राजन्! तुम इन कृष्ण को सब आत्माओं का आत्मा निश्चय करो अर्थात् इनको परमेश्वर समझो और वह परमेश्वर भी जगत् के हितार्थ ही देहधारी सा देख पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि मायोपाधिक चैतन्य रूपी ईश्वर से अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य रूपी जीवात्मा, भिन्न नहीं हैं। इससे कृष्ण परमेश्वर, सब प्राणियों के आत्मा हैं, इसी कारण से अपने अपने पुत्रों की अपेक्षा व्रजवासी मनुष्यों और गौओं का उनमें अधिक स्नेह था और वे बनावटी वत्सपाल और वत्स भी कृष्ण ही अर्थात् व्रजवासी मनुष्यों और गौओं के आत्मा ही थे। इसी से अपने अपने वास्तविक पुत्रों अर्थात् पूर्व के वत्सपालों और वत्सों की अपेक्षा उन बनावटी वत्सपालों और वत्सों पर व्रजवासी मनुष्यों और गौओं का अधिक तथा असीम स्नेह हुआ ॥ ५५ ॥ तथा अपने में जो अपना राग है इसको निरुपाधिक प्रेम कहते हैं और निरुपाधिक होना ही तीसरा विशेषण है जो कि उक्त प्राचीन श्लोक में "सर्वतोऽधिकः" शब्द से कहा गया है।

त्युपासकादुपास्यस्य भेदावलम्बमानाः सर्वेऽपि वेदान्तदर्शनसम्प्रदायागूढाभिप्रायाः सुतरामुपपद्यन्त इति न तद्विरोध इतीश्वरे भक्तिरभेदवाद एव सम्भवति न तूक्तसम्प्रदायग्रन्थानामापातोपनीततात्पर्यविषये भेदे कथमपीति फलितम् तदेतत्सर्वं मनसि निधायैव भगवान् भक्तेषु ज्ञानिनमन्ते गणयित्वोपसंजहार "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इति। भेदः परस्परमेव भवतीति ब्रह्माभिन्नेभ्यो जीवेभ्यो भेदः कथं ब्रह्मणीति तु न शङ्कितव्यम् द्रव्याभिन्नेभ्यो

भाषा

अब इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि सामान्य बुद्धि वालों का यह ध्यान कैसा उलटा है कि "जीव और ईश्वर के भेदवाद में ही जीव, ईश्वर का उपासक हो सकता है क्योंकि सेव्य और सेवक, दो होना चाहिए। और अभेदवाद में तो जब दोनों एक ही हैं तब उपासना बन ही नहीं सकती" क्योंकि यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि एक का दूसरे में निरुपाधि प्रेम हो ही नहीं सकता तो ऐसी दशा में भेदवाद में भक्ति हो ही नहीं सकती और यदि हो सकती है तो अभेदवाद ही में, क्योंकि अपने में अपना प्रेम निरुपाधिक होता ही है। और जीव तो ईश्वर से भिन्न ही नहीं है, क्योंकि देवता प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि सामान्य चैतन्य, ब्रह्म और वही चैतन्य, माया रूपी उपाधि लगा कर ईश्वर और माया के परिणाम अन्तःकरण रूपी छोटी उपाधि के वशीभूत होकर जीव कहलाता है अर्थात् विशेष चैतन्य ही का नाम जीव है।

अब ध्यान देना चाहिये कि विशेष सामान्य से भिन्न नहीं होता जैसे मनुष्य से ब्राह्मण आदि, समुद्र से वीची, तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि, पृथ्वी से यव, गेहूँ आदि भिन्न नहीं होता। इसी रीति से जीव, ब्रह्म से भिन्न नहीं होता क्योंकि ब्रह्म, ईश्वर और जीव इन तीनों का चैतन्य रूपी अंश एक ही है तथा ईश्वर भी उपाधि के वशीभूत न होने से ब्रह्म (सामान्य चैतन्य) ही है, इसी से जीव की अपेक्षा वह भी सामान्य ही है और पूर्वोक्त भक्ति लक्षण के सूत्र में 'ईश्वर' शब्द से ब्रह्म और ईश्वर दोनों का ग्रहण है। इसी से ब्रह्म की उपासना, निराकार की और ईश्वर की उपासना, साकार की है क्योंकि उपाधि ही को आकार कहते हैं और जीव तो अन्तःकरण रूपी एक छोटी उपाधि के वशीभूत होने से चैतन्य विशेष रूपी है तो वह कैसे ईश्वर से भिन्न हो सकता है? अब वह बात निकल आई कि ईश्वर में जीव का अनुराग अपने ही में है तथा निरुपाधिक है, इसी से वह भक्ति कहलाता है।

और अब इतनी ही शंका रह गई कि "जब चैतन्य एक ही है तब उपास्य और उपासक का भेद कैसे होगा? परन्तु इसका समाधान यही है कि यद्यपि ईश्वर से जीव नहीं भिन्न है तथापि ईश्वर जीव से भिन्न ही हैं, इसी से ईश्वर उपास्य और जीव उपासक हैं। इस पर भी यह शंका होती है कि भेद अन्योन्य ही में होता है जैसे चैत्र का भेद मैत्र में और मैत्र का भेद चैत्र में अर्थात् ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि चैत्र से तो मैत्र, अभिन्न हो और मैत्र से चैत्र भिन्न।

ऐसा ही जीव जब ईश्वर से अभिन्न है तो ईश्वर को भी जीव से अभिन्न ही होना चाहिए न कि भिन्न। और यदि ईश्वर, जीव से भिन्न है तो जीव को भी ईश्वर से भिन्न ही होना चाहिए। न कि अभिन्न। इसलिए यह कैसी बात है कि जीव तो ईश्वर से अभिन्न हैं परन्तु ईश्वर जीव से अभिन्न नहीं है किन्तु भिन्न ही है। परन्तु इस शंका का भी समाधान यही है कि अन्योन्य में भेद होने का

घटादिभ्यो द्रव्ये, समुद्रामिशेभ्यो वीचीतरङ्गबुद्बुदादिभ्यः समुद्रे पृथिवीविकारेभ्यो यवगो-धूमादिभ्यः पृथिव्यां च भेदस्य विश्वजनीनानुभवैरेव निर्णीतत्वात्।

तथा च भगवत्पादाः—सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ इति।

किं बहुना 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादीनि श्रौतमहावाक्यान्यप्यत एव जीवेषु ब्रह्माभेदमेवावगमयन्ति न जातु ब्रह्मणि जीवाभेदम् अन्यथा भेदान्यप्युद्देश्यविधेयोभय-

भाषा

नियम वहाँ ही होता है जहाँ कि दोनों अन्योन्य में सामान्य और विशेष न हों अर्थात् दोनों विशेष ही विशेष हों जैसे चैत्र और मैत्र, क्योंकि इनमें एक दूसरे का सामान्य नहीं है किन्तु दोनों का एक तीसरा मनुष्य रूपी सामान्य है। और सामान्य तथा विशेष में तो ऐसा ही होता है कि विशेष, सामान्य से अभिन्न और सामान्य तो विशेष से भिन्न ही होता है जैसे मनुष्य रूपी सामान्य से चैत्र वा मैत्र अभिन्न ही हैं, तथा मनुष्य रूपी सामान्य, चैत्र वा मैत्र से भिन्न ही है, और समुद्र भी वीची आदि से भिन्न ही है, ऐसा ही सब उदाहरणों में समझना चाहिए और प्रकृत में भी चैतन्य सामान्य रूपी ईश्वर से जीव यद्यपि अभिन्न है तथापि ईश्वर, जीव से भिन्न ही है। इसी से जैसे चैत्र के दोष, मनुष्य सामान्य में नहीं होते वैसे ही जीव के दोष भी ईश्वर में नहीं होते। और इसी रीति के अनुसार विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदायों के साथ वास्तविक में अद्वैत दर्शन का कुछ भी विरोध नहीं है क्योंकि उन सम्प्रदायों का भी वास्तविक तात्पर्य, ईश्वर की उपासना ही में है न कि ईश्वर से जीव के भेद में और उपासना तो ईश्वर में जीव के भेद को लेकर बनी ही जाती है। बल्कि जीव में ईश्वर का भेद स्वीकार करने पर पूर्वोक्त प्रकार से ईश्वर में जीव की भक्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि राग वाला जिससे भिन्न है उसमें उसका राग, उक्त रीति से निरुपाधिक नहीं हो सकता। और इसी अभिप्राय से उक्त तीसरे विशेषण का ऐसा स्वरूप नहीं कहा गया कि "जो अपना राग अपने से भिन्न में न हो वह भक्ति है" क्योंकि यदि ऐसा कहा जाता तो जीव से भिन्न ईश्वर में जीव का राग, निरुपाधिक कैसे होता! किन्तु उसका स्वरूप ऐसा कहा गया कि 'राग वाला' जिससे भिन्न न हो उसमें उसका राग, भक्ति है। इस रीति से जीव का राग ईश्वर में निरुपाधिक सिद्ध हो गया, उसी को भक्ति कहते हैं। इसी तात्पर्य से श्री स्वामी शङ्कराचार्य ने कहा है कि—

"सत्यपि भेदा०" हे नाथ! यद्यपि आप का भेद मुझमें नहीं है तथापि मैं ही आप का हूँ न कि आप मेरे हैं, क्योंकि तरङ्ग तो समुद्र का होता है परन्तु समुद्र कदापि तरङ्ग का नहीं होता।

अधिक क्या कहना है, जब कि स्वयं वेद ही इसी तात्पर्य से जीवों ही में ईश्वर के अभेद का बोध कराता है न कि ईश्वर में जीव के अभेद का। देखिये उपनिषद् के अति प्रसिद्ध एक महावाक्य को "अहं ब्रह्मास्मि०" (अहं ब्रह्म अस्मि) अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह वाक्य स्पष्ट रूप से जीव ही में ब्रह्म के

समभिव्याहृतस्याख्यातस्योद्देश्यसमानपुरुषत्वनियमेन 'असि' 'अस्मि' इत्यनयोः स्थानेऽसीत्यस्यापत्तेर्वारयितुमशक्यत्वात् अत एव जीवाय सार्वज्ञ्यदोषोऽपि न भगवत्पाद्यते उपपद्यते च चेतनत्वमपि जीवानाम् ।

तथा च श्रुतिः—वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । इति ध्वनितं चेदम् 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (वे० द० अ० २ पा० १ सू० १४) इति सूत्रे भगवता व्यासेन 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इति गीतायाम् (अ० ७ श्लो० १८) स्वयमेव भगवताऽपीति ।

स्पष्टीकृतश्चायमर्थः परमभक्तेन प्रह्लादेन—

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।

भाषा

अभेद को कहता है न कि ब्रह्म में जीवों के अभेद को, क्योंकि यदि उसको कहता तो इस वाक्य का यह स्वरूप होता कि '*ब्रह्माहमस्ति*' (ब्रह्म, मैं है) । जैसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस वाक्य से मुझी में मनुष्य की एकता (अभेद) का बोध होता है न कि मनुष्य में मेरी एकता का, और मनुष्य में मेरी एकता नहीं है परन्तु यदि होती तो उसके बोध के लिये ऐसा ही कहा जाता कि 'मनुष्य, मैं है' । ऐसे ही मुझमें ब्रह्म की एकता (अभेद) है, इसी से वेद में यह कहा है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और ब्रह्म में जीव की एकता नहीं है अर्थात् भेद ही है, इसी से वेद में ऐसा नहीं कहा गया कि 'ब्रह्म, मैं है' तथा—

"*वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*" (घटादि कार्य केवल कहने के लिये नाम मात्र हैं किन्तु उनकी अपेक्षा मृत्तिका रूपी कारण ही सत्य है) यह छान्दोग्य श्रुति और इसका अनुसारी "*तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः*" (वेद० अ० २।१ सू० १४) यह व्याससूत्र भी अनन्तरोक्त अभिप्राय ही से है तथा इन्हीं सब युक्तियों और प्रमाणों को हृदय में लेकर गीता में श्री परमेश्वर ने ज्ञानी को चतुर्थ भक्त कह कर स्वयं यह कहा है कि—

"*ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्०*" मेरा (परमेश्वर का) यह मत (सिद्धान्त) है कि अग्र ज्ञानीभक्त तो मेरा आत्मा ही है । तथा परमभक्त प्रह्लाद ने भी श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय ९ श्लोक ३१ से अनन्तरोक्त विषय को स्पष्ट ही कह दिया है कि—

"*त्वं वा इदं०*" हे ईश ! यद्यपि यह कार्य और कारण रूपी जगत् आप ही का स्वरूप है, आप से पृथक् नहीं है तथापि आप तो इस जगत् से अन्य ही हैं जैसे यव गोधूमादि, पृथिवी से अन्य नहीं हैं परन्तु पृथिवी उससे अन्य है और वीची, तरङ्ग बुद्बुद, आदि समुद्र से अन्य नहीं हैं परन्तु समुद्र, उनसे अन्य ही है अर्थात् विशेष सामान्य से अन्य नहीं होता परन्तु सामान्य, विशेष से अन्य ही होता है क्योंकि विशेष की उत्पत्ति से पूर्व और उसके नाश से पश्चात् भी सामान्य रहता है । प्रसिद्ध है कि वीची आदि समुद्र ही से उत्पन्न हो कर उसी में लीन होते हैं और मध्यदशा अर्थात् वीची आदि की दशा में समुद्र रहता ही है । इससे वीची आदि समुद्र से भिन्न नहीं है । तात्पर्य यह है कि कार्य, कारण से अभिन्न होता है । और कारण तो कार्य से भिन्न ही होता है । जैसे वृक्ष से

यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥
(भा० स्कं० ७ अ० ६ श्लो० ३१) इति

इयमेव च भक्तिर्मुक्तिफला—

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ (यजु० अ० ३ मं० ६०)
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।

इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः तथा च (भ० मी० द० १ अध्या० १ भा०) स्वप्नेश्वर-भाष्यसहितानि सूत्राणि ।

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ ३ ॥

तस्मिन्नीश्वरे संस्था भक्तिर्यस्य स तथोक्तः तस्यामृतत्वं फलमुपदिश्यते 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति । तस्मान्निष्फलत्वगौणफलत्वनिबन्धना तद्विज्ञासा परिहृता भवतीति ।

ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

भाषा

बीज और बीज से पृथिवी, भी भिन्न है परन्तु वृक्ष और बीज, पृथिवी से भिन्न नहीं है, ऐसे ही कारण और सामान्य रूपी आप से यह जगत् भिन्न नहीं है। इसी से जीवों के दोष (विषम दृष्टि और अल्पज्ञता आदि) आप में नहीं हो सकते ॥ ३१ ॥

इसी भक्ति का फल मुक्ति है जैसा कि "*ब्रह्मसंस्थो०*" परमेश्वर का भक्त मुक्ति पाता है "*त्र्यंबक यजा०*" जैसे अति पक्व फल बन्धन (डेंपी) से छूट जाता है वैसे हम संसार-दुःख से छूट जावें और मोक्ष से न छूटें अर्थात् मोक्ष पावें। इस बुद्धि से हम परमेश्वर की पूजा करते हैं इत्यादि वेद-वाक्यों में तथा "*मां च यो०*" जो मुझ (परमेश्वर) में एकान्त भक्ति करता है वह सत्त्व, रज, तम, गुणों को उल्लङ्घन कर मोक्ष पाता है।

"*देवान्*" इन्द्रादि देवताओं के भक्त, अन्त में इन्द्रादि को पाते हैं और मेरे (परमेश्वर के) भक्त भी अन्त में मुझे पाते हैं। इत्यादि गीतावाक्यों में कहा है और इसी विषय में (भ० मी० द० अ० १ भा० १) शाण्डिल्य महर्षि के तीन सूत्र हैं जो भाष्यसहित अब दिखलाये जाते हैं।

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् (३) उस ईश्वर में जिसकी संस्था (भक्ति) है उसके लिये अमृतत्व (मोक्ष) फल का वेद में उपदेश है कि '*ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति*'। इसी से यह भक्ति, निष्फल नहीं है और न इसका फल अन्य फलों के ऐसा अनित्य है। इसलिये भक्ति विचाररूपी इस दर्शन का आरम्भ आवश्यक है। *ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः* (४) इस सूत्र का अर्थ प्रश्नोत्तररूपी है—

ननु ब्रह्मसंस्थाशब्देन ब्रह्मज्ञानमेवोच्यते न तद्भिन्नम् तथा चामृतत्वं तस्यैवेति चेद्रूपे नैष दोषः संस्था भक्तिरेव न ज्ञानम् द्विषतस्तज्ज्ञानवतोऽपि तत्संस्थत्वव्यवहाराभावात्। राजाद्यनुरक्ताः खल्वमात्यास्तत्संस्था इति व्यपदिश्यन्ते न पुनः प्रतिपक्षभूपालाः। शब्दार्थनिः- सार्या हि लोके वेदे चार्थाः अत एव—

विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्।
सोऽब्रवीद्भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रून्प्रवर्तयन् ॥

(म० भा० शा० अ० २६७ श्लो० ६५२६)

इत्यत्र पतिभक्तिः संस्थाशब्देनोक्ता तस्मात्संस्था भक्तिः एवं च "तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्" (अ० १ पा० १।७) इति बादरायणीयसूत्रस्याप्ययमेवार्थोऽध्यवसेय इति।

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

तया भक्त्या मुक्तिं प्रति ज्ञानम् उपक्षयं यस्मात् चकार उक्तयुक्तिसमुच्चयार्थः गीतायाम् "देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि (अ० ७।१३) तथा प्रह्लादं प्रति भगवद्वाक्यम्—

"यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम्।
तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्वाणमपि यास्यसि" ॥

(वि० पु० अं० १ अ० २०।२१) इति

भाषा

प्र०—'ब्रह्मसंस्थो' इस अनन्तरोक्त श्रुति में संस्था, शब्द का क्यों भक्ति अर्थ किया जाता है, इसका ज्ञान अर्थ क्यों न हो ?

उ० १—उस श्रुति में 'संस्था' शब्द का भक्ति ही अर्थ है न कि ज्ञान, क्योंकि लोक में राजा के शत्रु को राजसंस्थ नहीं कहते अर्थात् प्रकृत में 'संस्था' शब्द का ज्ञान अर्थ होता तो राजा का शत्रु तो राजा को जानता ही है क्योंकि जानने के बिना शत्रुता ही नहीं हो सकती। इसलिये राजा के शत्रु को भी 'राजसंस्थ' कहते परन्तु ऐसा नहीं कहते हैं। इससे निश्चित है कि संस्था शब्द का ज्ञान अर्थ नहीं है। राजा के भक्त अमात्य आदि को लोक में राजसंस्थ कहते हैं, इससे यह सिद्ध है कि 'संस्था' शब्द का भक्ति अर्थ है, इसी से महाभारत में चिरकारिक के उपाख्यान में कहा है कि—

'विमृश्य तेन' गौतम ने उस काल में अपनी पत्नी की पतिभक्ति को उल्लङ्घन करना निश्चित कर दुःख से अश्रु गिराते हुए यह कहा। इस श्लोक में 'संस्था' शब्द का भक्ति ही में प्रयोग किया हुआ है। यहाँ भाष्यकार ने यह कहा है कि 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इस वेदान्त दर्शन के सूत्र का भी यही अर्थ समझना चाहिये जो कि इस सूत्र का है।

उ० २—"तयोपक्षयाच्च" (५) इस कारण से भी अनन्तरोक्त श्रुति में 'संस्था' शब्द का ज्ञान अर्थ नहीं है किन्तु भक्ति ही अर्थ है, क्योंकि ज्ञान से केवल भक्ति होती है, और मुक्ति तो भक्ति ही से होती है जैसा कि गीता में "देवान्देवय०" इन्द्रादि देवताओं के भक्त इन्द्रादि को पाते हैं और मेरे (परमेश्वर के) भक्त भी मुझे पाते हैं, यह वाक्य है। तथा प्रह्लाद के प्रति भगवान् का यह वाक्य है कि—

"यथा ते०" जैसे भक्ति से युक्त हो कर तुम्हारा मन अटल मुझ में स्थित है वैसे मेरे अनुग्रह से

ननु 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० उ०) इत्यत्र वेदनफलं मुक्तिः श्रुता तद्विरोधेन स्मृतीनामन्यार्थत्वं स्यादिति चेन्न अत्रापि तथैवोपपत्तेः यथा हि अतिमृत्युपदं न मुक्तौ रूढम् किन्तु यस्यां सत्यां मृत्योरतिक्रम इति व्युत्पत्त्या यद्वा तदपेक्षया यतो भक्तेः मृत्योरतिक्रम इति व्युत्पत्त्या भक्तिमेवातिमृत्युपदमभिधत्ते उपपदविभक्त्यर्थापेक्षया कारकविभक्त्यर्थस्य बलवत्त्वात्—

"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम्' ॥ (गी० अ० १२।७)

इत्यादिना भक्तितो मृत्यतिक्रमप्राप्तेः । मंत्रश्च भवति "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्" इति । अत्र यजनं भक्तिः तथैव तत्कल्पव्याख्यानात् न चास्यां श्रुतौ भक्तेरसंभिधानम् मुक्तावपि तुल्यत्वात् तस्मात् अनयाऽपि श्रुत्या ज्ञानस्योपक्षय एव प्रतीयत इति ॥

अथ यदि रागविशेष एव भक्तिस्तदासौ वैराग्यवैरिणी हेयैव रागत्वात् प्रमदापुत्रादिरागवदिति चेन्न संसारानुबन्धित्वस्य प्रमदारागादौ साध्यव्यापकस्य भगवद्विषये रागे

भाषा

तुम मोक्ष (विदेहकैवल्य) भी पावोगे ।

प्र०—जब कि वेद ही में *"तमेव विदित्वा"* (ब्रह्म के ज्ञान ही से 'अतिमृत्यु' मोक्ष पाता है । मोक्ष के लिये दूसरा उपाय नहीं है) कहा है तब उक्त गीतास्मृति का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि 'भक्ति से मोक्ष होता है' क्योंकि ऐसा अर्थ करने में इस श्रुति का विरोध पड़ जायगा । तब कैसे भक्ति से मोक्ष कहा जाता है ।

उ०—इसका भी यही उत्तर है कि उक्त श्रुति में अतिमृत्यु शब्द का मोक्ष अर्थ नहीं है किन्तु भक्ति ही अर्थ है अर्थात् मृत्यु संसार को जिसके द्वारा अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन कर जाय उसी को अतिमृत्यु कहते हैं । और मृत्यु का उल्लङ्घन भक्ति से होता है जैसा कि *"तेषामहं"* हे पार्थ ! उन मेरे भक्तों को मृत्युरूपी संसार से तुरत उद्धार करने वाला, मैं हो जाता हूँ । इत्यादि वाक्यों से गीता ही में कहा है । और "त्र्यम्बकं यजामहे०" इस पूर्वोक्त मन्त्र में भी ऐसा ही कहा है क्योंकि उस मंत्र के कल्प-व्याख्यान में 'यज्' धातु का भक्ति अर्थ कहा है ।

प्र०—यदि भक्ति राग ही है तो उक्त तीन विशेषण लगाने से क्या हुआ ? क्योंकि विशेष्य भाग तो राग ही है जो कि वैराग्य का परम शत्रु और दोषों का शिरोमणि है बल्कि ऐसी दशा में भक्ति से संसार-दुःख के बढ़ने ही का भय है और मोक्ष की आशा तो इससे बहुत ही दूर है । तब किस प्रमाण से ऐसा विपरीत कहा जाता है कि भक्ति से मोक्ष होता है ?

उ०—संसार में कोई काम वा पदार्थ ऐसा नहीं होता कि जिसमें गुण ही हों, दोष एक भी न हो अथवा दोष ही हों गुण एक भी न हो । यह अन्य वार्ता है कि किसी काम वा पदार्थ में गुण अधिक और दोष अल्प अथवा दोष अधिक और गुण अल्प होते हैं, तथापि देश, पात्र और प्रयो-

साधनाव्यापकस्योपाधितया रागत्वहेतोराभासतामलीमसत्वात् न हि रागः सर्वत्रैव हेयो भवति किन्तु सांसारिकप्रमदादिविषयालम्बन एवाऽसौ तथा, भक्तिस्तु भगवदालम्बना कथमिव हेया भवेत् यथा 'सङ्गात्सञ्जायते कामः' इत्यादिना सकलानर्थमूलतया प्रतिपादितोऽपि सङ्गो न सकल एव वैराग्यवैरी किन्त्वसत्सङ्ग एव अधमालम्बनत्वात् उत्तमालम्बनस्त्वसौ वैराग्यस्य मुख्यमेव साधनं तद्वत् ।

यथोक्तम्—सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यो यदि त्यक्तुं न शक्यते ।
सद्भिरेव स कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम् ॥ इति

भागवतेऽपि—तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ इति ।

तथा च सूत्रम्—हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात्सङ्गवत् (भ० मी० द० १ अ० २ आ० सू० १२) इति

मदीये नारायणकाव्ये १ सर्गेऽपि—
निदर्शनं सङ्गमवाप्य दर्शनादुपाधिमुद्भाव्य भवानुबन्धिताम् ।
न यत्र भक्तेरपि रागताभृतोऽनुमीयते बुद्धिमताऽपि हेयता ॥ २० ॥ इति दिक्

भाषा

जन के अनुसार वे ही काम वा पदार्थ समय समय पर संग्रह और त्याग करने के योग्य होते हैं । देखना चाहिये कि "*संगात्संजायते कामः*" इत्यादि वाक्यों और विचारों से संग ही सकल अनर्थों का मूल निश्चित हैं परन्तु यदि वही संग सज्जनों के साथ हो तो उससे मोक्ष पर्यन्त उत्तम फल का लाभ होता है । और इतना ही नहीं किन्तु सत्संग के विना कोई उत्तम फल होता ही नहीं । इसी से परीक्षकों का यह श्लोक है कि—"*सङ्गः सर्वा०*" संग सर्वथा त्यागने के योग्य है किन्तु यदि उसका त्याग न हो सकै तो सज्जनों के साथ उसे (संग) करना चाहिये क्योंकि सत्संग सब दुःखों का एक मात्र औषध है और श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि "*तुलयाम०*" भगवद्भक्तों के क्षणिक संग के साथ भी स्वर्ग और मोक्ष की तुलना हम नहीं कर सकते और मर्त्यलोक के सुखों की तो वार्ता ही क्या है? अब इसी संगरूपी दृष्टान्त के अनुसार राग को भी देखना चाहिये अर्थात् लौकिक वा पारलौकिक सभी पदार्थ दोषाक्रान्त होते हैं । इस कारण उनमें राग करने से उत्तम और निकृष्ट दोनों प्रकार के फल होने का सम्भव है परन्तु नित्यनिर्दोष परमेश्वर में अनुराग तो मोक्ष का प्रधान कारण है, इसमें क्या सन्देह हो सकता है? और पूर्वोक्त अभिप्राय ही से शाण्डिल्य महर्षि का यह सूत्र भी है कि "*हेयारागत्वादिचेन्नोत्तमास्पदत्वात्सङ्गवत्*" (भ० मी० द० अ० १ आ० १ सू० १२) तथा मेरे रचित नारायण काव्य सर्ग १ में भी २० वाँ श्लोक उक्त अभिप्रायों से गर्भित यह है कि "*निदर्शनं सङ्गः*" यहाँ तक भक्ति का स्वरूप, लक्षण, प्रमाण और फल दिखलाये गये ।

अब यह निश्चय किया जाता है कि मोक्ष के साधन तीन सुने जाते हैं—योग, ज्ञान और भक्ति, परन्तु इनमें भक्ति ही प्रधान है और इस विषय में अब (भ० मी० द० अ० १ आ० २)

मोक्षसाधनेषु च योगज्ञानभक्तिषु भक्तिरेव प्रधानम् तथा च (भ० मी० द० १ भ० २ भा०) सूत्राणि सभाष्याणि—

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥ १ ॥

भाह्निकसमाप्तौ पुनः स्मरणाय सेति निर्देशः सा परामक्तिर्मुख्या प्रधानम्। इतरैः आत्मज्ञानयोगादिभिः स्वोपकार्यतयाऽपेक्षितत्वात् ।

छान्दोग्ये—"यो भूमा तत् सुखम्" इत्याद्युपक्रम्य आम्नायते—

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वानः ।

एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्मा पुनः स स्वराड्भवति ॥ इति

अत्र आत्मरतिरूपायाः परभक्तेः पश्यन्निदर्शनम् अप्रियत्वादिभ्रमनिरासमुखेनाङ्गं भवति। यथा "दण्डी प्रैषानन्वाह" प्राचीनावीती "दोहयति" "अभिजानञ्जुहोति" इत्यादौ दण्डाद्यङ्गम् तथा दर्शनमपि तदङ्गम् मननविज्ञानयोरुभयदर्शनार्थतया न्यायप्राप्तयोरनुवादः एवमात्मक्रीडादेरविनैयत्यादर्थप्राप्तोऽनुवादः अन्यथा रत्युद्देशेन दर्शनादिविधौ दर्शनाद्युद्देशेन रत्यादिविधौ वा वाक्यानि भिद्येरन् । तस्मात् "शेषः परार्थत्वात्" (पू० मी० अ० ३ पा० १।२) इति न्यायेन दर्शनमङ्गम् अत एव—

भाषा

के शाण्डिल्यसूत्र भाष्यसहित दिखलाये जाते हैं कि—

"*सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्*" यह (जो कि पूर्व में कही गयी) पराभक्ति मुख्य है क्योंकि आत्मज्ञान और योग आदि उससे अपने उपकार की अपेक्षा करते हैं जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में "*यो भूमा तत्सुखम्*" (जो व्यापक है वह सुख रूपी है) इस प्रकरण में "*आत्मैवेदम्*" (यह सब आत्मा ही है) ऐसा देखता, ऐसा मनन करता, ऐसा विवेक करता हुआ आत्मरति और आत्मक्रीडासंयुक्त आत्मा विशेष रूप से 'स्वराट्' (मोक्षभागी होता है) कहा हुआ है। जैसे दण्डी "*प्रैषान्वाह*" (दण्ड लिये यजमान प्रैष मंत्रों को बोले) इत्यादि वेदवाक्यों के विषय में पूर्वमीमांसा के अनुसार यह सिद्ध है कि प्रैष मंत्र पढ़ने आदि कर्मों में दण्डधारण आदि अङ्ग अर्थात् उपकारी हैं और मनन, विवेक ये दोनों देखने के अंग हैं तथा आत्मक्रीडा भी आत्मरति रूपी भक्ति ही का अङ्ग है और यहाँ मोक्ष रूपी फल के लिये प्रधान रूप से आत्मरति रूपी भक्ति ही का विधान है क्योंकि '*भवति*' (होता है) इस एक क्रिया के होने से यह निश्चित होता है कि उक्त श्रुति एक ही वाक्य है और एक ही वाक्य से मुख्य करके एक ही काम का विधान हो सकता है और दूसरे काम यदि उस वाक्य में कहे रहते हैं तो उनका पृथक् विधान नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा हो तो वह एक वाक्य टूट कर अनेक वाक्य हो जाय । इसलिए वे अन्य काम उसी विधान किये हुए मुख्य काम के अंग अर्थात् उपकारी होते हैं और उसी मुख्य काम से साक्षात् वह फल होता है जो कि उस वाक्य में कहा रहता है। मीमांसादर्शन में कही हुई इस दृढ़ व्यवस्था के अनुसार इस उपनिषद् में मोक्ष रूपी फल के लिए आत्मरति रूपी भक्ति का विधान है और आत्मक्रीडा (प्रतिमापूजन)

भगवान्मनुरपि—यस्त्यक्त्वा प्राकृतं मोहं नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥
इत्यनेनात्मरतेः प्राधान्यमाहेति ।

प्रकरणाच्च ॥ २ ॥

प्रकरणं रतेरेव फलवत्त्वात् तस्यास्तत्प्रकरणस्थं दर्शनमङ्गं भवितुमर्हतीति ।

दर्शनफलत्वमिति चेन्न तेन व्यवधानात् ॥ ३ ॥

अथ दर्शनस्यैव फलं स्वाराज्यलक्षणममृतत्वम् तथा च तस्यैव प्रकरणमिति वैपरीत्यमिति चेत् न तेन तच्छब्देन व्यवधानात् "स स्वराड् भवती" त्यत्र तच्छब्देन सन्निकृष्टात्मरतिमानेवोपस्थाप्यते न विप्रकृष्टः पश्यन्ति, व्यवहितोपस्थितौ कारणाभावात् । प्रकरणमेव कारणमिति चेन्न अन्योन्याश्रयात् ।

दृष्टत्वाच्च ॥ ४ ॥

दृष्टं हि लोके सौन्दर्यादिज्ञानस्य तरुण्यास्तरुणे रतेर्हेतुत्वम् न तु रतेर्ज्ञानहेतुत्वमिति दृष्टोपकारिकत्वादप्यङ्गत्वमवसीयते । दृष्टं च प्रकृतेर्निष्करुणत्वाल्पमहिमत्वाप्रियत्वादिज्ञानं मनोमालिन्यकारणम् भूतेषु, करुणाबहुलोऽव्याहतैश्वर्योऽजोऽतिशयितरूपाश्रय आत्मेतिज्ञानान्मालिन्यनिवृत्तिः ततः पराभक्तिरिति । अत एव गीयते—

भाषा

आत्मदर्शन आदि उसी भक्ति के अंग हैं जो कि इस वेदवाक्य में कहे हुए हैं। तथा '*यस्त्यक्त्वा*' जो प्राकृतिक अज्ञान को छोड़ सबको अपना आत्मा समझ कर सदा आत्मरत (भक्ति) करता है वह मुनि मोक्ष पाता है । इस स्मृतिवाक्य में भी उक्त श्रुति के अनुसार भक्ति ही की मुख्यता कही है ।

"*प्रकरणाच्च*" (२) अनन्तरोक्त छान्दोग्य श्रुति में आत्मरति रूपी भक्ति ही का प्रकरण है क्योंकि मोक्ष रूपी फल के समीप में वही कही हुई है। "*दर्शनफलत्वमितिचेन्न तेन व्यवधानात्*" (३) अनन्तरोक्त श्रुति में यह नहीं कह सकते कि देखने (ज्ञान) ही का फल मोक्ष कहा हुआ है । इससे उसमें ज्ञान ही का प्रकरण है । क्योंकि '*सः*' (वह) इस शब्द से आत्मरति ही का आकर्षण होता है । क्योंकि '*सः*' शब्द के समीप में आत्मरति ही कही हुई है और देखने का '*सः*' शब्द से आकर्षण नहीं हो सकता क्योंकि वह दूरवर्ती है और समीपवर्ती को छोड़ उसके आकर्षण में कोई कारण नहीं है ।

"*दृष्टत्वाच्च*" (४) लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है कि विना जाने रति (भक्ति) अर्थात् राग नहीं होता अर्थात् युवापुरुष में, उसके सौन्दर्यादि गुणों के ज्ञान हीं से युवती की रति (भक्ति अर्थात् राग) होती है परन्तु रति से ज्ञान का होना कहीं नहीं देखा जाता । इससे भी यह सिद्ध होता है कि भक्ति का कारण ज्ञान है और मोक्ष का कारण भक्ति ही है। और परमेश्वर को यदि कोई दयारहित और अल्प शक्ति जानै तो उसका मन मलिन हो जायगा । इसलिये उनको करुणामूर्ति सर्वशक्तिमान् और नित्य आत्मा जानने से मन की मलिनता दूर हो जाती है. तदनन्तर उनमें भक्ति होती है । इस रीति से मन की मलिनता की निवृत्ति ही के लिये ज्ञान आवश्यक है जैसा कि गीता में कहा है कि–

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (अ० ५, १७) इति

तथा आयुर्वेदेऽपि (अष्टाङ्गहृदये अ० १।२३)

धीर्धैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् । इति

अत एव तद्भावाद्वल्लवीनाम् ॥ ५ ॥

यत एव ज्ञानं दृष्टोपकारकमङ्गम् अत एव दृष्टोपकारं निरस्य मनोमालिन्यादिबाधात् प्रधानभगवदनुरागमात्रेण वल्लवीनां मुक्तिः स्मर्यते यथा—

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया सती ॥ (वि० पु० अं० ५ अ० १३)
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥ १५ ॥ इति

अत्र सुखदुःखलिङ्गेनानुरागोऽनुमीयते न मुक्तिरिति वाक्यार्थः । द्वारबाधादनवद्य-कृष्णत्वेनापि कर्मणा फलसिद्धिरिव तासां रागान्मुक्तिः तस्मादप्यवगम्यते ज्ञानमङ्गमेवेति

भाषा

"तद्बुद्धय:०" ज्ञान से जिनका कल्मष (मलिनता) दूर हो गया है और जिनकी बुद्धि, आत्मा (अन्तःकरण) तथा निष्ठा और एकान्त भक्ति परमेश्वर में है वे मोक्ष पाते हैं । तथा आयुर्वेद में भी कहा है कि "धीर्धैर्या०" अच्छी बुद्धि, धीरता और अपने आत्मा का निश्चय, ये सब मन के दोषों के परम औषध हैं । इस वाक्य में मन के दोषों की निवृत्ति ही ज्ञान का फल कहा है ।

"अत एव तद्भावाद्वल्लवीनाम् (५) ज्ञान केवल मन के दोषों का नाश करता है न कि उससे साक्षात् मोक्ष होता है और यदि मन के दोषों का नाश दूसरे प्रकार से हो जाय तो भक्ति में भी ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है । इसी से भगवद्भक्ति रूपी प्रधान कारण मात्र से गोपियों की मुक्ति होने की यह स्मृति है कि—

"तदप्राप्ति०" यह प्रसिद्ध व्यवस्था है कि दुःखभोग से पापों का और सुखभोग से पुण्यों का नाश होता है और पाप तथा पुण्य इन दोनों का जब पूर्ण नाश हो जाता है तभी मोक्ष होता है। इस व्यवस्था को मन में रख, इस उक्त स्मृति के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये। इस स्मृति का यह अक्षरार्थ है कि कृष्ण भगवान् के वियोगमूलक महादुःख से जिसके सब पाप नष्ट हो गये तथा कृष्ण भगवान् के निरन्तर ध्यान के कारण महासुख से जिसके सब पुण्य नष्ट हो गये वह गोप की कन्या, जगत् के कारण, परब्रह्मरूपी कृष्ण भगवान् को स्मरण करती हुई, मरकर मोक्ष को प्राप्त हुई । और भाव इसका यह है कि जब कृष्ण भगवान् के ध्यान से उसको महासुख हुआ तब कृष्ण भगवान् में उसके दृढ़ अनुराग होने का निश्चय होता है और केवल उसी अनुराग रूपी भक्ति से उसको मोक्ष हुआ। तथा उसका मन सुखदुःख के भोग ही से पूर्व ही निर्दोष हो चुका था । अब यहां ध्यान देना चाहिये कि वह कृष्ण भगवान् को परब्रह्म रूपी नहीं जानती थी, इससे उसमें ब्रह्मज्ञान का संभव ही नहीं है

प्रधानत्वे तु तदभावे फलं न स्यात् चिन्ता च न ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् श्रवणमननाद्यसंभवात्। किन्त्वनुरागनियताऽनुस्मृतिरेव। न चायमर्थवादः अपूर्वार्थत्वात् तत्सन्निधौ विध्यभावाच्चेति।

भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् ॥ ६ ॥

इदानीं श्रुतिविरोधेन प्रकरणस्थानसमाख्यालिङ्गबाधमाक्षिप्य समाधीयते। यथा श्रुतं गीतायाम् (अ० १८।५५)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।

ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ इति

तत्र 'ऐन्द्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठत' इतिवत्कारकश्रुत्या बलीयस्या भक्तेर्ज्ञानहेतुत्वमवसीयते। यद्यपि 'दृष्ट्वा' दित्यनेन दृष्टोपकारे प्रत्यक्षगम्ये न श्रुतेरवकाशः तथापि ब्रह्मविषयिण्या रतेर्ब्रह्मविषयकज्ञानोपकार्यत्वं न प्रत्यक्षगम्यम् किन्तु तरुण्यादे रतौ तथा दर्शनेन ब्रह्म-

भाषा

और चिन्ता मात्र करने से ब्रह्म और आत्मा के अभेद का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि श्रवण और मनन के बिना वह होता ही नहीं तथा वह गोप-कन्या, स्त्री और शूद्र जाति होने के कारण श्रवण और मनन की अधिकारिणी भी न थी, इसलिये यहाँ यही कहा जा सकता है कि अटल राग रूपी भक्ति से गँठी हुई भगवान् की स्मृति ही उसके मोक्ष का कारण है।

"*भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात्*" (६) इस सूत्र का अर्थ प्रश्नोत्तर रूपी है कि—

प्र०—"*भक्त्या मां०*" भक्ति से मेरा (परमेश्वर का) अभिज्ञान (परिचय) करता है जैसा कि वास्तविक में मैं हूँ, तब मेरे तत्व को जान कर तदनन्तर मोक्ष पाता है। इस गीतावाक्य में भक्ति से अभिज्ञान का होना कहा है तो भक्ति क्यों नहीं ज्ञान का कारण है?

उ०—भक्ति से ज्ञान का होना लोक में नहीं देखा जाता किन्तु ज्ञान ही से भक्ति का होना देखा जाता है। इसी से भक्ति, ज्ञान का कारण नहीं है और इस वाक्य का कोई दूसरा ही अर्थ होगा, क्योंकि भगवान् अनुभव से विरुद्ध बात नहीं कह सकते।

प्र०—इस गीतावाक्य का जो अर्थ कहा गया है वह अनुभव से विरुद्ध नहीं है, क्योंकि *ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म में भक्ति का होना प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु युवा के ज्ञान से युवती की भक्ति प्रत्यक्ष है* उसी दृष्टान्त से वह अनुमान मात्र किया जाता है कि 'ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म में भक्ति होती है' और इस अनुमान का गीतावाक्य से बाध हो सकता है क्योंकि 'अनुमान' नाम है लिङ्ग का और लिङ्ग 'श्रुति' (विभक्ति) अर्थात् उक्त वाक्य में (भक्ति) 'आ' (से) की अपेक्षा दुर्बल होता है जैसा कि पूर्व ही "*क्षुद्रोपद्रवविद्रावण*" प्रकरण में ब्राह्मण भाग के वेद होने के २४ संख्या के प्रमाण में "*ऐन्द्र्या-गार्हपत्यमुपतिष्ठते*" इस वेदवाक्य पर कहा जा चुका है, तब कैसे ज्ञान को भक्ति का कारण कहा जाता है?

उ०—उक्त गीतावाक्य में केवल 'ज्ञान' शब्द नहीं है किन्तु उसके साथ 'अभि' शब्द भी है, अर्थात् यह कहा है कि "भक्ति से मेरा अभिज्ञान करता है" और पूर्व ही जाने हुए के ज्ञान को अभिज्ञान कहते हैं। अब ध्यान देना चाहिये कि इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि पूर्व, प्रथम

गोचरायामप्यनुमातव्यम्, तथा च लिङ्गत्वे पर्यवसानमिति चेत् नैष दोषः, तथा हि यदि, केवलं जानातीति वदेत् तर्हि दोषः नत्वेवम्, किन्तु अभिजानातीति अभिज्ञा च पूर्वज्ञात-ज्ञानमुच्यते तथा च भक्त्युपकारिपूर्वज्ञानं तत्फलरूपभक्तिप्रवर्तकम्, अनन्तरं यावत् तद्दार्ढ्यं तावत् भक्त्यैवाभिज्ञप्तिमात्रेणापेक्ष्यते भीमवदननेनावधात इवेति कार्यसादाय्यार्थमुक्तम्, ततो ज्ञानदार्ढ्येन भक्तिदार्ढ्ये सति विज्ञत इति तस्मान्नेयं श्रुतिः किन्तु न्यायप्राप्तानुवाद इति। एतमेवार्थं स्फुटीकरोति।

प्रागुक्तञ्च ॥ ७ ॥

"भक्त्या मामि" त्यस्य पूर्वं "ब्रह्मभूयाय कल्पते" इत्यभिधाय

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ (गी० अ० १८।५४)

इत्युक्तम्, तथा च ज्ञातब्राह्मणः सेति तज्ज्ञानस्य पुनः प्रयोजनाभावाद्युक्तमेवानुवादत्वमिति।

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः ॥ ८ ॥

एतेन ज्ञानस्याङ्गत्वनिर्णयेन ज्ञानभक्त्योरत्र विकल्पपक्षोऽपि निराकृत इति मन्तव्यम्, नहि अङ्गाङ्गिनोरेकत्र विकल्पः सम्भवति, अपि शब्दात्समुच्चयोऽपीति—

भाषा

ज्ञान ही से भक्ति होती है, तदनन्तर जब तक भक्ति दृढ़ नहीं होती तब तक उसमें पुनः पुनः अभिज्ञान (स्मरण) करने की अपेक्षा रहती है। इसलिये इस गीतावाक्य का यही अर्थ है कि भक्ति से पुनः पुनः स्मरण होता है, तदनन्तर जब भक्ति दृढ़ हो जाती है तब उससे मोक्ष होता है। इस रीति से यह 'भा' विभक्ति कोई अपूर्व विषय को नहीं कहती किंतु लौकिक विषय का अनुवाद करती है, इसी से उक्त अनुमान की अपेक्षा यह प्रबल नहीं है कि उसका बाध करे, और पुनः स्मरण, यदि भक्ति की *दृढ़ता में उपकारी है, तो इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भक्ति, ज्ञान का कारण है।*

"*प्रागुक्तञ्च*", "*भक्त्या मां*" इस श्लोक से पूर्व में '*ब्रह्मभूयाय कल्पते*' (ब्रह्मज्ञानी हो जाता है) ऐसा कह कर गीता ही में जब यह कहा है कि—

"*ब्रह्मभूतः*" जब ब्रह्मज्ञानी प्रसन्न चित्त हो कर न शोक करता है, न कुछ चाहता है, और सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखता है, तब मुझमें पराभक्ति को पाता है। तब इसमें क्या सन्देह है कि "ब्रह्मज्ञान" से भक्ति होती है, और जब पराभक्ति हो चुकी तब चाहे ब्रह्मज्ञान बना ही क्यों न रहे, परन्तु उसका प्रयोजन कुछ नहीं रह जाता, क्योंकि उसका प्रयोजन तो पराभक्ति थी, जो प्रथम ही हो चुकी, जिससे कि मोक्ष होता है। इसलिये "*भक्त्या मां*" इस पूर्वोक्त गीतावाक्य में ज्ञान का अनुवाद मात्र है, न कि विधान, क्योंकि पराभक्ति हो जाने पर ब्रह्मज्ञान निष्फल ही होता है।

"*एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः*" (८) भक्ति के मुख्य होने और ज्ञान के गौण (भक्ति का अङ्ग) होने का जो यह निर्णय किया गया इससे, विकल्प पक्ष "केवल ज्ञान से भी मुक्ति होती है

देवभक्तिरितरस्मिन्साहचर्यात् ॥ ९ ॥

किञ्चिदेवं श्रूयते—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ (श्वे० उ०) इति।

अत्र देवभक्तिरीश्वरेतरस्मिन्देवे मन्तव्या गुरुभक्तिसाहचर्यात् साहचर्यं हि नामृतफलायां भक्तौ घटते इन्द्रादिदेवास्त्वाराधिताः श्रुतवज्ज्ञानफलाय भवन्तीति साहचर्यमपि निर्णायकम्। साहचर्यादुलूकशब्दवत् उक्तयुक्तेरुपष्टम्भकमेतत्।

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत् ॥ १० ॥

योगः पुनर्ज्ञानार्थं भक्त्यर्थं च भवति। समाहितमनस्कताया उभाभ्यामपेक्षणात् ननु "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्" (पू० मी० अ० ३ पा० १।२१) इति न्यायात्प्रधानाङ्गयोगस्य कथमङ्गाङ्गत्वमिति अत आह "प्रयाजवदिति" यथा प्रयाजो वाजपेयाङ्गं तदङ्गदीक्षणीयादेरप्यङ्गं तद्वत्। तदङ्गत्वबोधकप्रमाणाविशेषात्। केवलं ज्ञानार्थं योगानुष्ठानं प्रसङ्गेन भक्तिमुपकरोति। एवं विषयवैराग्यमप्युभयार्थं मन्तव्यम्। ननु ईश्वरप्रणिधानाद्वेति पतञ्जलिस्मरणं दुरपह्नवम् तत्र च प्रणिधानापरनामधेयस्य भगवद्भजनस्य समाधिसिद्ध्यर्थत्वमुक्त।-

भाषा

और केवल भक्ति से भी यह पक्ष तथा समुच्चय पक्ष" (भक्ति और ज्ञान दोनों मिलित हो मोक्ष के कारण हैं) यह पक्ष भी खण्डित हो गया, क्योंकि प्रधान और गौण का न विकल्प हो सकता है और न समुच्चय।

प्र०—"*यस्य देवे०*" इन कहे हुए अर्थों का ज्ञान उसको होता है, जिसकी देव में पराभक्ति होती है, और जैसे देव में वैसे गुरु में भी पराभक्ति होती है। इस श्रुति से जब ईश्वर में पराभक्ति से ज्ञान का होना कहा है, तब यह कैसे कहा जाता है कि "भक्ति से ज्ञान नहीं होता"?

उ०—"*देवभक्तिरितरस्मिन्साहचर्यात्*" (९) इस श्रुति में "देव" शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं है, क्योंकि इसमें गुरु-भक्ति के साथ, देव-भक्ति कही हुई है, तो जैसे गुरु-भक्ति का साक्षात्कार ज्ञान ही फल है, न कि मोक्ष, वैसे ही जिस देव में भक्ति का ज्ञान ही फल हो न कि मोक्ष, उसी देवता अर्थात् इन्द्रादि का यहाँ देव शब्द से ग्रहण होना उचित है, न कि परमेश्वर का, क्योंकि परमेश्वर में पराभक्ति का मोक्ष ही फल है न कि ज्ञान।

"*योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत्*" (१०) योग तो ज्ञान और भक्ति दोनों का अङ्ग है, क्योंकि मन की एकाग्रता का दोनों में उपयोग है और मन की एकाग्रता को योग कहते हैं, अर्थात् जैसे 'प्रयाज' यज्ञ वाजपेय रूपी मुख्य यज्ञ तथा उसके अङ्ग दीक्षणीय यज्ञ का भी अङ्ग है, वैसे योग भी भक्ति रूपी प्रधान का और उसके ज्ञान रूपी अङ्ग का भी अङ्ग है। निदान योगाभ्यास, यद्यपि केवल ज्ञान ही के लिये किया जाता है, तथापि वह प्रसङ्ग से भक्ति का भी उपकारी होता है। और योग ही के ऐसा वैराग्य भी ज्ञान और भक्ति दोनों का अङ्ग है।

प्र०—"*ईश्वरप्रणिधानाद्वा०*" इस योगदर्शन के सूत्र में जब यह कहा गया है कि "ईश्वर के प्रणिधान (पराभक्ति) से समाधि सिद्ध होता है" तब तो भगवद्भक्ति ही योग का अङ्ग हुई और

मिति कथं भक्तिप्राधान्यमित्यत आह।

गौण्या तु समाधिसिद्धिः ॥ ११ ॥

तत्र प्रणिधानं गौणीभक्तिरेव, न प्रधानम् तया समाधिसिद्धिरिति न स्मृतिविरोधः भवति च वाक्यशेषस्तत्रैव "तज्जपस्तदर्थभावनमिति"

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ १३ ॥

तदेव भजनं मुख्यं तस्या भक्तेर्मुख्यत्वं सर्वथैव निश्चितम्, यस्मात् एवं स्मर्यते।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (गी० ६ अ० ४६)

अत्र विशेषणानां तप आदीनामाधिक्यनिबन्धनं विशेष्याणामाधिक्यं क्रमादिति मन्तव्यम् न ह्यन्यङ्गस्य मुख्यादाधिक्यमुपपद्यते तस्माद्भक्तिः प्रधानमिति। स्तुत्यर्थेनापि तदुपपत्तिपरिहारार्थं पठति।

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः ॥ १४ ॥

अत्र कृत्स्नोऽपि द्वादशोऽध्याय उदाहरणम्—

भाषा

योग ही प्रधान हुआ, तो उससे विरुद्ध यह कैसे कहा जाता है कि भगवान् में परामक्ति ही प्रधान है, और योग उसका अङ्ग है?

उ०—*"गौण्या तु समाधिसिद्धिः"* (११) इस योगसूत्र में प्रणिधान शब्द का परामक्ति अर्थ नहीं है किन्तु प्रणव (ओङ्कार) का जप और उसके अर्थ का ध्यान रूपी गौणी भक्ति ही अर्थ है, जैसा कि उस सूत्र के अनन्तर योगदर्शन ही में यह सूत्र है कि *"तज्जपस्तदर्थभावनम्"* ।

"तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात" (१३) यह जो भक्ति की प्रधानता कही गई, वह ठीक ही है जैसे कि गीता के ये शब्द हैं कि—

"तपस्विभ्यो०" हे अर्जुन! 'योगी' तपसी, ज्ञानी और कर्मी से भी अधिक माना जाता है, इससे तुम योगी हो जाओ, और सब योगियों में भी, जो श्रद्धापूर्वक मुझमें मन लगाकर मेरी भक्ति करता है, उसको मैं बड़ा योगी मानता हूँ। यहाँ भक्ति की प्रधानता प्रत्यक्ष ही कही हुई है।

प्र०—यह क्यों न माना जाय कि अनन्तरोक्त गीतावाक्य, अर्थवाद अर्थात् बढ़ा कर भक्ति की प्रशंसा मात्र है।

उ०—*"प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः"* (१४) भक्ति की मुख्यता के कथन में, तब प्रशंसा मात्र होने का सन्देह होता यदि प्रशंसा ही कर छोड़ दिया जाता, अर्थात् प्रशंसा के अनन्तर प्रश्न और उत्तर से भक्ति की मुख्यता निश्चित न की जाती, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं किया गया किन्तु गीता के सम्पूर्ण १२ वें अध्याय में प्रश्न और उत्तर से भक्ति की मुख्यता सिद्ध की गई है, जिसको मैं थोड़ा दिखलाता हूँ। अर्जुन का प्रश्न है कि:—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ (गी० अ० १२।१)
इति प्रश्नः
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ २ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ३ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ४ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ५ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ६ ॥
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ ७ ॥

भाषा

"*एवं सतत०*" उक्त रीति से जो भक्त आप की उपासना करते हैं, और जो निराकार आप की ज्ञानयोग से उपासना करते हैं, इन दोनों में कौन अच्छे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण भगवान् ने यह निरूण किया है कि–

"*ये त्वक्षर०*" जो इन्द्रियों को अपने वश कर सब में समदृष्टि हो, सब प्राणियों के हितैषी होकर सर्वव्यापी, निराकार, निर्विकार, अचल, मुझको ध्यान करते हैं, वे मुझी को पाते हैं, परन्तु उनको उस उपासना में बड़ा परिश्रम और क्लेश होता है, क्योंकि ऐसे शून्यप्राय की उपासना, शरीर-धारियों के लिये दुःखदायी है और अनेक जन्मों में इसका फल होता है। और जो अपने सब कर्मों को मुझमें अर्पण कर मेरा ध्यान करते हुए एकान्त भक्ति से मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् मेरे साकार विग्रह की उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन एकान्त भक्तों को मैं इस मृत्यु रूपी संसारसागर से उबार लेता हूँ।

यह थोड़े ध्यान देने की बात है कि प्रश्न और निरूपण, लोक में निर्णय के लिये किया जाता है, न कि केवल प्रशंसा के लिये और इस निरूपण में भगवान् ने ब्रह्मज्ञान में जो क्लेश अधिक और विलम्ब दिखलाया, उसका यह तात्पर्य स्पष्ट ही है, कि ब्रह्मज्ञान का फल भक्ति है, तो केवल उपाय रूपी ब्रह्मज्ञान के सिद्ध करने में क्लेश अधिक है, क्योंकि फल की अपेक्षा उपाय में अधिक क्लेश होता है, और विलम्ब भी, इससे यह है कि ज्ञान अन्तःकरण के दोषों की हानि के अनन्तर कुछ काल तक पराभक्ति होने से मोक्ष होता है, जैसा कि "*बहूनां जन्मनामन्ते*" इस श्लोकान्तर में भी कृष्ण भगवान् ने यह कहा है कि बहुत जन्मों के अनन्तर ब्रह्मज्ञानी हो कर मेरी भक्ति को पाता है, और वह महात्मा दुर्लभ है।

इति निरूपणम्, ताभ्यां भक्तेः प्राधान्यसिद्धेर्नार्थवादत्वमायाति । ब्रह्मनिरूपणं हि निर्णयार्थं प्रसिद्धम् न स्तुत्यर्थम्। केवलाज्ञानुष्ठाने तु क्लेशाधिक्यमेवेति ॥

ब्रह्मकाण्डं तु तस्यानुध्यानाय सामान्यात् ॥ १७ ॥

ज्ञानप्रधानं ज्ञानकाण्डमित्युत्तरकाण्डप्रसिद्धिर्न स्यादिति मन्वानं प्रति उच्यते

भक्त्यर्थं ब्रह्मकाण्डं श्रूयते न ज्ञानार्थम्, अज्ञातार्थज्ञापने काण्डद्वयसामर्थ्यात्, अन्यथा धर्मज्ञानार्थं पूर्वकाण्डाम्नातमपि ज्ञानकाण्डं स्यात् न च ज्ञाने विधिः संभवति येन तत्प्राधान्यादपि ज्ञानकाण्डं भवेत् तस्मात् ज्ञानकाण्डमिति भ्रमः । किन्तु ब्रह्मकाण्डमेव। अत एव "अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति" सूत्रितम् । तत्तु भक्त्यर्थत्वात् भक्तिकाण्डमपीति ।

ननु पूर्वोक्तरीत्या भक्तेः साक्षात्प्रयत्ननिष्पाद्यत्वाभावात्साधनदौर्लभ्यमिति चेन्न ज्ञानेऽपि तुल्यत्वात्, न हि तत्प्रयत्ननिष्पाद्यम्, तथा सति क्रियात्वापत्या तस्य निःश्रेयस-

भाषा

प्र०—यदि भक्ति ही मोक्ष का प्रधान कारण है, तो वेद में ज्ञानकाण्ड सम्पूर्ण क्यों कहा है ! और उस वेदभाग को क्यों ज्ञानकाण्ड और उत्तरकाण्ड भी कहते हैं ! तथा उस भाग के अर्थ का विचार रूपी दर्शन क्यों उत्तरमीमांसा कहलाता है ! क्योंकि ज्ञानकाण्ड वही कहलाता है कि जिसमें ज्ञान ही प्रधान होता है, तथा उत्तरकाण्ड उसी को कहते हैं कि जिसमें प्रधान उपाय का उपदेश होता है, और उत्तरमीमांसा उसी विचार को कह सकते हैं जो अन्तिम अर्थात् प्रधान पदार्थ का विचार है । इसलिये यह निश्चित होता है कि मोक्ष के प्रति ब्रह्मज्ञान ही प्रधान उपाय है । तब क्यों भक्ति को प्रधान का उपाय कहा जाता है !

उ०—"*ब्रह्मकाण्डं तु तस्यानुध्यानाय सामान्यात्०*" (१७) वेद के जिस भाग को लोग ज्ञानकाण्ड कहते हैं, वह वास्तविक ब्रह्मकाण्ड है न कि ज्ञानकाण्ड । और उसको ज्ञानकाण्ड कहना यथार्थ नहीं है, किन्तु भूल से है, क्योंकि यदि, ज्ञान के लिये यह भाग है, इससे ज्ञानकाण्ड कहलाता है, तो धर्मकाण्ड (कर्मकाण्ड) भी धर्म के ज्ञान के लिए है, तो वह भी ज्ञानकाण्ड कहलाया जायगा । ज्ञान का विधान नहीं हो सकता कि जिससे ज्ञान को प्रधान मान कर, उस वेद-भाग को ज्ञानकाण्ड कहा जाय, किन्तु वेद के सब काण्डों का यह स्वभाव वैदिक दर्शनों से सिद्ध और वास्तविक है कि वे काण्ड ऐसे विषयों का उपदेश करते हैं जो किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता। जैसे पूर्वकाण्ड में धर्म रूपी विषय का उपदेश है, इसलिये विषय के अनुसार वह धर्मकाण्ड कहलाता है और उसके मीमांसादर्शन को धर्ममीमांसा और उस काण्ड के प्रथम भाग होने से पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। इसी से उस दर्शन का प्रथम सूत्र यह है कि "*अथातो धर्मजिज्ञासा*" और ऐसे ही तृतीय काण्ड में ब्रह्म के स्वरूप रूपी विषय का उपदेश है, इससे वह ब्रह्मकाण्ड ही है, और इसी से उसका दर्शन, ब्रह्ममीमांसा है जैसा कि उस दर्शन का प्रथम सूत्र यह है "*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*" और इस दर्शन को उत्तरमीमांसा कहना भी भूल ही से है, क्योंकि जब ब्रह्मकाण्ड, भक्ति के लिये इस कारण है कि जिस पदार्थ में भक्ति होती है, उस पदार्थ का ज्ञान प्रथम होना आवश्यक है, इसलिये

हेतुत्वानुपपत्तेः, अथ ज्ञाने श्रवणादीनि साधनानीति चेत् इहाप्यपरभक्तिप्रभृतीनि भक्तेरन्तरङ्गसाधनानीति गृहीत्वा सन्तुष्यताम् तथा च (भ० मी० द० २ अं० आ०) सभाष्याणि सूत्राणि—

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत् ॥ १ ॥

बुद्धिर्ब्रह्मप्रमितिः सा यद्यपि कृत्यनिष्पाद्या तथापि तद्धेतूनां श्रवणमनननिदिध्यासनादीनां तन्निष्पत्तयेऽनुष्ठानमावश्यकम्। तत् किं सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थ इति न्यायात्सकृत्प्रवर्तते, उत यावद्भक्तिदार्ढ्यम्, तत्रोच्यते भक्तिपरिशुद्धिपर्यन्तं तत्प्रवृत्तिरावश्यकी यथा- "व्रीहीनवहन्ती" त्यनेन विहितस्य व्रीह्यवघातस्य यावद्वैतुष्यमनुष्ठानं शास्त्रार्थः, तथा दृष्टोपकारकत्वान्मनो विरागान्तं ज्ञानाद्यनुष्ठानमिति

तेषामङ्गानां यान्यङ्गानि तदनुष्ठानं तु न प्रसज्यत इत्यत्रोत्तरमाह—

तदङ्गानां च ॥ २ ॥

अङ्गाङ्गानां गुर्वनुगमनवेदाविरोधितर्कानुसन्धानशमदमादीनामप्यनुष्ठानं युक्तम् नह्यङ्ग-

भाषा

ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कराने वाला ब्रह्मकाण्ड उत्तरकाण्ड, नहीं हो सकता, तो उसका दर्शन कैसे उत्तरमीमांसा कहला सकता है? इससे यही सिद्धान्त है कि धर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों का उपयोग उपासना (भक्ति) में होता है, इसलिये उपासनाकाण्ड, मध्य में अर्थात् द्वितीय काण्ड है। इस रीति से जब भक्ति ही मुख्य है तब भक्तिकाण्ड ही उत्तरकाण्ड है, और भक्ति दर्शन ही उत्तर-मीमांसा है। इसी से इस दर्शन का प्रथम सूत्र यह है कि—"*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*"। यहाँ तक भक्ति की मुख्यता समाप्त हुई। अब (भ० मी० द० अ० २ आ० १) सूत्रों से भक्ति के साधन का विचार किया जाता है।

प्र०—यह पूर्व में कहा जा चुका है कि "भक्ति आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती" तो अब इसका उपाय कौन हो सकता है कि जिससे भक्ति हो?

उ०—"*बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्०*" (१) जैसे ब्रह्मज्ञान, आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि सब ज्ञान, प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही के अनुसार होते हैं, न कि आन्तरिक प्रयत्न से, तथापि उसके साधन, श्रवण, मनन आदि अवश्य किये जाते हैं, और तब तक किये जाते हैं कि जब तक ब्रह्मज्ञान दृढ़ नहीं हो जाता और कर्मकाण्ड में भी "*व्रीहीनवहन्ति*" इस वाक्य से विहित धानों का कूटना भी एक ही बार कर नहीं छोड़ दिया जाता, किन्तु सब भूसी के छोड़ने पर्यन्त किया जाता है और विधान का तात्पर्य भी ऐसा ही है (वैसे) भक्ति भी यद्यपि पुरुष के आन्तरिक प्रयत्न से नहीं उत्पन्न होती, तथापि उसके उपाय ज्ञानादि का अभ्यास तब तक किया जाता है कि जब तक भक्ति की शुद्धि नहीं होती।

प्र०—भक्ति के अङ्ग ज्ञानादि का अभ्यास करना तो ठीक ही है, परन्तु ज्ञानादि अङ्गों के भी अङ्ग गुरु से वेदाध्ययन आदि का क्या प्रयोजन है?

उ०—"*तदङ्गानां च*" (२) जैसे सेनारहित सेनापति अपने स्वामी का उपकार नहीं कर

विकल्पान्यङ्गान्यसैन्यसेनापतिवत्प्रधानोपकाराय भवन्ते । अथ भक्तिपरिशुद्धिपर्यन्तं साधनाभ्यासस्ततः परं तन्निवृत्तिरित्युक्तम्, तत्र भक्तेः परिशुद्धिः कथं ज्ञेयेति चेत् अत्रापि (भ० मी० द० २ अ० १ आ०) समाप्यानि सूत्राणि ।

, तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः ॥ १७ ॥

यद्यपीच्छामि जानामीत्यादिवदहं भजेऽहमनुरज्यामीत्येवमादिना प्रत्यक्षगम्यैव भक्तिः तथापि तस्या दृढतरसंस्कारवैशिष्ट्यलक्षणा परिशुद्धिर्न प्रत्यक्षतो निर्णेतुं शक्यते, ज्ञानप्रामाण्यवत् । तस्मात् तन्निर्णयो लोकवत् बाह्यलिङ्गेभ्य एव यथा लोकेऽनुरागतारतम्यं तत्कथादावश्रुपुलकादिविकारैरनुमीयते तद्वदिति ।

न केवलं लोकवत् लिङ्गानि भवन्ति किंतु महर्षीणां स्मृतिभ्योऽपि तानि लिङ्गानि बाहुल्येन लक्ष्यन्त इत्याह ।

संमानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥ १८ ॥

संमानोऽर्जुनस्य—

प्रत्युत्थानं तु कृष्णस्य सर्वावस्थो धनञ्जयः ।
न लङ्घयति धर्मात्मा भक्त्या प्रेम्णा च सर्वदा ॥

बहुमानो यथा इक्ष्वाकोः—

पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशि ।
दधार मेघे तद्रूपे बहुमानमतिं नृपः ॥ (नृसिं० पु० अ० २५।२२)

भाषा

सकता वैसे गुरुसेवा आदि अपने अङ्गों से रहित ज्ञानादि अङ्ग भी भक्ति के उपकारी नहीं होते, इससे भक्ति के अङ्ग के अङ्ग गुरुसेवा आदि भी आवश्यक हैं । अभी यह कहा गया है कि "भक्ति की शुद्धि पर्यन्त ज्ञानादि उपायों का अभ्यास करना चाहिए, और शुद्धि के अनन्तर उस अभ्यास को छोड़ देना चाहिये" । इसलिये अब यह विचार किया जाता है कि भक्ति के शुद्धि का निश्चय कैसे होता है कि भक्ति की अब शुद्धि हो गई! *"तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्य."* (१७) यद्यपि अपनी भक्ति अपने ज्ञान की नाईं अपने को प्रत्यक्ष ही है, तथापि उसकी दृढ़ता रूपी शुद्धि का निर्णय प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, किन्तु लोक में जैसे अश्रुपात रोमाञ्च आदि चिह्नों से अनुराग की दृढ़ता का अनुमान होता है वैसे ही उन्हीं चिह्नों से भगवद्भक्ति की भी दृढ़ता का निर्णय होता है ।

"संमानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्" (१८) भगवद्भक्ति की दृढ़ता के चिह्न, केवल लोक ही से नहीं ज्ञात होते किन्तु महर्षियों के अनेक वाक्यों से भी ।

जैसे संमान अर्जुन का—*"प्रत्युत्थान०"* अर्जुन धर्मात्मा, चाहे किसी दशा में रहें परन्तु सदा कृष्ण भगवान् के आने पर भक्ति और प्रेम से अवश्य ही उनको अभ्युत्थान देते हैं ।

बहुमान इक्ष्वाकु का—*"पक्षपातें"* राजा इक्ष्वाकु ने भक्ति की अधिकता से हरि आदि नाम

प्रीतिर्यथा विदुरस्य—

या नः प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम् ॥ (म० उ० अ० ८८)

विरहो यथा गोपीनाम्—

गुरूणामग्रतो वक्तुं किं ब्रवीमि न मे क्षमम् ।
गुरवः किं करिष्यन्ति दग्धानां विरहाग्निना ॥
(वि० अं० ५ अ० १८।१७)

इतरविचिकित्सा यथा श्वेतद्वीपनिवासिनां नारददर्शनेऽपि विघ्नबुद्धिः । यथा वा उपमन्योः—

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया ।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥ (भा० अ० ३१४।१४)

महिम्नि श्रद्धा यथा यमस्य—

नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषितः ।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥ (नृ० पु० अ० ८।२१)

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।

भाषा

वाले पशु, सिंह तथा भगवान् के नेत्रों के तुल्य कमल में और उनके श्यामवर्ण के तुल्य आषाढ़ में मेघ बहुमान की मति को धारण किया, अर्थात् भगवान् की तो बात ही बड़ी है, किन्तु उनके नाम, नेत्र और वर्ण की तुल्यता से इक्ष्वाकु ने सिंहादि पशु, और कमल तथा मेघ में भी प्रीति की ।

प्रीति विदुर की—"*या नः प्रीतिः*" विदुर ने कृष्ण भगवान् से कहा कि हे पुष्कराक्ष (कमलनेत्र)! आप के दर्शन से जो प्रीति मुझे होती है, उसको आप से क्या कहूँ, क्योंकि आप तो सब जीवों के अन्तरात्मा हैं; इससे वह प्रीति जैसे मुझे प्रत्यक्ष है वैसे आप को भी ।

विरह गोपियों का—"*गुरूणाम्०*" गोपी ने कहा है कि माता पिता आदि के सामने कहने को मैं क्या कहूँ ? कह नहीं सकती, क्योंकि विरह रूपी अग्नि से दग्धों के लिये बड़े लोग क्या सहायता दे सकते हैं ? परमेश्वर से अन्य देवता आदि की उपेक्षा, जैसे श्वेत द्वीप-वासियों का नारद के दर्शन में यह विघ्न-बुद्धि कि कहाँ से कहाँ यहाँ यह आये, कि इनके सत्कार से भगवद्भजन में भङ्ग पड़ा अथवा जैसे उपमन्यु महर्षि की यह बुद्धि कि—

"*अपि कीटः०*" तपस्या करते हुए, उपमन्यु के समीप, वर देने के लिये आये हुए, इन्द्र के प्रति उपमन्यु-महर्षि ने कहा कि हे शक्र ! शङ्कर जी की आज्ञा से यदि मैं कीट वा पतङ्ग भी हो जाऊँ तो मुझे आनन्द है, परन्तु तुम्हारा दिया हुआ त्रैलोक्य भी मैं नहीं चाहता ।

भगवान् की महिमा पर विश्वास यमराज का—"*नरके०*" नरक में महादुःख का अनुभव करते हुए एक प्राणी से यमराज ने कहा कि क्या क्लेश के नाशक केशवदेव का पूजन तुमने नहीं किया? "*स्वपुरुष०*" फाँसी हाथ में लिये हुए अपने दूतों के कान में यमराज कहते हैं कि भगवद्भक्तों के

परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥
(वि० पु० अं० ३ अ० ७।१०)

तदर्थप्राणस्थितिर्हनूमतः—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ॥
(वा० रा० उ० का० स० १०७।३१)

अथवा कृतकृत्यानामपि नारदादीनां तदेकाराधनार्थं प्राणधारणम्—

तथा च श्रुतिः—यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च (नृ० ता० उ० खं० ६)

तदीयभावो यथा वसोः उपरिचरस्य—

आत्मा राज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा ।
एतद्भागवतं सर्वमिति तत्प्रेक्षते सदा ॥ (मा० शा० ३३७)

सर्वभूतेषु तद्भावो यथा प्रह्लादस्य उक्तं च तेनैव—

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥
(वि० अं० १ अ० १६।५)

तस्मिन्नप्रातिकूल्यं यथा हन्तुमागतेऽपि भगवति भीष्मस्य—

एह्येहि देवेश जगन्निवास नमोऽस्तु ते शार्ङ्गगदासिपाणे ।
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ रथोत्तमाद्भूरिशरण्यसङ्ख्ये ॥
(भा० भी० अ० ५८)

भाषा

समीप कदापि न जाना क्योंकि मैं उन्हीं मनुष्यों का प्रभु हूँ जो भगवद्भक्त नहीं हैं। परमेश्वर के आराधन ही के लिये प्राणधारण श्री हनुमान्, नारद आदि जीवन्मुक्तों का "*यावत्तव कथा*" जब तक लोक में आप (श्रीराम) की पावनी कथा का प्रचार रहेगा, तब तक आप की आज्ञा को पालन करता मैं पृथिवी में स्थित रहूँगा। अथवा यह वेदवाक्य है कि "*यं सर्वे देवा०*" जिन परमेश्वर को सब देवता और सब मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) तथा सब ब्रह्मज्ञानी नमस्कार करते हैं अर्थात् उनका आराधन करते हैं।

परमेश्वर का आत्मीय होना उपरिचर वसु का—"*आत्मा राज्य०*" उपरिचर की दृष्टि सदा यही थी कि मेरा आत्मा, राज्य, धन, पत्नी, वाहन, आदि जो कुछ है सब परमेश्वर का है।

सब प्राणियों में परमेश्वर दृष्टि प्रह्लाद की—"*तस्मात्सर्वेषु*" प्रह्लाद ने कहा कि उक्त कारण से परमेश्वर को सब प्राणी रूपी समझ कर पण्डितों को सब प्राणियों में एकान्त भक्ति करनी चाहिये।

भगवान् से प्रतिकूल होने का कारण रहने पर भी प्रतिकूल न होना भीष्म का—"*एह्येहि देवेश०*" भारतयुद्ध में चक्र लेकर मारने आते हुए, श्रीकृष्ण भगवान् से भीष्म ने कहा कि हे लोकनाथ! सबके शरण! जगत के निवास! शार्ङ्गधनुष, गदा, खड्ग, हाथों में लेने वाले, देवताओं के ईश!

आदिशब्दादुद्धवाक्रूरादिचेष्टितान्यपि द्रष्टव्यानि। 'यद्यपि द्वेषप्रतिपक्षभावादि'त्यत्रेदमुक्तम् तथापि तत्र रागलिङ्गत्वेन अत्र तु भक्तिपरिशुद्धिलिङ्गतयेति विशेष इति। ननु स्वामिष्वनुरागिणां तदनुग्रहतारतम्याद् द्वेषेर्ष्यादयोऽपि भवन्ति तेऽपि किं लिङ्गानि, न इत्याह—

द्वेषादयस्तु नैवम् ॥ १९ ॥

तदसंभवादेव। यथोक्तं भगवता कृष्णद्वैपायनेन—

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥

(भा० अनु० अ० १४९) इति

शिशुपालस्य तु द्वेषात्स्मरणं द्वेषस्य तत्क्षणमेव नाशादनुस्मरणरूपं प्रभावाधिक्यं ततः पराभक्तिः ततो मुक्तिरित्येष क्रम इति अथैतानि लिङ्गानि प्रायशो भगवदवतारविषयाण्येव स्मर्यन्ते भक्तेश्च ब्रह्मज्ञानजन्यत्वात्पूर्णविषयतैवोचिता, तथा च कथं तत्परिशुद्धिलिङ्गत्वमेतेषामुच्यत इति चेत्, अत्रापि पूर्वोपन्यस्तसूत्रोत्तराणि सूत्राणि—

तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेष्वपि सा ॥ २० ॥

सा पराभक्तिः प्रादुर्भावात्मविषयाऽपि भवति, कस्मादिदं ज्ञायते "देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गी० अ० ७।२३) इति प्रतिज्ञातार्थस्थिरीकरणाय देवतान्तरभक्तिनिन्दायां वाक्यशेषो भवति।

भाषा

आइये आइये, इस युद्ध में इस रथ से मुझे बलात्कार पूर्वक गिरा दीजिये। उक्त सूत्र में आदि शब्द से उद्धव अक्रूर आदि की चेष्टाओं का ग्रहण है।

प्र०—स्वामी में अनुरागी जनों को स्वामी के प्रसाद न्यून और अधिक होने के कारण, समय समय पर अन्योन्य में द्वेष आदि भी होते हैं, क्या वे भी भक्ति की दृढ़ता के चिह्न हैं?

उ०—"द्वेषादयस्तु नैवम्" (१९) दृढ़ भगवद्भक्तों को तो द्वेष आदि होते ही नहीं जैसा कि भगवान् कृष्णद्वैपायन ने कहा है कि "न क्रोधो०" पुरुषोत्तम के दृढ़ भक्त पुण्यात्माओं को क्रोध, द्वेष, लोभ और दुष्ट बुद्धि कदापि नहीं होते।

प्र०—ये जो भगवद्भक्ति की दृढ़ता के चिह्न दिखलाये गये, वे ईश्वर के अवतार ही के विषय में प्रायः कहे हुए हैं, और पराभक्ति, पूर्ण ही में होती है क्योंकि वह ब्रह्म ही के ज्ञान से उत्पन्न होती है, तो ऐसी दशा में पूर्वोक्त सब चिह्न, पराभक्ति के चिह्न कैसे हो सकते हैं?

उ०—इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वोक्त ही आह्निक के ये दो सूत्र हैं कि—

'*तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेऽपि सा*' (२०) पराभक्ति केवल ब्रह्म के विषय में नहीं होती किन्तु प्रादुर्भाव (अवतार) के विषय में भी होती है, क्योंकि "*देवान्देवयजो यान्ति*" (देवताओं के भक्त देवताओं को पाते हैं) "*मद्भक्ता यान्ति मामपि*" (मेरे अर्थात् परमेश्वर के भक्त भी मुझे पाते हैं)। इन बातों को दृढ़ करने के लिये गीता ही में यह कहा है कि—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (गी० अ० ७।२१)

अत्र 'यो यो यां यां भक्त' इत्येतावतैवोक्तार्थसिद्धौ तनुपर्यन्तनिर्देशात् भक्तेस्तन्वात्मविषयत्वे तात्पर्यमुन्नीयते प्रकरणञ्च भक्तेरेवेति ।

जन्मकर्मविदश्चाजन्मने शब्दात् ॥ २१ ॥

जन्म, शरीराविनाभूतवेदप्रणयनदैत्यदमनभक्तदर्शनादिकार्याय शरीरविग्रहः कर्म च वेदप्रणयनादितत्तत्त्ववेदिनो जन्माभावफलाय शब्दो भवति यथा—

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ (गी० अ० ४।६)

न जन्मकर्मवेदनस्य साक्षादमृतत्वं फलमुपपद्यते किन्तु उद्भवमनोमालिन्यनिवृत्तिद्वारा तद्विशिष्टपरमेश्वरगोचरपरभक्तिं जनयित्वा तद्वेदनं जन्माभावफलाय भवति तस्मात्प्रादुर्भावभावापन्नगोचरत्वं परभक्तेः शब्दादेवावगम्यते, तत्र दिव्यं सप्तरिक्तमाप्नोद्भवत्वात् "जन्मकर्म च मे दिव्य" मित्यत्र दिव्यत्वं च न धर्मजत्वं तस्मिन्नदृष्टासिद्धेः नापि दिवि भवत्वम् भूलोक-

भाषा

"*यो यो*" जो जो भक्त अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार जिन जिन तनु (शरीर) की उपासना करना चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं अचल कर देता हूँ । यहाँ भक्ति के प्रकरणानुसार तथा 'तनु' शब्द के अनुसार यह सिद्ध है कि परमेश्वर और उनके विग्रह (शरीर) इन दोनों में पराभक्ति होती है ।

"*जन्मकर्मविदश्चाजन्मने शब्दात्*" (२१) वैदिक सम्प्रदाय चलाने और दैत्य-दमन आदि अनेक कार्यों के लिये भगवान् के जन्म (देह प्रादुर्भाव) और उनके चरित्रों के तत्त्व जानने वालों के लिये, मोक्षफल गीता में कहा हुआ है । इससे यह सिद्ध होता है कि अवतार में भी पराभक्ति होती है, क्योंकि पराभक्ति के बिना मोक्ष क्योंकर होगा ? और यह गीतावाक्य है कि "*जन्म कर्म च*" हे अर्जुन ! मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो ऐसे तत्त्व से जानता है वह देहान्त के अनन्तर पुनर्जन्म नहीं पाता किन्तु मुझको पाता अर्थात् मोक्ष पाता है ।

यहाँ ध्यान देना चाहिये कि परमेश्वर के जन्म-कर्म के ज्ञान मात्र से साक्षात् मोक्ष-फल नहीं हो सकता । इससे इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि उक्त ज्ञान से, जन्म-कर्म सहित अर्थात् अवतार रूपी परमेश्वर में पराभक्ति उत्पन्न होकर मोक्ष होता है, इस रीति के अनुसार इस गीता ही से यह निश्चित है कि अवतारों के विषय में भी पराभक्ति होती है । और इस वाक्य में परमेश्वर के जन्म और कर्म को 'दिव्य' कहा है । इससे यह विचार किया जाता है कि परमेश्वर के जन्मादि में दिव्यता क्या है ? यह दिव्यता तो नहीं हो सकती कि वे जन्मादि, धर्म से उत्पन्न हैं, क्योंकि परमेश्वर में धर्म और अधर्म रहते ही नहीं । तथा यह दिव्यता भी नहीं हो सकती कि दिव् (स्वर्ग) में वे जन्मादि होते हैं, क्योंकि तब भूलोक में राम आदि जन्म दिव्य न कहलावेंगे, किन्तु परमेश्वर के जन्म (अवतार विग्रह) आदि में यही दिव्यता है कि वे वास्तविक में जीव-शरीरों की नाईं पृथिवी आदि भूतों से नहीं बनते

जन्मन्यव्याप्तेः किन्तु जीवशरीरवत् न भूतोपादानकत्वम्, अपि तु मायाशक्तिकृतत्वम्, अत एव मोक्षधर्मे नारदं प्रति भगवद्वाक्यम् "माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारदे"ति (भा० शा० अ० ३४१)

तथा च गीयते—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ (अ० ४।६) इति

न च भौतिकत्वे शरीरत्वव्याघातः भोगायतने भौतिकत्वनियमात् अथ भोगायतनत्वमेव शरीरत्वमिति चेन्न, चेष्टाश्रयस्य तत्वे लाघवात् चेष्टात्वं तु क्रियागतो जातिविशेषः न च क्रियैव चेष्टा, मृतशरीरक्रियायां तद्व्यवहारापत्तेः न च साक्षात्प्रयत्नजक्रियात्वमेव चेष्टात्वम् घटादावपि चेष्टत इति व्यवहृतिप्रसङ्गात् सर्वक्रियाणां साक्षात्परमेश्वरप्रयत्नजन्यत्वात् एवं च परमेश्वरशरीरबोधकमानेन तत्तच्छरीरे चेष्टासिद्धिरित्यास्तां तावत् न च तत्वाधिक्यम्

भाषा

किन्तु माया-शक्ति से। इसी से भारत के मोक्षधर्म प्रकरण में नारद के प्रति भगवान् ने कहा है कि "माया ह्येषा०" हे नारद ! जो तुम मुझे देखते हो, यह मेरी माया ही है। तथा गीता में भी कहा है कि—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा०" (इस श्लोक का पूर्ण व्याख्यान देवावतार प्रकरण के आरम्भ ही में पूर्व ही हो चुका है, और वहाँ भी इससे यही सिद्ध किया गया है कि मत्स्यादि अवतार (विग्रह) भौतिक नहीं है किन्तु मायिक ही है)।

प्र०—यदि भौतिक नहीं है तो शरीर ही कैसे है ? क्योंकि शरीर भौतिक ही होता है।

उ०—सब शरीर में यह नियम नहीं है कि भौतिक ही होता है, किन्तु उस शरीर में भौतिक होने का नियम है जो भोग का आयतन है, अर्थात् जिसके द्वारा जीवों को भोग होता है, और मायिक शरीर तो भोग का आयतन नहीं है, क्योंकि वह जीवों का नहीं है, और न उसके द्वारा परमेश्वर को भोग हो सकता है, क्योंकि परमेश्वर में धर्म-अधर्म नहीं है, जिससे कि भोग होता है।

प्र०—यदि ऐसा है तो वह मायिक वस्तु शरीर ही नहीं है, क्योंकि भोग के आयतन ही को शरीर कहते हैं।

उ०—भोग के आयतन होने से शरीर नहीं कहलाता किन्तु चेष्टा के आश्रय होने से, क्योंकि भोग, कोई अनुगत पदार्थ नहीं है क्योंकि जाति वा अखण्ड उपाधि ही से अनुगम (एकी भाव) होता है, जैसे गोत्वजाति से सब गौओं का अनुगम होता है और मेदत्व उपाधि से सब मेदों का। और चेष्टा तो अनेक क्रियाओं में रहने वाली एक जाति है, उससे उन क्रियाओं का अनुगम होता है, जिनको कि चेष्टा कहते हैं। इसलिये चेष्टा के आश्रय को शरीर कहते हैं और चेष्टा भौतिक शरीरों की नाईं उस मायिक वस्तु में भी रहती है, इससे वह मायिक शरीर है। और सब क्रियाओं का नाम चेष्टा नहीं है, क्योंकि अन्य पुरुष से कराई हुई मृतक शरीर की चलनादिक क्रिया को चेष्टा नहीं कहते। तथा यह भी नहीं कह सकते कि आन्तरिक प्रयत्न से जो साक्षात् उत्पन्न हो वही क्रिया चेष्टा है। क्योंकि यदि ऐसा हो तो घटादि जड़ों की क्रिया भी इस कारण चेष्टा कहलाने लगेगी कि सब क्रियायें

तच्छरीरस्य महाभूतानुपादानतया घटादिवदवत्त्वभावात् इन्द्रियाप्रकृतित्वाच्च ।

नन्तु स्वतः प्रयोजनाभावे कथं प्रवर्तत इति चेत् तत्राह—

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ २२ ॥

लोके हि निरुपाधिपरदुःखप्रहाणाय प्रवृत्तेषु कारुणिकत्वव्यपदेशः । न चासौ मुख्यः, न ह्यत्र निरुपाधित्वं संभवति कृपाजन्यदुःखहानाय पुण्यार्थं चापाततः प्रवृत्तेः नापि परदुःखप्रहाणमात्रप्रवृत्तेस्तथा धनाद्युपाधियुक्ते तदवव्यवहृतेः किन्तु निरुपाधिपरक्लेशनाशिनो भगवत एव मुख्यं कारुण्यम्, तत्कृत एवान्यप्रयोजनार्थिषु कारुण्यव्यवहारो गौणः तस्मात् जननीयादृष्टमपेक्ष्य स्वकारुण्यात्प्रवृत्तिरिति ।

नन्तु 'नराणां च नराधिप' (गी० अ० १०।२७) इत्यादिना भूतानामपि भगवद्रूपत्वकथनाद्राजादिभक्तेरपि मुक्तिः स्यादित्यत्राह ।

प्राणित्वान्न विभूतिषु ॥ २३ ॥

जीवोपाध्यनवच्छिन्नविषयैव परा भक्तिः न तु प्राणादिजीवोपाध्युपेतेषु नरादिषु भक्तिर्मुक्तिफलेति ।

भाषा

परमेश्वर के आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न होती हैं । इसलिये चेष्टात्व, एक जाति ही है । यह भिन्न भिन्न क्रियाओं में रहती है उन क्रियाओं को चेष्टा कहते हैं, यही ठीक है ।

प्र०—जब कि परमेश्वर का अपना कोई प्रयोजन नहीं है, तो क्रियाओं में उनकी प्रवृत्ति कैसे होती है ?

उ०—*"मुख्य तस्य हि कारुण्यम्"* (२२) क्रियाओं में परमेश्वर की प्रवृत्ति करुणा ही से होती है, और करुणा परमेश्वर को छोड़ अन्य में होती नहीं, क्योंकि लोक में कारुणिक उसी को कहते हैं कि अपने प्रयोजन के बिना अन्य के दुःख छुड़ाने के लिए जिसकी प्रवृत्ति होती है । और ऐसी प्रवृत्ति जीवों की नहीं होती क्योंकि अन्यों के दुःख छुड़ाने में, उनके दुःख देखने से जो अपने को दुःख होता है उसका छूटना रूपी प्रयोजन अथवा धर्मलाभ रूपी प्रयोजन अवश्य रहता है । तथा केवल अन्य का दुःख छुड़ाना ही नहीं करुणा है, क्योंकि अन्य के दुःख छुड़ाने के लिये द्रव्य देने वालों को कारुणिक नहीं कहते । और परमेश्वर में तो अधर्म न रहने के कारण दुःख का सम्भव ही नहीं है, तथा धर्म न रहने के कारण विषय-सुख का भी सम्भव नहीं है और दुःख के छूटने और सुख के होने ही का नाम प्रयोजन है, इससे परमेश्वर का अपना प्रयोजन कोई हो ही नहीं सकता । इसलिये करुणा परमेश्वर ही में रहती है । और अन्य पुरुषों में कारुणिक होने का व्यवहार, केवल अन्य के दुःख छुड़ाने मात्र से गौण है, और पुरुषों के आदृष्टों के अनुसार करुणा से उनकी प्रवृत्ति होती है ।

प्र०—राजभक्ति से क्यों नहीं मुक्ति होती ? क्योंकि *"नराणां च नराधिप"* इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान् की विभूतियाँ भी भगवद्रूपी हैं ।

उ० १—*"प्राणित्वान्न विभूतिषु"* (२३) विभूतियाँ प्राणी हैं, इसी से उनमें भक्ति करने से

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधाच्च ॥ २४ ॥

धर्मशास्त्रेषु द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधः स्मर्यते, परमेश्वरत्वे तु तन्न स्यादिति ।

वासुदेवोऽपीति चेन्नाकारमात्रत्वात् ॥ २५ ॥

ननु "वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी"ति (गी० अ० १०।३७) स्मृतिः तथा च राजादिवत् सोऽप्यभजनीयः स्यादिति चेन्न परब्रह्मण एव वासुदेवकृष्णाकारमात्रत्वात् ।

यथाऽह पराशरः—यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति ॥
(वि० अं० अ० ११।२) इति

पाद्मेऽपि— नराकृति परं ब्रह्म.................. इति ।

जीवत्वे तन्न स्यादिति—

प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥ २६ ॥

वासुदेवविषये परब्रह्मप्रत्यभिज्ञा च श्रूयते ।

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरुच्यते ॥

भाषा

मुक्ति नहीं होती, क्योंकि जो प्राणादि रूपी उपाधि से अवच्छिन्न (वशीकृत) न हो उस अर्थात् पूर्ण ब्रह्म अथवा ईश्वर रूपी चैतन्य में जो भक्ति होती है उसी मे मुक्ति होती है ।

उ० २—"*द्यूतराजसेवयो. प्रतिषेधाच्च*" (२४) जब कि धर्मशास्त्रों में द्यूतादि की नाईं राजसेवा का निषेध है, तब उससे नरक आदि दुःख ही हो सकते हैं, न कि मुक्ति। और राजा यदि परमेश्वर होता, तो उसकी सेवा का निषेध, धर्मशास्त्र में कैसे होता ? और विभूतियों में राजा की गणना तो इतने मात्र से है कि अन्य विभूतियों की नाईं राजा में भी परमेश्वर ने अधिक शक्ति दिया है ।

प्र०—यदि विभूतियों में भक्ति से मुक्ति नहीं होती, तो कृष्ण भगवान् में भी भक्ति करने से कैसे मुक्ति होगी ? क्योंकि वह भी भगवान् की विभूति ही हैं । जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा है कि "*वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि*" (वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव हूँ)

उ० १—परब्रह्म ही का, वासुदेव कृष्ण रूपी एक केवल माया कल्पित आकार मात्र है अर्थात् वासुदेव कृष्ण नामक चैतन्य, प्राणादि रूपी उपाधि के सहित तो हैं परन्तु अवच्छिन्न (वशीकृत) नहीं हैं, इसी से उनमें भक्ति करने से मुक्ति होती है, जैसा कि पराशर महर्षि ने कहा है कि—"*यदोर्वंशं०*" यदु के वंश को सुनकर मनुष्य सब पापों से छूट जाता है, जहाँ कि मनुष्याकार कृष्ण नामक परब्रह्म का अवतार है । तथा पद्मपुराण में भी "*नराकृति०*" रामादि मनुष्याकार परब्रह्म हैं । यदि कृष्ण भगवान् प्राणादि उपाधियों से वशीकृत (जीव) होते तो उनको ऐसा नहीं कहा जाता।

उ० २—"*प्रत्यभिज्ञानाच्च*" (२६.) कृष्ण भगवान् के विषय में ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा (परिचय) सुनी जाती है कि "*ब्रह्मण्यो०*" देवकी के पुत्र ब्रह्म हैं, तथा पद्मपुराण में भी "*वासुदेवः परंब्रह्म*"

सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणरूपमकारणं परमब्रह्मरूपमिति (नारायणोपनिषत्, अथर्वशिरसि दशके ६ वाक्य० ६)

स्मर्यते च प्रत्यभिज्ञा यथा पाद्मे—

वासुदेवः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः ॥ इति

यथा वा प्रलयदृष्टान्तानुभावेन युधिष्ठिरं प्रति मार्कण्डेयेनोक्तम्—

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एव पुरुषव्याघ्र तव प्रीतो जनार्दनः ॥ (भा० वन० अ० १७६)

तथा 'तपोभिरप्यदृश्यो भगवान्' इति श्रुत्वा जनमेजयेनोक्तम्—

तपोभिरप्यदृश्यो हि भगवॉंल्लोकपूजितः ।
तं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥
(भा० शा० अ० ३४५)

प्रकारात् तत्प्रकेषु फलस्मरणलिङ्गात् । तर्हि कथं तद्विभूतिषु तत्कीर्तनं तत्राह—

वृष्णिषु श्रैष्ठ्येन तत् ॥ २७ ॥

"आदित्यानामहं विष्णुः" (गी० अ० १०।२१) इत्यादौ तेषु श्रेष्ठत्वं परमेश्वरस्यैवेति दृष्टिमात्रार्थं विभूतिकथनम् तत्र वासुदेवेऽपि विष्णुः श्रेष्ठोऽयमित्येतावन्मात्रदृष्टिविधानार्थं विभूतिषु वासुदेवकीर्तनमिति ।

भाषा

वासुदेव पर से भी परे ब्रह्म हैं । तथा प्रलय में परमेश्वर को देखने वाले मार्कण्डेय महर्षि ने युधिष्ठिर से कहा कि "यः स देवो०" हे पुरुषव्याघ्र ! पूर्व समय में वह जो बड़ी ऑंख वाले महादेव मेरे दर्शन में आते थे, वही जनार्दन (कृष्ण) तुम पर प्रसन्न हैं । तथा राजा जनमेजय ने भी कहा है कि जो लोकपूजित भगवान् तपस्याओं से भी देखने के शक्य नहीं हैं, उन श्रीवत्स (भृगुलताञ्छन) वाले को हमारे पितामहों ने साक्षात् देखा था । तथा कृष्ण भक्तों के लिये मुक्तिफल महर्षियों के स्मृति में कहा है, इससे भी कृष्ण भगवान् जीव नहीं हैं ।

प्र०—यदि कृष्ण भगवान् परब्रह्म ही हैं तो उन्होंने विभूतियों में अपनी गणना क्यों की ?

उ०—"*आदित्यानामहं विष्णुः*" (सूर्यों में मैं विष्णु हूँ) इत्यादि में श्रेष्ठता मात्र से परमेश्वर दृष्टि कराने के लिये विभूति कही गई है, वैसे ही वृष्णियों में श्रेष्ठता मात्र दिखाने के लिये विभूतियों में वासुदेव की गणना है ।

प्र०—यहाँ अज्ञानियों को यह शङ्का होती है कि परब्रह्म रूपी कृष्ण भगवान् में गोपीविहार रूपी दुराचार की घटना कैसे हो सकती है ?

उ०—गोपीविहार, परमेश्वर का यदि सत्य नहीं है, तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। इससे गोपी-विहार की पौराणिक कथाओं को सत्य ही मान कर यह प्रश्न हो सकता है, और यदि वे सत्य हैं, तो कृष्ण भगवान् के जितने चरित्र पुराणों में कहे हैं, उन सबको प्रश्नकर्ता अवश्य ही सत्य मानेगा

भाषा

क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि गोपी-विहार की कथा सत्य है और वे कथायें मिथ्या हैं क्योंकि 'मीठा गप्प कड़ुवा थू' करना अपने घर की बात है न कि विचार की। अब ध्यान देने की बात है कि दिव्य जन्म से लेकर दिव्य अन्तर्द्धान पर्यन्त जो जो कर्म अर्थात् कंस को मोहित कर कारागार के भीतर चतुर्भुज रूप से उत्पन्न होना, पुनः प्राकृत बालक हो जाना, कारागार के अति दृढ़ कपाटों का स्वयं विघटन, उस समय सब यामिक भटों की गाढ़ी निद्रा, शेषनाग की फणारूपी छत्र से वृष्टि-जल का वारण, वर्षाकाल के कारण भरी हुई सागराकार यमुना नदी का अपने बीच से राह देना, पूतना मारण, यमलार्जुन भंग, यशोदा को अपने मुख में विश्व दिखलाना, बकासुरादिका दमन, ब्रह्मदेव के किये हुए सहस्रों वत्सों और गोपालों के हरण होने पर उनकी तत्क्षण वैसी वर्ष-स्थायिनी सृष्टि, यमुना-ह्रद में कालिय का दमन, गोवर्धन पर्वत का धारण, दावानल का पान, कुब्जा के स्वरूप का परिवर्तन और उतनी ही अवस्था में कंसादि प्रबल दुष्टों का नाश करना, जरासंध मगधराज के एकत्रित किये हुए भूलोक में बाईस बाईस अक्षौहिणी को अनेक बार नाश करना, सान्दीपन महर्षि और देवकी तथा द्वारका के ब्राह्मण के चिरकाल मृत-पुत्रों को उचित अवस्था के साथ ले आना, उतने दिन तक विहार कर, गोपियों का सदा ही के लिये परित्याग करना, साढ़े सोलह सहस्र महारानियों के गृहों में पृथक् पृथक् समानाकार शरीरों से सदा वास करना सुदामा, ब्राह्मण की दरिद्रता छुड़ाने का प्रकार, सभा में द्रौपदी की वस्त्र-वृद्धि, बटुली में लगे हुए शाक खाने से दश सहस्र शिष्यों के सहित दुर्वासा ऋषि की अजीर्णतृप्ति, इन्द्र को जीत कर स्वर्ग-लोक से पारिजात हरण, श्री शङ्कर से युद्ध कर बाणासुर के सहस्र भुजाओं का छेदन, दुर्योधन की सभा में अकेले जाकर वह चरित्र दिखलाना, भारत-युद्ध में गीता ऐसे अद्वितीय शास्त्र की रचना, जयद्रथवध के दिन घंटा दिन रहते ही सूर्य को अस्त कर देना, अनेक दिनों तक दुर्योधन के सब दल को इन्द्र की दी हुई शक्ति का स्मरण न करने देना, परीक्षित् का जिलाना, शिशुपाल का मृत्यु-समय श्री कृष्ण में प्रवेश, अन्त में इतने बड़े यदुवंश का क्षण में नाश करा देना और अपने उस शरीर को तृणवत् नाश करना इत्यादि सहस्रों काम कृष्ण भगवान् के ऐसे हैं कि जिनकी गणना नहीं हो सकती, और उनमें से बहुत से काम ऐसे हैं कि जिनको त्रैलोक्य के सब जीव मिल कर भी नहीं कर सकते, इन कामों से इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता और दृढ़ निश्चय होता है कि कृष्ण भगवान् परमेश्वर ही हैं और इसी बात को अनन्तरोक्त भक्ति-सूत्र और उनके भाष्योक्त प्रमाण सब मुक्त कण्ठ हो कर कहते हैं, तो ऐसी दशा में गोपी-विहार में यदि संभोग भी सत्य मान लिया जाय तो जब कृष्ण भगवान् प्राणादि उपाधियों के वशीभूत अर्थात् जीव नहीं हैं तब व्यभिचार का निषेध-शास्त्र उनके विषय में कदापि नहीं लग सकता क्योंकि सब विधि और निषेध के अधिकारी मनुष्य जीव ही होते हैं। इसी से स्वर्गीय शरीर पाये हुए जीवों को भी अप्सरा-संभोग का दोष नहीं होता और वेददुर्गसज्जन में यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि पुण्य और पाप, केवल वैदिक विधि और निषेध ही से ज्ञात हो सकता है न कि किसी अन्य प्रमाण से। और ऐसी दशा में जैसे मनुष्य में "सींग' और पूँछ" का संभव नहीं है वैसे ही कृष्ण भगवान् में गोपी-संभोग होने पर भी पाप का संभव नहीं हो सकता। तथा

एवं प्रसिद्धेषु च ॥ २८ ॥

एवं अनेन प्रकारेण वासुदेववत् परब्रह्मलिङ्गवत्तया प्रसिद्धेषु वराहनृसिंहवामनराम-भद्रादिषु भक्तिरपि मुक्तिफलेति बोध्यम् । यद्वा एवम् ब्रह्मलिङ्गवत्तया प्रसिद्धेषु "रुद्राणां शङ्करश्चास्मी" (गी० अ० १०।२३) त्यादिषु श्रैष्ठ्यमात्रदृष्टिर्मन्तव्या । तदुक्तं स्कान्दे—

विष्णुरुद्रान्तरं ब्रूयात् यः श्रीगौर्यन्तरं तथा ।
तद्भ्रान्तिकस्य मूर्खस्य वाक्यं शास्त्रविगर्हितम् ॥
(काशी पू० मा० अ० २७।१८।१७)

भाषा

जब उन्होंने अपने पूर्वोक्त अद्वितीय प्रतापों को जगत् में विख्यात कर गोपी-संभोग किया, तब यह भी नहीं जिह्वा पर ला सकते कि उन्होंने जीवों के लिये व्यभिचार की शिक्षा दी, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि समुद्र-मथन से उत्पन्न हलाहल विष को पानकर श्री शिव जी ने भी जीवों को विष-भक्षण की शिक्षा दी, तो क्यों नहीं लोग विष-भक्षण करते ? और यदि यह कहा जाय कि श्री शिव भगवान् परमेश्वर हैं, इससे उनको विष-दोष नहीं लगा, तो किस मुख से यह कहा जायगा कि श्रीकृष्ण भगवान् को गोपी-संभोग से दोष लगा, क्योंकि यह भी तो परमेश्वर ही हैं, तथा विष-भक्षण की शिक्षा देने का कलङ्क, श्री शिव जी पर नहीं लगाया जाता तो व्यभिचार की शिक्षा देने का कलङ्क, श्रीकृष्ण भगवान् पर किस मुख से लगाया जा सकता है और यह भी नहीं कह सकते कि विष-भक्षण जगत् के उपकारार्थ था, गोपी-विहार में वह कैसे दृष्टान्त हो सकता है ? क्योंकि इतने मात्र में दृष्टान्त का तात्पर्य है कि परमेश्वर में दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वह दोष के अधिकारी नहीं हैं। वास्तविक में तो गोपी-विहार बालकों की क्रीड़ा थी, क्योंकि श्रीमद्भागवत, हरिवंश आदि में कंस-वध के अनन्तर, कृष्ण भगवान् का यज्ञोपवीत-संस्कार वर्णन किया हुआ है, जो कि क्षत्रियों का गर्भ से ११ वें वर्ष में होता है जैसा कि *'गर्भादेकादशे राज्ञः'* इत्यादि मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा है, इससे यह स्पष्ट ही है कि गोपी-विहार के समय कृष्ण भगवान् की अवस्था ९ वर्ष से अधिक न थी, और ऐसी अवस्था में काम वेग का सम्भव ही नहीं हो सकता जैसा कि आयुर्वेद और लोक में प्रसिद्ध ही है । तथा जहाँ जहाँ पुराणों में गोपी-विहार का वर्णन है वहाँ सब स्थानों पर *"योगेश्वरेश्वरः"* और माया आदि शब्द भी अवश्य बार बार कहे हुए हैं और श्रीधर स्वामी आदि टीकाकारों ने भी उक्त विहार को मायामात्र ही सिद्ध किया है कि वह विहार वास्तविक नहीं था, किन्तु इन्द्रजाल ही था। बल्कि संभोग न होने का प्रमाण *"अन्तर्निरुद्धसौरतः"* (अपने वीर्य को भीतर निरुद्ध किये हुए) इत्यादि वहाँ कहे हैं।

"*एवं प्रसिद्धेषु च*" (२८) ऐसे ही जिनमें परब्रह्म के चिह्न, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और लोक में प्रसिद्ध हैं, उन वराह, नृसिंह, वामन, श्रीराम आदि अवतार तथा श्री शिव जी में पराभक्ति से मुक्ति होती है । क्योंकि श्री शिव जी में परब्रह्म के चिह्न प्रायः श्रुति, स्मृति आदि में मिलते हैं, और वाराह-पुराण में भी कहा है कि—

"*विष्णुरुद्रान्तरं०*" विष्णु और रुद्र के तथा लक्ष्मी और गौरी के अन्योन्य में भेद लगाने वाले भूले हुए मूर्खों के जो वाक्य हैं वे शास्त्र से निन्दित हैं। और *"रुद्राणां शङ्करश्चास्मि"* यह जो विभूति

शङ्करस्य ब्रह्मलिङ्गप्रसिद्धिः श्रुतिस्मृत्यादौ वहुलमुपलभ्यत इति ।

नन्वेवं कीर्तनादीनां परापरभक्तिभिन्नत्वादनुपयोगेन वैयर्थ्यमेव स्यात्, भक्त्या मुक्तेरपरभक्तिशब्दिताभ्यां दृष्टोपकारकाभ्यां योगज्ञानाभ्यां च भक्तेस्तयोश्च यमनियमशमदमादिभिः सुसाधनत्वेनार्थान्तरस्योपयोगासंभवादिति चेन्न,

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" ॥

इत्यादिस्मृत्यनुरोधात्साधनाभ्यासप्रत्यूहदुरितसमूहप्रत्ययोहनाय गौणभक्तिशब्दितानां कीर्तनादीनां वहिरङ्गसाधनानामत्यन्तावश्यकत्वात् न हि सत्सु विघ्नेषु साधनसम्पत्तिः संभविनी । नाप्यसम्पन्नं साधनं साध्यसाधनाय क्षमं भवति । न वा सम्पत्तिरन्तरेणानुष्ठानम् । न चानुष्ठानं विघ्नक्षयमन्तरा । न चासौ श्रवणकीर्तनादिकं विनेति । तथा च (भ० मी० द० २ आ० सूत्राणि सभाष्याणि)

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या तद्धेतुत्वात् ॥ १ ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् । (अ० ६।१३)

इत्यनेन सप्तमाध्यायप्रतिपादितपरभक्तिमनूद्य तत्पश्चात् गीतम्—

भाषा

में शिव जी की गणना है, वह तो वृष्णिओं में वासुदेव की नाईं, रुद्रों की अपेक्षा श्रेष्ठतामात्र के तात्पर्य से है, और वास्तविक में श्री शिव जी परब्रह्म ही हैं ।

प्र०—जब कि पराभक्ति में प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञान और योग ये ही दो हैं तब अपर गौणी भक्ति भी ये ही हैं और इन दोनों के लिए शम, दम, यम, नियम आदि ही उपकारी होते हैं, तो अब अवश्य बतलाना पड़ेगा कि परमेश्वर के नाम-कीर्तन आदि, किस रोग के औषध हैं । क्योंकि जब वे पराभक्ति नहीं हैं और न अपराभक्ति हैं, तथा दोनों में से किसी भक्ति के उपकारी भी नहीं हैं, तब तो वे व्यर्थ ही हैं।

उ०—यद्यपि पराभक्ति के अन्तरंग साधन, ज्ञान और योग ये ही हैं तथापि "*ज्ञानमुत्पद्यते*" (पापों के नाश से पुरुषों में ज्ञान उत्पन्न होता है) "*कषाये*" (जब पुण्यकर्मों से पाप नष्ट हो जाता है तब ज्ञान उत्पन्न होता है) इत्यादि स्मृतियों के अनुसार ज्ञान और योग तथा शम, दम आदि उनके साधनों के अभ्यास में विघ्न रूपी पापों के नाशार्थ कीर्तनादि वहिरङ्ग साधनों की अवश्य अपेक्षा है, क्योंकि विघ्नों के रहते ज्ञानादिक साधन ही नहीं सिद्ध हो सकते, और जब वे आप ही सिद्ध नहीं हैं तब पराभक्ति को कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? तथा उन पाप रूपी विघ्नों का नाश, कीर्तन आदि वहिरङ्ग साधनों के विना कदापि नहीं हो सकता, इसलिये कीर्तन आदि उपाय अत्यन्त आवश्यक हैं जिनको कि गौणी भक्ति कहते हैं । ज्ञान योग आदि साधनों का करना आधुनिक मनुष्यों के लिये बहुत ही कठिन हैं और कीर्तन आदि गौणी भक्ति करना बहुत ही सहज है, इससे गौणी भक्ति सर्वोपकारी है और इस अवसर पर विशेष रूप से उसका निरूपण आवश्यक है, इसलिये (भ० म० द० अ० आ० २) के कतिपय सूत्र, भाष्ययुक्त यहाँ दिखलाये जाते हैं—

"*भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या तद्धेतुत्वात्*" (१) पूर्व ही कही हुई पराभक्ति को नवम अध्याय में

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

इत्यादि । तत्पश्चात्—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २६ ॥

इति तदुपसंहारः । अत्र च न "चित्रया यजेत"तिवत् सामानाधिकरण्येन भक्तिनाम्ना भजनेन फलं भावयेदित्यर्थः 'एकभक्तिर्विशिष्यते' (गी० अ० ७।१७) इत्यादौ भगवद्भक्तौ भक्तिशब्दस्य सुप्रयुक्तत्वेन सञ्ज्ञाप्राप्तेः । भक्तिभजनयोरेकार्थत्वाच्च । नाप्यत्र परभक्तिः अपरभावनया विधीयते, तस्याः कृत्यसाध्यत्वेनाविधेयत्वात् । न चापि तस्या निःश्रेयसहेतुत्वमप्राप्तं ज्ञाप्यते, 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता० अ० ७।२३) इत्यादिना सप्तम एव तज्ज्ञापनस्यापि प्राप्तत्वात् । किन्तु परभक्तेर्विघ्ननाशनसाधनाकाङ्क्षायां कीर्तनादिकमेवोपक्रान्तम् भक्तिशब्देन गौण्या वृत्त्या तृतीयान्तेन निर्दिश्य परभजनसाधनत्वं तेषु विधीयते । अत्रार्थवादाकाङ्क्षायां "मयि ते तेषु चाप्यहम्" (गी० अ० ६।२६)इति । पश्चाच्चान्वयः, अन्यथा भक्त्या भजनं तेन च मयि स्थितिरिति वाक्यं भिद्येत । कीर्तनादिषु भक्तिसाधनत्वेन "आयुर्घृतम्" (तैत्तिरीय सं० अष्ट० २ प्रकरण ३ अनु० २) इतिवत् भक्तिशब्दो गौणः, यद्वा भज्यत एभिरिति व्युत्पत्त्या तेषु भक्तिशब्दः उद्भिद्वत् (आश्व० श्रौतसू० अ० ६ सं० ८) 'यद्वा चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गी० अ० ७ । १६) इति भजनगणपाठात् सुष्ठिवत । 'उदाराः सर्व एवैते'

भाषा

"*नमस्यन्तश्च*" (१३) (मुझको जगत् का कारण और नित्य समझ कर एकाग्र हो मुझमें भक्ति करते हैं) इस वाक्य से पुनः कहकर यह कहा है कि "*सततं*" (१४) दृढ़ नियम वाले लोग सदा उद्यत और यत्न करते तथा निरन्तर मेरा कीर्तन और मुझको नमस्कार करते, भक्ति से मेरी उपासना करते हैं । और अन्त में "*ये भजन्ति*" (२६) जो भक्ति से मुझमें भक्ति करते हैं वे मुझमें हैं, और मैं भी उनमें हूँ, यह उपसंहार (समाप्ति) है । "यहाँ भक्ति से भक्ति करते हैं" इस कहने से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि परभक्ति का कारण कोई दूसरी भक्ति है, और उसी का विधान इस वाक्य से है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से यह सिद्ध है कि पराभक्ति आन्तरिक प्रयत्न से नहीं होती, और विधान उसी का होता है जो आन्तरिक प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे कि यज्ञादि क्रिया । और यह भी नहीं कह सकते कि मुक्ति के प्रति परभक्ति का कारण होना पूर्व से ज्ञात नहीं है, इसी से उसके जानने के लिये यह वाक्य है क्योंकि सप्तम ही अध्याय में "*मद्भक्ता यान्ति मामपि*" (मेरे भक्त भी मुझे पाते हैं) इस वाक्य से यह ज्ञात हो चुका है । इसलिये "*ये भजन्ति*" इस उक्त श्लोक में कीर्तनादि रूपी बहिरङ्ग साधनों को (जो "*सततं*" इस मध्य श्लोक में कहे हुए हैं) "*भक्त्या*" इस शब्द से कहकर उनमें पराभक्ति के प्रति कारण होना कहा जाता है, अर्थात् कीर्तन आदि ही का विधान इस वाक्य में है, क्योंकि पराभक्ति में, विघ्ननाशकारी, कीर्तनादिकों की आकांक्षा है और उसी के लिये, यह अर्थवाद है कि "वे मुझमें रहते हैं और मैं भी उनमें रहता हूँ) 'और "*भक्त्या*" में "भक्ति शब्द" यहाँ कीर्तनादि भक्ति कारणों

(गी० ७।१८) इत्यौदार्यगुणयोगाद्वा गौणत्वमिति ।

रागार्थप्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम् ॥ २ ॥

एवं हि श्रुतम् "स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च"(गी०अ०६।२) इति । तत्र साक्षादेवानुरागार्थत्वं कीर्तनस्य श्रुतम् "सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च" (गी० अ० ७।१४) इत्यादिनोक्तानामपि तदेव फलम् इति ।

अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात् ॥ ३ ॥

"भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्"(गी० अ० ६।१३) "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (गी०अ०६।२६) इत्यनयोरन्तराले श्रुता या गौणभक्तयस्ताः परभक्त्यङ्गानि भवन्ति परभक्तिसन्दंशादिति भावः । ता यथा—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥(गी०अ०६।१४)इति

तथा—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये नित्ययुक्ता उपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

तथा—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

तथा—यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

भाषा

में गौण है जैसे कि "*आयुर्घृतम्*" (घी, जीवन है) इस वाक्य में "आयुस् शब्द" के आयु (जीवन) कारण में गौण है ।

"*रागार्थप्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम्*" (२) '*स्थाने हृषीकेश०*' अर्जुन ने कहा कि हे हृषीकेश ! आपकी कीर्ति (कीर्तन) से श्रोताओं तथा कीर्तन करने वालों को बड़ा हर्ष और आप में अनुराग भी होता है । इस गीतावाक्य में कीर्तन का, अनुराग रूपी पराभक्ति के प्रति साक्षात् कारण होना स्पष्ट ही कहा है तथा '*सततं*' इस पूर्वोक्त वाक्य में जो नमस्कार, आदि कीर्तन के साथ कहे हैं उनका भी पराभक्ति में कारण होना कीर्तन के साथ कहने ही से सिद्ध है ।

"*अन्तराले तु शेषा स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात्* (३) "*भजन्त्यनन्य०*" इस पूर्वोक्त श्लोक से पराभक्ति को पुनः कहने और '*ये भजन्ति०*' (२६) इस पूर्वोक्त श्लोक से गौणी भक्ति के विधान से इस प्रकरण को समाप्त करने के मध्य में जितनी कीर्तनादि रूपी गौणी भक्ति कही हुई हैं । वे सब आगे पीछे पराभक्ति के प्रकरणानुसार पराभक्ति के अङ्ग हैं, जैसे '*सततं*' (१४) इस श्लोक में नामोच्चारण रूपी कीर्तन और एकादशी आदि में उपवास नियम रूपी व्रत तथा पृथिवी में शिर लगाना रूपी नमस्कार तथा "*ज्ञानयज्ञेन*" (१५) इस श्लोक में मुख्य और गौण दो प्रकार का ज्ञानयज्ञ अर्थात् एक जगत् को परमेश्वर से पृथक् न जानना और दूसरा पृथक् जान कर भी परमेश्वर को सबका स्वामी जानना, तथा "*अनन्याश्चिन्तयन्तो०*" (२२) इस श्लोक में परमेश्वर ही का ध्यान तथा

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥ इति
तथा—यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ॥ इति च

तत्र नाम्नामभिधानं कीर्तनमत्यर्थं यत्नश्चात्र लौकिकोऽप्यङ्गत्वाभ्यस्तावतायुक्तः इत-मतत्वमेकादश्याद्युपवासानुष्ठानम् । नमस्कारः स्वापकर्षबोधको भूशिरःसंयोजनादिर्व्यापारः । ज्ञानयज्ञश्च द्विधा एकत्वपृथक्त्वविषयतया गौणमुख्यभेदात् । तन्मात्रचिन्ता तु ध्यानमनुस्मृतिश्च यागश्च पूजा भगवन्तमुद्दिश्य पत्रादिदानम् । श्रीमूर्तिकौशलादिकमुत्सवादिकरणं च । तथा विहितप्रतिषिद्धस्वसर्वकर्मणामीश्वरे समर्पणमिति । न केवलमेतान्येवाङ्गानि किन्तु 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० उ०) 'आदित्यानामहं विष्णुः'(गी० अ०१०।२१) इत्याद्युपास्यादि शब्दकवलीकृतान्यपि भक्तिसाधनानि कुतः ब्रह्मकाण्डस्य सर्वस्यापि भक्तितत्साधनप्रति-पादकत्वादिति ।

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ४ ॥

ताभ्यः गौणभक्तिभ्यः पावित्र्यम् अन्तःकरणमालिन्यहेतुदुरितक्षयः स एव द्वारम् कुतः ? "पवित्रमिदमुत्तमम्" (गी० अ० ९।२) इत्युपक्रमात् भक्तेरन्तःकरणधर्मत्वात् पावित्र्य-स्यान्तरङ्गत्वादिति ।

भाषा

"*यान्ति देवव्रता०*" (२५) इस श्लोक में याग रूपी पूजा अर्थात् भगवान् की प्रसन्नता के लिये, अन्नादि का दान, भगवान् की श्री मूर्ति बनाने की कुशलता, जन्मोत्सव आदि करना तथा '*पत्रं पुष्पम्*' (२६) इस श्लोक से तुलसी पत्र, बिल्वपत्र, फल आदि से पूजन "*यत्करोषि*" (२७) इन डेढ़ श्लोकों में अपने किये हुए विहित और निषिद्ध सब कर्मों का ईश्वर में अर्पण और उसका मोक्ष रूपी फल भी कहा है, तथा पराभक्ति के इतने ही नहीं अङ्ग हैं किन्तु उपनिषदों में कही हुई "*मनो ब्रह्मेत्युपासीत*" इत्यादि तथा गीता में कही हुई "*आदित्यानामहं विष्णुः*" इत्यादि उपासना भी पराभक्ति के अङ्ग हैं क्योंकि ब्रह्मकाण्ड जितना है सब भक्ति और उसके साधन का प्रतिपादन करता है ।

"*ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात्*" (४) इन गौणी भक्तियों से पवित्रता (अन्तःकरण की शुद्धि के लिये अर्थात् पाप का नाश) होती है, क्योंकि गीता अध्याय ९ में गौणी भक्तियों से प्रथम, "*पवित्र-मिदमुत्तमम्*" (२) (यह गौणी भक्ति रूपी अङ्ग, पवित्र और उत्तम है) कहा है और भक्ति भी अन्तःकरण का धर्म है, इसी से अन्तःकरण की पवित्रता उसका अन्तरङ्ग उपकारी है ।

प्र०—कीर्तन और नमस्कार आदि गौणी भक्ति के विषय में तीन ही पक्ष हो सकते हैं, एक यह कि सबको एक साथ किया जाय । दूसरा यह कि उनमें से कोई एक किया जाय, तथा तीसरा यह कि क्रम से सब किया जाय । और प्रथम पक्ष में यह दोष है कि साथ करने में एक भी यदि छूट जाय,

अप्रयोगाणां यथाकालसंभवो गृहादिवत् ॥ ७ ॥

कीर्तनस्मरणादीनां सहानुष्ठानम् विनाप्यन्यदेकस्यानुष्ठानं क्रमेण वानुष्ठानमिति त्रयः पक्षाः। तत्राद्ये कस्यचिदननुष्ठानेऽन्येषां निष्फलत्वप्रसङ्गः, द्वितीये विकल्पप्राप्तावर्थैक्यनियमः स्यात्। तृतीयस्त्वशास्त्रार्थः। तस्मादेतेषां मिथो व्यभिचारादहेतुत्वमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु सर्वाण्येव साधनानि प्रमाणसत्वात्, किन्तु सहानुष्ठाननियमो नास्ति प्रमाणाभावात्। तेषां तु गन्धधूपदीपनैवेद्यादीनामेकप्रयोगश्रवणं तेषामेव सहानुष्ठानम् तदितरेषां यथाकालं यथासंभवमनुष्ठानं गृहादाविव—यथा गृहसाधनतृणस्तंभाद्याहरणं कदाचिदेकदा कदाचित्क्रमश इति। न ह्येतावता तृणादीनामकारणत्वमायाति। तस्मात् यत् यादृशदुरितक्षयसमर्थं तेन तादृशदुरितक्षयं कृत्वा सर्वैः स्वसामर्थ्ये दर्शिते परभक्तिसिद्धिरिति तथा चोक्तम्—

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (गी० अ० ७।१९) इति

"ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि वली" ॥ ८ ॥

तेषु मध्ये यः कश्चिदतिशयानुष्ठानेन वलवान् भवति, स एकोऽपि परभक्तिं जनयित्वा परमेश्वरतुष्टये भवति। बहुतरशिथिलपरिचर्याभिरपि यथा नेतरः प्रभुस्तुष्यति, तुष्यति चैकेनापि निर्व्यलीकसन्ततकृतसंवाहनेन तद्वत् कीर्तिनाद्यन्यतमेनापि दृढतरसेवितेन भगवत्प्रसादाद्भगवद्भक्तिः प्राप्यते। यथा—

भाषा

तो अन्य सब निष्फल हो जायँगे, तथा दूसरे पक्ष में यह दोष है कि पराभक्ति में कीर्तन आदि अङ्गों से एक ही प्रकार का उपकार होगा, और वास्तविक में किसी से अल्प और किसी से विशेष उपकार होता है, तथा तृतीय पक्ष में यह दोष है कि जब उक्त वाक्यों में कीर्तन और नमस्कार साथ करने का विधान नहीं है, तब वह पक्ष प्रामाणिक नहीं है, इसी रीति से जब तीनों पक्ष दुष्ट हैं, तब गौणी भक्ति कैसे पराभक्ति का कारण है ?

उ०—"*अप्रयोगाणां यथा कालसंभवो गृहादिवत्*" (७) कीर्तन आदि जितनी गौणी भक्ति हैं, सभी पराभक्ति के कारण हैं, क्योंकि इस विषय में, अनन्तर ही प्रमाण दिखलाये जा चुके हैं, किन्तु विशेष इतना ही है कि जिन गन्ध, पुष्प, धूप, नैवेद्य आदि के दानों का प्रयोग (क्रम से करना) शास्त्र में कहा हुआ है, वे उसी क्रम से किये जायँगे। और उनसे अन्य कीर्तनादि यथाकाल और यथासंभव किये जायँगे। जैसे कि गृह बनाने के साधन तृण, स्तंभ आदि कभी क्रम से लगाये जाते हैं, और कभी पृथक् पृथक्, परन्तु इतने मात्र से स्तंभ, तृण आदि का गृह के प्रति कारण होना कहीं नहीं चला जाता, वैसे क्रम से करने, और पृथक् करने मात्र से कीर्तन आदि की पराभक्ति के प्रति कारणता नहीं नष्ट हो सकती किन्तु जैसे पाप का क्षय, जिस गौणी भक्ति से हो सकता है, वह उसका क्षय करती है। इस रीति से सब गौणी भक्तियों ने जब अपना अपना काम दिखला दिया तब पराभक्ति सिद्ध होती है।

"*ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि वली*" (८) और यह भी है कि जैसे शिथिल शिथिल अनेक सेवाओं से भी राजा आदि स्वामी सन्तुष्ट नहीं होते, और निश्छल होकर निरन्तर किये हुए एक ही पाद सम्वाहन

बुद्धियोगं समाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
(गी० अ० १८।५७) इत्यादि

तथा कालादिकृतमपि कस्यचिद्भलम् । यथा—
ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
(ब्र० पु० अ० ६७।१६६)

न च व्यभिचारः, बलवन्नत्वेकजन्यभक्तिं प्रति कीर्तनत्वादिना हेतुत्वादिति । ननु कीर्तनादीनामान्तरालिकानां सर्वेषामेव पावित्र्यं द्वारमुत केषांचित् अन्यदपीत्यत आह—

अबन्धोऽर्पणस्य मुखम् ॥ ६ ॥

भगवत्यर्पितशुभाशुभकर्मणां स्वफलाजननलक्षणो बन्धाभाव एव द्वारम् । यथा (शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः (गी० अ० ९।२८) इति
अर्पणमन्त्रोऽपि पुराणान्तरे—

कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥ इति ।

भाषा

से सन्तुष्ट हो जाते हैं, वैसे कीर्तनादि गौणी भक्तियों में से एक भी यदि दृढ़ रीति से निरन्तर की जाय तो वह पराभक्ति को उत्पन्न कर परमेश्वर की तुष्टि करती है । जैसा कि *"बुद्धियोगं०"* इस गीतावाक्य में केवल एक दृढ़ ध्यान ही से भगवान् की प्रसन्नता और मुक्ति भी कही हुई है । तथा कालवश से भी यह होता है कि एक ही गौणी भक्ति से पराभक्ति हो जाती है । जैसा कि *"ध्यायन्कृते०"* (सत्ययुग में भगवान् के ध्यान से, त्रेता युग में भगवान् के अश्वमेधादि यज्ञ से, तथा द्वापर युग में भगवान् की मूर्ति-पूजा से, जो फल होता है कलियुग में भगवान् के नाम-कीर्तन मात्र से वह फल होता है) इस वाक्य में कहा है ।

प्र०—क्या इन सब गौणी भक्तियों से अन्तःकरण की पवित्रता ही के द्वारा पर भक्ति होती है अथवा इनमें से कोई ऐसी भी है कि जिनसे पवित्रता छोड़ किसी अन्य के द्वारा भी पराभक्ति होती है ?

उ०—*"अबन्धोऽर्पणस्य मुखम्"* (६) सब गौणी भक्तियों में, एक अपने शुभाशुभ कर्मों का भगवान् में अर्पण रूपी गौणी भक्ति ही ऐसी है, कि जिसका द्वार, संसार-बन्ध का अभाव ही है, अर्थात् परमेश्वर में अर्पित शुभ कर्मों का फल स्वर्गादि और अशुभ कर्मों का नरकादि का भोग रूपी बन्ध, उस अर्पण करने वाले को नहीं होता, अर्थात् अर्पण से पराभक्ति होकर वह जीवन्मुक्त हो जाता है । जैसा कि गी० अ० ९ । *"शुभाशुभफलै०"* (२८) श्लोक में कहा है । और अर्पण करने का मन्त्र भी पुराणान्तर में कहा है कि *"कामतो०"* हे परमेश्वर ! ज्ञान वा अज्ञान से मैं जो शुभ वा अशुभ कर्म करता हूँ, वह सब आपको अर्पण करता हूँ क्योंकि आपकी इच्छा से मैं करता हूँ।

न चैवं स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः, तदर्पणबलेन पापाचरणाभावस्यापि तदङ्गत्वात्। तथा च स्मृतिः—'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेदि'ति। तस्मात् पावित्र्यम् तदितरविषयमेवेति तत्र शुभं कर्म स्वाश्रमविहितनित्यनैमित्तिकात्मकं बोध्यम्, सम्यगाश्रमपरिपालनाद्ब्रह्मलोकादिः फलं तत्प्राप्तौ मुक्तये विलम्बः स्यादिति बन्धः। ब्रह्मण्यर्पिते तु न तत्प्रसिद्धिः, एवं कर्मार्पणादज्ञानकृत-काम्यकर्मपापयोरपि पश्चादर्पणे फलाभाव एवेति। अत एव गौणीष्वेव विशेषश्चिन्त्यते। तत्र श्रुतिस्मृतिमध्ये यत्स्वरूपमुच्यते—

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः (छा० उ०) इत्यादि,

तथा—ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान्किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥ (नार० पंच० ११। पटले ७१)

इत्येवमादि, तत्र किमेवंविधेष्वेव ध्याननियमः पूर्णप्रादुर्भावादौ वा उत अश्रुतिविषयेष्वपि इति तत्र ध्येयस्वरूपश्रवणान्नियमप्राप्तावुच्यते—

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ॥ १० ॥

भाष्य०—ध्याने ध्येयनियमकथनं दृष्टसौकर्यार्थम्, नानाविषयत्वे चित्तविक्षेपसंभवात्।

भाषा

प्र०—यह तो बहुत अच्छा हुआ, क्योंकि अब अर्पण के बल से, पाप करने का अवसर मिला कि अपने मनमाना पाप कर परमेश्वर में अर्पण कर दे, तो कोई हानि नहीं है, तो ऐसे अर्पण की शिक्षा क्यों दी जाती है ?

उ०—"न वेद०" वेद के बल से पाप करने की इच्छा न करे, इस वाक्य के अनुसार यह निश्चित है कि अर्पण करने के भरोसे से जो न किया जाय, उसी पाप का अर्पण गौणी भक्ति है।

प्र०—ये जो ध्यान करने योग्य स्वरूप, '*य एषो०*' (आदित्य मण्डल के भीतर सुवर्णमय अर्थात् प्रकाश-रूपी पुरुष देख पड़ता है, जिसकी दाढ़ी और सब केश सुवर्णमय हैं) इत्यादि वेद-वाक्यों में तथा "*ध्येयः सदा*" (कमलासन पर बैठे, बिजायठ, मकराकृति कुण्डल, किरीट, और हार-धारण किये, तथा शंख, चक्र लिये, सूर्यमण्डल के मध्यवर्ती प्रकाशमय नारायण अवश्य सदा ध्यान करने के योग्य हैं) इत्यादि स्मृतिवाक्यों में कहे हैं, तो क्या उनके विषय में यह नियम है कि उन्हीं स्वरूपों का ध्यान करे अथवा यह नियम है, कि उनका और पूर्णब्रह्म तथा अवतारों ही का ध्यान करे, जो कि श्रुति और स्मृति में कहे हैं, कि वा कोई नियम नहीं है. अर्थात् जिस स्वरूप में चाहे परमेश्वर का ध्यान कर सकता है, ऐसे विचार में यही ठीक ज्ञात होता है, कि जो जो आलम्बन श्रुति और स्मृति में कहे हुए हैं, उन्हीं में परमेश्वर का ध्यान करने का नियम है क्योंकि नियम ही के लिये श्रुति और स्मृति में वे स्वरूप कहे गये हैं इसलिये अपने मनमाना किसी अन्य स्वरूप में, ध्यान करने से फल का लाभ नहीं हो सकता। परन्तु यह निर्णय पूर्वपक्ष ही है, और सिद्धान्त यह है कि—

"*ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात्*" (१०) श्रुति और स्मृति में जो ध्यान और ध्येय स्वरूप का

तस्मात् सौकर्यार्थमेव तत्कथनं ज्ञेयम्, अदृष्टार्थत्वे विकल्पादिप्रसङ्गात्। तस्मात् यथाश्रुतेषु व्यवस्था। अत एव गोपीनां शिशुपालादेश्च तन्नियमन्तरेणैव ध्यानस्य दुर्लभं फलमुपलब्धमिति।

सुकृतजत्वात्परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः ॥ १९ ॥

भक्तयः सर्वकर्मसु श्रेयस्य एव। कुतः? परभक्तिहेतुत्वात्, इतरधर्मजन्यत्वाच्च। यथा—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।

(गी० अ० ४।१०) इति

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥ इति च।

अत्र च भावशब्दो भक्तौ प्रयुक्तः—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥ (गी० अ० ७।१६)

अत्रोक्तानुगवद्भक्तीनां पूर्वसुकृतजन्यत्वाधास्तेभ्यो मुख्याः। एतेन भक्तिमीमांसायामासां विचारो युज्यते न कर्ममीमांसायामित्युक्तम्।

इदानीमार्तभक्तो विशेषतश्चिन्त्यते—

स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात् ॥ २० ॥

स्मरणकीर्तनकथानमस्कारादेरार्तभक्तौ निवेशः तत्तत्पापकृतनरकाद्यार्तिमतां तत्तत्पाप-

भाषा

नियम कहा हुआ है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हीं स्वरूपों में ध्यान करने से कोई अदृष्ट फल होता है, किन्तु उपासना (ध्यान) की सुगमतारूपी दृष्ट ही फल के लिए, वे नियम कहे हुए हैं, और वह सुगमता यह है कि सभी पदार्थों में इस कारण परमेश्वर का ध्यान हो सकता है, क्योंकि वह सर्वव्यापी हैं, इस कारण से अनेक विषयों में उनका ध्यान करने से चित्त की चञ्चलता होती है, इस लिये परमेश्वर के ध्यानार्थ, स्वरूपों का नियम किया गया है, इसी से गोपियों को भी कृष्ण भगवान् में केवल प्रिय-बुद्धि ही से, और शिशुपालादि को केवल शत्रु बुद्धि ही से वह फल मिला जो कि श्रुति और स्मृति से कहे हुए *नियम पूर्वक ध्यान से मिलता है।*

"*सुकृतजत्वात् परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः*" (१९) कीर्तन आदि पूर्वोक्त गौणी-भक्तियाँ, धर्मरूपी अन्य सब क्रियाओं से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इनसे पराभक्ति उत्पन्न होती है, तथा पूर्व में किये हुए, अनेक धर्मों के ये भक्तियाँ फल हैं जैसा "*बहवो ज्ञान०*" ज्ञान और तपस्या (गौणी भक्ति) से पवित्र होकर बहुत लोग मुझमें भक्ति को पा चुके। यह गीता में कहा हुआ है, और यह भी गीता ही में कहा है कि "*चतुर्विधा०*" हे अर्जुन! चार प्रकार के धर्मात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं यहाँ भजन में सुकृत (धर्म) कारण कहा हुआ है जिससे यह स्पष्ट है कि भजन धर्मों का फल है। भक्तों के अनन्तरोक्त चार प्रकार जो गीता में कहे हुए हैं कि "*आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी*" अर्थात् दुःखी, तत्त्वज्ञान चाहने वाला, पुत्र स्वर्गादि फलार्थी और ज्ञानी। इनमें प्रथम भक्त अर्थात् आर्त के विषय में भक्ति सूत्रों से कुछ विचार किया जाता है, कि—

"*स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात्*" (२०)

स्मरण, कीर्तन, कथा श्रवण और नमस्कार आदि का आर्त-भक्ति में समावेश होता है, क्योंकि

क्षये हेतुत्वेन कथनात् । यथा—

पापे गुरूणि गुरुणि लघूनि च लघुन्यपि ।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः ॥
(वि० पु० अं० २ अ० ६।३२।३३)
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥ इति ।
तथा—यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् ।
मैत्रेयाखिलपापानां धातूनामिव पावकः ॥
(वि० पु० अं० ६ अ० ७।६) इति
सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा ॥
पाविताङ्गाः सुसंवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥
(भा० शा० मो० अ० ३४५) इति

तस्मात् युक्तमार्त्तौ निवेशनमिति ।

भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि ॥ २१ ॥

स्यादेतत्; न्यायविरोधादेतद्वचनानां स्वल्पपापविषयत्वमेव युक्तमन्यथा भूयः क्लेश-

भाषा

पापों की, की हुई नरकादि आर्त्ति (दुःख) वालों के लिये स्मृतियों में स्मरण आदि, प्रायश्चित्त (पापों के क्षयकारी) कहे हुए हैं जैसे कि "*पापे गुरूणि०*" हे मैत्रेय! मनु आदि शास्त्रकारों ने बड़े और छोटे पापों के नाशार्थ बड़े और छोटे प्रायश्चित्तों को कहा है, और वे सब प्रायश्चित्त तप अर्थात् व्रतादि क्लेशरूपी अथवा जपादि कर्मरूपी हैं, परन्तु उन सब प्रायश्चित्तों में कृष्णानुस्मरण मुख्य है, तथा "*यन्नाम०*" हे मैत्रेय! जैसे सुवर्णादि धातुओं के मलों को अग्नि नाश कर देते हैं, वैसे परमेश्वर का नामोच्चारण, पापों का अद्वितीय नाशक है। तथा—"*सर्वाश्रमा०*" हे सौते! ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों का क्रम से धारण करना, और सब तीर्थों में यात्रा और स्नान करना, वैसा फल नहीं देता जैसा कि नारायण की कथा देती है, सब पापों को नाश करने वाली, इस नारायण की कथा को आदि से सुनकर हम पवित्र हो गये।

प्र०—यदि कीर्तन आदि मात्र से पापों का नाश हो जाय, तो महाक्लेश से साध्य प्रायश्चित्तों के उपदेश करने वाले धर्मशास्त्र के वाक्य व्यर्थ ही हो जायँगे क्योंकि कीर्तन आदि रूपी सहज उपाय को छोड़ कर उन प्रायश्चित्तों को कौन करेगा? इसलिये पूर्वोक्त वचन छोटे छोटे पापों ही के लिये हैं, यही न्याय है, तब बड़े पापों से अत्यन्त दुःखियों के लिये भगवद्भक्ति अर्थात् कीर्तन आदि क्या उपकार सकते हैं?

उ०—"*भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि*" (२१) पूर्वोक्त वाक्यों में कीर्तन

साध्यानामननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यमिति येन तेषामामरणमभ्यासभवयाक्लेशाधिक्यात्। यथा—

तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन्पुरुषो मुने।
न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलकल्मषः॥
(वि० अं० २ अ० २६)

इत्यनेन सातत्योपसंहारात् उपक्रमोपसंहारयोरेकार्थत्वादिति भावः। न चोपक्रमे कालः श्रूयते, येन तद्विरोधादुपसंहारस्यान्यार्थताऽपि भवेत्। तथा च क्लेशसाम्यादितरेषां नाननुष्ठानाप्रामाण्यम्।

अत एवान्यत्रापि—

किङ्करा दण्डपाशौ च न यमो न च यातना।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनः सदा॥ ३४॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्।
नाशौचं विद्यते तस्य स पवित्रकरो यतः॥ ३५॥
(वि० प्र० अं० ३ अ० ७)

इत्यादिना सातत्यमुक्तमिति।

अथ गौण्योऽपि साक्षान्मुक्तिं जनयन्तु को दोषस्तत्राह—

परां कृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह॥ ३०॥

परां भक्तिं कृत्वैव सर्वेषां मुक्तावुपयोगः। तथा हि सहेतुकं भगवानाह—

भाषा

आदि से सब पापों का नाश कहा हुआ है, और उसका तात्पर्य यह नहीं है कि दो चार बार कीर्तन करने से महापातकों का नाश हो जाता है, किन्तु यह तात्पर्य है कि कीर्तन आदि का मरण-पर्यन्त अभ्यास करने से महापातकों का भी नाश हो जाता है, जैसा कि उन वाक्यों के अनन्तर यह वाक्य है, "*तस्मादहर्निशं०*" हे मुने! पूर्वोक्त कारणों से जो मनुष्य अहर्निश विष्णु का स्मरण करता है वह नरकको नहीं जाता, क्योंकि सब पापों के नाश होने से वह शुद्ध हो जाता है तथा "*किङ्करा०*" यम के दूत दण्ड, पाश, नरक यातना, और स्वयं यम भी उसका कुछ नहीं कर सकते कि जिस मनुष्य का मन केवल नारायण ही में सदा मग्न रहता है, जो मनुष्य नारायण का नाम सदा सब स्थानों में उच्चारण करता है, वह कदापि पापों से अपवित्र नहीं होता क्योंकि वह दूसरों को भी पवित्र करने वाला है।

प्र०—इन गौणी-भक्तियों से क्यों पराभक्ति उत्पन्न होती है, ! क्या ये गौणी भक्तियाँ साक्षात् मुक्ति को नहीं उत्पन्न कर सकतीं ?

उ०—"*परां कृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह*" (३०) पराभक्ति के द्वारा ही गौणी-भक्ति और ज्ञान आदि सब उपाय, मोक्ष के उपयोगी होते हैं जैसा कि युक्ति के साथ भगवान् ने गीता ही में कहा

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥

(गी० अ० १८।६८) इति

अत्र 'एतद्धर्मस्योपदेशफलमपि ब्रह्मभावापत्ति' रित्येतावताऽर्थसिद्धौ 'भक्तिं मयि परां कृत्वेति' किमर्थमाह ? तस्या मोक्षसाधनत्वेन श्रुतत्वात् । अत एवोपरिचरस्य वसोः 'आत्मा राज्यं धनं च' (भा० शा० अ० ३३७) इत्यादिना परमेश्वरानुरक्तिरूपाया भक्तेर्लिङ्ग-दर्शितमिति स्वतः प्रयोजनत्वाभावात्सर्वेषां मोक्षहेतुत्वेन सुश्रुतानां परभक्तिजननेन मुक्ता-वुपयोग इत्याशय उन्नीयते । न चोभयजनकत्वं तेषां कर्मत्वेन मोक्षाजनकत्वात् । एवं च दृष्टार्थता भवति वाक्यस्येति । अत्रेदं बोध्यम्—गौणभक्तीनां साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावादेव ।

चतुर्णां संनिधानेन यत्फलं तदशाश्वतम् ।
द्वयोस्तु संनिधानेन शाश्वतं प्राप्यते फलम् ॥

इति स्मृतिरपि सङ्गच्छते । आत्मान्तःकरणबाह्यकरणप्रतिमानां सन्निधानेन हि गौण्य एव भक्तयोऽनुष्ठीयन्ते । तासां च कर्मात्मकत्वान्न साक्षान्मोक्षरूपशाश्वतफलजनकत्वम्, "नास्त्यकृतः कृतेने" ति श्रुतेः । द्वयोस्त्वात्मान्तःकरणयोः सन्निधानेन पराभक्तिरेव जायते । तस्यास्तु मोक्षफलत्वमुपपादितमेव श्रुतिस्मृतिन्यायैः । एवञ्च पूर्वोपन्यस्तायाः—

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु
पूजा विभोः पुनर्भवकरी मुमुक्षोः ।

भाषा

है कि—"*य इमं*" जो मनुष्य इस गीता शास्त्र के तात्पर्य को मेरे भक्तों के लिये सुनावेगा वह मुझमें पराभक्ति पाकर निस्सन्देह मोक्ष पावेगा । इस वाक्य में 'पराभक्ति को पाकर' यह इसीसे कहा गया कि पराभक्ति ही एक मात्र मोक्ष का उपाय है, और गौणी भक्तियाँ जब कि क्रिया रूपी हैं तब उनसे साक्षात् मोक्ष नहीं हो सकता जैसा कि '*न कर्मणा न प्रजया०*' यह श्रुति है, जो पूर्व में उद्धृत हो चुकी है ।

अब यहाँ ध्यान देना चाहिये कि गौणी-भक्तियों से मोक्ष साक्षात् नहीं होता इसी से '*चतुर्णां*' आत्मा, मन, इन्द्रिय, और प्रतिमा इन चारों के मेल से जो फल होता है, वह अनित्य होता है, और आत्मा तथा मन इन दो ही के मेल से जो फल होता है वह अक्षय होता है । यह स्मृति है, क्योंकि चारों के मेल से कीर्तन आदि गौणी-भक्ति ही की जाती हैं, जो क्रिया-रूपी होने से मोक्ष को नहीं उत्पन्न कर सकतीं, जैसा कि अभी कहा जा चुका है और केवल दो ही के मेल से पराभक्ति होती है जिससे कि मोक्ष-रूपी अक्षयफल का साक्षात् लाभ होना श्रुति, स्मृति और युक्ति से भली भाँति प्रतिपादन हो चुका है ।

प्र०—"*पाषाणलोह०*" यह श्रुति प्रतिमा पूजन के (३) संख्या के प्रमाण में कही जा चुकी है और इस का अर्थ भी वहीं कहा जा चुका है, जिस का सारांश यह है कि "मोक्ष चाहने वाले के

तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्यात्
बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥

इति यजुर्वेदमैत्रायणीयशाखाश्रुतेरपि बाह्यार्चने परमक्तिमिश्रफलकामनाप्रसङ्गसंभावनया बन्धप्रसङ्गनिवारणमात्रे तात्पर्यम्। वस्तुतस्तु यतिकर्तृकमानसलिङ्गार्चनस्तुतिपरा, शब्दविधया यतेर्बाह्यार्चननिषेधपरैव येयम्। न जातु गौणभक्तेः परमभक्तिहेतुता निषेधपरा। किञ्च-

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥

(भा० ७ स्क० अ० ९ श्लो० ५०) इति।

प्रह्लादेन सत्यपि ज्ञानादौ गौणीभक्तीरन्तरा परमभक्तेरलभ्यत्वमुक्तम्। प्रणिपातः स्तुतिः, सर्वकर्मार्पणम्, परिचर्या, चरणस्मृतिः, कथाश्रवणं चेति षडङ्गान्यप्युक्तानि। पट्त्वे च न पर्यनुयोगावसरः, विभावकेच्छाया एव तत्र तन्त्रत्वात्। अत एव तत्र ११ स्कन्धे १४ अध्याये-

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८ ॥

भाषा

लिये पाषाणादिक के प्रतिमा में परमेश्वर का पूजन बन्धकारी होता है, इस लिये यति (संन्यासी) उसको न करै, किन्तु मानस लिङ्ग का पूजन करै" इस से यह स्पष्ट निकलता है कि प्रतिमा-पूजन बन्ध ही का कारण है। तो ऐसी दशा में प्रतिमा-पूजन आदि गौणी भक्तियों को पराभक्ति के द्वारा मोक्ष का कारण कहना इस श्रुति से विरुद्ध क्यों नहीं है ?

उ० १—इस उक्त श्रुति का इतना ही तात्पर्य है कि पराभक्ति अन्य फल की कामना से यदि प्रतिमा-पूजन किया जाय तो उस पूजन से बन्ध ही होता है, इस लिये पुत्रस्वर्गादि फल की कामना से प्रतिमा पूजन, मोक्ष चाहने वाले को नहीं करना चाहिये।

उ० २—अथवा यति के मानस-लिङ्ग की पूजा के विषय में इस श्रुति से प्रशंसा मात्र किया गया है न कि यति से अन्य के लिये प्रतिमा-पूजन का निषेध है। इसी से श्रीमद्भागवत के ७ स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट ही कहा है कि "ज्ञान और योग आदि के सिद्ध होने पर भी गौणी भक्तियों के बिना पराभक्ति नहीं हो सकती" जैसा उनका यह श्लोक है कि—

"तत्तेऽर्हत्तम०" हे अर्हत्तम ! (नृसिंह) पूर्वोक्त रीति से यह सिद्ध है कि नमस्कार, स्तुति, सब कर्मों का आप में अर्पण, पूजन आदि सेवा, आप के चरणों का स्मरण, आप की कथा का श्रवण इन ६ अङ्ग-रूपी गौणी-भक्ति के विना, क्या कोई आप में पराभक्ति पासकता है ? कदापि नहीं। तथा ११ स्कन्ध अ० १४ में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है कि—"बाध्यमानो" इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयों में अनुरक्त हुआ भी, मेरा भक्त प्रायः अपनी प्रबल-भक्ति के प्रताप से पुनः विरक्त

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात् ॥ २१ ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसाऽन्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः ॥२३॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४ ॥
यथाऽग्निना हेममलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥
तथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तुसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

भाषा

ही हो जाता है ॥ १८ ॥

हे, उद्धव ! जैसे परम प्रज्वलित अग्नि, काष्ठों को भस्म कर देता है, वैसे मेरी भक्ति सब पापों को नाश कर देती है ॥ १९ ॥ योग, सांख्य, वेदाध्ययन, तप, त्याग, और अन्यान्य धर्म मुझको वैसा प्रसन्न नहीं कर सकते जैसा कि मेरी भक्ति मुझको प्रसन्न करती है ॥ २० ॥ मैं सज्जनों का प्रिय और सब प्राणियों का आत्मा हूँ, तथापि एक पराभक्ति ही से मुझे कोई पा सकता है, और मेरी पराभक्ति नीच से नीच को भी पवित्र कर देती है ॥ २१ ॥ मेरी भक्ति से शून्य आत्मा को सत्य, और दया के सहित धर्म अथवा तप के सहित विद्या भी पूर्ण पवित्र नहीं कर सकती ॥ २२ ॥ रोम-हर्ष, पिघलता हुआ मन और आनन्द की अश्रु-कला से उपलक्षित भक्ति के विना मन कैसे शुद्ध हो सकता है ? ॥ २३ ॥ जो मेरा भक्त स्नेह से गद्गद वाणी बोलता है और जिसका चित्त भक्ति से पिघलता है, तथा जो कभी रोता, कभी हँसता, और कभी नाचता रहता है, वह जगत् को पवित्र करता है ॥ २४ ॥

जैसे अग्नि में तपाया हुआ सुवर्ण, सब मलों को छोड़ अपने वास्तविक रूप को प्राप्त होता है वैसे ही मेरी भक्ति से परिपक्व आत्मा सब पुण्य और पापों को फटकार कर अपने वास्तविक रूप अर्थात् मुझ को प्राप्त होता है ॥२५॥ मेरी कथा श्रवण आदि के अभ्यास करने से ज्यों ज्यों आत्मा पवित्र होता जाता है, त्यों त्यों जैसे सिद्धाञ्जन के लगाने से नेत्र सूक्ष्म वस्तुओं को देखने लगता है, वैसे वह सूक्ष्म वस्तुओं को देखता है ॥ २६ ॥

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७ ॥

इति भगवतैवोक्तम् । एवम्—

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्तुं न जानाति पातकं पातकी नरः ॥
सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥

इत्यादीनामपि यथा नाध्यारोपप्रशंसाऽर्थवादत्वं तथोपरिष्टात्स्फुटीभविष्यति । कीर्तनाद्यनुष्ठानबलेन पापाचरणस्याभावोऽपि च कीर्तनादेरङ्गम् "न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेद्"विस्मरणात् अर्चनादिना चार्चकादीनामेवोपकारो न तु भगवतः। तथा चोक्तं भगवतैव—

कृतकृत्यस्य तृप्तस्य मम किं क्रियते नरैः ।
बहिर्वाऽभ्यन्तरे वाऽपि मया भावो हि गृह्यते ॥ इति ।

भाषा

जैसे कामिनी आदि रमणीय विषयों को निरन्तर ध्यान करते करते उन विषयों में मन लीन हो जाता है, वैसे ही मुझको निरन्तर ध्यान करते करते मुझ ही में मन लीन हो जाता है॥२७॥ तथा अन्य वाक्य भी इस विषय में प्रमाण हैं जैसे कि:—'*नाम्नोऽस्य०*' भगवान् के नाम का निरन्तर, उच्चारण, जितने पापों का नाश कर सकता है, चाहे कितना बड़ा भी पापी हो परन्तु उतना पाप करना जान भी नहीं सकता है ॥'*सर्वपाप०*' सब पापों को कर के भी यदि पुनः पाप करना छोड़ दे, और निमेषमात्र भी भक्ति से परमेश्वर का ध्यान करे, तो वह पुनः तपस्वी और पङ्क्तिपावनों का भी पावन हो जाता है।

"*सकृदु०*" जिसने परमेश्वर को ध्यान कर 'हरि' इन दोनों अक्षरों को एक बार भी कह दिया वह मानो मोक्ष जाने के लिये, कटिबद्ध हो गया। इस प्रकार से बहुत से मामाणादि के वाक्य हैं जिनको कहाँ तक लिखें, और यह बात आगे चलकर स्पष्ट हो जायगी कि ये सब वाक्य प्रशंसा-मात्र नहीं हैं, किन्तु इनका प्रत्येक अर्थ सत्य ही है। यह कदापि ध्यान नहीं करना चाहिये कि पूजनादि से परमेश्वर का कुछ भी उपकार होता है, जिस से कि वह प्रसन्न होते हैं अथवा परमेश्वर के विषय में किसी अत्याचार से उनका कुछ भी अपकार होता है कि जिससे वह अप्रसन्न होते हैं, क्योंकि परमेश्वर ने स्वयं ही कहा है "*कृतकृत्यस्य*" मैं कृतकृत्य (मुझे कुछ करना नहीं है) हूँ, इसी से मेरा कोई बाह्य कार्य नहीं है कि जिससे कोई मेरी सहायता करे और तृप्त (स्वयं आनन्द रूपी होने से अपने लिये मैं कुछ इच्छा नहीं रखता) हूँ इसी से भीतरी कार्य भी मेरा कुछ नहीं है जिसमें कि कोई मुझे सहायता दे, मैं केवल भाव (भक्ति) देखता हूँ। श्रीमद्भागवत के ७ में स्कन्ध में प्रह्लाद ने भी कहा है कि—

प्रह्लादेनापि—नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥

(भा० स्क० ७। ११) इति।

अत्र यथा दर्पणप्रतिबिम्बिते मुखादौ यदि तिलकादिकृता श्रीरपेक्ष्यते तदा बिम्बभूते मुखादावेव सा समर्पणीया। सा च प्रतिबिम्बे स्वयमेव प्रतिफलति न त्वन्यः कोऽपि प्रतिबिम्बे तादृशश्रीसंपत्तावुपायोऽस्ति। तथा बिम्बभूते ईश्वरे समर्पितमेव तत्प्रतिबिम्बभूतो जीवो लभत इति जीवस्य पुरुषार्थलाभेनास्त्युपायान्तरमिति दृष्टान्ततात्पर्यमिति।

अत्रेदमवधेयम्—संसारमूलभूतोऽपरोक्षोऽनात्मन्यात्माध्यासोऽनादिभवपरम्परोपार्जिता-सङ्ख्यदुर्वासनाप्रभावोपबृंहितमूलो न तमां परोक्षेण सहस्रेणाप्यात्मतत्वज्ञानानां चालयितुमपि शक्यते, किमुतोन्मूलयितुम्। किंतु आत्मतत्वसाक्षात्कारेणैव। तथा च साङ्ख्यदर्शनसूत्रम्—

'युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते' इति।

भाषा

"नैवात्मनः०" इसका अक्षरार्थ यह है कि करुणावरुणालय स्वयं परिपूर्ण यह प्रभु (परमेश्वर) इस अज्ञानी और दरिद्रजन से अपना मान (सत्कार) कदापि नहीं चाहते। यह जन परमेश्वर के अर्थ जो जो मान करता है, वह सब अपने लिये करता है, जैसे मुख की श्री (तिलकादि शोभा) प्रतिबिम्ब के लिये होती है। तात्पर्य इसका यह है कि यदि कोई चाहे कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख पर तिलक की शोभा ले आ दूँ तो बिम्ब (मुख) में तिलक लगाये बिना अन्य किसी उपाय से वह मुख के प्रतिबिम्ब में तिलक की शोभा कदापि नहीं ले आ सकता, और जब मुख में वह तिलक लगा देता है तब आप ही आप प्रतिबिम्ब में तिलक की शोभा हो जाती है। ऐसे ही मायारूपी दर्पण में चैतन्यरूपी ईश्वर का प्रतिबिम्ब रूपी जीव, अपने बिम्बरूपी ईश्वर में समर्पण किये हुए शुभ फल को पाता है। और दूसरा कोई उपाय शुभ फल पाने का नहीं है, तथा इसी से ईश्वर में किसी को शुभ फल देने के कारण विषमता दोष नहीं है, क्योंकि जो जैसा शुभ वा अशुभ समर्पण करेगा वह वैसा ही पावेगा।

अब यह ध्यान करना चाहिये कि असंख्य जन्मों के अनादि, प्रबल-दुष्ट वासनाओं से अत्यन्त दृढ़, अनादि अविद्या रूपी मूल से उत्थित सब सांसारिक दुःखों का निदान, जो यह शरीर आदि में आत्मा का भ्रम है, वह प्रत्यक्ष रूपी है, इसी से श्रुति, स्मृति, आदि उपदेशों से उत्पन्न अनुमानादि रूपी सहस्रों तत्वज्ञान भी उसे हिला भी नहीं सकते, उसके नाश करने की आशा तो तत्वज्ञानों से कदापि नहीं की जा सकती, किन्तु आत्मतत्व का प्रत्यक्ष रूपी ही ज्ञान इस भ्रम को नाश कर सकता है, जैसा कि सांख्यदर्शन में कपिलमहर्षि का यह सूत्र है कि—

"युक्तितोऽपि" अर्थात् उपाधि मूलक, प्रत्यक्ष भ्रम, अनुमान और तर्करूपी युक्तियों से कदापि

नाप्युपाधिमूलैः प्रतिबिम्बादिविभ्रमैः कवलिते विषये श्रवणादिसहस्रसहायसधीचीनाऽपि तत्त्वमस्यादिश्रुतिस्तादृशभ्रमनिदानमूलमुपाधिमनपसारन्ती कथमप्याधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारमुपजनयितुमीष्टे। तथा च भक्तिदर्शनभाष्ये "न हि निपुणदर्शनेनाप्युपाधियोगे, स्फटिकलौहित्यभ्रमनिवृत्तिरस्ती"ति। एवं च संसारमूलभूतस्यान्तःकरणोपाधेर्भगवदनुग्रहमन्तरेणातितरामेव दुर्निरसत्वात्तदनुग्रहजननी भक्तिर्मायामयान्तरायसहस्रानायासापनोदनद्वारेण श्रवणादिषु साधनेषु तत्त्वसाक्षात्कारोपजननशक्तिमुपचेजयन्ती तत्त्वसाक्षात्कारे नियमतोऽपेक्ष्यते। भक्तीतराणि साधनानि हि प्रत्यूहव्यूहैरपोह्यमानानि तदाननावलोकनपरायत्तानि न तां विना स्वात्मानमपि धारयितुं प्रभवन्ति, द्रागेव तु तत्त्वसाक्षात्कारमुपजनयितुम्। यत्र हि मृत्युसंसारसागरे परमसङ्कुसुकानामपि मखभुजानामातरकल्पेषु लघीयस्स्वपि स्वस्वभागेषु निर्भरलोलुभा देवा अपि तत्त्वसाक्षात्कारसाधनानि बहुधा विघ्नन्ति किमुत पराञ्चो विषयाः।

तथा च बृहदारण्यकोपनिषदि—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद यथा पशुरेवꣳ स

भाषा

नहीं हटता, किन्तु यथार्थ प्रत्यक्ष ही से वह नष्ट होता है, जैसे दिङ्मोह (दिशाभ्रम) यथार्थ प्रत्यक्ष के बिना सूर्यादिदर्शन रूपी किसी युक्ति वा उपदेश से नहीं मिटता। और यह भी नहीं है कि उपाधिमूलक, उक्त भ्रम से कवलीकृत आत्मा रूपी विषय में सहस्रों श्रवण, मनन, निदिध्यासन की सहायताओं को पाकर भी भ्रम के मूल उपाधि को हटाये बिना "तत्त्वमसि" (तू वह अर्थात् परमात्मा है) आदि वेदवाक्य भी आत्म-तत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं। इसी से पण्डित स्वभेश्वर ने भक्तिदर्शन के भाष्य में कहा है कि "धूप में स्थित स्फटिक मणि में ऊपर धारण किये हुए जपापुष्प (अड़हुल) की रक्तता का जो भ्रम होता है वह चाहे कितनी भी कड़ी दृष्टि से देखें, तो कुछ भी नहीं हटता किन्तु जपापुष्प के हटाने ही से हटता है"। इससे अब सहज में यह सत्य बात निकल पड़ी कि जन्म, मृत्यु आदि अनेक क्लेशों से भरे हुए इस संसार के मूलभूत मायारूपी उपाधि के हटाने ही से शरीरादि में आत्मा का भ्रम हट सकता है, और उसके हटने से मोक्ष हो सकता है, परन्तु परम समर्थ श्रीपरमेश्वर के बिना, कोई ऐसा नहीं है जो मायारूपी उपाधि को हटा सके, तथा परमेश्वर के अनुग्रह का कारण भी पराभक्ति से अन्य कोई नहीं है, किन्तु वही एक ऐसी है, जो मायाकृत सहस्रों विघ्नों को नाश करती और श्रवण आदि साधनों की शक्तियों को भड़काती हुई, तत्त्व साक्षात्कार के लिये अवश्य अपेक्षित है। और योग, श्रवण आदि उपाय तो सहस्रों विघ्नों की मार पड़ने से दुर्दशा में पड़ कर भक्ति ही के मुख को देखते हैं, अर्थात् भक्ति के बिना ये तृण को भी टेढ़ा नहीं कर सकते, तत्त्व साक्षात्कार उत्पन्न करने की आशा तो इनसे बहुत ही दूर है। (भला जब कि) इस संसारसागर में यज्ञरूपी बेड़ा के भागरूपी मलाही के परम लोभी होकर इन्द्रादि देवता भी तत्त्व साक्षात्कार के प्रत्येक उपायों पर अनेकानेक विघ्न करने में कटिबद्ध रहते हैं, और विषयों की आकर्षणशक्ति से उत्पन्न विघ्नों की तो गणना ही नहीं हो सकती जैसा कि—

"अथ योऽन्या०" (जो परमेश्वर से अन्य देवता को अपने से अन्य समझकर उसकी उपासना करता

देवानां यथाह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेतेषां तन्न प्रियं यदेत मनुष्या विद्युः इति ॥

भगवान् कात्यायनोऽपि—

देवानां प्रिय इति च मूर्खे इति ।

तत्राकारणकरुणावरुणालये निखिलभुवनसृष्टिस्थितिप्रलयलीले भगवति भक्तिं विना कोऽन्य उपायो मोक्षस्य संभावनापथमप्यधिरोढुमीशीतेत्यत्र कथनीयमेव किम्। भगवदाश्रयणेन सकलविघ्ननिवारणद्वारा तत्त्वसाक्षात्कारे जाते तु देवानामपि न विघ्नापादनशक्तिः किमुतापरेषाम्। तथा च तत्रैव श्रूयते—

य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इद ँ सर्वं भवति तस्य ह न ।
देवाश्च नाभूत्यायीशित आत्मा ह्येषा ँ स भवति इति ॥

अत्राभूतिरजन्ममोक्ष इति यावत् । अत एव खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षमिश्राः—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयत्रतत्राणां द्वित्राणां यदि जायते ॥ इति ॥

मदीये नारायणकाव्येऽपि—उपाध्यपायं विना न भ्रमक्षयो
यथाऽरुणस्य स्फटिके जपाजुषः ।

भाषा

है वह उन देवताओं का पशु है अर्थात् जैसे एक एक मनुष्य का काम गौ, अश्व आदि अनेकानेक पशु करते रहते हैं, तब भी एक पशु के निकल जाने से मनुष्य को खेद होता है, वैसे ही यज्ञ, श्राद्ध आदि कार्यों के करने वाले मनुष्य, देवता और पितर के पशु हैं । इसी से यदि एक मनुष्य भी तत्वज्ञानी हो जाय, तो देवता आदि को खेद होता है, क्योंकि तब तो कर्म-काण्ड के जंजाल से वह मनुष्य छूट जाता है, यह बृहदाहरण्यक उपनिषद् का वाक्य है । और इसी से मनुष्य, सब श्रुति और स्मृति में देवता और पितर के ऋणी कहे जाते हैं । तो इसी दशा में देवता और पितर कब चाहेंगे कि उनका ऋणी मनुष्य, ऋण न देकर तत्वज्ञानी होने के कारण उनके ऋण से छूट जाय । तथा कात्यायन महर्षि ने भी कहा है कि—

"*देवानां*" मूर्ख को "*देवानां प्रिय*" कहते हैं क्योंकि मूर्ख (अज्ञानी) ही यज्ञ आदि कर्म करने से देवताओं का प्रिय होता है । (तब ऐसी दशा में) यह कहना ही क्या है कि "विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार भी, जिसकी इच्छामात्र से होते हैं, ऐसे सर्वशक्ति और करुणामूर्ति श्री परमेश्वर में भक्ति के बिना मोक्ष के लिये कोई अन्य उपाय नहीं है जैसा कि—

"*य एवं*" ज्ञानी-भक्त के मोक्ष को देवता भी नहीं वारण कर सकते, क्योंकि वह देवताओं का आत्मा हो जाता है । और यही बात पण्डित श्री हर्ष मिश्र ने खण्डन-खण्ड खाद्य में "*ईश्वरानुग्रहादेषा०*" इस श्लोक से तथा मैंने भी अपने नारायण काव्य के "*उपाध्यपायं*" इस श्लोक से कहा

न तुष्यतः स्याद्विस्मृतः स शोच्यते
स्वयैव भक्त्येति मवेदसौ परा ॥
(स० १ श्लोक ३९) इति

एतदभिप्रेत्यैव वातरशनो भगवान्कविः भागवते ११ स्कन्धे—

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥
शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥ ४१ ॥

विवृतं चैतद् गीतागूढार्थदीपिकाया उपोद्घात एव मधुसूदनस्वामिना—

भाषा

है । और इसी पूर्वोक्त अभिप्राय से वातरशन (नग्न) भगवान् कवि ने भागवत के ११ वें स्कन्ध के २ अध्याय में कहा है कि—

"मन्ये कुत०" मैं परमेश्वर के चरणारविन्द के नित्य उपासन ही को सब विघ्नों का नाशक मानता हूँ, जिससे कि संसार दुःखों का भय सर्वथा निवृत्त हो जाता है ।

नारायण के जन्मों और कर्मों को श्रवण करते तथा उनके नामों तथा उनके विषय के गीतों को गाते, निर्लज्ज होकर अकेला विचरे । ऐसा ही करते करते अनुराग के प्रताप से जब उस भक्त का मन पिघल जाता है, तब लोक से बाह्य होकर उन्मत्त के तुल्य अकस्मात् हँसता, रोता, बकता और नाचता रहता है । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि ज्योति, अन्यान्य प्राणी, पूर्वादि दिशा, वृक्षादि स्थावर, नदियों और समुद्र जो कुछ पदार्थ हैं इन सबको अपने से अभिन्न समझ कर प्रणाम किया करे ।

गीता गूढार्थ-दीपिका के उपोद्घात में श्री मधुसूदन सरस्वती स्वामी ने भी कहा है कि—

तथाहि—निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना।
निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः।
अन्ते व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा।
सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्।
अन्यथा विघ्नबाहुल्यात् फलसिद्धिः सुदुर्लभा॥ इति।

अथात्र 'यस्य देवे पराभक्ति' रिति श्रुतौ देवपदस्य भगवत्परत्वं मधूसूदनाभिप्रेतम्। तच्च 'देवभक्तिरितरस्मिन्साहचर्यात्' (भ० मी० अ० १ आ० २ सू० ८) इति पूर्वोक्तन्यायेन विरुद्धम्। तत्र देवपदस्य भगवदन्येन्द्रादिपरताया व्यवस्थापितत्वात् इति चेत्—सत्यम्, तथापि ज्ञानसाधनानुष्ठानविघ्ननिवारणार्थिना कृता गौणीभक्तिर्ज्ञानोपयोगिनीत्यत्र तात्पर्यम्। सूत्रकृता तु परभक्तेर्ज्ञानं प्रत्यङ्गत्वं निराकुर्वता तथोक्तम्। अत एवाविद्याया मलविक्षेपावरण-

भाषा

"यस्य देवे०" इस वेद-वाक्य ने स्वयं कहा है कि "जिसकी मुख्य भक्ति श्री परमेश्वर और गुरु में तुल्य होती है, उस महात्मा को उपनिषदों के वास्तविक अर्थ प्रकाशते हैं" इससे यह निश्चित है कि ज्ञान और योग सिद्ध करने में मन, वचन, कर्म से भगवद्भक्ति का उपयोग है। और भगवद्भक्ति, उक्त अभ्यास करने वाले की पूर्व पूर्व भूमिका सिद्ध कर उसको अग्रिम अग्रिम-भूमिका में अधिकारी बनाती है, और यदि भगवद्भक्ति नहीं करता तो अनेकानेक विघ्नों के कारण, उसके योग और ज्ञान की भूमिकायें कदापि सिद्ध नहीं हो सकतीं।

प्र०—"*यस्य देवे*" इस भक्त श्रुति में 'देव' शब्द से भगवान् का ग्रहण होना मधुसूदन स्वामी ने क्यों कहा? क्योंकि इसमें "*देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात्*" (भ० मी० अ० १ आ० २ सू० ८) इस पूर्वोक्त सूत्र से इस कारण विरोध पड़ता है कि इस सूत्र से यह सिद्धान्त किया गया है कि "*यस्य देवे*" इस श्रुति में 'देव' शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं है किन्तु इन्द्रादि देवताओं ही का ग्रहण है।

उ०—प्रश्न ठीक है, परन्तु मधुसूदन स्वामी का इतने ही में मुख्य तात्पर्य है कि गौणी भक्तियाँ विघ्न-नाश के द्वारा ज्ञान में उपयोगी हैं। और सूत्रकार शाण्डिल्य महर्षि ने तो पराभक्ति के प्रति ज्ञान की प्रधानता के खण्डनार्थ वैसा कहा है, इस रीति से उक्त विरोध हट जाता है। और पूर्वोक्त तात्पर्य ही के अनुसार वेदान्त-दर्शन का यह गूढ़ सिद्धान्त है कि '*माया*' की तीन शक्तियाँ हैं। (१) मल, (२) विक्षेप, (३) आवरण। निष्काम कर्म उपासना (पराभक्ति) से तीन शरीर शक्ति का तत्त्व साक्षात्कार से साक्षात् नाश होता है। और इनमें प्रथम शक्ति का निष्कामकर्म से, द्वितीय

भक्तीनां क्रमेण निष्कामकर्मोपासना तत्त्वसाक्षात्कारैर्नाश इत्यद्वैतदर्शनसिद्धान्ताः। किम्बहुना ! यत्र जीवन्मुक्ता अप्यविकृतप्रज्ञाः पूर्वमहोपकारिणीं सपदि फलमजनयन्तीमपि भगवद्भक्तिमद्वेषादिवत् स्वभावत्वात्त्यक्तुमीशते । इदमपि तत्रैव तेनोक्तम्—

जीवन्मुक्तिदशायान्तु न भक्तेः फलकल्पना ।
अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
इत्यादिवचनात्प्रेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥

न पुनर्जीवन्मुक्तानामेव भगवद्भक्तिः स्वभावः अपि तु सर्वेषां सताम् । तथा च—
भागवते—सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्
स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥ इति ॥

भाषा

शक्ति का निष्काम उपासना (परामक्ति) और तृतीय शक्ति का ब्रह्म साक्षात्कार से साक्षात् नाश होता है । अधिक क्या कहना है क्योंकि भगवद्भक्ति के प्रताप से पुरुष जब जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् कृतकृत्य हो जाने से उसको विघ्न की शङ्का नहीं रहती, और इसी से उसके लिये भगवद् भक्ति से भी कोई लाभ नहीं रहता, तब भी वह अपने पूर्व की महोपकारिणी-भक्ति का त्याग हो कर उसे नहीं छोड़ता अर्थात् जैसे जीवन्मुक्त का यह स्वभाव ही है कि वह राग, द्वेष आदि नहीं करता वैसे भगवद्भक्ति, उसका एक स्वभाव ही है तो अपने स्वभाव को कोई कैसे छोड़ सकता है ! इस बात को भी उक्त उपोद्घात में मधुसूदन स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि *"जीवन्मुक्ति"* तथा भागवत में भी *"आत्मारामा०"* अर्थात् एक परमेश्वर ही ऐसे हैं कि जिन में आत्माराम (जीवन्मुक्त जिनको कि भगवद्भक्ति से कुछ प्रयोजन नहीं है) मुनि भी सच्ची भक्ति करते हैं ।

यह नहीं समझना चाहिए कि भगवद्भक्ति, केवल जीवन्मुक्तों ही का स्वभाव है किन्तु यह सब ही सत्पुरुषों का स्वभाव है जैसा कि श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध में कहा है कि *"सतामयं"* अर्थात् सब सारग्राही सत्पुरुषों का यह स्वभाव है कि उनकी वाणी, कर्ण और मन, श्रीपरमेश्वर के गुणों को कहने, सुनने और स्मरण करने ही के लिये होते हैं तब भी वे गुण उनके लिये प्रतिक्षण नये नये ही होते जाते हैं। निदान उन गुणों को रात दिन बार बार वर्णन, श्रवण और स्मरण करने से भी वे पुरुष सन्तुष्ट होकर ढीले नहीं पड़ते किन्तु उनकी उन सब गुणों में अनुराग वृद्धि ही होती जाती है, इसलिये उन गुणों के वर्णन आदि में वे पुरुष अधिकाधिक कटिबद्ध ही हो जाते हैं, यही परमप्रेम का लक्षण है । जैसे कामी पुरुष अपनी प्रिया से एक ही बात को अनेकानेक बार कहता हुआ भी सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु उसी वार्ता की पुन. पुनः आवृत्ति करने से उसकी राग वृद्धि होती जाती है ।

इयञ्च भगवद्भक्तिरतिविशेषात्मिकाऽपि परमेश्वरालम्बनत्वान्न कामिनीरतिरिव शृङ्गारस्य स्थायीभावः, किन्तु चतुस्त्रिंशः संचारिभावभेदः प्रतिबध्नाति चाभावाराध्यत्वज्ञानस्य पृष्ठचरीतद्वाध्यां भगवद्रत्यनुभावस्पष्टवर्णनात्मकेभ्यः कुमारसंभवगीतगोविन्दादिकाव्येभ्य उद्भवन्तीं भगवत्संभोगचर्वणाम् आलम्बनधर्मिकस्याराध्यत्वज्ञानस्य शृङ्गाररसोल्लासप्रतिबन्धकतायाः समस्तसहृदयहृदयसाक्षिकत्वादिति साहित्यमार्मिकाः। तथा च रसगङ्गाधरे १ आनने अनौचित्यवर्णनप्रस्तावे—

"न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुपपत्तिरिति वाच्यम्। यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रामाणीकस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि रसोद्बोधापत्तेः। जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलहृदयसम्मतोऽयं समयो मत्तमतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितुं साम्प्रतमिति"।

एवं चोक्तयोराराध्यत्वज्ञानरसोद्बोधयोस्तेजस्तमसोरिव परस्परपराहतत्वाद्भगवत्याराध्यत्वज्ञानं यस्यास्ति न तस्य कदाचिदपि तादृशकाव्येभ्यो रसोद्बोधः। यस्य च तेभ्यो

भाषा

और इसी विषय में साहित्य शास्त्र के मार्मिक विद्वद्वरों का यह अटल सिद्धान्त है कि "यद्यपि भगवद्भक्ति भी रतिविशेष रूपी है तथापि कामिनी रति की नाईं वह शृङ्गार रस का "स्थायी भाव" नहीं है किन्तु "व्यभिचारी" भावों का ३४ वाँ भेद है और यह भी है कि "आराध्यत्व बुद्धि" (यह गुरु आदि मुझसे बड़े हैं और मेरे आराधनीय हैं) के बिना भक्ति नहीं होती। इसी से जो काव्याभास (दुष्ट काव्य) गीतगोविन्दादि परमेश्वर के रतिभाव के अनुभाव रूपी (चुम्बनादि सम्भोग अश्लील, (फ़हर) समाचारों के स्पष्ट वर्णन करने वाले हैं, उन दुष्ट काव्यों से भगवद्भक्तों को कदापि रस का आस्वाद नहीं होता बल्कि उल्टे उन काव्यों से घृणा और भय ही उत्पन्न होता है क्योंकि कहाँ बड़ों के विषय में आराध्यत्व की बुद्धि और कहाँ उनके मैथुन का श्रवण, दर्शन और यदि साहित्य के पण्डितों की बात को अलग रक्खा जाय तब भी इस विषय में सभी सहृदयों के हृदय सच्चे साक्षी हैं कि जिसको जिसमें आराध्यत्व बुद्धि होती है वह उसके अश्लील आचार को स्मरण भी नहीं करना चाहता और देखने तथा सुनने को कौन कहे। जैसा कि "रसगङ्गाधर" नामक साहित्य ग्रन्थ में प्रथम आनन के अनौचित्य प्रकरण में स्पष्ट ही कहा है कि—"न च साधारणी" यह भी कह नहीं सकते कि "जैसे शाकुन्तल आदि नाटकों के अभिनय से सहृदय सभ्यों को "हमीं दुष्यन्त हैं" इत्यादि अभेद ज्ञान होकर शकुन्तला आदि के रति रस का आस्वाद होता है वैसे ही श्री राधा में भगवान् की रति के वर्णन से भी भक्तों को "हमीं भगवान् हैं"। ऐसे अभेद ज्ञान से श्रीराधा में रतिरस का आस्वाद होता है" क्योंकि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद होना अनुभव से सिद्ध है वहीं उसके अनुसार अभेद ज्ञान की कल्पना हो सकती है न कि सर्वत्र। क्योंकि यदि सर्वत्र अभेद ज्ञान होकर रसास्वाद होता तो सहृदय को अपने माता के विषय में अपने पिता की रति का वर्णन वा अभिनय से रस का आस्वाद क्यों नहीं होता? अर्थात् कोई कितना भी निर्विवेक कामी क्यों न हो तो भी उसको ऐसे विषय की ओर स्वप्न

रसोद्बोधो नासौ जातु भगवत्याराध्यतां जानातीति स्पष्टतरम् । एवमेवैवंविधेष्वभिनयेष्वपि बोध्यम् । एवं भगवतापि स्वभक्तेर्मोक्षप्रधानहेतुत्वमुक्तम्—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥ (गी० अ० ७)

अत्र "प्रपत्स्यन्तीति" वक्तव्ये 'प्रपद्यन्त' इत्युक्तेः ये मदेकशरणाः सन्तो मामेव भगवन्तमीदृशम् अनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्वम् अखिलकलाकलापनिलयम् अभिनवपङ्कजशोभाधिकचरणकमलयुगलम् अनवरतवेणुवादननिरतम् वृन्दावनक्रीडासक्तमानसम् हेलोद्धृतगोवर्द्धनाख्यमहीधरम् गोपालम् निषूदितकंसशिशुपालादिदुष्टसङ्घम् अभिनवजलधरशोभासर्वस्वहरणघनानन्दघनमयमूर्तिम् अतिवैरिञ्चप्रपञ्चम् अनवरतमनुचिन्तयन्तो दिवसानतिवाहयन्ति ते मत्प्रेम-

भाषा

में भी मन नहीं जाता और देखने वा सुनने को कौन कहे । इसलिये यह नियम है कि जहाँ और जिसको आराध्यत्व बुद्धि नहीं होती वहीं उसको अभेद ज्ञान और रसास्वाद होता है जिससे कि वह वैसे नाटकों और काव्यों के देखने और सुनने में प्रवृत्त होता है । परन्तु जयदेव आदि ने मत्त हस्तियों की भाँई निर्विवेक होकर अपने गीतगोविन्द आदि काव्यों में इस सर्वसम्मत सिद्धान्त रूपी मनोहर वृक्ष को तोड़ दिया है तथापि उस दृष्टान्त को लेकर आधुनिक किसी मनुष्य को वैसा वर्णन करना कदापि उचित नहीं है । इससे यह नियम अति स्पष्ट हो गया कि जिस मनुष्य को भगवान् में आराध्यत्व बुद्धि है उसको कदापि ऐसे ऐसे दुष्ट काव्यों के सुनने वा अभिनय देखने की इच्छा भी नहीं होती और यदि होती है तो उस मनुष्य को भगवान् में आराध्यत्व बुद्धि कदापि नहीं है । राधामाम और सीताहरण आदि के वर्णन और अभिनय में भी यही विवेक समझना चाहिये और इसी से विवेकियों का यह सिद्धान्त है कि भागवत् आदि में रासपञ्चाध्यायी आदि प्रकरणों का केवल बाललीला ही में तात्पर्य है न कि सम्भोग में, जैसा कि इसी प्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है ।

श्री भगवान् ने भी स्वयं अपने भक्ति को मोक्ष का कारण कहा है जैसा कि गीता का यह श्लोक है कि "मामेव०" अर्थात् मेरे ही शरण में जो आते हैं वे इस माया को तर जाते हैं ।

यहाँ मधुसूदन स्वामी ने यह कहा है कि इस अर्द्धश्लोक का यदि यह तात्पर्य होता कि "ब्रह्मज्ञान मोक्ष का कारण है" तो इसमें "प्रपत्स्यन्ति" यही शब्द श्री भगवान् कहते जिससे इस अर्द्धश्लोक का यह अर्थ होता कि मुझ परमेश्वर ही को जो प्रत्यक्ष देखते हैं वे इस माया को तरते हैं परन्तु वैसा न कह कर जो "प्रपद्यन्ते" कहा जिससे कि अर्द्धश्लोक का यह अर्थ होता है कि जो पूर्व में अभी कहा गया है इसी से (परमेश्वर) का स्पष्ट ही यह तात्पर्य निश्चित होता है कि जो लोग मुझे (परमेश्वर) को अपना एक ही शरण समझ कर अनन्त सुन्दरता का सर्वस्व सकल नृत्यादि कलाओं के कलाप (समूह) का निलय (एक ही स्थान) नवीन कमल से भी अधिक शोभाशाली चरण कमल युगल वाले, वेणुवादन में सदा निरत वृन्दावन विहारी लीला ही से गोवर्धन गिरि के उखाड़ने वाले, गौओं को पालने वाले, समस्त जगत् की नीतिमा को लूटने वाली आनन्दघन मूर्ति को धारण किये, विरञ्चि (ब्रह्मा) के प्रपञ्च (सृष्टि) के उपरिवर्ती, वही ऐसे ही मुझ वासुदेव भगवान् को निरन्तर चिन्ता करते

महानन्दसमुद्रमग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते, किन्तु 'मद्विलासविनोदकुशला एते मदुन्मूलनसमर्था' इति शङ्कमानेव माया तेभ्योऽपसरति वारविलासिनीव क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यः। तस्मात् मायातरणार्थी मामीदृशमेव संततमनुचिन्तयेत् इत्यभिप्रेतं भगवत इति।

यद्वा अलमनल्पजल्पितेन? यावता सर्वेषामेव वेदानां भगवद्भक्तेः कैवल्यसाधनतायामेवात्यन्तगूढं तात्पर्यम्। तथा हि—वेदेषु क्रमेण त्रय एव काण्डाः कर्मोपासनाज्ञानभेदात्। तेषां तात्पर्यस्य निर्णयायैव च परमकारुणिकेन भगवता षट्षडध्यायांस्तेनैव क्रमेण विरच्योक्तकाण्डत्रयात्मिका गीता निर्मिता। पुराणादिभिर्दशभिः स्वधीतैरपि विद्यास्थानैर्वेदानां दुरूहतात्पर्यतया तत्तात्पर्यम्प्रतिपित्सूनामधिकारिणामुपर्यनुग्रहेणापवर्गश्च तन्निर्माणप्रयोजनम्। अतो गीताशास्त्रतात्पर्यमेव सकलवेदतात्पर्यमिति निर्विवादम्। तथा च गीताटीकारम्भे मधुसूदनः—

सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मिकम्।
परं निश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम्॥
सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम्।
यत्प्राप्तये समारब्धाः वेदाः काण्डत्रयात्मकाः॥

भाषा

करते काल को भली भाँति व्यतीत करते हैं, वे मेरे प्रेम रूपी आनन्द समुद्र में मग्न मनस्क होने के कारण, माया के किसी विकार से कदापि नहीं लिप्त होते, किन्तु जैसे वारविलासिनी (वेश्या) सूखे तपस्वियों से भयभीत हो कर भागती है। वैसे माया ऐसे लोगों से यह समझ कर कि ये मेरी दुष्ट चेष्टाओं को समझ कर मुझे निर्मूल कर देंगे, बहुत ही दूर भाग जाती है, इसलिये माया के तर जाने का अर्थी जीव, मुझी (परमेश्वर) को मेरे इसी स्वरूप से सदा स्मरण करता रहे।

अथवा वास्तविक विचार यह है कि सब वेदों का गूढ़ आशय यही है कि भगवद्भक्ति ही मोक्ष का प्रधान साधन है, क्योंकि वेदों में क्रम से तीन ही काण्ड हैं (१) कर्मकाण्ड (२) उपासनाकाण्ड, (३) ब्रह्मकाण्ड, और इन्हीं काण्डों के तात्पर्य निश्चयार्थ अन्य सब विद्यायें (जो कि परिखा परिष्कार प्रकरण में पूर्व ही दिखलाई गयी हैं) हैं वेद का तात्पर्य इतना दुरूह है। इसी से परम कारुणिक भगवान् ने जिज्ञासु और शास्त्रोक्त अधिकारियों पर अनुग्रह से उक्त काण्डों ही के क्रमानुसार छः छः अध्यायों के तीन काण्ड रूपी गीता-शास्त्र की वेदतात्पर्य के निश्चयार्थ रचना किया अर्थात् अनादि पुण्य-पाप रूपी मल के नाशार्थ, प्रथम काण्ड में निष्काम कर्म का तथा माया की विक्षेप शक्ति (तात्विक वस्तु को उलटा दिखलाने वाली शक्ति) के जयार्थ द्वितीय काण्ड में निष्काम उपासना (भक्ति) का और माया की आवरण शक्ति (तत्वज्ञान न होने देने की शक्ति) के विनाशार्थ तृतीय काण्ड में तत्वसाक्षात्कार का निरूपण किया। इस रीति से यह स्पष्ट हो गया कि गीता-शास्त्र का तात्पर्य, समस्त वेदों का तात्पर्य है, और गीता-शास्त्र का मुख्य तात्पर्य आगे चल कर यही दिखलाया जायगा कि "भगवद्भक्ति ही मोक्ष का प्रधान साधन है"। तो अब इसमें सन्देह नहीं रहा कि यही तात्पर्य समस्त वेदों का है। और इस बात को गीता-गूढार्थ-दीपिका नामक गीता की टीका के आरम्भ ही में मधुसूदन स्वामी ने 'सहेतुकस्य' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकों से कहा है और वे श्लोक संस्कृत भाग में ऊपर लिखे हुए हैं, तथा इसमें

कर्मोपास्तिस्तथाज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका ।
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् ॥ इति ।

गीताशास्त्रञ्च संस्कृतवाङ्मयमेवमानुपूर्वीकमेव भगवता निर्मायार्जुनायोक्तम् । कृष्णद्वैपायनेन तु भगवता तत्र स्थले स्थले सङ्गतिश्लोकान् कतिपयान् निर्माय भारते तदुपनिबद्धम् । तथा च भक्तिमीमांसादर्शने अ० २ आ० २—

नैकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २९ ॥

इति सूत्रे भाष्य उद्धृतः सार्द्धो नारायणीयश्लोकः—

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणाऽथवा । इति प्रश्ने—
समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अर्जुने विमनस्के च गीतो भगवता स्वयम् ॥ इत्युत्तरम् ।

तथा तादृशमेव पुराणान्तरवाक्यम्—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ इति

पूर्वत्र "गीतो भगवता स्वयम्" इति उत्तरत्र च "गीता, पद्मनाभस्य मुखपद्मात्स्वयं विनिःसृते"ति कण्ठत एवोक्तार्थ उक्तः । एवञ्च प्रश्नश्लोका अर्जुननिर्मिता भवन्तु मा वाभूवन्निति सन्देहेऽप्युत्तरश्लोका भगवतैव निर्मिता इत्यत्र न मनागपि सन्देहः । अत एव 'तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्' (भ० मी० भा० द० अ० १ आ० १ सू० ६) इति पूर्वोपन्यस्ते सूत्रे 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति गीतावाक्यं भगवान् शाण्डिल्यः 'शब्दादिति'

भाषा

भी सब की सहानुभूति है कि गीता-शास्त्र संस्कृत वाणी ही में बनाया गया । और जहाँ तक विचार किया जाता है, यही निश्चित होता है कि, जो जो उपदेश के श्लोक कृष्ण भगवान् के मुख से निकले, वे ज्यों के त्यों भारत में रख दिये गये । व्यास भगवान् ने उन श्लोकों में एक वर्ण भी अदल बदल नहीं किया किन्तु उनकी संगति के लिये अर्जुन के प्रश्न आदि के श्लोकों की रचना कर दिया (भ० मी० द० अ० २ आ० २ सू० २९) के भाष्य में उद्धृत यह नारायणीय का वाक्य है कि—

"केनैष०" यह भक्ति रूपी धर्म किसका, अर्थात् किस देवता या ऋषि का कहा है ?

उ०—कौरव और पाण्डव की सेनायें जब युद्ध के लिये सुसज्जित हुईं और अर्जुन को करुणा से खेद हुआ, उस समय इस भक्ति रूपी धर्म को भगवान् ने स्वयं कहा । तथा पुराणान्तर में भी कहा है कि "गीता सुगीता" गीता ही को तात्पर्य निश्चय पूर्वक कण्ठस्थ करना चाहिये, अन्य शास्त्रों से कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि गीता, श्री परमेश्वर के मुखारविन्द से साक्षात् निकली हुई है । तथा "तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्" (भ० मी० द० अ० १ आ० २ सू० ६) इस पूर्वोक्त सूत्र में शाण्डिल्य महर्षि ने गीतावाक्य को 'शब्द' अर्थात् वेद कहा है । और वेददुर्गसञ्जन में पूर्व ही

शब्दपदेन निर्दिदेश। न च तत्र शब्दादित्यस्योक्तगीतावाक्यं मूलभूतवेदादित्यर्थो युक्तः व्यवहितलक्षणाप्रसङ्गात्। नाप्यदृष्टार्थकभगवद्वाक्यस्वरूपवेदत्वस्य गीतासाधारण्याच्छब्दपदं शक्तमेव गीतायामिति तद्भाष्योक्तं युक्तम्। तादृशस्य वेदत्वस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वाभावात्, किन्तु वेदद्दुर्गसज्जने पूर्वमुक्तं वेदत्वं यद्याश्रीयते तदा तस्य गीतायामक्षतत्वाद्वेदशब्दोल्लेख इति न दोषः, अनादित्वस्य तत्र लक्षणे प्रवेशाभावात्। यदि तु सान्दीपनिमुनिगृहे वेदानधीत्य तदनुसारेण भगवान्गीतां प्रणिनायेति दुराग्रहस्तदा जीवाप्रणीतत्वप्रयुक्तवेदसादृश्यमादाय वेदशब्दो गीतायां गौण एवेहास्तु। व्यासनिर्मितत्वस्वीकारे पूर्वोक्तपुराणवाक्याभ्यां विरोधात्। एतेन "तत्राशोच्यानन्वशोचस्त्वमि"त्यादिना शोकमोहादि सर्वासुरपाप्मनिवृत्त्युपायोपदेशेन स्वधर्मानुष्ठानात् पुरुषार्थः प्राप्यतामिति भगवदुपदेशः सर्वसाधारणः। भगवदर्जुनसंवादरूपा चाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थाः जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवत् उपनिषत्सु। कथं प्रसिद्धमहानुभावोऽर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिष्वहमेषां ममैत इत्येवं प्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते। तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत् भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते। अर्जुनापदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शित इति गीतागूढार्थदीपिकोपोद्घाते मधुसूदनस्वामिनोक्तं न श्रद्धेयम्। गीताया आख्यायिकामात्रत्वे तस्या भारतान्तर्गतत्वेन व्यासनिर्मितत्वं स्यात् भगवन्निर्मितत्वं च न स्यात्। एवं चोक्तवाक्याभ्यामुक्तसूत्रेण च विरोधो दुष्परिहर एवापद्येत। किञ्च गीतायामेवाष्टादशेऽध्याये संजयेन—

भाषा

जो वेद का लक्षण कहा है वह भी गीता में संघटित होता है। और यदि यह कहा जाय कि सान्दिपनि महर्षि से वेदों को पढ़ कर तदनुसार ही श्री कृष्ण भगवान् ने गीता की रचना की, तब तो जीव रचित न होने से वेद-तुल्य होने के कारण शाण्डिल्य महर्षि ने "*सिंहो माणवकः*" कि नाईं गीतावाक्य को शब्द (वेद) कहा है। परन्तु यदि गीता के उपदेशवाक्य व्यासरचित माने जायँ तो अनन्तरोक्त तीनों प्रमाणों का विरोध पड़ जायगा, इसी से यह निश्चित होता है कि वे व्यास के रचित नहीं हैं।

प्र०—यदि गीता में कहे हुए अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उपदेश, वास्तविक हैं तो मधुसूदन स्वामी ने गीता की टीका के आरम्भ में यह क्यों कहा कि "उपनिषद् में जनक याज्ञवल्क्य संवाद आदि की नाईं भगवदर्जुन-संवाद रूपी गीता भी आख्यायिका मात्र ही है" क्योंकि यदि गीता आख्यायिका मात्र ही है, तब तो भारत में अन्तर्गत होने के कारण यह व्यासरचित ही है।

उ० १—गीता यदि आख्यायिका मात्र होकर व्यासरचित हो तो अनन्तरोक्त वाक्यों और सूत्र का पूर्वोक्त विरोध नहीं छूट सकता।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

इत्युक्तम्। तादात्विकस्य कृष्णार्जुनसंवादस्यावास्तविकत्वे हि सर्वमेवेदमनुपपन्नं मृषोपतामेवापद्येत। अस्यापि चाख्यायिकामात्रत्वाङ्गीकारे तु सञ्जयनिवेदितानां कुरुपाण्डवयुद्धादीनामप्येतत्सामान्यान्मिथ्योक्तित्वापत्तिः। ततश्च कुरुपाण्डवादीनामपि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वापत्त्या भारतस्य पुरावृत्तकथनस्वरूपमितिहासत्वमपि मज्जेत। तत्र चेष्टापत्तौ व्यासनिर्मितस्यापीतिहासस्य यथेच्छमुपहासस्तदा कैव कथाऽन्येषां संस्कृतवाङ्मयानामपभ्रंशमयानां चेतिहासानामितिहासचर्चायै जलाञ्जलौ दीयमाने पुरावृत्तविषये महान्धमेवाधुनिकानामामेदिति वालदीपकलिकाक्रीडया नगरमेव दह्येत। वेदस्य त्वनादितायां दुर्भेदैः प्रमाणैस्तर्कैश्च प्रागुक्तैर्वेददुर्गसज्जने पूर्वमेव प्रपञ्चितर्ह्येतरामुपपादितायां अनुसारेणोपनिषत्सु जनकयाज्ञवल्क्यसंवादा-

भाषा

उ० २—"इत्यहं वासुदेवस्य" सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! महात्मा वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस पूर्वोक्त आश्चर्य और रोमाञ्चकारी संवाद (गीता) को मैंने व्यास की दी हुई दिव्य शक्ति से सुना ॥ ७४ ॥

स्वयं कहते हुए योगेश्वर कृष्ण से, इस गोप्य और श्रेष्ठ योग को व्यास के प्रसाद से मैंने साक्षात् (अपने कानों से) सुना ॥ ७५ ॥

केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य संवाद को बार बार स्मरण कर मैं पुनः पुनः हर्ष को प्राप्त होता हूँ ॥ ७६ ॥

हे राजन्! हरि के उस अत्यन्त अद्भुत रूप (विराट् रूप जो कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को दिखलाया) को स्मरण कर कर मुझे बड़ा आश्चर्य और बार बार हर्ष भी होता है ॥ ७७ ॥ इति

यदि कृष्ण और अर्जुन का संवाद युद्ध के समय वास्तविक में नहीं हुआ होता, तो ये चारों वाक्य सञ्जय के मिथ्या ही हो जाते, और यदि निर्लज्जता से यह कहा जाय कि ये चार वाक्य भी आख्यायिका मात्र ही हैं तो सञ्जय के कहे हुए भारतयुद्ध के समाचार सब मिथ्या ही हो जायँगे, क्योंकि उनके आख्यायिका मात्र न होने का कोई कारण नहीं है, और यदि आँख मूँद कर यह भी स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कौरव, पाण्डव आदि वास्तविक में कोई भी नहीं थे, केवल कल्पित नाम मात्र से भारत में उनका व्यवहार है, और ऐसी दशा में महाभारत का

दीनां जनकाद्युत्तरकालिकत्वापत्तिपरिहारायाख्यायिकामात्रत्वमङ्गीक्रियत इति तन्निदर्शनमपि विषमतमम् । अत्रापि च संजयवाक्ये "स्वयं कथयतः कृष्णात् साक्षादश्रौष" मिति 'तच्चाद्भुतं हरे रूपं संस्मृत्ये' ति स्पष्टमेव गीताया भगवत्कृतत्वं तत्र वृत्तान्तानां तादात्मिकतयोक्तानां वास्तविकत्वं चोच्यते। अपि च महाभारते अनुशासनपर्वणि अनुगीतावसरे १६ अध्याये—

तत: प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
विदितं ते महाबाहो सङ्ग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥
यत्तदा भवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥ ६ ॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।
भवांश्च द्वारकां गन्ता न चिरादिव माधव ॥ ७ ॥
वैश० उ०—एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत ।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥ ८ ॥
वासुदेव० उ०—श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् ।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ ! सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥ ९ ॥

भाषा

इतिहास होना ही टूट जायगा, क्योंकि प्राचीन समाचार के कथन ही को इतिहास कहते हैं, और यदि व्यास भगवान् के रचित इस इतिहास का भी यह उपहास है तो संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी आदि के सब इतिहासों को इसी रीति से तिलाञ्जलि देना पड़ेगा, जिससे कि प्राचीन समाचारों के विषय में सब जगत् ही अन्धकारमय हो जायगा, और जनक याज्ञवल्क्य सम्वादादि को जो आख्यायिका कहा जाता है, उसका प्रमाण तो वेददुर्गसज्जन में पूर्व ही कहा जा चुका है, इससे गीता के विषय में उसका दृष्टान्त देना भी अनुचित है ।

उ० ३—"ततः प्रतीतः" तदनन्तर कृष्ण के सहित स्वस्थ अर्जुन ने उस रमणीय सभा को देख यह कहा कि ॥ ४ ॥ "विदितं ते" हे महाबाहो ! हे देवकीमातः ! भारतयुद्ध के समय मुझे आप का माहात्म्य और वह विराट् रूप विदित है ॥ ५ ॥ हे केशव ! उस समय मित्रता के कारण जो आपने उपदेश दिया था, वह सब मुझे भूल गया क्योंकि उसके अनन्तर अनेक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण मैंने उसका स्मरण नहीं किया ॥ ६ ॥ और उस समय के उपदेशों को पुनः सुनने में मुझको श्रद्धा होती है, और आप भी थोड़े ही समय के अनन्तर द्वारका जाने वाले हैं ॥ ७ ॥

"वैश०"—अर्जुन की इस बात को सुन कर महा तेजस्वी श्री कृष्ण ने उनको छाती से लगा कर कहा कि ॥ ८ ॥ हे महाबाहो ! हे पार्थ ! उस समय मूर्तिधारी और अति गोप्य सनातन धर्म को मैंने तुमसे कहा था ॥ ९ ॥

अबुद्ध्वा नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥ १० ॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥ ११ ॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ १२ ॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १३ ॥
यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि ।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥ १४ ॥ इति ।

न चैतत्सर्वं गीताशास्त्रस्य कृष्णार्जुनसंवादरूपताया अवास्तविकत्वे कथमपि शक्यत उपपादयितुम्। एवम् भागवते ११ स्कन्धे १६ अध्याये उद्धवेन कृतस्य विभूतीनां प्रश्नस्यानन्तरम्—

श्रीभगवान् उ०—एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्म्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७ ॥

भाषा

मुझे यह बड़ा शोक है कि जो तुमने अपने अज्ञान से उसका ग्रहण नहीं किया और आज उन उपदेशों का ठीक ठीक पुनः स्मरण मुझे नहीं हो सकता ॥ १० ॥

हे पाण्डव ! तुम अवश्य ही श्रद्धारहित और दुष्ट बुद्धि हो, मैं उन सब बातों को पुनः ठीक ठीक नहीं कह सकता ॥ ११ ॥

मैंने उस समय जिस धर्म को कहा था वह ब्रह्मज्ञान और मोक्ष देने में पूर्ण समर्थ है, उसको मैं उसी रीति से पुनः नहीं कह सकता ॥ १२ ॥

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परब्रह्म का निरूपण किया था और अब तो उसी विषय का पुरातन इतिहास मैं ऐसा कहूँगा कि जिससे उस बुद्धि को पाकर तुम अच्छी गति को प्राप्त होगे ॥ हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! अब जो मैं कहता हूँ उसको ठीक ठीक सुनो ॥ १३ ॥ १४ ॥

श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० १६ में भगवान् की विभूतियों के विषय में उद्धव के प्रश्न के अनन्तर भगवान् का वाक्य यह है कि—

"एवमेतदहं०" हे प्रश्नकर्त्ताओं में श्रेष्ठ ! कुरुक्षेत्र में शत्रुओं के साथ युद्ध करने को सन्नद्ध हो कर अर्जुन ने मुझसे यही प्रश्न किया था जो तुम करते हो ॥ ६ ॥ और इस प्रश्न करने का उस समय यह कारण हुआ कि अर्जुन राज्य के लिये अपने भाई-बन्धुओं के वध को बड़ा अधर्म समझ कर युद्ध से निवृत्त हो गये क्योंकि "मैं मारूँगा ये मेरे भाई मरेंगे" ऐसी प्राकृत-बुद्धि उनकी थी ॥ ७ ॥ तदनन्तर मैंने अनेक वास्तविक युक्तियों से जब उनको तत्त्व समझा दिया तब उसी प्रसङ्ग

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्द्धनि ॥ ८ ॥

अत्र श्रीधरः—नरावताराऽर्जुनप्रश्नसंवादित्वात्तवायं प्रश्नः साधीयानिति तावदनुमोदते एवमिति त्रिभिः । प्रश्नम् प्रष्टव्यम्, सपत्नैर्योद्धुमिच्छता, विनशने कुरुक्षेत्रे ॥६॥ युयुत्सोर्विभूतिप्रश्ने कः प्रसङ्गः तत्राह-ज्ञात्वेति । लौकिकः प्राकृतमतिः सन् ॥ ७ ॥ स च यदा ज्ञातिवधान्निवृत्तस्तदा मया प्रतिबोधितः सन् यथा त्वमभिभाषसे एवं संग्राममुखे मामभ्यभाषत तद्वदेव तवापि कथयिष्यामि इति भावः ॥ ८ ॥ इति ।

अत्यल्पग्रन्थत्वाच्च गीताशास्त्रस्य वेदादप्यतिगम्भीरस्तात्पर्यमहिमा भगवद्भक्तिकैवल्यसाधनतात्पर्यवाची । स च तस्य कतिचन श्लोकाँस्तदवयवाँश्चोद्धृत्य दिङ्मात्रेण प्रदर्श्यते । तथा हि—कर्मतत्वज्ञानयोः परस्परविरोधेन समुच्चयायोगाद्गीतायां तत्काण्डयोरव्यवधानेन न विशेषः किन्त्वाद्ये षट्के कर्मणश्चरमे तु ज्ञानस्य प्रतिपादनम् भगवद्भक्तेस्तु सकलविघ्नापनोदन-

भाषा

से उन्होंने मुझसे मेरी विभूतियों के विषय में यही प्रश्न किया जो तुम इस समय करते हो। अर्थात् नर के अवतार अर्जुन के प्रश्न का संवादी यह तुम्हारा प्रश्न है। इस कारण यह प्रश्न उत्तम है ॥ ८ ॥

अब ध्यान देना चाहिये कि इतना विस्तारयुक्त केवल वेदों से भी जो विषय सहज में नहीं निकल सकता और जिसके निकालने के लिये पूर्वोक्त पुराणादि १४ विद्यायें ऐसी बनायी गईं कि जिनमें एक एक समुद्र के तुल्य अगाध हैं वह विषय जिस इतने छोटे गीता-शास्त्र से कहा गया उस गीता-शास्त्र का तात्पर्य कहाँ तक गंभीर हो सकता है? यह बुद्धिमानों को समझना चाहिए तथा उसी तात्पर्य के निर्णयार्थ श्रीशङ्कराचार्यादि बड़े बड़े देवदर्शन पंडित महाशयों ने कितना कितना परिश्रम किया है यह बात भी उन महाशयों के ग्रन्थों ही से स्पष्ट है। परन्तु इस समय अज्ञान की महिमा इतनी बढ़ी चढ़ी हुई है कि जैसे दो चार हाथ का जलपूर्ण पाताल मुख को उल्लंघन कर छोटे छोटे बालक उसकी गंभीरता का वर्णन करें वैसे ही शब्दों के थोड़े होने तथा छापा से सुलभ होने और पदों के अर्थ प्रसिद्ध होने के कारण आजकल के ग्रन्थ चुम्बक महाशय, अपने अज्ञान रूपी अन्धकार में ज्ञान रूपी प्रकाश के भ्रम से उल्लू की नाईं गीता देख देख व्यर्थ ही कर्ण-कटु और भयावनी वाणियों से वेद और शास्त्र के विरुद्ध गीता का तात्पर्य अपने मनमाना समझ ऊँची गर्दन कर गलगर्दन मचा रहे हैं। वास्तविक में इनका यह साहस ऐसा ही है कि जैसा बालकों का चन्द्रमा पकड़ने में, अन्धकार का सूर्य छिपाने में, टिटिहिरियों का गिरते हुए आकाश मण्डल को चंगुल से रोकने में, पापियों का स्वर्ग जाने में, अंधों का पुस्तक देखने में, पंगुलों का हिमवान् के चोटी पर स्वयं चढ़ने में और नपुंसकों का कामिनी संभोग में साहस हो।

और जो महाशय गीताशास्त्र को दूसरी भाषा में केवल षष्ठी प्रथमा और पदों के अनुसार किये हुए अनुवाद से इस शास्त्र के तात्पर्य का ज्ञान चाहते या ज्ञाता बनकर बैठ जाते हैं उनके महासाहस को तो कहना ही क्या है? तथा जो महाशय केवल अनुवाद ही देखकर दूसरों को

दक्षतया कर्मज्ञानोभयजीवातुत्वात् शुद्धत्वकर्ममिश्रत्वज्ञानमिश्रत्वैरूप्याकारतया कर्मज्ञानाभ्यां समुच्चेयत्वाच्च तत्प्रतिपादकस्याध्यायषट्कस्य तदुभयमध्ये निवेशः। इयं च पुराणी परिपाटी महर्षीणां यद्विवक्षितं विषयमुपक्रमे संक्षेपेणोपन्यस्य विस्तरेण तद्विवरणम्। यथाह भगवान् वात्स्यायनः—

"संक्षेपमिममुक्त्वाऽस्य विस्तरोऽतः प्रवक्ष्यते।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासभाषणम् ॥" इति

युक्तं चैतत् अजिज्ञासितामिधानं धर्मगतत्वादुपेक्ष्यं भवति प्रेक्षावताम्। एवं च प्रतिपिपादयिषितस्य विषयस्य स्वरूपलक्षणप्रमाणप्रयोजनानां संक्षेपेणोपन्यासात्प्रामणीयकोल्लासेन प्रतिपाद्य लोकहृदयेषु विशेषजिज्ञासायामुत्पादितायां तदनुसारेण क्रियमाणो विस्तरः सङ्गतः सप्रयोजनश्च भवति। इयमेव च रीतिरितिहासपुराणादौ जागर्ति व्याख्यानेषु बुद्धिमताम्। अनयैव च रीत्या समस्तरीतिप्रचारपरमाचार्यैकधुरन्धरो भगवान् गीतां प्रणिनाय। तत्र प्रथमेन साधिकेनाध्यायेन व्यासेनोपोद्घातिको वृत्तान्तो व्यासेन वर्णितः। द्वितीयेन च वर्णनीयान्

भाषा

गीता के तात्पर्य का उपदेश करते हैं उनके इस महामहासाहस को तो बार बार नमस्कार ही है, इसमें क्या किया जाय क्योंकि यह असीम महिमा अज्ञान की है कि जो प्रत्येक ग्रन्थ से ऐसे महाशयों के लिए लाभ ही का तात्पर्य निकलता है और इतने ही में आश्चर्य नहीं करना चाहिए जब कि ये अनम्वरोक्त महाशय यह भी कहते हैं कि शास्त्रज्ञ पण्डितों को गीता आदि ग्रन्थों का तात्पर्य ही नहीं ज्ञात है। जो हो, सो हो, अब प्रकृत में गीता के कतिपय वाक्यों को दिखाकर भगवद्भक्ति के मोक्ष-साधन होने में सम्पूर्ण गीता-शास्त्र का तात्पर्य अत्यन्त संक्षेप से दिखलाया जाता है कि—

कर्म और तत्त्वज्ञान का अन्योन्य में विरोध होने के कारण साथ नहीं हो सकता इसी से गीता में कर्मकाण्ड रूपी प्रथम छः अध्याय के अनन्तर ही ज्ञानकाण्ड नहीं रखा गया किन्तु अन्त ही में रखा गया और भगवद्भक्ति तो कर्म और ज्ञान दोनों का, उन विघ्नों के नाश द्वारा कारण और फल भी है तथा भगवद्भक्ति (१) कर्मसहित (२) ज्ञानसहित और (३) केवल इस भेद से तीन प्रकार की है, इससे कर्म और ज्ञान की साथी भी है। इसलिए भक्तिकाण्ड रूपी ६ अध्याय उन दोनों काण्डों के मध्य में रखी गई। और यह पुरानी परिपाटी है कि कथनीय विषय को संक्षेप से प्रथम कह कर विस्तार से पुनः कहा जाता है जैसा कि काम-शास्त्र में वात्स्यायन महर्षि का वाक्य है कि—

"संक्षेपमिम०" काम-शास्त्र के विषयों का यह संक्षेप कहा गया। अब उनका विस्तार कहा जायगा क्योंकि संक्षेप और विस्तार दोनों रीति से एक विषय का कथन, लोक में विद्वानों को अपेक्षित होता है। और कथन की यही रीति ठीक भी है क्योंकि संक्षेप-कथन से विषयों का सामान्य ज्ञान होने से श्रोताओं को उस विषय के विशेषों के श्रवण की इच्छा होती है जिससे कि वे श्रवण में सावधान और श्रद्धालु हो जाते हैं तदनन्तर विस्तार से कथन का अवसर ठीक मिलता है। तथा यही रीति भारत और रामायणादि में भी स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह है कि गीता भी इसी रीति से बनी है अर्थात् प्रथम अध्याय, भूमिका रूपी, द्वितीय अध्याय तीनों काण्डों के विषयों का संक्षेप

यावतो विषयान्स्वयमेव सूचयामासेति द्वितीयः सूत्राध्यायः। तत्र भगवद्भक्तेस्त्यक्षरं सूत्रम् (मत्परः) इति। तथा च तत्रैव—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत (मत्परः)। इति।

गूढार्थदीपिका—'हे कौन्तेय' 'यततः' भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि 'विपश्चितः' अत्यन्तविवेकिनोऽपि पुरुषस्य 'मनः' क्षणमात्रं निर्विकारं कृतमपि 'इन्द्रियाणि' 'हरन्ति'। ननु विरोधिनि विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिः, तत्राह—'प्रमाथीनि' प्रमथनशीलानि अतिवलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि। अतः 'प्रसह्य' वलात्कारेण पश्यत्येव विपश्चिति स्वामिनि विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथित्वादेवेन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनः ततः प्रच्याव्य स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः। हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति। प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके, यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनं धनरक्षकं चाभिभूय तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति। तथेन्द्रियाण्यपि विषयसन्निधाने मनो हरन्ति इति॥ ६०॥

तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह 'तानि' इन्द्रियाणि 'सर्वाणि' ज्ञानकर्मसाधनानि 'संयम्य' वशीकृत्य 'युक्तः' समाहितः निगृहीतमनाः सन् 'आसीत' निर्व्यापारस्तिष्ठेत् प्रमाथिनाम्।

कथं स्ववशीकरणमिति चेत्, तत्राह—(मत्परः) इति 'अहं' सर्वात्मा वासुदेव एव 'परः' उत्कृष्ट उपादेयो यस्य स 'मत्परः' एकान्तमद्भक्त इत्यर्थः। यथा हि लोके वलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति तथैव

भाषा

रूपी सूत्र है, इसी से इसको सूत्राध्याय कहते हैं। और इस अध्याय में भगवद्भक्ति का सूत्र तीन अक्षर का यह है कि (मत्परः) जैसा कि उसी अध्याय के डेढ़ श्लोक हैं कि—

"यततो ह्यपि०" वार वार विषयों में दोष भावना के वल से क्षणमात्र के लिए निर्विकार किये हुए अति विवेकी के मन को भी इन्द्रियगण पुनः विगाड़ देते हैं क्योंकि वे वड़े वलवान् और विवेक के नाशकारी हैं, इस कारण विवेकी जीव रूपी स्वामी और विवेक रूपी रक्षक के समक्ष ही विवेक ज्ञान में प्रविष्ट मन को उससे निकाल कर इन्द्रियगण लूट लेते हैं। यह वात लोक में प्रसिद्ध है कि वलवान् डाकू रोकते हुए स्वामी और उसके भृत्य रक्षक वीरों को मार कर धन लूट लेते हैं वैसे ही विषय मिलने पर इन्द्रियाँ भी जीव और उसके विवेक को दवा कर मन को लूट लेती हैं। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने वश में कर और मन को भी स्थिर कर, विवेकी को व्यापार-रहित होना चाहिए। और यदि यह कहा जाय कि इतने वड़े वलवान् डाकू को कैसे कोई वश कर सकता है? तो इसका उत्तर यही है कि उन डाकुओं के वश करने का एक मात्र यही उपाय है कि (मत्परः) विवेकी को 'मत्पर' अर्थात् मैं (सर्वात्मा वासुदेव) ही पर (अतिप्रिय) हूँ जिसका ऐसा होना चाहिये अर्थात् मेरा एकान्त भक्त होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैसे अति वलवान् राजा की सहायता ही से वलवान् डाकू पकड़े जाते हैं अथवा धनी पुरुष को राजा के आश्रित समझ कर आप

भगवन्तमन्तर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा तानि तद्वश्यानि भवन्तीति भावः ।

सर्व च मध्यममध्यायषट्कमस्यैव सूत्रस्य व्याख्यानम् । तत्र सप्तमे यथा—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥ इति ।

अत्र चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्याक्रूरयुधिष्ठिरादेर्ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः । तथा नवमे—

'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥ इति

अत्र "अश्नामी" त्यस्य अशनवत्प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामीत्यर्थः । न तु भुञ्जे इति । तथा च श्रुतिः—

'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति, इति ।

भाषा

ही आप उसके वशीभूत हो जाते हैं वैसे ही मुझ अन्तर्यामी परमेश्वर की शरण लेने से ही इन दुष्ट इन्द्रियों का निग्रह होता है और मेरी शरण लेने वाले को मेरा कृपापात्र समझ कर पुनः कदापि इन्द्रियाँ उसके वश से बाहर नहीं हो सकतीं । सात से ले कर बारह अध्याय पर्यन्त गीता का अर्थात् सब भक्ति-काण्ड केवल इसी तीन अक्षर के सूत्र का व्याख्यान रूपी है । देखिये ७ अध्याय में—

"*चतुर्विधा०*" (१६) हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मनुष्य मेरे भक्त होते हैं—दुःखी, ज्ञानार्थी, धनार्थी और ज्ञानी भी । यहाँ 'भी' (च) शब्द से यह सूचित होता है कि अक्रूर और युधिष्ठिरादि निष्काम भक्त ज्ञानी ही में अन्तर्गत हैं ।

तथा अध्याय ९ में—

"*यान्ति देवव्रता०*" (२५) देवताओं के भक्त देवताओं को तथा पितरों के भक्त पितरों को और भूतों के भक्त भूतों को तथा मेरे पूजक मुझको भी प्राप्त होते हैं ।

"*पत्रं पुष्पं०*" (२६) पत्र, पुष्प, फल, जल मुझे जो भक्ति से देता है उस नेमी के दिए हुए वस्तु से, जैसे कोई भोजन से प्रसन्न हो भोजन दाता पर अनुग्रह करता है वैसे मैं उस पर भी अनुग्रह करता हूँ ।

यहाँ यह अर्थ नहीं हो सकता कि "मैं उसके दिये हुए वस्तु को भोजन करता हूँ" क्योंकि "*न ह वै देवा*" इस श्रुति में यह कहा है कि देवता, खाते पीते नहीं किन्तु नैवेद्य देखने मात्र से प्रसन्न होते हैं ।

एवम् तत्रैवाध्यायेऽन्ते पञ्च श्लोकाः सगीतागूढार्थदीपिकाः। यथा—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

यदि भक्तानेवानुगृह्णासि नाभक्तान्, ततो रागद्वेषवत्त्वेन कथं परमेश्वरः स्या इति नेत्याह—समोऽहमिति। सर्वेषु प्राणिषु 'समः' तुल्योऽहं सद्रूपेण स्फुरणरूपेणानन्दरूपेण च स्वाभाविकेन औपाधिकेन चान्तर्यामित्वेन। अतो न मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदस्ति सावित्रस्येव गगनमण्डलव्यापिनः प्रकाशस्य। तर्हि कथं भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यम् तत्राह—ये तु 'भक्त्या' गौण्या श्रवणादिकया मां 'भजन्ति' अनुरागेण सततं भावयन्ति ते मयि वर्त्तन्त इति शेषः। अहमपि अतिस्वच्छायां तदीयचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितत्वात् तेषु वर्ते चकारोऽवधारणार्थः ॥ २९ ॥

अत्रोत्तरार्द्धस्यार्थो गूढार्थदीपिकामनादृत्य "भक्त्या भजनोपसंहारात्" (भ० मी० मा० द० अ० २ आ २ सू० १) इति पूर्वोपन्यस्तसूत्रानुसारेण दर्शित इति बोध्यम्।

भाषा

"समोऽहं सर्व०" यह शंका नहीं करनी चाहिए कि जब मैं अपने भक्त ही पर कृपा करता हूँ न कि अन्य पर तब मैं समदृष्टि कैसे हूँ ? क्योंकि सद्रूपी चैतन्य और आनन्द तथा अन्तर्यामिता (सबके अन्तःकरणों को अपने वश में रखना) इन तीन गुणों के द्वारा सब प्राणियों में मैं तुल्य ही प्रविष्ट हूँ। मुझे किसी से राग वा द्वेष नहीं है परन्तु दर्पणादि स्वच्छ पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने सम्मुख वस्तु के आकार को ग्रहण करता है तथा उस सम्मुख वस्तु का भी स्वभाव ही ऐसा है कि वह उस स्वच्छ पदार्थ में अपने आकार को समर्पण करता है और अपने सम्मुख अन्य वस्तु के आकार को नहीं ग्रहण करता तथा स्वच्छ वस्तु से अन्य वस्तु में अपने आकार को समर्पण नहीं करता, इस रीति से स्वभाव के अनुसार जैसे सूर्य का सर्वव्यापी-प्रकाश, दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों ही में प्रतिफलित (तद्रूप दिखलाने वाला) होता है न कि घटादि रूपी मलिन पदार्थों में, और इतने मात्र से यह कहा नहीं जा सकता कि उस पदार्थ का दर्पणादि के साथ मेल वा घटादि के साथ विरोध है, वैसे ही भक्त के स्वच्छ चित्त में मैं प्रकट होता हूँ न कि अभक्त के मलिन चित्त में, इसी से मेरा राग वा द्वेष किसी के साथ नहीं है किन्तु मेरा प्रकट होना, और न होना चित्त की स्वच्छता और मलिनता रूपी स्वभाव ही पर निर्भर है। इस कारण जो मनुष्य पूजनादि रूपी गौणी भक्ति से मुझमें अनुराग कर सदा मेरी भावना करते हैं वे मुझी में हैं, और मैं भी उन्हीं के स्वच्छ चित्त में प्रतिबिम्बित होकर उन्हीं में हूँ क्योंकि कार्य और कारण का स्वभाव लोक में प्रसिद्ध ही है, इसलिये मुझमें विषम दृष्टि होने का दोष नहीं है किन्तु मुझमें भक्ति करने ही की यह महिमा है कि यद्यपि मैं सब प्राणियों के प्रति तुल्य ही हूँ तथापि मेरे भक्तों ही के चित्त में मेरा प्रतिबिम्ब पड़ता है न कि अभक्तों के।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

किं च मद्भक्तेरेवायं महिमा यत् समेऽपि वैषम्यमापादयति शृणु तन्महिमानम्, यः कश्चित् सुदुराचारोऽपि चेत् अजामिलादिरिव अनन्यभाक् 'सन्' मां 'भजते' कुतश्चिद्भाग्योदयात्सेवते स प्रागसाधुरपि साधुरेव मन्तव्यः हि यस्मात् "सम्यग्व्यवसितः" साधुनिश्चयवान् सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

अस्मादेव सम्यग्व्यवसायात् स हित्वा दुराचारतां चिरकालमधर्मात्माऽपि मद्भजनमहिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति धर्मात्मा धर्मानुगतचित्तः, दुराचारत्वं झटित्येव त्यक्त्वा सदाचारो भवतीत्यर्थः। किं च शश्वत् नित्यं शान्तिं विषयभोगस्पृहा निवृत्तिं निगच्छति नितरां प्राप्नोति निर्वेदात्, कश्चित् त्वद्भक्तः प्रागभ्यस्तं दुराचारत्वमत्यजन् न भवेदपि धर्मात्मा, तथा च स नश्येदेवेति नेत्याह—भक्त्यानुकम्पापरवशतया कुपित इव भगवान् नैतदाश्चर्यं मन्वीथा हे कौन्तेय! निश्चितमेवेदं मद्भक्तेर्माहात्म्यम्। अतो विप्रतिपन्नानां पुरस्तादपि त्वं प्रतिजानीहि सावज्ञं सगर्वं च प्रतिज्ञां कुरु 'मे' वासुदेवस्य भक्तोऽतिदुराचारोऽपि प्राप्तसङ्कटमापन्नोऽपि सुदुर्लभमयोग्यः सन् प्रार्थयमानोऽपि अतिमूढोऽशरणोऽपि न प्रणश्यति किन्तु कृतार्थ एव भवति। दृष्टान्ताश्च अजामिलप्रह्लादध्रुवगजेन्द्रादयः प्रसिद्धा एव। शास्त्रं च "न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्" इति ॥ ३१ ॥

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" ॥३२॥

भाषा

"अपि चेत०" (३०) मेरी भक्ति की यही महिमा है कि अजामिल आदि दुराचारी पापी भी यदि भाग्यवश मुझमें भक्ति करता है तो यद्यपि वह प्रथम से असाधु है तथापि भक्ति करने पर वह साधु ही माना जायगा क्योंकि उस समय उसका निश्चय अच्छा है।

"क्षिप्रं भवति०" (३१) और उस अच्छे निश्चय से वह अपने चिरकालिक दुराचार को त्याग कर तुरन्त ही सदाचारी हो जाता है तथा विषय-भोग की इच्छा उसकी निवृत्त हो जाती है। यह शंका कदापि नहीं करनी चाहिए कि यदि कोई पूर्व का पापात्मा, भक्त होने पर धार्मिक न हुआ तब तो वह नष्ट ही हो जायगा, क्योंकि मेरा भक्त वह कदापि नहीं नष्ट होता। हे कौन्तेय! इस उक्त विषय पर जो पुरुष सन्देह करे उसके प्रति तुम बड़े बल से यह प्रतिज्ञा किया करो कि "मेरा अर्थात् परमेश्वर का भक्त, अति पापी, अथवा अति दुर्दशाग्रस्त तथा अयोग्य हो कर भी किसी अति दुर्लभ पदार्थ का अर्थी और अति मूढ़ तथा असहाय भी हो तब भी वह अवश्य ही कृतार्थ हो जाता है"। इसके दृष्टान्त भी अजामिल, प्रह्लाद, ध्रुव और गजेन्द्रादि बहुत से प्रसिद्ध हैं।

"मां हि पार्थ०" (३२) हे पार्थ! महापातक आदि आगन्तुक दोष से दुष्टों का जैसे मेरी

एवमागन्तुकदोषेण दुष्टानां भगवद्भक्तिप्रभावान्निस्तारमुक्त्वा स्वाभाविकदोषेण दुष्टानामपि तमाह—'हि' निश्चितम्। हे पार्थ ! मां 'व्यपाश्रित्य' शरणमागत्य येऽपि स्युः 'पापयोनयः' अन्त्यजास्तिर्यञ्चो वा जातिदोषेण दुष्टाः तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियः "वैश्याः" कृष्यादिमात्ररताः तथा 'शूद्राः' जातितोऽध्ययनाद्यभावेन परमगत्ययोग्याः तेऽपि यान्ति परां गतिम्। अपिशब्दात्प्रागुक्ता दुराचारा अपि ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

एवं चेत् पुण्याः सदाचारा उत्तमयोनयश्च 'ब्राह्मणाः' 'राजर्षयः' सूक्ष्मवस्तुविवेकिनः क्षत्रियाः मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वाच्यम्, अत्र कस्यचिदपि संदेहाभावादित्यर्थः। यतो मद्भक्तेरीदृशो महिमा अतो महता प्रयत्नेन 'इमं लोकम्' सर्वपुरुषार्थसाधनयोग्यमति दुर्लभं च मनुष्यदेहम् 'अनित्यम्' आशुविनाशिनम् 'असुखम्' गर्भवासाद्यनेकदुःखबहुलम् 'प्राप्य' लब्ध्वा यावदयं न नश्यति तावदतिशीघ्रमेव 'भजस्व माम्' शरणमाश्रयस्व अनित्यत्वादसुखत्वाच्चास्य विलम्बंसुखाद्यर्थमुद्यमं च मा कार्षीः, त्वं च राजर्षिरतो मद्भजनेनात्मानं सफलं कुरु अन्यथा हि एतादृशं जन्मनिष्फलमेव ते स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

भाषा

भक्ति से निस्तार होता है वैसे ही जाति आदि स्वाभाविक दोष से दुष्टों का भी। अर्थात् पशु, पक्षी, अन्त्यज, चाण्डाल आदि जो जाति से दुष्ट हैं तथा वेदाध्ययन से रहित स्त्रियाँ और कृषि आदि रूपी हिंसाजनक कर्मों में सदा उद्यत वैश्य तथा वेदाध्ययन का अधिकार न होने से उसके द्वारा परम गति के अयोग्य शूद्र भी यदि मुझमें एकान्तिक भक्ति करते हैं तो वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं।

"किं पुनर्ब्राह्मणाः" (३३) जब ऐसा है तब मेरी भक्ति से उत्तम पुरुषों की परम गति होने में कहना ही क्या है ? और क्या आश्चर्य है ! अर्थात् सदाचारी और उत्तम जाति ब्राह्मण वा विवेकी क्षत्रिय मेरे भक्त तो परम गति को पाते ही हैं। हे पार्थ ! यह मनुष्य शरीर सब पुरुषार्थों का साधन तथा अति दुर्लभ और क्षणभङ्गुर तथा. गर्भवासादि दुःखों से भरा हुआ है, इसलिये तुमको चाहिए कि जब तक यह शरीर नष्ट नहीं होता तभी तक अर्थात् अति तुरत, मेरी शरण में आ जाओ और अपने लौकिक सुख के अर्थ कोई अन्य उद्योग न करो क्योंकि यह शरीर सुख का स्थान ही नहीं है तथा अपने इस राजर्षि जन्म को ऐसा न करने से व्यर्थ न करो।

अब अग्रिम श्लोक से भजन का प्रकार दिखलाते हुए भगवान् इस भक्ति-प्रकरण को समाप्त करते नवम अध्याय को भी समाप्त करते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अर्थात् मुझमें मन लगाओ, परन्तु ऐसा नहीं कि जैसा पुत्रादि में लगाते हो किन्तु मुझमें

भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति राजभक्तस्यापि राज्यभृत्यस्य पुत्रादौ मनस्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्त इत्युक्तम् मन्मना भव मद्भक्त इति। तथा 'मद्याजी' मद्यजनशीलः 'मां नमस्कुरु' मनो वाक्कायैः 'एवम्' एभिः प्रकारैः 'मत्परायणः' मदेकशरणः सन् 'आत्मानम्' अन्तःकरणम् 'युक्त्वा' मयि समाधाय 'मामेव' परमानन्दघनं स्वप्रकाशं सर्वोपद्रवशून्यम-भयम् 'एष्यसि' प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥ इति

काण्डत्रयसमाप्तेरनन्तरमपि अस्यैव चतुस्त्रिंशत्तमस्य पद्यस्य 'एष्यसी' त्यन्तं भागम् 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि' इत्युपसंहारे भगवानावर्तयिष्यतीति न विस्मरणीयम्। तदभिप्रायस्त्वनुपदमेव प्रतिपादयिष्यते एकादशेऽपि।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्या अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

अन्ते च अष्टादशे—

भाषा

आराध्यत्व बुद्धि से मेरा भक्त हो कर मुझमें मन लगाओ और सदा मेरी पूजा करो तथा मन, वचन, कर्म से मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार से मत्पर हो और अपने अन्तःकरण को मुझ में समाधान कर सत् चित् आनन्दघन तथा सब उपद्रवों से रहित मुझी को तुम प्राप्त होगे।

यहाँ यह अवश्य ध्यान रखने योग्य है कि इसी ३४ वें श्लोक के—*"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु मामेवैष्यसि"* इतने अंश को अध्याय १८ श्लोक ६५ में भगवान् ने पुनः कहा है अर्थात् कर्म, भक्ति और ज्ञान के तीनों काण्डों को समाप्त करने के अनन्तर भी इस अंश को पुनः ज्यों का त्यों कहा है और इसके पुनः कहने का तात्पर्य भी मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा।

तथा अध्याय ११ में विराट् रूप दिखलाने के अनन्तर कहा है कि—

"नाहं वेदैः" (५३, ५४) हे अर्जुन! जैसा विराट् रूपी मुझको तुमने अभी देखा है वैसा वेद वा तप वा दान वा ज्योतिष्टोमादि यज्ञ से कोई मुझे देख नहीं सकता किन्तु, मुझमें अनन्य भक्ति से देख सकता है और मेरे तत्त्व को जान भी सकता है तथा मुझमें मिल भी सकता है।

यहाँ तक इतना निवेदन किया गया कि भगवद्भक्ति के मोक्ष साधन होने में गीता-शास्त्र का तात्पर्य है। परन्तु इससे कदापि यह न समझना चाहिए कि "निष्काम कर्म और ब्रह्मज्ञान के मोक्ष-साधन न होने में भी गीताशास्त्र का ऐसा ही तात्पर्य है बल्कि अन्त में ब्रह्मज्ञान के निरूपण करने से ब्रह्मज्ञान ही के मोक्ष साधन होने में गीता-शास्त्र का अन्तिम तात्पर्य है" क्योंकि यह बात गीता के अन्तिम वाक्यों ही से अति स्पष्ट 'हस्तामलक' के तुल्य सिद्ध कर दिखलाई जाती है कि "कर्म और ज्ञान भी यद्यपि गीता-शास्त्र में मोक्ष के साधन कहे हुए हैं तथापि भक्ति ही के मोक्ष साधन होने में गीता-शास्त्र का मुख्य तात्पर्य है अर्थात् गीता-शास्त्र का अन्तिम ताज भगवद्भक्ति ही के शिर पर है। देखिए! गीता-शास्त्र के तीनों काण्डों के समाप्त करने का वाक्य अध्याय १८ में—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इति पद्येन "गुह्यात्" रहस्यात् संन्यासान्तात् कर्मणः 'गुह्यतरं' रहस्यतरं ज्ञानं तुभ्यं मया कथितम् 'एतत्' मयोपदिष्टं गीताशास्त्रं 'अशेषतः' सामस्त्येन 'विमृश्य' पर्यालोच्य 'यथेच्छसि' 'तथा कुरु' कर्मोपासनाज्ञानेष्वन्यतमं मार्गमङ्गीकुरु इत्यर्थकेन काण्डत्रयात्मकस्य सकलगीताशास्त्रस्यार्थो भगवतोपसंहृतः । एवं च किमपरमवशिष्यते यन्निश्चयार्थमतोऽप्युत्तरस्य श्लोकत्रयस्यारम्भ इति शङ्कया तदेव श्लोकद्वयमवतार्य मधुसूदनेन व्याख्यातम् । अतो गीताशास्त्रस्य कर्मोपासनाज्ञानानां मध्ये कस्य कैवल्यसाधनतायां मुख्यं तात्पर्यमिति जिज्ञासानिवर्तनमेव तादृशश्लोकत्रयप्रयोजनमित्यन्यथानुपपत्त्या निश्चीयते । तच्च स्फुटतरमुपदर्शयितुं सव्याख्यानं श्लोकत्रयं तदुपन्यस्यते—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति । पूर्वं हि 'गुह्यात्' कर्मयोगात् गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना कर्मयोगात् तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मात् अतिशयेन गुह्यम् 'गुह्यतमम्' 'परमम्' सर्वतः प्रकृष्टम् 'मे' मम

भाषा

"इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! संन्यास पर्यन्त कर्मों का मोक्ष साधन रूपी होना गोप्य विषय की अपेक्षा अति गोप्य अर्थात् उसका परम फल रूपी आत्म-ज्ञान को मैंने तुमसे यह पूरा कह दिया जिससे कि मोक्ष होता है । अब मेरे इस गीता-शास्त्र को आदि से अन्त तक पूर्ण निश्चय कर तुम अपने को कर्म, भक्ति और ब्रह्मज्ञान, इन तीन में से जिस उपाय का अधिकारी समझो उसको स्वीकार करो क्योंकि अब इतने विचार पर भी तुम्हारा अज्ञान कैसे रह सकता है ? ॥ ६३ ॥

प्र०—जब ऐसी स्पष्ट रीति से गीता-शास्त्र समाप्त कर दिया गया तो अब क्या अवशिष्ट रहा कि जिसके निश्चयार्थ इसके अनन्तर भी तीन श्लोक कहे गये ?

उ०—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भगवान् ही ने अग्रिम एक श्लोक से दिया है कि—

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! इस गीता-शास्त्र का मुख्य तात्पर्य अत्यन्त गंभीर है । इस कारण उसके विचार में तुमको बड़ा कष्ट झेलना पड़ेगा और क्लेश भी उठा कर यदि तुम उसका निश्चय न कर सको तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है । इसलिए गीता-शास्त्र के मुख्य तात्पर्य को मैं अति संक्षेप से स्वयं तुमसे कह देता हूँ कि गोप्य कर्मयोग की अपेक्षा अति गोप्य ज्ञान, मैंने यहाँ तक कहा है और अब ज्ञान की अपेक्षा भी अति गोप्य और सबसे उत्तम मेरे इन वाक्यों को सुनो । यद्यपि इन वाक्यों के

'वचः' वाक्यम् 'भूयः' तत्र तत्रोक्तमपि पुनर्वक्ष्यमाणम् शृणु । न लाभपूजाख्यात्यार्थं त्वां ब्रवीमि किन्तु 'इष्टः' प्रियः असि 'मे' मम 'दृढम्' अतिशयेन इति यतः 'ततः' तेनैवेष्टत्वेन 'वक्ष्यामि' कथयिष्यामि अपृष्टोऽपि सन् अहम् 'ते' तव 'हितम्' परमं श्रेयः ।

तदेवाह—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स 'मन्मनाः' 'भव' सदा मां चिन्तय द्वेषेण कंसशिशुपालादिरपि तथा अत आह 'मद्भक्तः' प्रेम्णा मय्यनुरक्तः । भवेत्यनुषङ्गः मद्विषयेणानुरागेण सदा मद्विषयं मनः कुरु इति विधीयते । त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह 'मद्याजी' मां यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स मत्पूजापरो भव पूजोपकरणाभावे तु 'मां नमस्कुरु' कायेन वाचा मनसा च प्रह्वीभावेन मामाराधय । इदं चार्चनवन्दनादीनामप्युपलक्षणम् एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन् माम् भगवन्तं वासुदेवमेव 'एष्यसि' प्राप्स्यसि त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः 'सत्यं' यथार्थं 'ते' तुभ्यम् 'प्रतिजाने' सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे, यतः प्रियोऽसि मे प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति भावः । 'सति अन्ते' प्रारब्धकर्मक्षयान्ते मति मामेष्यसीति वा अनुवादापेक्षया विधान-भाषा ।

अर्थ को भी भक्ति-काण्ड रूपी छः अध्यायों में स्थान स्थान पर मैंने कह दिया है तथापि तुम पर कृपा से मैं पुनः पृथक् भी कहता हूँ, सुनो । और यद्यपि तुमने अब मुझसे कोई प्रश्न नहीं किया है तथापि तुम मेरे बड़े प्यारे हो, इससे मैं प्रश्न के बिना भी तुम पर केवल कृपा कर तुम्हारे लिए परम हितकारी वचन कहता हूँ न कि अपने किसी अर्थ से ॥ ६४ ॥ और वह वचन यह है कि—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

अर्थात् *'मन्मनाः'* (मुझी में मन रहे जिसका) हो जाओ अर्थात् सदा मेरी भावना किया करो । परन्तु कंस, शिशुपालादि, द्वेष से सदा मेरी भावना जैसी करते थे वैसी न करो किन्तु *'मद्भक्तो भव'* निरुपाधिक प्रेम रूपी भक्ति से मेरी भावना सदा किया करो । यह प्रथम विधान अर्थात् उपदेश है । यदि यह कहो कि मुझ परमेश्वर में भक्ति होने का क्या उपाय है, तो उसका उपाय सुनो— *'मद्याजी भव'* मेरी पूजा किया करो, यह द्वितीय विधान है । यदि पूजा की सामग्री न मिल सके तो *'मां नमस्कुरु'* मन, वचन और कर्म से मुझको नमस्कार किया करो (इस दूसरे और तीसरे उपदेश का तात्पर्य उन गौणी भक्तियों में है जो कि पूर्व में कही जा चुकी हैं) इन मेरे उपदेशों के पालन से आप ही आप हिरण्य-गर्भ के तुल्य मुझमें अन्त में लीन हो जाओगे, इसमें कदापि अणुमात्र भी सन्देह न करना क्योंकि तुम्हारे समक्ष मैं यह सच्ची प्रतिज्ञा इससे करता हूँ कि तुम मेरे प्यारे हो ।

यहाँ देखना चाहिए कि ९ अध्याय के अन्तिम अर्थात् ३४ वें श्लोक (जो मैंने अभी उद्धृत किया है) के *"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु मामेवैष्यसि"* इतने अंश को ही भगवान् इस

दार्ढ्यार्थं प्रथमव्याख्यानमेव श्रेयः ॥ ६५ ॥

अत्र चोपासनाकाण्डान्तर्गतनवमाध्यायावसानस्थपूर्वोदाहृतचतुस्त्रिंशत्तमश्लोकस्थस्यैव 'एष्यसी' त्यन्तभागस्यावर्तनेन तदर्थमनूद्य 'सत्यं ते' इति विश्वासदार्ढ्यार्थं विधीयते—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अधुना 'ईश्वरः' सर्वभूतानां हृदये तिष्ठति तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छेति यदुक्तम् तत् विवृणोति। केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः केचित्सामान्यधर्माः इत्येवं सर्वानपि धर्मान् 'परित्यज्य' विद्यमानानविद्यमानान् वा शरणत्वेन अनादृत्य 'माम्' ईश्वरम् 'एकम्' अद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च 'शरणं व्रज' धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैः भगवदनुग्रहादेव तु अन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणं भावनया भजस्व इदमेव परं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तये-

भाषा

श्लोक में ज्यों का त्यों दुबारा पढ़ कर उसी को अत्यन्त दृढ़ करने के लिए यह कहते हैं *"सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"* ॥ ६५ ॥ (इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना क्योंकि तुम्हारे समक्ष में यह सच्ची प्रतिज्ञा इससे करता हूँ कि तुम मेरे प्यारे हो)।

भक्ति ही में अपने मुख्य तात्पर्य को पुनः पुनः दृढ़ करने के लिए श्री भगवान् ने पुनः यह कहा है कि—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य०" ॥ ६६ ॥ अर्थात् वर्णधर्म, आश्रमधर्म और सामान्यधर्म, इन सब धर्मों पर भरोसा न कर सब धर्मों के अधिष्ठाता और उनके फलों के दाता मुझ अद्वितीय ईश्वर की शरण में आ जाओ अर्थात् यह निश्चय करो कि "धर्म तो जड़ पदार्थ है, इसी से ईश्वर के विना, धर्म कुछ कर नहीं सकता" और जब ऐसा है तब 'सब धर्म चाहे मुझमें हों वा न हों' इस रीति से सब धर्मों की उपेक्षा कर यह निश्चय करो कि "मैं (अर्जुन) भगवान् के स्वतन्त्र अनुग्रह ही से कृतार्थ हूँगा क्योंकि यही परम तत्त्व हैं, इनसे अधिक वा इनके समान कोई पदार्थ नहीं है" और ऐसा निश्चय कर मुझमें निरुपाधि प्रेम से दूसरों की चिन्ता त्याग कर तैल-धारा की नाईं अविच्छिन्न ध्यानधारा से मुझी एक वासुदेव की अनुक्षण चिन्ता करते रहो। ऐसा करने पर चान्द्रायण व्रतादिक और सब प्रायश्चित्तों के विना ही मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूँगा क्योंकि चान्द्रायणादि धर्मों से जैसे पापों का नाश होता है वैसे मैं सब पापों को क्षण में नाश कर देता हूँ। इसलिये तुम शोक अणु-मात्र भी न करो कि युद्ध में बंधुवध रूपी पाप से तुम्हारा छुटकारा कैसे होगा? यहाँ किसी ने यह कहा है कि "इस वाक्य के अक्षरों से केवल धर्मों ही का त्याग करना निकलता है न कि अधर्मों का तो ऐसी दशा में अधर्म करने की अनुज्ञा इससे निकल आती है जो वेद और शास्त्र तथा लोक के विरुद्ध है, इसलिए इस वाक्य में धर्म शब्द का स्वभाव अर्थ है जैसे "दुर्जन का तो निन्दित काम

भाषा

करना धर्म है" इस वाक्य में धर्म शब्द का स्वभाव अर्थ है और जीव के स्वभाव में धर्म तथा अधर्म दोनों अन्तर्गत हैं। इस रीति से पाप के त्याग में भी इस वाक्य का तात्पर्य है" तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस अर्थ में ये चार दोष पड़ते हैं कि—

१—*"परित्यज्य"* से यहाँ परित्याग का विधान (आज्ञा) नहीं है क्योंकि यदि उक्त विधान है तो *"मामेकं शरणं व्रज"* इतने ही से धर्म का भरोसा छोड़ने के निकल आने से धर्म के त्याग का विधान व्यर्थ हो जाता है।

२—पाप का परित्याग यदि यहाँ विधान किया जाय तो यह व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि दुःखदायी पाप से आप ही आप सब द्वेष करते और दूर भागते हैं अर्थात् जब पाप का कोई मनुष्य आदर नहीं करता तब उसके निषेध करने का क्या प्रयोजन है ?।

३—यदि पुण्य और पाप के त्याग करने का विधान यहाँ है तो संन्यास-शास्त्र से पुण्य का और धर्मशास्त्र से पाप का त्याग होने के कारण यह विधान व्यर्थ ही है। यह तो कह ही नहीं सकते कि यह वाक्य भी सन्यास-शास्त्र ही है, इसी से इसमें पुण्य और पाप के त्याग का विधान है क्योंकि जब यह सिद्ध हो जाय कि यह वाक्य संन्यास-शास्त्र है तब यह सिद्ध हो कि इसमें पुण्य और पाप का विधान है और जब ऐसा विधान इससे सिद्ध हो तब यह सिद्ध हो कि यह संन्यास-शास्त्र है, इस रीति से अन्योन्याश्रय दोष पड़ जायगा। वास्तविक में तो इस श्लोक में *"मामेकं शरणं व्रज"* इतने ही भाग से एक भगवान् ही के शरण लेने का विधान है और दूसरों का त्याग तो उसी से आप ही आप आ जाता है, तो ऐसी दशा में उस त्याग के विधान का कुछ प्रयोजन नहीं है।

४—*"परित्यज्य"* का अर्थ भी यहाँ भरोसा छोड़ना ही है न कि त्याग ही कर देना, इसलिए केवल "धर्मों से जैसे स्वर्गादि फल होते हैं वैसे ही धर्मों से मोक्ष भी हो सकता है" इस भूल के निवारण ही के लिए *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* इससे वही बात पूर्व ही कही गई है जो कि *"मामेकं शरणं व्रज"* इस अग्रिम वाक्य से भगवद्भक्ति के विधान में आप से आप आ जाती है। निष्कर्ष यह है कि *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* यह अनुवाद ही है न कि विधान।

अब इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का निचोड़ यह हुआ कि "मुझ (परमेश्वर) में भक्ति से मोक्ष होता है और चान्द्रायणादि व्रतरूपी धर्म के बिना ही पाप भी छूटता है। ये दो फल भक्ति के हैं जिनमें प्रथम फल अर्थात् मोक्ष, वर्णधर्म, आश्रमधर्म अथवा सामान्यधर्म से कदापि नहीं मिल सकता। जैसा कि *"न कर्मणा न प्रजया"* इत्यादि श्रुतियों में कहा है। और इन चान्द्रायण व्रत आदि धर्मों का पाप-नाश रूपी फल मुझ में भक्ति से भी होता है तो ऐसी दशा में हे अर्जुन ! तुम्हें यही उचित है कि सब धर्मों का भरोसा छोड़ मुझमें भक्ति ही करो क्योंकि जब मोक्ष के लिए अनन्य गति हो कर मुझमें भक्ति करनी ही पड़ेगी तब इसी से पापनाश भी हो जायगा अर्थात् "एक पथ दुइ काज" इति।

यदि इस श्लोक में पूर्वार्द्ध का यही तात्पर्य है जो कहा गया तो *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"*

भाषा

इतना भाग व्यर्थ क्यों न हुआ ? क्योंकि उत्तर भाग "*मामेकं शरणं व्रज*" से जब यह विधान हुआ कि तुम केवल मेरी ही शरण आ जाओ तब अन्य सभी का त्याग आप से आप आ जाने से क्या धर्मों का त्याग वा भरोसा छोड़ना नहीं आ गया ? जैसे कि "मुझी से कहो" ऐसा कहने से यह आप ही आ जाता है कि "दूसरे से न कहो" ?

उ०—यह ठीक है कि "मुझी से कहो" इस के अनन्तर "दूसरे से न कहो" इस कहने की आवश्यकता नहीं होती परन्तु 'मुझी से कहो' इस वाक्य के तात्पर्य संक्षेप से चार प्रकार के होते हैं—

(१) यह कि तुम्हारा काम जब मैं भी कर सकता हूँ तब दूसरे से क्यों कहोगे ?

(२) यह कि तुम्हारा काम ऐसा है कि मेरे बिना उसे कोई नहीं कर सकता।

(३) यह कि तुम्हारे दो काम हैं जिनमें से एक ऐसा है कि जिसको मैं ही कर सकता हूँ दूसरा नहीं कर सकता और दूसरा काम ऐसा है कि जिसे दूसरा ही कर सकता है मैं नहीं कर सकता, इसलिए मुझी से कह कर पहिले काम को सिद्ध करो और किसी दूसरे से दूसरे काम के लिए न कहो अर्थात् दूसरे काम को छोड़ ही दो।

(४) यह कि तुम्हारे दो काम हैं जिनमें से एक बड़ा काम ऐसा है कि जिसे दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता किन्तु मैं ही कर सकता हूँ। तथा दूसरा छोटा काम ऐसा है कि जिसको मैं भी कर सकता हूँ और दूसरा भी। तो ऐसी दशा में बड़े काम के लिए अनन्यगति हो कर जब तुमको मुझसे कहना ही पड़ेगा तब दूसरे छोटे काम के लिए क्यों दूसरे से कहोगे ? उसे भी मैं ही कर दूँगा।

इनमें से यदि चौथा तात्पर्य श्रोता को समझना है तो उसके लिए यह अवश्य ही कहना पड़ेगा कि "जिस छोटे काम को दूसरा करेगा उसे भी मैं ही कर दूँगा" क्योंकि तीसरे तात्पर्य के समझाने से श्रोता नहीं प्रसन्न हो सकता। बल्कि दूसरे काम की हानि से श्रोता को खेद होगा। और उसके कहने की दो चालें हैं। एक यह कि साफ साफ कह देना जैसा कि कहा गया है और दूसरी चाल यह है कि निषेध का अनुवाद करना अर्थात् यह कहना कि "दूसरों का भरोसा छोड़ कर" इससे यह अर्थ निकल ही आवेगा कि जब उस बड़े काम के विषय में तुमको दूसरों का भरोसा छोड़ना ही पड़ेगा क्योंकि उसको दूसरा नहीं कर सकता तब इस छोटे काम के लिए भी दूसरों का भरोसा छोड़ कर तुम मुझी से कहो क्योंकि इसको भी मैं ही कर दूँगा। ऐसे ही प्रकृत में "*मामेकं शरणं व्रज*" इस विधान के कहने पर भी पूर्वोक्त चार तात्पर्यों का संक्षेप से यहाँ संभव होने के कारण अर्जुन को यह सन्देह अवश्य होता कि इस वाक्य से भगवान् का उन चारों में से कौन तात्पर्य है और तीसरा तात्पर्य का स्वरूप यही कहा जायगा कि "हे अर्जुन ! तुम्हारे दो काम हैं—एक मोक्ष और दूसरा बन्धु-वध के पाप का नाश। उनमें से मोक्ष मैं दूँगा और दूसरा काम तुम चान्द्रायण व्रत आदि धर्मों से करो अथवा उन पापों के बदले में नरकभोग को स्वीकार करो" तो इस तात्पर्य को समझ कर अर्जुन कदापि न प्रसन्न होते और कहते कि "गुरु-वध महापातक है और धर्मशास्त्रों में सामान्य ब्रह्म-हत्या का

त्पर्यः। अत्र 'मामेकं शरणं व्रज' त्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति निषेधानुवादस्तु धर्मकार्यकारितालाभाय । यज्ञायज्ञीये साम्नि 'ऐरं कृत्वोद्गेय' मित्यत्र 'न गिरा गिरेति ब्रूयादि' तिवत् । तत्र हि (पू० मी० अ० ६ पा० १ अधि० १८) 'आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्धिकारः स्यात् (सूत्र ४६) ज्योतिष्टोमे यज्ञायज्ञीयस्तोत्रे 'न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्गेयमि'ति श्रुतम् । अत्र इरापदगिरापदयोर्विकल्पः उतेरापदमेव नियमेन योज्यमिति संशये सिद्धान्तेनोपक्रमते आम्नातादिति ।अधिकारे एकाधिकारे आम्नातात्साम्नः योनिभूतायामृचि

भाषा

भी बारह वर्ष का प्रायश्चित्त कहा है, तथा नरक-भोग करना कैसे स्वीकार करूँ ? इससे मुझको युद्ध करना ही स्वीकार नहीं है"; इससे यहाँ भगवान् को अपना चतुर्थ ही तात्पर्य अर्जुन के प्रति समझाना था जिसका स्वरूप यह है कि—

"जब मोक्ष के लिए अनन्य गति होकर तुम्हें मेरी शरण लेना ही है तो गुरु-वध आदि पापों का नाश भी मैं ही करूँगा, उसके लिए तुम क्यों चान्द्रायण व्रतादि प्रायश्चित्त धर्मों का आश्रयण करोगे" और इस तात्पर्य के समझाने के लिए भी भगवान् ने *"मामेकं शरणं व्रज"* से प्रथम *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* (सब धर्मों का भरोसा छोड़कर) कहा जिससे यह बात निकल आई कि "मोक्ष के लिए जब तुम्हें सब धर्मों का भरोसा छोड़ना ही पड़ेगा तब इस गुरुवधादि पाप के नाश के लिए भी सब धर्मों का भरोसा छोड़कर मेरी ही शरण गहो क्योंकि मैं तुम्हारे पापों का नाश भी कर दूँगा" । दृष्टान्त में चौथे तात्पर्य समझाने की जो दो बातें अभी कही गई हैं उनमें से यह दूसरी बात अर्थात् निषेधानुवाद है ।

अब ध्यान देना चाहिए कि यदि *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* यह न कहा जाता तो उक्त तीसरे तात्पर्य की शंका का निवारण और उक्त चतुर्थ तात्पर्य का निश्चय अर्जुन को कैसे होता ? इसलिए अब यह अटल सिद्ध हो गया कि यहाँ *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* यह न विधान है और न व्यर्थ है किन्तु यह दिखलाने के लिए कि "जो पाप-नाश रूपी कार्य चान्द्रायण व्रत आदि धर्मों से हो सकता है वह केवल परमेश्वर से होता है । सब धर्मों के आदर के निषेध का यह अनुवाद मात्र ही है कि *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* यद्यपि ये पूर्वोक्त बातें अनन्तरोक्त रीति से युक्ति सिद्ध ही हैं तथापि यदि इसके विषय में अधिक देखना हो तो *"आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्धिकारः स्यात्"* (पू० मी० अ० ६ पा० १ अधि० १८ सूत्र ४६) के शाबर आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए । यहाँ विस्तारभय से उनका उपन्यास नहीं किया गया किन्तु उनका अति संक्षेप यह है कि जिस पदार्थ के निषेध का अनुवाद कर उसके स्थान में जिस अन्य पदार्थ का विधान किया जाता है वे दोनों पदार्थ एक कार्यकारी अवश्य होते हैं इसी से ज्योतिष्टोमयज्ञ के यज्ञायज्ञीयस्तोत्र के *"गिरा गिरा च"* इस मन्त्र शब्द के विषय में *"न गिरागिरेति ब्रूयात् ऐरं कृत्वोद्गेयम्"* (सामगान के समय 'गिरा गिरा' न कहे किन्तु "आइरा आइरा" कहे) इस ब्राह्मण भाग के वाक्य में यह सन्देह है कि क्या 'इरा' और 'गिरा' पदों का विकल्प है ? अर्थात् इनमें से जिसको चाहे उसको कहे अथवा यह नियम है कि

पठितम् अन्यद्विकारः ऋचिपठितवर्णानां नित्यबाधकं स्यात् वचनात्, विशेषविधानात् । ऋचि पठितवर्णबाधकत्वेन प्रयोगकाले विकारेणैव पाठ इति भावः । एतेन सर्वधर्मान्परित्यज्ये-त्युक्तेनाधर्माणां परित्यागो लभ्यते अतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमित्यपास्तम् । न ह्यत्र कर्मत्यागो विधीयते अपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तदनादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थ-वानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम् अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्यागवचनमनर्थकमेव शास्त्रान्तरप्राप्त-त्वाच्च । तस्मात् वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वप्रसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादिति शङ्कावारणा-र्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम् । न च सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेध-शास्त्रेण च लब्धत्वादेव । न चेदमपि संन्यासशास्त्रम्, भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात् । तस्मात् "सर्वधर्मान्परित्यज्ये" त्यनुवाद एव । सर्वेषां तु शास्त्राणां भगवदेकशरणतैव परमं

भाषा

'इरा' पद ही को कहे 'गिरा' न कहे । इस सन्देह में अनन्तरोक्त सूत्र से यह सिद्धान्त किया है कि जब उक्त ब्राह्मण वाक्य में स्पष्ट ही 'गिरा' पद का निषेध कर 'इरा' पद का विधान है तब उक्त मन्त्र में 'इरा' पद ही को कहना चाहिए न कि 'गिरा' पद को ।

अब ध्यान देना चाहिये कि 'गिरा' पद का निषेध कर उसके स्थान में 'इरा' पद के विधान से यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि जो काम यज्ञ सिद्धि रूपी 'गिरा' पद से होता वह 'इरा' पद से होता है और जो अधिक काम 'इरा' पद से होता है वह 'गिरा' पद से नहीं हो सकता । इसीसे उक्त वेदवाक्य में 'गिरा' पद का निषेध कर उसके स्थान में 'इरा' पद का विधान किया गया है । और यहाँ भी वही प्रश्न हो सकता है जो कि "*सर्वधर्मान्परित्यज्य*" पर किया गया है और समाधान भी उसका वही है जो प्रकृत में किया गया है । अर्थात् जब 'इरा' पद के विधान ही से 'गिरा' पद का निषेध निकल आता है तब "*न गिरा गिरेति ब्रूयात्*" यह 'गिरा' पद के निषेध का विधान क्यों नहीं व्यर्थ है ?

उ०—यह निषेध का विधान नहीं है और न व्यर्थ है किन्तु यह दिखलाने के लिए है कि "गिरा" पद का काम 'इरा' पद से चल सकता है परन्तु 'इरा' पद का काम 'गिरा' पद से नहीं चल सकता इसलिए गिरा पद का निषेध अनुवाद मात्र है कि "*न गिरा गिरेति ब्रूयात्*" अर्थात् इसका यह अर्थ नहीं है कि "*गिरा गिरा*" न कहे किन्तु यह अर्थ है कि "*गिरा गिरा न कहकर*" जिससे उक्त ब्राह्मणवाक्य का वास्तविक अर्थ यह होता है कि "*गिरा गिरा*" न कह कर आइरा, आइरा कहे" । ऐसे ही प्रकृत में भी सब धर्मों के निषेध का अनुवाद मात्र कर भगवान् की शरण जाने का विधान है । किसी महाशय का यह मत है कि इस ६६ वें श्लोक का तात्पर्य संन्यास ही में है अर्थात् गीता-शास्त्र की समाप्ति संन्यास ही पर है । परन्तु ऐसे तात्पर्य के न होने में तीन कारण ज्ञात होते हैं कि—

(१) इस वाक्य में 'शरण' शब्द का भक्ति ही अर्थ लोक प्रसिद्ध है न कि ज्ञान ।

रहस्यमिति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात् अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात्। अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु "वक्ष्यामि ते हितम्" "त्वां मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यः" "त्वं मा शुचः" इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम्। तस्मात् संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः, यस्मात् त्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानादरेण अतोऽहं सर्वधर्मकार्यकारित्वात् त्वाम् "सर्वपापेभ्यः" बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संहारहेतुभ्यः मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम अतः "मा शुचः" युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः—

"तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः॥ १॥

तत्राद्यं मृदु यथा—"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्व च न समुद्रो न तारङ्गः"॥ १॥ इति

द्वितीयं मध्यं यथा—
"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते"॥ १॥ इति

तृतीयमधिमात्रं यथा दूतं प्रति यमवचनम्—
"सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्" (१)

भाषा

(२) जब कि ब्रह्मज्ञान के साधनों में पूर्वोक्त रीति से बहुत से बड़े बड़े विघ्न पड़ते हैं कि जिससे ब्रह्मज्ञान का होना तो बहुत ही दूर है उसके साधनों का होना भी असंभव के तुल्य है तो कैसे ब्रह्मज्ञान में इस वाक्य का तात्पर्य हो सकता है?

"*कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः*" (गी० अ० ३ श्लो० २०)

(३) इस पर श्री स्वामी शङ्कराचार्य आदि का यह सिद्धान्त है कि "क्षत्रिय आदि को संन्यास का अधिकार नहीं है" तो ऐसी दशा में अर्जुन क्षत्रिय अनधिकारी के लिए इस ६६ वें श्लोक से संन्यास पूर्वक ब्रह्मज्ञान का उपदेश कैसे हो सकता है?

और कैसे ब्रह्मज्ञान पर गीताशास्त्र की समाप्ति का संभव है क्योंकि गीताशास्त्र की रचना अर्जुन ही के लिए की गई है, यह तो कह नहीं सकते कि "अर्जुन के व्याज से ब्राह्मणों के लिए यह उपदेश है क्योंकि अर्जुन श्रोता जिसके अनधिकारी हैं उस पर समाप्ति कैसे हो सकती है! और यदि यह वाक्य ब्राह्मणों ही के लिए उपदेश माना जाय तो "*ततो वक्ष्यामि ते हितम्*" (अ० १८ श्लो० ६४) (तुम्हारे अर्थात् अर्जुन के लिए हित कहता हूँ) "*त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*" (अ० १८ श्लो० ६६) (तुम अर्थात् अर्जुन को सब पापों से छुड़ा दूँगा) इन वाक्यों का विरोध भी दुर्वार है।

इति अम्बरीपप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः। गीताशास्त्रे साध्यसाधनभावापन्नं निष्ठात्रयं विवक्षितम् उक्तं च बहुधा। तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्ता 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव" इत्यत्रोपसंहृता संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहिता ज्ञाननिष्ठा 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर' मित्यत्रोपसंहृता। भगवद्भक्तिनिष्ठा तूभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्तं उपसंहृता "सर्वधर्मान्परित्यज्ये" त्यत्रेति ॥ ६६ ॥

अस्य श्लोकस्य तात्पर्यं भगवान् शाण्डिल्योऽपि हेत्वपदेशेन निर्णिनाय। तथा च तत्सूत्रम्—

'लघ्वपि भक्त्यधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्' (भ० मी० अ० २ आ० २ सू० २३) अत्र भाष्यम्—लघ्वपि सकृत्स्मरणकीर्तनादिमहतामपि पापानां क्षेपकं नाशकं भवति यतः भक्त्यधिकारे प्रायश्चित्तान्तराणां सर्वेषां त्यागलक्षणं हानं प्रतीयते। तथा च गीतायाम्—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

(गी० अ० १८)

भाषा

यह १८ वाँ अध्याय तीनों काण्ड गीता की समाप्ति का अध्याय है, इसी से इस अध्याय में "*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः*" श्लो० ४६ (अपने वर्ण और आश्रम के धर्म से परमेश्वर का आराधन कर मनुष्य मोक्ष को पाता है) इस वाक्य से निष्काम कर्म के काण्ड की समाप्ति दिखलाई गई है। तथा "*मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्*" श्लो० ५५ (मेरे तत्वज्ञान से मुझमें लीन होता है अर्थात् मोक्ष पाता है) इस वाक्य से ब्रह्मज्ञान के काण्ड की समाप्ति दिखलाई गई और भक्ति की प्रधानता ही के कारण उसके भी अनन्तर '*तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत*' (हे भारत ! सब प्रकार से उन्हीं परमेश्वर की शरण जाओ) इस श्लोक से भक्तिकाण्ड की समाप्ति दिखलाई गई। इसी रीति से पृथक् पृथक् तीनों काण्डों की समाप्ति दिखला कर पुनः "*इति ते ज्ञानमाख्यातं*" इस ६३ वें श्लोक से तीनों काण्डों की समाप्ति दिखला दी गई। और पुनः भी इन ६४, ६५, ६६ तीन श्लोकों (जिनका पूर्ण स्वरूप और पूर्ण *व्याख्यान इस भाषा भाग में अभी कहा गया है*) से कृष्ण भगवान् ने यह दृढ से दृढ सिद्ध कर दिया है कि *गीताशास्त्र से मेरा (परमेश्वर का)* मुख्य तात्पर्य भगवद्भक्ति के मोक्षसाधन होने ही में है अर्थात् इस मेरे गीता-शास्त्र का अन्तिम ताल भगवद्भक्ति के ही शिर पर है ॥ ६६ ॥

तथा भक्ति मीमांसा दर्शनके आचार्य शाण्डिल्य महर्षि ने भी इस ६६ वाँ अर्थात् '*सर्वधर्मान्*' श्लोक का तात्पर्य भगवद्भक्ति ही में लगाया है जैसा कि उनका सूत्र यह है कि "*लघ्वपि भक्त्यधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्*" (भ० मी० अ० २ आ० २ सू० २३) इसका अक्षरार्थ यह है कि भगवान् का स्मरण और कीर्तन आदि छोटी सी सेवा एक बार की हुई भी बड़े बड़े महापातकों को नाश करती है क्योंकि भक्ति के प्रकरण में '*सर्वधर्मान्*' (अ० १८ श्लो० ६६) से चान्द्रायण व्रत आदि सब प्रायश्चित्तों का त्याग करना भक्तों के लिये कहा है इति।

अत्रायमपादस्य न काम्यकर्मत्यागपूर्वकत्वमर्थः । काम्यत्यागे हि पापाभावात्किं भगवता मोक्षणीयं स्यात् । एवं हि नित्यनैमित्तिकत्यागपूर्वकत्वमपि न तदर्थः, तयोस्त्यागे हि यदि विधिरस्ति तदा न ततः पापमिति किं मोक्षणीयम् । न च नास्तीति वाच्यम् 'मामेकमित्यादि वाक्येनैव तद्विधानात् नापि । "सर्वधर्मान्परित्यज्ये" त्यनेन संन्यासिनमनूद्य तदधिकारिकमिदम् तेषामप्यवकीर्ण्यादिप्रायश्चित्तानां स्मरणेन तैः सह विकल्पप्रसंगात् पूर्वमन्महतामननुष्ठानाच्च स्यात् । न च सातत्येन तद्दोषपरिहारः—

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

इत्यादिना लघुनोऽपि महत्त्वेपकत्वबोधनात् । किं च अस्मिन्नध्याये "काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु" रित्यादिना काम्यकर्मत्याग एवोक्तो न संन्यासाश्रम इति

भाषा

और तात्पर्य इस सूत्र का यह है कि उक्त ६६ में गीतावाक्य में *'सर्वधर्मान्परित्यज्य'* इस वाक्य का अश्वमेध आदि काम्य (जिसके करने से फल होता है और न करने में कोई पाप नहीं) कर्मों का त्याग करना अर्थ नहीं है क्योंकि जब उनके त्याग से पाप ही नहीं होता तो कैसे इसी श्लोक में यह कहा गया है कि *"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि"* (मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूँगा) ऐसे ही सन्ध्योपासन आदि नित्य (जो कर्म प्रति दिन किया जाता है और उसका न करना पाप है) और पितृ श्राद्धादि नैमित्तिक (जो भी किया जाता है और उस समय उसका न करना पाप है) कर्मों का त्याग करना भी *'सर्वधर्मान्'* अर्थ नहीं है, क्योंकि जब *"मामेकं शरणं व्रज"* इस वाक्य से इसी श्लोक में नित्य और नैमित्तिक कर्मों के त्याग का विधान है तब ऐसे त्याग से पाप कैसे हो सकता है ! और अर्जुन को किस पाप से छुड़ाने को भगवान् ने इसी श्लोक में कहा है ! तथा यह भी नहीं कह सकते कि भगवान् ने *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* से संन्यासी को उपलक्षित किया है क्योंकि संन्यासियों के लिए भी व्रत भंग का जो प्रायश्चित्त रूपी धर्म धर्मशास्त्रों में कहा है उसके साथ भगवान् के स्मरण आदि रूपी प्रायश्चित्त का विकल्प हो जायगा और यह दोष भी पड़ेगा कि जब छोटे प्रायश्चित्त से भी बड़े पाप का नाश होता है तो धर्मशास्त्रों में बड़े प्रायश्चित्तों का विधान व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि तब क्लेशाधिक्य के भय से उसको कोई न करेगा । यह तो कह नहीं सकते कि जीवन पर्यन्त और निरन्तर भगवान् के स्मरण आदि करने ही से बड़े पातकों का नाश होता है और इसी से इसमें भी धर्मशास्त्रोक्त बड़े प्रायश्चित्तों की नाईं अधिक क्लेश होता है क्योंकि—*"सर्वपापप्रसक्तोऽपि"* अर्थात् सब पापों का करनेवाला भी निमेषमात्र भगवान् को ध्यान करने से पुनः तपस्वी और पंक्तिपावनों का भी पावन हो जाता है । इत्यादि वाक्यों से यह निश्चय है कि भगवान् के थोड़े से स्मरण आदि आराधन से बड़े बड़े महापातक नष्ट हो जाते हैं, तथा गीता के इसी १८ वें अध्याय में *"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः"* (२) इस श्लोक में काम्य कर्मों का त्याग ही कहा है न कि संन्यास आश्रम, तो ऐसी दशा में जब संन्यासाश्रम का कोई प्रसंग ही यहाँ नहीं है

संन्यासस्य बुध्यनारोहान्न संन्यास्यधिकारिकम् तस्मात् यथा लोके "सर्वान्विहाय मां भज क्लेशांस्ते नाशयिष्यामि" इत्यत्र क्लेशनाशकान्तरहानिः प्रतीयते । तथाऽत्र पापनाशकान्तर-त्यागोऽवगम्यते वाक्यादेव । एतेन यदि संन्यासिप्रकरणेऽपि पाठः स्यात् तदापि प्रकरणसंनि-धानयोरपेक्षया वाक्यस्य प्रबलत्वान्न संन्यास्यधिकारोऽत्र शक्येत वक्तुमिति मन्तव्यम्, एवं च प्रायश्चित्तान्तरत्यागसङ्कल्पेन यो भगवन्नामादिभिरार्तिं निराकर्तुमिच्छति तदधिकारिकमेव सकृत्स्मरणादि । तथा च न भिन्नाधिकारदूषणसमुत्थितिः नापि क्लेशभयाङ्कृयसामनुष्ठानम्

दुःखमित्येव यः कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

(गी० अ १८ श्लो० ८) इत्यनेन तादृशत्यागस्य हेयत्वात् ।

कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्तिप्रदं नृणाम् ।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्रानुसंस्मृतः ॥

(वि० पु० अं० ६ अ० ७।१०)

भाषा

तो यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* यह वाक्य संन्यासी के लिए है । और यदि यहाँ संन्यासी का प्रकरण होता तो भी यह कहना उचित नहीं होता कि यह वाक्य संन्यासी के लिए है क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है । और जैसे "सबको छोड़ मेरी ही सेवा करो, मैं तुम्हारे क्लेशों को नाश करूँगा" इस लौकिक वाक्य से क्लेशनाशक अन्य उपायों का त्याग समझा जाता है । वैसे ही *"सर्वधर्मान्परित्यज्य"* इस वाक्य से भी पापनाश के अन्य उपायों अर्थात् चान्द्रायण व्रतादि प्रायश्चित्त रूपी धर्मों का त्याग ही समझा जाता है और वही इस वाक्य का अर्थ है । इसलिए यह सिद्ध हो गया कि अन्य प्रायश्चित्तों के त्याग का निश्चय कर जो प्राणी केवल भगवान् के स्मरण आदि से अपने पापों को नाश करना चाहता है उसी के लिए एक बार स्मरण आदि करने का शास्त्रों में विधान है न कि सबके लिए, अर्थात् भगवान् के एकान्त भक्तों ही के बड़े बड़े पातकों का एक बार भगवान् के स्मरण आदि से नाश होता है न कि सब प्राणियों के पापों का । और जो पुरुष केवल क्लेश के भय से धर्म शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तों का त्याग करता है उसको तो उस त्याग से कुछ लाभ नहीं होता जैसे कि—

"दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥"

(जो मनुष्य किसी शास्त्रोक्त कर्म को दुःखदायी समझ कर काय-क्लेश के भय मात्र से उसको त्याग करता है वह उस रजोगुणी त्याग से कदापि नहीं लाभ उठा सकता) यह कहा हुआ है और भगवद्भक्त के एक बार ही स्मरण आदि करने से भी बड़े बड़े पातकों का नाश होना अन्यान्य वाक्यों से भी सिद्ध है जैसे कि—

"कलिकल्मषः" नरक दुःख का देने वाला कलिकाल का महापातक, एक बार भगवान् के स्मरण से तुरन्त ही नष्ट हो जाता है ।

इत्यादि तदधिकारपरं यथा—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

(गी० अ० ९)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

इत्यादिना—नारकाः कृष्ण कृष्णेति नारसिंहेति चुक्रुशुः।
इति संकीर्तिते विष्णौ नारकैर्भक्तिपूर्वकम् ॥ (नृ० पु० अ० ८)
नारक्यो यातनाः सर्वास्तेषां नष्टा महात्मनाम्।

इत्यादिना च भक्त्यधिकारः सुव्यक्तः तत्र कीर्तनस्योच्चारणमात्रत्वं प्रतीतम्। न तु प्रथमान्तपदेनेत्यादिनियम इति।

हरिकीर्तनादौ च न प्रायश्चित्तान्तरेष्विव नखलोमवपादीनामङ्गत्वमित्यपि सहेतुकं सनिदर्शनं च महर्षिरेवोवाच तथा च तदुत्तरं सूत्रं समाप्यम्।

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले वालीवत् ॥ २३ ॥

भाषा

"*अपि चेत्सुदुराचारो* (३०) (गी० अ० ९) मेरे भक्ति की यह भी महिमा है कि अजामिल आदि की नाईं दुराचारी प्राणी भी यदि भाग्यवश मुझमें भक्ति करता है तो यद्यपि वह प्रथम से असाधु है तथापि भक्ति करने पर साधु ही माना जायगा क्योंकि उस समय उसका निश्चय अच्छा है।

"*क्षिप्रं भवति*" (३१) और उस अच्छे निश्चय से वह अपने चिरकालिक दुराचार को त्याग कर तुरन्त ही सदाचारी हो जाता है तथा विषयभोग की इच्छा उसकी निवृत्त हो जाती है। यह शंका कदापि नहीं करनी चाहिए कि यदि पूर्व का पापात्मा, भक्त होने पर धार्मिक न हुआ तब तो वह नष्ट ही हो जायगा क्योंकि मेरा भक्त वह कदापि नष्ट नहीं होता।

"*नारकाः कृष्ण कृष्णेति*" नरकियों ने 'कृष्ण' 'कृष्ण' "नारसिंह" ऐसी चिल्लाहट मचाई और इस रीति पर भक्ति-पूर्वक हरिकीर्तन होने से वे नरकी जीव दुरात्मा से महात्मा हो गये और उनकी नरक-यातना सब उसी समय नष्ट हो गई। यहाँ कीर्तन से नामोच्चारण मात्र ही का ग्रहण है न कि उसमें यह भी नियम है कि व्याकरण की रीति से नामों में विभक्ति लगा ही कर उच्चारण करना चाहिए। यह तात्पर्य अनन्तरोक्त शाण्डिल्य सूत्र का है। और इस सूत्र के अनुसार जब "*सर्वधर्मान्परित्यज्य*" इस गीता श्लोक का भक्ति ही में तात्पर्य है तब यह बात और भी निश्चित हो गई कि गीताशास्त्र का अन्तिम ताज भगवद्भक्ति ही के सिर पर है। और भगवद्भक्तों के पापनाश के लिए अनन्तरोक्त हरिकीर्तन आदि प्रायश्चित्त में अन्य प्रायश्चित्तों की नाईं मुण्डन और नख-कर्तन आदि धर्मशास्त्रोक्त किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है जैसा कि—

"*तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले वालीवत्*" (भ० मी० अ० २ आ० २ सू० २३) है। इसका यह

"प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं पर" (वि० पु० अं० २ अ० ६।३४) मित्यादौ नामातिदेशेन प्रायश्चित्तान्तरधर्मस्तु न मन्तव्यः। प्रायश्चित्तस्थानत्वात् तत्स्थाने विहितत्वादित्यर्थः। यथा "खले वाली यूपो भवती" (अश्व० श्रौतसूत्र अ० ६ सं० ७) त्यत्र पशुनियोजने यूपकार्ये खले वालीविधिरिति। न यूपधर्माष्टास्रिकरणादिप्रसङ्गः तद्वत् अत्र नखलोमवापनादीनां प्रायश्चित्तधर्माणामप्राप्तिः। न च कीर्तनादेरपि पापक्षयहेतुत्वात्प्रायश्चित्तत्वमेवेति वाच्यम्।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

इत्यनेन तपो रूपे प्रायश्चित्तशब्दो मुख्योऽन्यत्र गौण इति निर्णयादिति, इति निदर्शनं चोक्तानामर्थानां दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

तत्र भागवते ७ स्कन्धे ६ अध्याये प्रह्लादकृता स्तुतिः—

यथा प्रह्लाद उ०—ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।

भाषा

अर्थ है कि "*प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्*" (विष्णुपुराण अं० २ अ० ६ श्लो० ३४) इस वाक्य में यद्यपि हरिस्मरण को प्रायश्चित्त अर्थात् पापों का नाशक कहा है तथापि इस प्रायश्चित्त में अन्य प्रायश्चित्तों की नाईं मुण्डन आदि नहीं किये जाते क्योंकि अन्य प्रायश्चित्तों का निषेध कर उनके स्थान में हरिस्मरण का विधान है अर्थात् जब अन्य प्रायश्चित्तों का निषेध हुआ तब उनके अङ्ग मुण्डनादि का भी आप ही आप हो गया जैसे कि आश्वलायन श्रौत्र सूत्र में यह कहा है कि "खले वाली" (खलिहान के बीच का स्तंभ) यूप अर्थात् यज्ञस्तम्भ होता है। यहाँ पशुबन्धन रूपी यूपकार्य के लिए यज्ञ यूप का निषेध कर उसके स्थान में खले वाली का विधान है, इसी से यूप का स्वभाव आठ पहल आदि खले वाली में नहीं होते अर्थात् खले वाली, यूप के ऐसा छीलकर अष्टकोण नहीं बनाया जाता। यहाँ यूप शब्द का प्रयोग "*सिंहो माणवकः*" की नाईं यूप सदृश होने के कारण गौण है। ऐसे ही हरिकीर्तन में भी प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग प्रायश्चित्त के सदृश होने अर्थात् पापनाशक होने के कारण गौण है और प्रायश्चित्त शब्द का शास्त्रोक्त काय-क्लेश ही मुख्य अर्थ है जैसा कि—

"*प्रायो नाम०*" तप अर्थात् काय-क्लेश को "प्राय" कहते हैं और निश्चयकारी शास्त्र को 'चित्त' कहते हैं। इसी रीति से निश्चय युक्त तप प्रायश्चित्त कहलाता है।

यहाँ तक भक्ति के विषय में जो कुछ विचार किया गया उसके दो उदाहरण अब दिखलाए जाते हैं—एक प्रह्लाद की की हुई, दूसरी भीष्म की की हुई परमेश्वर की स्तुति। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध ९ अध्याय में प्रह्लाद ने ४३ श्लोकों से श्री नरसिंहावतार परमेश्वर की स्तुति किया है जो यह है कि—

"*ब्रह्मादयः*" ब्रह्मा आदि देवगण और मुनिगण तथा ज्ञानी लोग बड़े बड़े सात्विक भी अपने वचनों के प्रवाह और शम आदि गुणों से भी जिन परमेश्वर को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं होते

नाराधितुं पुरुगुणैरधुनाऽपि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८ ॥
मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥ ९ ॥
विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनो वचने हितार्थ-
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ॥ १० ॥
नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।

भाषा

उस परमेश्वर का सन्तोष आसुरी जाति वाले मुझसे कैसे हो सकता है ! ॥ ८ ॥

"मन्ये०" तथापि मैं यह ठीक समझता हूँ कि धन, अच्छे कुल में जन्म, सौन्दर्य, तप, पाण्डित्य, इन्द्रियों की यथार्थ शक्ति, शरीर की चमक, प्रताप, बल, उद्योग, अच्छी बुद्धि और योगाभ्यास, ये बारहों गुण भी परमेश्वर को सन्तुष्ट नहीं कर सकते क्योंकि गजेन्द्र पर केवल भक्ति ही से परमेश्वर सन्तुष्ट हुए ॥ ९ ॥

"विप्राद्०" अनन्तरोक्त १२ गुणों अथवा ज्ञान, सत्य, दम, पाण्डित्य, अद्वेष, लोकलज्जा, सहन-शीलता, अनिन्दा, यज्ञ, दान, धृति, शम, इन १२ गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि परमेश्वर के चरणारविन्द से विमुख हो तो उसकी अपेक्षा उस (श्वपच) चाण्डाल को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ जिसने कि परमेश्वर के चरणारविन्द में अपने मन, वचन, क्रिया, धन और प्राण को समर्पण कर दिया है, क्योंकि ऐसा श्वपच अपने सम्पूर्ण कुल को पवित्र कर सकता है और वैसा गर्वित ब्राह्मण, कुल को कौन कहे अपने को भी नहीं पवित्र कर सकता । निदान भगवद्भक्ति के बिना उक्त सब गुण केवल गर्वकारक ही होते हैं । इसलिए परमेश्वर के सन्तोष का भक्ति से अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ १० ॥

प्र०—तब क्या प्राकृत जनों की नाईं परमेश्वर भी दूसरे से धनादि के अर्पण की अपेक्षा करते हैं !

उ०—"नैवात्मनः" इसका अक्षरार्थ यह है कि करुणा-वरुणालय स्वय परिपूर्ण यह प्रभु (परमेश्वर) इस अज्ञानी और दरिद्र जन से अपना मान (सत्कार) कदापि नहीं चाहते । यह जन, परमेश्वर के अर्थ जो जो मान करता है वह सब अपने लिए करता है । जैसे मुख ही की श्री (तिल-कादि शोभा) प्रतिबिम्ब के लिए होती है । तात्पर्य इसका यह है कि यदि कोई चाहे कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख पर तिलक की शोभा ले आ दूँ तो बिम्ब (मुख) में तिलक लगाए बिना अन्य

यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२ ॥

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाऽद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

भाषा

किसी उपाय से वह मुख के प्रतिविम्ब में तिलक की शोभा कदापि नहीं ले आ सकता और मुख में जब तिलक लगा देता है तब आप ही आप प्रतिविम्ब में तिलक की शोभा हो जाती है। ऐसे ही माया रूपी दर्पण में चैतन्य रूपी ईश्वर का प्रतिविम्ब रूपी जीव, अपने विम्ब रूपी ईश्वर में समर्पण किए हुए शुभ फल को पाता है और दूसरा कोई उपाय शुभ फल पाने का नहीं है तथा इसी से ईश्वर में किसी को शुभ फल देने के कारण विषमता दोष नहीं है क्योंकि जो जैसा शुभाशुभ समर्पण करेगा वैसा ही पावेगा ॥ ११ ॥

"*तस्मादहं*" जब उक्त रीति से भगवान् केवल भक्ति ही से सन्तुष्ट होते हैं तब मैं नीच भी निःशङ्क हो कर अपनी बुद्धिशक्ति के अनुसार भगवान् की महिमा को वर्णन करता हूँ और उस महिमा को पूर्ण रीति से न जानकर की हुई भी यह मेरी स्तुति मुझको पवित्र करेगी क्योंकि अज्ञानी संसारी नीच पुरुष को पवित्र करने का, उस महिमा का वर्णन ही एक मात्र उपाय है ॥ १२ ॥

यहाँ तक पाँच श्लोकों से भगवान् की स्तुति करने में अपनी योग्यता दिखला कर अब भगवान् से कोप शान्ति की प्रार्थना दो श्लोकों से करते हैं—

"*सर्वे ह्यमी*" हे ईश ! इस समय आप के कोप से डरते हुए ये ब्रह्मा आदि सब सत्व मूर्ति, आप के आज्ञाकारी भक्त ही हैं न कि अन्य, और भाव भी इनका आप में हम असुरों की नाईं वैर भाव से नहीं है किन्तु भक्ति ही है तथा आप की रमणीय अवतार रूपी क्रीड़ा भी जगत् के कल्याण ही के लिए हुआ करती है न कि भय उत्पन्न करने के लिए ॥ १३ ॥

"*तद्यच्छ मन्यु*" और जिसके लिये यह कोप किया गया वह दैत्य भी साधुओं के सन्तोषार्थ आज ही मारा जा चुका जिससे साधुओं का सन्तोष हो गया और उचित भी यही है। क्योंकि सर्प और वृश्चिक आदि उपद्रवियों के वध से विश्व के कल्याण होने के कारण साधुओं को सन्तोष होता है।

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥ १४ ॥

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजःक्षतजकेशरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ १५ ॥

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥ १६ ॥

तस्मात्प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।

भाषा

तथा इस क्रोध का यह भी फल हो चुका कि जगत् का कल्याण हुआ और इस नरसिंह स्वरूप के स्मरण ही से जगत् में आगामी विघ्नों का भी वारण हो जायगा । इस रीति से जब इस कोप का अब कोई अच्छा फल होने से अवशिष्ट नहीं रहा बल्कि इन ब्रह्मादि भक्तों को इस कोप से भय ही हो रहा है तब मेरी यह प्रार्थना है कि अब यह कोप शान्त कर दिया जाय ॥ १४ ॥ मैं अन्य भक्तों ही के लिए इस कोपशान्ति की प्रार्थना करता हूँ न कि अपने लिए, क्योंकि—

"नाहं बिभेम्य०" हे अजित ! मैं आपके इस रूप से भी नहीं डरता जिसमें कि मुख, जिह्वा, सूर्यतुल्य नेत्र, भृकुटी और उग्र दंष्ट्राएँ बड़ी भयानक हैं तथा आँत की माला, रुधिर से आर्द्र, मीनकेश, कील से खड़े खड़े कान, दिग्गजों को डरपाने वाला गंभीर निर्घोष और शत्रुओं को फाड़ने वाले नखाग्र हैं ॥ १५ ॥

किन्तु मुझको एक दूसरा ही भय है कि—

"त्रस्तोऽस्म्यहं०" हे कृपणवत्सल (दीनबन्धो) ! हे उशत्तम (करुणामूर्ते) ! अपने किए हुए कर्मों से बँधा हुआ मैं इस दुःखमय भयानक संसार-चक्र में इन हिंसाशील दैत्यों के बीच फेंका गया हूँ, यही भय मुझको है । इसलिए मैं यही प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि आप, मोक्ष मूर्ति अपने चरण-कमल के शरण में कब मुझे बुलावेंगे ! ॥ १६ ॥

यद्यपि यह सिद्धान्त है कि आपके प्रति यदि जीव अपने को दास-भाव से देख कर आपका भजन करे तो आपकी प्रीति होती है जिससे कि दूसरे फलों को कौन कहे, मोक्ष भी दुर्लभ नहीं है । तथापि—

"तस्मात्प्रिया०" प्रिय पदार्थों के नाश और अप्रिय पदार्थों के आघात से उत्पन्न शोक रूपी प्रचण्ड अग्नि से प्रत्येक योनियों में जब मैं जलता हुआ भ्रमण कर रहा हूँ तब मुझको आपके दास

दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाऽहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥ १७ ॥
सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया-
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अंजस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्ग ॥ १८ ॥
बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥ १९ ॥

भाषा

का ज्ञान कैसे हो सकता है ? और इस दारुण दुःख का जो कोई लौकिक औषध है वह भी दुःख रूपी ही है तथा इस पर भी अज्ञान की मार यहाँ तक पड़ रही है कि देह इन्द्रिय आदि के अभिमान से सदा मूढ़ हो रहा हूँ, इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि आप ही अपने दास्ययोग का उपदेश मुझे दीजिए ॥ १७ ॥

प्रश्न—दास्ययोग में प्रवृत्त होने पर भी जो पूर्वोक्त अनेक दुःख रूपी विघ्न हैं उनका कैसे परिहार होगा ?

उत्तर—"*सोऽहं प्रियस्य०*" ऐसे परिहार होगा कि जब आपके उपदेश से मैं दास्ययोग में प्रवृत्त हूँगा तब आप ही के अनुग्रह से आपके बड़े बड़े ज्ञानी भक्तों का साथ मुझे मिलेगा। उस समय ब्रह्मा आदि की गाई हुई अपने बड़े प्यारे आप की लीला-कथाओं को श्रवण करता रहूँगा और उसी श्रवण के अनुग्रह से मेरे रागद्वेष आदि दोष छूट जायँगे। तब मैं उक्त दुःखों को कुछ भी न गिनूँगा ॥१८॥

प्रश्न—लौकिक दुःखों का औषध जब लोक में प्रसिद्ध ही है तब दूसरे के दास्य से क्या प्रयोजन है ?

उ०—'*बालस्य मे०*" हे नृसिंह ! लोक में दुःख के वारण का उपाय जो इष्ट है वह आप से विमुखों के दुःखों को क्षणमात्र ही टाल सकता है न कि सदा के लिए। देखना चाहिए कि माता और पिता भी अपने बालक की पूर्ण रक्षा नहीं कर सकते क्योंकि उनके पालन करने के समय भी बालकों को व्याधि, मृत्यु आदि अनेक दुःख हो ही जाते हैं तथा औषध भी रोगियों का सदा रक्षक नहीं होता क्योंकि औषध सेवन करने पर भी मृत्यु हो जाती है और समुद्र में डूबते हुए पुरुष के लिए नौका भी रक्षक नहीं हो सकती क्योंकि किसी समय पुरुष के साथ ही वह स्वयं डूब जाती हैं ॥ १९ ॥

प्र०—कहीं किसी कारण से किसी वस्तु के द्वारा किसी समय में किसी के लिए किसी से प्रेरित होकर किसी रीति से कोई रक्षक भी लोक में होता ही है, तब क्यों ऐसा कहते हो ?

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथगस्वभावः
संचोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥ २० ॥
माया पुनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन नोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥ २१ ॥
स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२ ॥
दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति यां जनोऽयम् ।

भाषा

उ०—"यस्मिन्यतो०" जिस स्थान में, जिस कारण से, जिस वस्तु के द्वारा, जिस समय में, जिसके लिए, जिससे प्रेरित होकर, जिस रीति से, जो ब्रह्मा आदि बड़ा अथवा पिता आदि छोटा अपने स्वभाव के अनुसार जिसका रक्षक अथवा भक्षक होता है वह सब आप ही का स्वरूप है। आप से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥

"माया पुनः" हे विभो ! इस रीति के अनुसार हम संसारियों का आप से अन्य कोई रक्षक नहीं है इस से मेरी यह प्रार्थना है कि हम शरणागतों की आप ही रक्षा करें अर्थात् काल से प्रेरित सत्व, रज, तम गुण वाली आप की माया, आप के अंश पुरुष पर अनुग्रह से क्रियामय और वेदोक्त कर्मकारी मन रूपी प्रबल लिङ्ग को उत्पन्न करती है जिसको कि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पृथिवी आदि पांचभूत और एक मन, इन सोलह आर वाला संसार-चक्र कहते हैं। तो बिना आप के भजन के कौन ऐसा है कि जो इस चक्र की प्रेरणा से बच जाय। और यद्यपि माया का संबन्ध आप से भी है। तथापि माया का प्रेरक काल तथा रागद्वेष आदि बुद्धि के गुण और जगत् के प्रसिद्ध सब कार्यकारण आप की चेतनशक्ति के वशीभूत हैं, इसलिए उक्त चक्र में ईख की नाई पेरे जाते हुए मुझको अपने समीप में आकर्षण कीजिए ॥ २१ ॥ २२ ॥

यदि मेरे लिये यह कहा जाय कि क्यों संसार दुःख से तुम उद्विग्न हो ? तुमको लोकपालों का स्थान दिया जायगा और इस पर भी यदि तुम सन्तुष्ट न हो तब तुम अपने पिता ही का राज्य लो, तो इस पर भी मेरी यह प्रार्थना है कि—

"दृष्टा मया०" हे विभो ! क्या मैंने लोकपालों के उन जीवन, सम्पत्ती और प्रताप आदि को जिनको कि अन्य लोग चाहते हैं, नहीं देखा है ? अथवा यह नहीं देखता हूँ कि मेरे पिता के कोप,

येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥ २३ ॥
तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽत्र
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोऽपनय मां निजमृत्युपाशात् ॥ २४ ॥
क्वाशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥ २५ ॥
क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।

भाषा

हास और भृकुटी मात्र से वे सब बिगड़ गये ! अथवा यह नहीं देखता हूँ कि वह मेरे पिता आप के हाथ से मारे यह पड़े हैं। तो ऐसी दशा में अन्य जनों के प्रार्थनीय इन भोगों के इस अन्तिम परिणाम को देखकर भी मैं कैसे इन भोगों को चाहूँ क्योंकि ब्रह्मादि के भी ये सब भोग और अणिमा आदि सिद्धियाँ भी काल रूपी आप के पराक्रम से एक न एक समय में अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं, इससे मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे अपने दासों के समीप बुला लिया जाय ॥ २३ ॥ २४ ॥

"*क्वाशिष०*" ये उक्त सब भोग केवल भविष्यत् ही में तुच्छ नहीं हैं किन्तु वर्तमान समय में भी इनमें कुछ तत्व नहीं है क्योंकि मृगतृष्णा के तुल्य तथा केवल सुनने मात्र से सुखदाई वे सब मिथ्या भोग कहाँ ! और सब रोगों का जन्म-स्थान यह शरीर कहाँ ! तथापि इनकी तुच्छता को जान बूझ कर भी लोगों को जो इन भोगों से वैराग्य नहीं होता उसमें कारण यह है कि वे लोग अपने अन्तःकरण में लगी हुई ज्वलित काम रूपी अग्नि को दुःखसाध्य सुखलेश रूपी छोटी छोटी जलबिन्दिओं से बुझाने में प्रतिक्षण व्यग्र रहा करते हैं। इससे इन भोग के दोषों पर विचार करने का अवसर उनको नहीं मिलता। और सच तो यह है कि माया का प्रताप अचिन्त्य और आश्चर्य है कि जो उन विवेकियों को भी सब समय मोहित किए रहता है। तात्पर्य यह है कि पतङ्ग भी अग्नि के प्रताप को बिना जाने ही प्रकाश के लोभ से प्रज्वलित दीप में गिरता है तथा मीन भी बंसी को बिना जाने ही चारा का भक्षण करता है परन्तु उक्त भोगों तथा शरीरों के प्रत्यक्ष दोषों को भली भाँति जानते बूझते लोग भी जो इस संसार-चक्र में गिरकर पेरे जाते हैं और प्रायः उनको वैराग्य नहीं होता सो यह आश्चर्य आप की प्रबल उस माया का प्रताप नहीं है तो क्या है ? ॥ २५. ॥

यदि यह कहा जाय कि मेरी माया जब इतनी प्रबल है तो तुमको कैसे इन भोगों पर वैराग्य आया ! तो इस विषय में मेरी यह प्रार्थना है कि यद्यपि मैं अयोग्य हूँ तथापि मुझ पर जो आप की कृपा है उसी से यह विराग प्राप्त हुआ है क्योंकि—

न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥
नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्यात्
जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७॥
एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।
कृत्वात्मसात्सुरर्षिणा भगवन्गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥ २८ ॥
मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।

भाषा

"क्वाहं" कहाँ रजोगुण और तमोगुण से भरे हुए दैत्य कुल में उत्पन्न मैं और कहाँ आपकी कृपा कि ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी को भी जो दुर्लभ है, वह आप का कर (हाथ) कमल रूपी प्रसाद मेरे शिर पर समर्पित हुआ ॥ २६ ॥

"नैषा०" और मेरे ऐसे नीच पर आप की ऐसी कृपा होना कुछ आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि "ब्रह्मा आदि उत्तम हैं और यह दैत्य नीच है"। यह बुद्धि प्राकृत जनों की है न कि आप की, क्योंकि आप सब जगत् के तुल्य ही अन्तरात्मा और समदृष्टि हितैषी हैं तथापि जो मेरे ऐसा सब पर आपका प्रसाद नहीं होता, उसमें कारण यह है कि अपनी अपनी की हुई सेवा और इच्छा के अनुसार प्रत्येक को फल हुआ करता है। जैसे कि कल्पवृक्ष सबके लिए तुल्य ही है तथापि जो उसकी छाया में जाकर जैसे फल की इच्छा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है चाहे वह जाने वाला नीच हो वा उत्तम। अर्थात् आपके प्रसाद रूप फल के लाभ में आपकी सेवा ही कारण है, न कि सेवक की उच्चता ॥ २७ ॥

"एवं जनं" जैसे आपकी कृपा मुझ पर है वैसे ही जन्मपरम्परा से जन्म-मृत्यु रूपी सर्प वाले संसार-कूप में गिरा हुआ यह किंकर (मैं) आपके दास नारद देवर्षि से भी पूर्व ही अनुगृहीत हो चुका है तो आप के दासों की सेवा यह दास कैसे छोड़ सकता है! इसलिये इस दास को अपने दासों ही के समीप बुलाया जाय ॥ २८ ॥

"मत्प्राणरक्षण०" हे अनन्त! मैं यह समझता हूँ कि यह जो मेरी रक्षा की गई और मुझको मारने पर उद्यत मेरे पिता का वध किया गया, ये दोनों बातें अपने भृत्य सनत्कुमार ऋषि के वाक्य को सत्य करने ही के लिए की गयीं न कि मुझ पर अनुग्रह के लिये, क्योंकि अनुचित करने पर कटिबद्ध मेरे पिता ने यह कहा था कि मुझसे अन्य ईश्वर यदि है तो तेरी (प्रह्लाद की) वह रक्षा करें, मैं तेरा शिर काटता हूँ। तात्पर्य यह है कि सनत्कुमार ऋषि ने नारायण के अनुचरों को शाप देकर

खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २६ ॥
एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥ ३० ॥
त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।

माया

यह अनुग्रह किया था कि "तुम जब दैत्यादि योनि में जाओगे तब नारायण तुम्हारा उद्धार करेंगे" उनकी इस बात को सत्य करने ही के लिए आपने मेरे पिता का उद्धार किया ॥ २६ ॥

"एकस्त्वमेव०" जब आप सबके आत्मा हैं तब मेरे पक्षपात से दैत्य का वध करना आपका स्वभाव नहीं हो सकता, किन्तु माया के गुण रूपी उपाधि ही से ऐसा हुआ, क्योंकि एक आप ही इस जगत् के कारण और अवधि अर्थात् आदि अन्त में रहते हैं, इसी से मध्य में भी आप ही हैं और अपनी माया के परिणाम रूपी इस जगत् को उत्पन्न कर इसमें प्रविष्ट हो सत्व, रज, तम आदि गुणों के कारण झूठा भेद दिखला कर झूठा ही रक्षक और भक्षक से लोगों की दृष्टि में दिखलाई देते हैं और वास्तविक यह जगत् आप से अन्य नहीं है और न आप रक्षक हैं और न भक्षक ॥ ३० ॥

प्र०—यदि सब जगत् आपसे भिन्न नहीं है तो जीवों की विषम दृष्टि, आप की क्यों न मानी जाय, क्योंकि वे तो आप से भिन्न नहीं हैं ?

उ०—"*त्वं वा इदं*" हे ईश ! यह कार्य और कारण रूपी जगत् आप ही का स्वरूप है, आप से पृथक् नहीं है तथापि आप तो इस जगत् से अन्य ही हैं। जैसे यव और गोधूम आदि पृथिवी से अन्य नहीं हैं परन्तु पृथिवी उनसे अन्य है और वीची, तरंग, बुद्बुद् आदि समुद्र से अन्य नहीं हैं परन्तु समुद्र उनसे अन्य ही है अर्थात् विशेष, सामान्य से अन्य नहीं होता परन्तु सामान्य, विशेष से अन्य ही होता है क्योंकि विशेष की उत्पत्ति से पूर्व और उसके नाश से पश्चात् भी सामान्य रहता है। प्रसिद्ध है कि वीची आदि समुद्र से ही उत्पन्न होकर उसी में लीन होते हैं और मध्य दशा अर्थात् वीची आदि की दशा में भी समुद्र रहता ही है, इससे वीची आदि समुद्र से भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि कार्य, कारण से अभिन्न होता है और कारण तो कार्य से भिन्न ही होता है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से पृथिवी भिन्न है परन्तु वृक्ष और बीज, पृथिवी से भिन्न नहीं हैं। ऐसे ही कारण और सामान्य रूपी आप से यह जगत् भिन्न नहीं है परन्तु आप इस जगत् से भिन्न ही हैं। इसी से जीवों के दोष, विषम दृष्टि आदि आप में नहीं हो सकते। और इसी अभिप्राय से यह श्रुति है कि "*वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*" "घट आदि कार्य केवल कहने के लिये नाम मात्र हैं किन्तु उनकी अपेक्षा मृत्तिका रूपी कारण ही सत्य है" तथा इसी श्रुति के अनुसार "*तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः*" वेद० अ० २ पा० १ सू० १४। यह व्यास-सूत्र भी है। (पूर्व ही

यदस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥
न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनि पीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥ ३२ ॥
तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
संचोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत्स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥ ३३ ॥
तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥ ३४ ॥

भाषा

भक्ति के लक्षण पर ये सब बातें बड़ी बड़ी युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी हैं) ॥ ३१ ॥

अब मैं सब जगत् के अन्त में आपका स्थित होना निवेदन करता हूँ कि—"न्यस्येद०" इस सब जगत् को अपने में रखकर अपने स्वरूप आनन्द को अनुभव करते आप प्रलय जल के मध्य में शयन करते हैं, तब क्या मैं (ईश्वर) तमोगुणी निद्रा में जीवों के ऐसा मग्न हो जाता हूँ ! नहीं २, अपनी योगशक्ति से आँख बन्द कर अपने प्रकाश से तमोगुण को नाश कर आप अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं, यही तुरीय अवस्था है और मैंने बाह्य क्रिया न करने के कारण उसी तुरीयावस्था को 'निद्रा' शब्द से कहा है ॥ ३२ ॥

अब मैं जगत् की उत्पत्ति से प्रथम आपका स्थित रहना दिखला कर मध्य में भी जगत् रूप से आपकी स्थिति निवेदन करता हूँ कि—"तस्यैव ते०" उक्त शयन के अनन्तर अपनी कालशक्ति से प्रेरित सत्व, रज, तम आदि मायागुणों से आप इस जगत् को बनाते हैं, इसी से यह जगत् आप ही का स्वरूप है न कि दूसरे का, और उस सृष्टि का यह क्रम है कि जब शेषनाग रूपी पलँग से आपकी समाधि छूटती है तब जैसे वट बीज से महावृक्ष उत्पन्न होता है वैसे आपकी नाभि से कमल उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

अब शुद्ध सत्व रूपी ब्रह्मदेव के अनुभव से आपकी इस पुरानी अवस्था को सिद्ध कर मैं निवेदन करता हूँ कि—"तत्संभव०" उक्त कमल से उत्पन्न होकर ब्रह्मदेव ने उसके बीज कारण को न देख कर अपने अर्थात् ब्रह्मदेव में पूर्ण व्याप्त आपको भी नहीं पाया और यह ठीक भी है कि वृक्ष उत्पन्न होने पर यद्यपि बीज उसमें व्याप्त रहता है तथापि बीज को कोई पृथक् नहीं देख सकता ॥ ३४ ॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥ ३५ ॥

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासाऽऽस्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥ ३६ ॥

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवञ्च बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वाऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥ ३७ ॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ सत्त्वम् ॥ ३८ ॥

भाषा

"*स त्वात्मयोनि०*" और प्रलय जल में चिरकाल तक डुब्बी मारने पर भी उनको बीज का पता नहीं लगा तब श्रान्त होकर कमल ही पर पुनः पलट आये और अपने मन में बड़ा आश्चर्य माना। तदनन्तर चिरकाल तक बड़े तीव्र तप रूपी ध्यान से आप की उपासना करने के अनन्तर आप की कृपा से पृथ्वी में गन्ध ऐसा अपने हृदय ही में आपको व्याप्त देखा ॥ ३५ ॥

"*एवं सहस्र०*" और सहस्रों मुख, चरण, शिर, हस्त, ऊरु, नासिका, कर्ण, नेत्र, भूषण और आयुधों से भरे आपके मायामय अचिन्त्य महापुरुष रूप के दर्शन से ब्रह्मदेव बहुत ही आनन्दित हुए ॥ ३६ ॥

"*तस्मै०*" उस समय आप ने उन पर यह अनुग्रह किया कि रजोगुण और तमोगुण रूपी मधु और कैटभ नामक दैत्यों ने अपने बलात्कार से वेदों को हरण कर लिया था और सत्वगुण रूपी आप ने हयग्रीव मूर्ति धारण कर उन दैत्यों को मार वेदों को ब्रह्मदेव के हृदय में ला दिया ॥ ३७ ॥

जो मैंने यहाँ तक "*एकस्त्वमेव*" इत्यादि श्लोकों से यह कहा है कि "पक्षपात से मेरी रक्षा और शत्रु का वध करना आपका केवल उपाधिकृत ही है न कि वास्तविक, इसको मैं अब समाप्त करता हुआ निवेदन करता हूँ कि—"*इत्थं नृतिर्य०*" हे महापुरुष ! उक्त रीति से आप लोगों की रक्षा करते तथा दुष्टों को मारते हुए द्वापर पर्यन्त तीनों युगों में सदा धर्म का पालन करते रहते हैं परन्तु कलियुग में आप के प्रधान अवतार नहीं होते इसी से लोग आपको "*त्रियुग*" कहते हैं। (कल्कि अवतार तो कलियुग के अन्त और सत् युग के आदि में होता है) ॥ ३८ ॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥ ३९ ॥
जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति माऽवितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ४० ॥
एवं जनं निपतितं भववैतरण्या-
मन्योऽन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यं जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥ ४१ ॥
कोन्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।

भाषा

अब मैं आप के तत्त्व को यथाशक्ति कह कर अपने में आपके तत्त्व विचार करने की योग्यता न देख यह प्रार्थना करता हूँ कि—"नैतन्मन." हे वैकुंठनाथ ! बहिर्मुखों से दुर्जय और हर्ष, शोक, भय तथा इच्छाओं से दुःखित हुआ भी यह मन, पापी और कामातुर आपकी कथाओं में नहीं लगता, तो कैसे आपके तत्त्व का विचार करूँ ! तथा हे अच्युत ! यह लोभिनी जिह्वा मुझे मधुर आदि रसों की ओर निर्दय होकर आकर्षण करती है और कामवेग से जलता हुआ शिश्न और ही ओर तथा त्वक् (चर्म इन्द्रिय) दूसरी ओर तथा भूख से संतप्त यह पेट उत्तम या अधम किसी प्रकार के भोजन की ओर बड़े ही बल से आकर्षण करता है तथा नासिका इन्द्रिय दूसरी ओर और यह चञ्चल नेत्र अन्य ही ओर तथा यह हस्त पाद आदि कर्मेन्द्रिय अपने अपने मार्ग अन्य ही अन्य ओर आकर्षण करते हैं अर्थात् मुझे इधर उधर आकर्षण कर नोंच डालते रहते हैं जैसे कि अन्योन्य में विरुद्ध बहुत सपत्नियाँ एक पति को अपने अपने शयन की ओर खींच खींच नोंच डालती हैं ॥३९॥४०॥ केवल एक मैं ही नहीं अनन्तरोक्त परम कष्ट दशा को प्राप्त हूँ किन्तु बड़े बड़े जीव भी ऐसे ही क्लेश में हैं। इस कारण मैं सबके लिए प्रार्थना करता हूँ कि—"एवं जनं" इस संसार रूपी वैतरणी (यमद्वार की नदी) में गिरे जन्म-जरामरण आदि से डरे और किसी के मित्र तथा किसी के शत्रु इस मूर्ख जन को देखते हुए हे पारचर ! (वैतरणी के पाररस्थित अर्थात् सदा मुक्त) "हा ! हा !! बड़ा कष्ट इसको है" ऐसी कृपा से आज ही इसको वैतरणी उतार कर पालन कीजिये ॥ ४१ ॥

यदि यह कहा जाय कि मैं किसको किसको पार करूँगा जैसे की कहावत है कि "एक हरीतिकी और गाँव मर रोगी" तो मेरी यह प्रार्थना है कि—"कोन्वत्र" हे जगद्गुरो ! भगवन् ! इस जगत् के सृष्टि, पालन और संहार को बार बार सहज में अपनी इच्छा मात्र से करते हुए आपके

मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥ ४२ ॥
नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥ ४३ ॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजनेन परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ४४ ॥
यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।

भाषा

लिये सब संसारी जीवों का उद्धार करना क्या कुछ परिश्रम का काम है ? और हे दीनबन्धो ! यदि आपको अपने सेवकों और हम ऐसे उनके सेवकों का उद्धार ही किया तो उससे क्या हुआ, क्योंकि हम लोग तो आपकी सेवा ही से माया को लात मार चुके हैं ॥ ४२ ॥ और यदि यह कहा जाय कि हे वत्स प्रह्लाद ! तुझको मैं उक्त वैतरणी उतार दूँगा तो इतना ही से संतुष्ट हो जा, क्यों दूसरों के लिये हठ करता है, तो इस पर मेरी यह प्रार्थना है कि—

"नैवोद्विजे" हे सर्वोत्तम ! मेरा मन आपके चरित्रों के गान रूपी उत्तम अमृत में सदा मग्न रहता है । इस कारण मैं पूर्वोक्त दुस्तर वैतरणी से अणु मात्र भी नहीं डरता किन्तु उन्हीं के शोक से मुझे दुःख है जिनका हृदय पूर्वोक्त उत्तम अमृत से विमुख है जिससे वे इन्द्रियों के द्वारा तुच्छ तुच्छ सुखों के लिये इतने बड़े कुटुम्ब आदि भार को वहन करते करते मर रहे हैं ॥ ४३ ॥ तथा यदि यह कहा जाय की प्रह्लाद इस समय तू मुझसे मोक्ष ले ले और दूसरों को ऋषि लोग कोई उपदेश दे देंगे जिससे उनका भी कभी मोक्ष हो जायगा तो इस पर मेरी यह प्रार्थना है कि—"प्रायेण०" हे देव ! मुनि लोग प्रायः अपने ही मोक्ष के लिये एकान्त स्थान में मौन व्रतादि अनेक उपाय करते रहते हैं तो भिक्षुकों से कौन भिक्षा माँगने जाय, और इन सब दुःखी जीवों को छोड़कर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता तथा आप से अन्य कोई इन जीवों का शरण भी नहीं देख पड़ता, तो ऐसी दशा में मैं यदि आप ही से पूर्वोक्त प्रार्थना न करूँ तो क्या करूँ ॥४४॥ और यदि यह कहा जाय कि ये सब जीव स्त्री-भोग आदि से सुखी हैं न कि दीन तो मेरी यह प्रार्थना है कि—"यन्मैथुना०" सब लौकिक सुखों में स्त्री-सुख ही उत्तम समझा जाता है जो केवल दद्रु और खुजली खुजलाने के तुल्य है अर्थात् उसके कारण उससे पूर्व और पश्चात् अनेक प्रकार के इतने दुःख बहुत काल तक झेलने पड़ते हैं कि जिनके कारण वह थोड़े काल का सुख भी तुच्छ ही हो जाता है और यह भी नहीं होता कि उन दुःखों के कारण वे गृहस्थ उस सुख से विरक्त हो मोक्ष सुख का यत्न करें, किन्तु प्रतिदिन उतने दुःखों से

तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥ ४५ ॥
मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वाऽत्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ४६ ॥
रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥ ४७ ॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८ ॥

भाषा

उस छोटे सुख को अनुभव करते करते तृप्त भी नहीं होते, इस पर भी उसी में फँस मरते हैं। हाँ यह कह सकता हूँ कि विरल ही धीर और आप ही के प्रसाद से दद्रु और खुजली की नाईं कामदुःख को सहन कर लेता है, परन्तु इतने से क्या हुआ जब कि अन्य सब जीव महा दुःख में मग्न ही हैं। ॥ ४५ ॥ और यदि यह कहा जाय कि मोक्ष के और भी उपाय बहुत से हैं जिससे उनका भी मोक्ष हो जायगा तो मेरी यह प्रार्थना है कि—"*मौनव्रत०*" हे अन्तर्यामिन्! मौन, वेद, व्रत, तप, अध्ययन, वर्णाश्रम धर्म, शास्त्रविचार, एकान्त वास, जप और समाधि ये जो दश उपाय मोक्ष के प्रसिद्ध हैं सो तो इन्द्रिय के वशीभूतों के लिये क्रयविक्रय व्यवहार रूपी जीविका मात्र हैं और धूर्तों के लिये छल मात्र हैं क्योंकि इनसे लाभ उठाने का कोई नियम नहीं है ॥ ४६ ॥

"*रूपे इमे०*" और यदि ये उपाय कामना से किये जायें तो इनसे यह भी आशा नहीं है कि ये आप में भक्ति भी उत्पन्न कर सकें क्योंकि वेद केवल बीज और वृक्ष की नाईं कारणों और कार्यों के प्रवाह मात्र को दिखलाता है कि ईश्वर से अमुक और उससे अमुक उत्पन्न होता है अर्थात् आपका कोई रूप जब नहीं है तो आपको विशेष रूप से वेद नहीं दिखला सकता किन्तु संयमी लोग भक्तियोग ही से आपको सब कार्यों और कारणों में स्थित प्रत्यक्ष देखते हैं जैसे अरणियों में गुप्तस्थित अग्नि को केवल मंथन से देखते हैं ॥ ४७ ॥

"*त्वं वायु०*" वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त और अहङ्कार तथा इनके स्वामी देवतागण, यह सब आप ही हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म सब आप ही हैं। हे भूमन्! मन और वचन में आने योग्य एक मात्र वस्तु भी ऐसा नहीं है जो कि आप से अन्य हो ॥ ४८ ॥

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥ ४९ ॥
तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किम्
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥ ५० ॥ इति

तथा भागवते १ स्कन्धे ९ अध्याये—

भीष्म उवाच—इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥

भाषा

"नैते गुणा०" जो आप के भक्त नहीं हैं वे तो अपने हृदय में स्थित आप को नहीं जानते अर्थात् वे गुण के अभिमानी देवता तथा मनुष्य आदि सब उत्पन्न और नष्ट होने वाले आप को नहीं जानते क्योंकि आप की उत्पत्ति और विनाश होता ही नहीं। इसी से विवेकी विद्वान् लोग बहुत विचार कर अनेक शास्त्रों के अध्ययन को भी छोड़ आप ही की उपासना करते हैं, जैसे कि ये वेदवाक्य हैं कि—*"किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे"* (किस काम् के लिये हम अध्ययन करेंगे ? किस काम के लिये हम यज्ञ करेंगे) अर्थात् स्वर्गादि फल किसी काम के नहीं हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं और मोक्षफल, केवल अध्ययन और यज्ञ से होता ही नहीं, इसलिये केवल अध्ययन और केवल यज्ञ व्यर्थ ही है तथा *"नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्"* (बहुत से शब्दों अर्थात् वेदों और शास्त्रों को ध्यान न करे क्योंकि उन्हीं को केवल ध्यान करते रहना मानो उनके वास्तविक फल को बिगाड़ना है) ॥ ४९ ॥

अब मैं अपनी प्रार्थना की समाप्ति करता हूँ कि—नमस्कार, स्तुति, सब कर्मों का आप में अर्पण, पूजनादि सेवा, आप के चरणों का स्मरण, आप की कथा का श्रवण, इन छः अङ्ग रूपी गौणी भक्ति के विना क्या कोई आप में पराभक्ति पा सकता है ? कदापि नहीं, इसलिये मेरी यह अन्तिम प्रार्थना है कि मेरा पूर्व प्रार्थित आपका दास्य योग ही आप मुझे कृपा कर दें ॥ ५० ॥

तथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अध्याय ९ में भीष्मकृत स्तुति यह है कि—

"इति मति०" भीष्म ने परम फल रूपी पराभक्ति के लिये इस श्लोक से अपने कृत सब कर्मों को श्री परमेश्वर में अर्पण किया कि सबसे बड़े और अपने आनन्द स्वरूप में सदा स्थित रहते और संसार का सृष्टि-प्रवाह चलाने वाली अपनी योग माया के साथ कभी कभी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से विहार करने वाले श्रीपरमेश्वर में अनेक धर्म आदि उपायों से यह कामना रहित मेरा मन समर्पण किया गया ॥ ३२ ॥

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्व-
क्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४ ॥
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥ ३५ ॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६ ॥

भाषा

अब अपने प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण मूर्ति का वर्णन करते पराभक्ति की प्रार्थना करते हैं कि—

"त्रिभुवन०" तीनों लोकों में अद्वितीय सुन्दर, तमाल के तुल्य नील वर्ण वाले, प्रातःकाल के सूर्य की किरणों की नाईं पीले और चमकीले, दुकूल (वस्त्र) को धारण करने वाले तथा घुंघराली अलकावली से अलंकृत मुख कमल वाले, अर्जुन के सारथी में मेरी निष्काम भक्ति हो ॥ ३३ ॥

अब अर्जुन की मित्रता का विवरण कर पराभक्ति की प्रार्थना करते हैं कि—

"युधि तुरग०" भारत-युद्ध में घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूलियों से धूसरित होकर इधर उधर चलते हुए बालों के बिगाड़े हुए स्वेद-बिन्दुओं से भूषित मुख वाले तथा मेरे (भीष्म के) तीखे तीखे तीरों से विदारित चर्म और कटे कवच वाले श्रीकृष्ण में मेरा मन रमण करे ॥ ३४ ॥

"सपदि सखि०" अपने सखा (अर्जुन) की आज्ञा को सुन तत्क्षण ही दोनों दलों के मध्य रथ से जाकर स्थित तथा अपने दृष्टि से दुर्योधन के सब वीरों के जीवन को घटाकर अर्जुन को विजय देने वाले अर्जुन के सखा में मेरी भक्ति हो ॥ ३५ ॥ और "इतना ही नहीं किया कि अर्जुन के शत्रुओं के जीवन-हरण ही से अर्जुन को विजय दिया किन्तु अविद्या-हरण से भी", ऐसा कहते परा-भक्ति की प्रार्थना करते हैं कि—

"व्यवहितपृतना०" उतने बड़े देश में स्थित महासैन्य के अग्रसर द्रोण आदि पूज्यों को देखकर बन्धु-वध को अनुसंधान कर युद्ध से निवृत्त हुए अर्जुन की भेदबुद्धि रूपी अविद्या को जिन्होंने आत्म-विद्या के उपदेश से हरण कर लिया, उन परमात्मा के चरणों में मेरी भक्ति हो ॥ ३६ ॥

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७ ॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान्गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो—
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥ ३९ ॥
ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।

भाषा

अब दो श्लोकों से अपने ऊपर श्री परमेश्वर का अनुग्रह वर्णन कर भक्ति की प्रार्थना करते हैं कि—

"*स्वनिगम०*" "मैं भारतयुद्ध में शस्त्र ग्रहण न करूँगा" इस अपनी (परमेश्वर की) प्रतिज्ञा को भी झूठी कर "मैं (भीष्म) आप (परमेश्वर) से शस्त्र ग्रहण कराऊँगा" इस मेरी (भीष्म की) प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये सुदर्शन चक्र को ले, अपने उपरने को फेंक, पृथ्वी को चरणों से कंपित करते हुए तथा कवच कट जाने के कारण मेरे तीक्ष्ण बाणों के आघात से मानो रुधिरधारा से स्नान करते हुए जो परमात्मा, हस्ती के अभिमुख सिंह की नाईं मुझ आततायी (वध में उद्यत) के अभिमुख मुझे मारने के लिये दौड़ पड़े, वह मुकुन्द भगवान् मुझे शरण दें ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अन्यायों से भी अपने अर्जुन रूपी भृत्य की रक्षा में व्यग्र श्री परमेश्वर में भक्ति प्रार्थना करते हैं कि—

"*विजयरथ०*" अर्जुन का रथ ही जिनका कुटुम्ब है अर्थात् जैसे गृहस्थ अन्याय से भी माता, पिता आदि अपने कुटुंब की रक्षा करता है वैसे अर्जुन रथ की रक्षा करने वाले तथा एक हाथ में तोत्र (कोड़ा) और दूसरे हाथ में घोड़े की रश्मि (डोरी) लिये उस समय उस असाधारण शोभा से देखने ही के योग्य उन श्रीभगवान् में मुझ मुमूर्षु (मरना चाहता) की भक्ति हो कि जिनको देखते देखते मारे गये शूरगण अपने स्वरूप अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो गये ॥ ३९ ॥

धर्म से युद्ध करने वालों ने जो मोक्ष पाया उसमें आश्चर्य ही क्या है जब कि काममद से अन्धों ने भी भगवान् के अनुग्रह से मोक्ष पाया ? क्योंकि—

"*ललितगति०*" जिनके साथ विहार करने और मान (कृत्रिम कोप) करने वाली तथा गोवर्धन

कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन्किल यस्य गोपवध्वः ॥ ४० ॥

मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तः–
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशिगोचर एप आविरात्मा ॥ ४१ ॥

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदिधिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।

प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥ ४२ ॥

इदमिहावधेयम्—

योगं ज्ञानं भक्तिं च साक्षान्निःश्रेयसाधिगमहेतुत्वेन तीर्थकरा यथायथमभ्युपगच्छन्ति तेषां मिथो गुणप्रधानभावमात्रे विवदन्त इति त्वन्यत् कर्माणि तु साक्षान्मोक्षसाधनतया न केनाप्यभ्युपगम्यन्ते "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" "प्लवा ह्येते

भाषा

उखाड़ने आदि अलौकिक कामों का अनुकरण करने वाली कामवेग से अन्धी अर्थात् विवेक रहित गोपियाँ भी जिनके अनुग्रह से मोक्ष को प्राप्त हो गईं, उन परमेश्वर में मेरी भक्ति हो ॥ ४० ॥

भगवान् की अति पूज्यता को स्मरण करते, अपने भाग्य पर आश्चर्य करते हैं कि—

"*मुनिगण०*"युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में सब ऋषियों और बड़े बड़े राजाओं की सभा के बीच बड़े आश्चर्य से देखे जाते हुए जिन परमात्मा ने युधिष्ठिर की अर्घपूजा को स्वीकार किया । अहा ! हा !! आज मेरा धन्य भाग्य है कि जगत् के अन्तरात्मा वह परमेश्वर मरणसमय में मेरे नेत्रों के समक्ष यह प्रत्यक्ष बैठे हैं ॥ ४१ ॥

"*तमिममह०*" अपने (परमेश्वर के) कल्पित सब प्राणियों के प्रत्येक हृदय में, प्रत्येक जलाशय में सूर्य्य की नाईं एक होकर भी प्रतिबिम्ब रूप से अनेकधा विराजमान उन इन सच्चिदानन्द नित्य परमेश्वर में, मैं भेदबुद्धि छोड़कर इस समय प्राप्त हो गया हूँ अर्थात् अब मेरा कोई कृत्य अवशिष्ट नहीं है ॥ ४२ ॥ इति

इन अनन्तरोक्त स्तुतियों से अन्तःकरण को पवित्र कर अब इस विषय में ध्यान देना चाहिये कि—

सब आस्तिक दर्शनों की सहानुभूति से यह सिद्ध है कि योग, तत्त्वज्ञान और भगवद्भक्ति ये तीन ही मोक्ष के उपाय हैं । यह दूसरी बात है कि कोई दर्शन इन तीन में से एक को प्रधान और अन्य दर्शन दूसरे को अथवा तीसरे को प्रधान स्वीकार करते हैं । और कर्म तो किसी आस्तिक दर्शन में मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण नहीं कहे गये हैं क्योंकि "*न कर्मणा न प्रजया*" इत्यादि वेदवाक्यों तथा उनके अनुयायी अनेक स्मृतिवाक्यों में कर्म का मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण होना निषेध किया

अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति" "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" "नास्त्यकृतः कृतेने" त्यादिश्रुतिभ्यः तदनुयायिनीभ्यः स्मृतिभ्यश्च ।

तत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (यो० पा० १ सू० २) तस्य "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" (यो० द० पा० २ सू० २६) तत्र च पूर्वम्पूर्वमङ्गमुत्तरोत्तरस्याङ्गस्य साधनम् अत एवैषामङ्गानामन्योन्यक्रमनियमः सौत्रः सार्थको भवति। एवं च सिद्धपूर्वाङ्गभूमिक एवानन्तरोत्तराङ्गभूमिकाऽधिकारी भवति न त्वन्यः। अनधिकारिणा चाभ्यस्तमपि किञ्चिदङ्गं कुण्डाद्यपत्यमिव हव्यकव्ययोर्नानन्तरोत्तराङ्गस्य सम्पादनेऽधिकारमावोढुं शक्नोति क्रमनियमोक्त्यन्यथाऽनुपपत्तेरेव चैतन्निश्चीयते अङ्गभूमिकासिद्धिनिश्चयस्तु योगदर्शनोक्तविभूतिदर्शनं विना न संभवति तदर्थमेव हि योगदर्शने विभूतिप्रदर्शनम् न तु कौतुकमात्रार्थमिति प्रसिद्धमेव तद्दर्शनविदुषाम् एवं स्थिते प्रथम-

भाषा

गया है। इसलिये अब यही विचार आवश्यक है कि इस वर्त्तमान और आगामी कलिकाल के सब मनुष्यों के लिये इन तीन उपायों में से कौन उपाय असाध्य और कौन साध्य है? इससे अब इन प्रत्येक उपायों में असाध्यता और साध्यता के निश्चयार्थ प्रथम उपाय अर्थात् योग के विषय में यह विचार किया जाता है कि मन के व्यापारों का निरोध, योग कहलाता है *"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"* (यो० द० पा० १ सू० २) उसके साधन ८ हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि *"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"* (यो० द० पा० २ सू० २६) इन साधनों का इस सूत्र में जो क्रम कहा है उसका यह तात्पर्य है कि पूर्व पूर्व साधन के सिद्ध होने के बिना उत्तर उत्तर साधन नहीं सिद्ध हो सकता तथा पूर्व पूर्व साधन की अपेक्षा उत्तरोत्तर साधन योग में अन्तरङ्ग उपयोगी है। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि जो पुरुष, पूर्व साधन को सिद्ध कर चुका है वही पुरुष, उसके उत्तर साधन के सिद्ध करने का अधिकारी है तथा यह भी है कि (जैसे) विधवा में अन्याय से उत्पन्न 'कुण्ड' और 'गोलक' आदि देखने में मनुष्य ही हैं परन्तु वेद और शास्त्र के अनुसार वे त्रैवर्णिकों के दायग्रहण और देवकार्य तथा पितृकार्य के अनधिकारी हैं। इसलिये वे शास्त्रीय नियमों के अनुसार उक्त दाय नहीं ग्रहण कर सकते और देवकार्य तथा पितृकार्य नहीं करने पाते और यदि दाय ग्रहण करें तो राजा के दण्डय होते हैं और देवकार्य आदि करें तो वह कर्म उनका निष्फल होता है (वैसे) ही जब उक्त ८ साधनों में से पूर्व पूर्व साधनों के सिद्ध किये बिना उत्तर उत्तर साधनों का कोई पुरुष अपने मनमाना अभ्यास भी करे तो वह अभ्यास व्यर्थ ही है अर्थात् उस अभ्यास से वह पुरुष उससे उत्तर साधन के सिद्ध करने का अधिकारी नहीं होता। और प्रत्येक साधन के सिद्ध होने की प्रत्यक्ष परीक्षा यही है कि जिस साधन का जो विभूति (प्रत्यक्ष सिद्धि) योगदर्शन में कही हुई है वह जब प्रत्यक्ष देखने में आवे तभी उस साधन के सिद्ध होने का निश्चय होता है। उसी के लिये योगदर्शन में साधनों की विभूतियाँ कही हुई हैं न कि लोगों को कौतुक

स्याप्यङ्गस्य अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहेषु पञ्चसु भेदेष्वहिंसाख्यो यः प्रथमो भेदस्तस्याभ्यासे क्रियमाणेऽपि तत्सिद्धिनिश्चयस्तद्विभूतिदर्शनेनैव साध्यो न त्वन्यथा अहिंसाया विभूतिश्च "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" । (यो० ६ पा० २ सू० ३५) इत्युक्ता सिद्धाहिंसाभूमिकस्य संनिधौ वर्धमानेषु प्राणिषु आखुमार्जारिकादिप्रायाणां शाश्वतिकानामपि वैराणां त्याग इति यावत् एवञ्चेदानीन्तनेषु योगिमन्येषु कतमस्य संनिधाने तादृग्वैरत्यागो दृश्यत इत्युपलभ्यमानानामाधुनिकानामितस्ततोऽदार्शनिकीश्चमत्कृतीः कतिपयाः प्रदर्शयतां प्रथमस्याप्यङ्गस्य प्रथमोऽपि भागो न सिध्यतीत्यत्र को नाम संशयः ईदृश्यां च दुरवस्थायामाधुनिकानामुत्तरकालिकानां च कालिकालिकानाम् योगबलेन निःश्रेयसाधिगमसम्भावना पण्ढानामौरसपुत्राधिगमसम्भावनामप्यतिक्रामत्येव । शिश्नोदरपरायणेषु

भाषा

दिखलाने के लिये। योग की मर्य्यादा यही है। इस मर्यादा को हृदय में रख कर विचार करना चाहिये कि योगसाधनों में प्रथम पीठिका (यम) ही है जो कि पाँच प्रकार का होता है—(१) हिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य्य, (५) अपरिग्रह "तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः" (यो० द० या० २ सू० ३०) इनमें भी पूर्व पूर्व यम के सिद्ध होने के विना उत्तर यम के सिद्ध करने का अधिकार किसी पुरुष को नहीं हो सकता, इसी से इस सूत्र में पाँच यमों का क्रम कहा हुआ है। अब यह स्पष्ट हो गया कि जो कोई मनुष्य योगाभ्यास की ओर दृष्टि देने लगे तो उसके लिये अहिंसा ही *"श्री गणेशाय नमः"* है और उसके सिद्ध हो जाने की परीक्षा यह है कि उसको सिद्ध कर चुके मनुष्य के समीप यदि चूहा और बिल्ली तथा बकरी और व्याघ्र तथा अश्व और महिष अथवा सर्प और नकुल बैठा दिये जायँ तो बिल्ली चूहे से और व्याघ्र बकरी से और अश्वादि भी अन्योन्य में कुछ भी विरोध न करेंगे *"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"* (यो० द० पा० २ सू० ३५) (किसी की हिंसा न करूँगा) यह संकल्प, जिस पुरुष का बहुत काल पर्यन्त बड़े आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास से अति दृढ़ हो जाता है उसके समीप में आये हुए विरोधी प्राणी अन्योन्य में विरोध छोड़ देते हैं, इसी से ऋषियों के आश्रमों में व्याघ्र आदि का हरिण आदि से सहवास पुराणों के अनेक स्थानों में कहा है।

अब देखना चाहिये कि आज कल के जो योगी महाशय प्रायः स्थान स्थान पर अपने को योगी प्रसिद्ध करने के लिये योगदर्शन से विरुद्ध अपने मनमाना अभ्यास किया हुआ प्राणायाम आदि कौतुक लोगों को दिखलाते हैं उनमें से किसी एक में भी क्या यह अहिंसा की सिद्धि देखी जाती है ! कदापि नहीं, अर्थात् किसके समीप में बिल्ली, व्याघ्र आदि चूहा, बकरी आदि को पर्षण ताडनादि नहीं कर बैठते ! किसी के नहीं। इस रीति से जब योग के साधनों में से *"श्री गणेशाय नमः"* की भी यह दुर्दशा प्रत्यक्ष है, तब इस समय वा अग्रिम कलिकाल के मनुष्यों से योग के द्वारा मोक्षलाभ की आशा करना नपुंसकों से पुत्रलाभ की आशा करने से भी बड़ी बड़ी मूर्खता नहीं है ! और जब कि इस समय के मनुष्यों के लिए प्रायः शिश्न और उदर ही अर्थात् कामसुख और रसनासुख ही प्रधान अर्थात् सर्वस्व है तब ऐसे लोगों में वैराग्य होने की संभावना भी क्या

च वैराग्यस्य कूर्मेषु रोम्ण इव संभावनेति "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (यो० द० पा० १ सू० १२) इति पारमार्षं सूत्रमाधुनिकेषु प्रायो वाचंयममेव अतः "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" (यो० द० पा० १ सू० १३) "तस्य वाचकः प्रणवः" (यो० द० पा० १ सू० २७) "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (२८) इति योगसाधनसम्पादनोपायप्रवेकप्रदर्शनपराणि पातञ्जलसूत्राणि त्ववशिष्यन्ते तात्पर्यतो विचारयितुम् । तत्रापि च यस्य वाचकः प्रणवो यश्च तस्यार्थईश्वरस्तस्य कथङ्कारं भावनं कार्यम् भावनं हि विजातीयप्रत्ययानन्तरितो मानसप्रत्ययप्रवाहः

भाषा

कच्छपों में रोम की संभावना नहीं है ? इसलिये "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (यो० द० पा० १ सू० १२) (चित्त के वृत्तिनिरोध रूपी योग के दो उपाय हैं—एक साधनों का अभ्यास और दूसरा वैराग्य) यह महर्षि का सूत्र है । आधुनिक और आगामी कलिकाल के मनुष्यों के विषय में अपना मुख भी नहीं खोल सकता । अब अवशिष्ट रहा ईश्वर का प्रणिधान, क्योंकि वह भी योग के सिद्ध होने का उपाय है । जैसा कि "*ईश्वरप्रणिधानाद्वा*" (यो० द० पा० १ सू० २२) अथवा ईश्वर के प्रणिधान से योग सिद्ध होता है । प्रणिधान किसको कहते हैं ? "*तस्य वाचकः प्रणवः*" (यो० द० पा० १ सू० २७) "*तज्जपस्तदर्थभावनम्*" (२८) ईश्वर का वाचक प्रणव अर्थात् ॐकार है । उसका जप और उसके अर्थ की भावना, इन दोनों को प्रणिधान कहते हैं । ये सूत्र योग दर्शन के हैं । इसी से अब इनके तात्पर्य का विचार किया जाता है कि—

प्र०—जिसका वाचक प्रणव है अर्थात् प्रणव का जो अर्थ (ईश्वर) है उसकी भावना कैसे की जाय ? क्योंकि एक विषय की निरन्तर ध्यानधारा को भावना कहते हैं और जिसका रूप, आकार और मूर्ति आदि कुछ भी नहीं है उस आकाश ऐसे शून्य ईश्वर में तो एक ध्यान का भी संचार नहीं हो सकता क्योंकि ध्यान कहते हैं स्मरण को और स्मरण उसी का हो सकता है जो कि पूर्व ही अनुभव में आ चुका है और अनुभव में भी वही विषय आता है कि जिसका रूप, आकार और मूर्ति होती है और जब रूप आदि ईश्वर के नहीं हैं तब उनका कैसा अनुभव और कैसा स्मरण ? और जब उक्त रीति से परमेश्वर का एक ध्यान भी नहीं बन सकता तब अनेक ध्यानों की धारा रूपी भावना तो परमेश्वर से कितने कोस दूर भागती है ।

उ०—"वह निर्गुण है, वह जगत् का कर्त्ता है" इत्यादि ध्यान क्यों नहीं हो सकता है ?

खं०—"वह" यह शब्द उसी के लिये कहा जा सकता है कि जो विषय पूर्व ही अनुभव में आ चुका है, जैसे कि 'वह देवदत्त जो कि मथुरा में देखा गया था, इत्यादि और ईश्वर तो उक्त रीति से अनुभव में आही नहीं चुके हैं तो उनके विषय में "वह निर्गुण है" इत्यादि भावना कैसे हो सकती है ?

उ०—यदि "वह" इसको निकाल कर, यह भावना की जाय कि "निर्गुण है" 'जगत्कर्त्ता है, तो इसमें क्या दोष है ?

खं०—ऐसी भावना में दोष और गुण की चर्चा से प्रथम, यही कहना है कि ऐसी भावना उन्मत्त पुरुष को भी नहीं हो सकती क्योंकि किसी अनुभव किये हुए विषय को लेकर उसमें किसी

न च रूपाकृतिमूर्तिवर्जिते गगन इव शून्ये तस्मिन् मानसः प्रत्यय एकोपीष्टे सञ्चरितुम् प्रागेव तु तत्प्रवाहः निर्गुणत्वजगत्कर्तृत्वादिप्रकारकोऽपि क्षमो न धर्मितावच्छेदकमपाकृत्य प्रथमन्यात्मानं लब्धुम् न च विशेष्यभागपरिचयमन्तरेणासौ कस्मिंश्चिदपि धर्मे प्रकारतां निरूपयितुम् क्षमते मते चास्मिंश्च वेदान्तदर्शन इव ब्रह्मनिर्विकल्पकं स्वीकर्तुं शक्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् असम्प्रज्ञातसमाधिदशायाञ्च तत्स्वरूपशून्यतारूपसमापत्तौ निर्विकल्पकत्वस्वीकारे तस्य जीवात्मविषयकत्वादीश्वरविषयत्वानुपपत्तिः तस्येश्वरविषयत्वाङ्गीकारे त्वपसिद्धान्तः जीवात्मनिर्विकल्पकदृष्टान्तेन परमात्मनिर्विकल्पकस्वीकारेऽपीश्वरप्रणिधानरूपप्रथमसाधनानुष्ठानदशायामेव कथं तदपि स्वीकर्तुं शक्यते तदानीमन्तःकरणस्यात्यन्तम-

भाषा

दोष या गुण की भावना होती है जैसे "यह पण्डित है" इत्यादि, न कि केवल ऐसी भावना कदापि हो सकती है कि 'पण्डित है, पण्डित है' क्योंकि कौन पण्डित है ! इस प्रश्न के अनन्तर जो पण्डित को अनुभव नहीं किये है उसको मूक ही रहना पड़ेगा। ऐसे ही 'निर्गुण है' इत्यादि भावना भी ईश्वर के अनुभव बिना कैसे हो सकती है ! क्योंकि कौन निर्गुण है, इस प्रश्न के अनन्तर कुछ भी कहते नहीं बनेगा।

उ०—जैसे वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म का निर्विकल्पक होता है वैसे प्रणव से प्रणव के अर्थ का होगा।

सं०—यह स्मरण करना चाहिये कि जिन सूत्रों के विषय में उक्त प्रश्न है वे सूत्र योग-दर्शन के हैं और जो निर्विकल्पक कहा गया वह योग-दर्शन का सिद्धान्त नहीं है।

उ०—अन्तिम अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि, जो योग-दर्शन का सिद्धान्त है वह निर्विकल्पक ही है तो यहाँ वह अवश्य कहा जा सकता है।

सं०—ईश्वर का प्रणिधान, योग का प्रथम ही साधन है, इसलिए उस प्रणिधान के समय में अर्थात् प्रथम ही प्रथम, असम्प्रज्ञात समाधि रूपी अन्तिम दशा के तुल्य दशा जब आई नहीं सकती तब सूत्रकार क्यों उसका उपदेश प्रथम ही करेंगे !

उ०—"प्रणव का कुछ अर्थ है" ऐसी भावना ईश्वर की क्यों नहीं हो सकती ?

सं०—यह तो केवल प्रणव ही की भावना है न कि ईश्वर की, क्योंकि इस भावना में प्रणव से पृथक् ईश्वर का उल्लेख ही नहीं होता।

उ०—जैसे सूर्य्य आदि प्रतीकों में ब्रह्म की भावना उपनिषदों में कही है वैसे ही प्रणव रूपी प्रतीक में ईश्वर की भावना अर्थात् "ओंकार ईश्वर है" यह भावना ही उक्त योगसूत्रों में कही हुई है।

सं०—यदि उक्त भावना कहना हो तो सूत्रों में यह नहीं कहा जाता कि "ईश्वर का वाचक प्रणव है" "उसका जप और उसके अर्थ की भावना को प्रणिधान कहते हैं" किन्तु ऐसा कहा जाता है कि "ईश्वर का वाचक प्रणव है" "उसका जप और प्रणव में ईश्वर की भावना ये दोनों प्रणिधान कहलाते हैं' और जो लोग आज कल यह कहते हैं कि मैं आँख मूंद कर प्रकाश रूपी का

संस्कृतत्वेन तदसम्भवात् प्रणवार्थत्वेनैव तस्य भावने तु प्रणवस्यैवासौ भावना नत्वीश्वरस्य, पृथग्ग्रहणात्। प्रणवभावनैवेश्वरभावना प्रणवस्य तत्प्रतीकत्वादिति स्वीकारे तु "तस्य वाचकः" "तदर्थभावनमि"ति सूत्राक्षरविरोधः। तथा सति हि प्रणवस्वरूपभावनामेव सूत्रयेत्। न चोक्तैः सूत्रैः प्रणवाधिष्ठाना भगवदुपासना विधीयमानाऽवसीयते। कथंचित् प्रणवार्थभावनाया उपपत्तावपि 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' 'मनुष्याणां सहस्रेषु' 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति

भाषा

ध्यान करता हूँ वे लोग अनुभव किये हुए सूर्य्य, चन्द्रमा, तारा और अग्नि के प्रकाश ही का व्यर्थ ध्यान करते हैं क्योंकि ध्यान नाम स्मरण का है और स्मरण उसी विषय का हो सकता है कि जिसका अनुभव पूर्व ही हुआ रहता है। इस रीति से जब योगाभ्यास के आरम्भ समय में प्रणव के निराकार अर्थ की भावना किसी प्रकार बन ही नहीं सकती तब कैसे उसका उपदेश उक्त योगसूत्रों से किया जा सकता है और यदि प्रणव के अर्थ की भावना थोड़े समय के लिये मान भी ली जाय तो भी विषय के कीड़े और श्रद्धा से शून्य आधुनिक मनुष्यों में उसका होना असम्भव ही है क्योंकि *"मनुष्याणां सहस्रेषु"* सहस्रों मनुष्यों में एक मनुष्य कोई मेरे (परमेश्वर) अनुभव के लिए यत्न करता है और यत्न करने वालों में भी एक कोई मेरे तत्त्व का अनुभव करता है।

"क्लेशोऽधिक०" निराकार में चित्त लगाने वालों को बहुत क्लेश होता है क्योंकि निराकार का अनुभव करना बहुत कठिन और दुखदाई है। *"बहूनां जन्मना०"* बहुत से जन्मों के अनन्तर में 'मैं (परमेश्वर) सब हूँ' ऐसे अनुभव के अनन्तर पुरुष, मेरी पराभक्ति करता है, ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है। इन भगवद्वाक्यों के अनुसार जब सब युगों में पुरुषों के लिये प्रणव के अर्थ अर्थात् निराकार परमेश्वर की भावना बहुत ही दुर्घट है। तब आजकल अर्थात् कलिकाल में उस भावना की घटना, इन शिश्न और जिह्वा को प्रधान मानने वाले मनुष्यों के लिये करोड़ों कोस से भी दूर है। यह दूसरी बात है कि आज कल " *कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव* " के अनुसार प्रति गली और कूचों में आर्य्यसमाजी आदि अनेक महाशय प्रतिमा-पूजन छोड़ छोड़ निराकार के ध्यानी और ज्ञानी बन बैठे हैं परन्तु यदि पूछिये कि आप क्या ध्यान करते हैं ? तो उनको डेकार भी नहीं आता और यदि कुछ कहते भी हैं तो वह शीघ्र ही अनन्तरोक्त विचारों से खण्डित हो जाता है और अन्त में उनकी दो में से एक प्रकार की पोल अवश्य ही खुल जाती है अर्थात् कि तो केवल ओंकार (शब्द) ही का ध्यान करते हैं न कि ईश्वर का अथवा दीपक आदि के प्रकाश का ध्यान करते हैं क्योंकि उसी का उनको अनुभव हुआ करता है परन्तु इन महाशयों के ये दो बड़े माहात्म्य हैं। एक यह कि—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गी० अ० ३।६)

(जो मनुष्य चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों को वश में कर चक्षु आदि के विषय प्रकाश आदि का ध्यान करता रहता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है) यह भगवद्वाक्य निर्विषय होकर व्यर्थ ही हो जाता यदि इन धर्ममूर्तियों का अवतार न होता और दूसरा यह कि जिस भावना को अनन्तरोक्त गीतावाक्यों से परमेश्वर ने भी महा कठिन और दुर्लभ कहा है उस भावना को कलिकाल के प्रताप से बिना

च भगवदुक्तिभिर्महाकष्टसाध्यायास्तस्या विषयैकपरायणेष्वलसेषु प्रायः श्रद्धाविधुरेषु चाधुनिकजनेष्वसम्भव एव । तस्मात् 'हृदि लिङ्गं तु योगिनाम्'

"संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहाहृदयान्धकारम् ॥"

इत्याद्युक्तरीत्या साकारभगवद्भावनमेव प्रणवार्थभावनमेभिः सूत्रैरुपदिश्यत इत्यायातम् इति । तदत्र च मानसं लिङ्गम्—"प्रतिमां सप्तमीं मानसीं योगिनो युञ्जाना उपासते" इत्यादिवैव शीतलतमतला, भगवद्भक्तिकल्पलतावितानच्छाया, संसारललाटंतपतपनप्रतापसन्तापभूरिभीरुभिर्योगिभिः एवंविधमिप्रायकमेव च पूर्वोद्धृतं शाण्डिल्यसूत्रम् "गौण्या तु समाधिसिद्धिः" (भ० मी० द० १ अ० २ पा०) इति ।

भाषा

कुछ पढ़े ही लिखे अर्थात् वेद और शास्त्र के तात्पर्य जाने विना ही ये महाशय सहज में कल्पेसियों पर परब्रह्म को लिये घूमते हैं । वाह ! वाह ! रे 'अज्ञान' तेरे प्रभाव की बलिहारी है कि तूने भगवान् के वाक्यों को भी आच्छादित कर दिया । उक्त रीति से जब योगसूत्रों का उक्त भावना में तात्पर्य नहीं हो सकता तब अगत्या गति हो कर उक्त प्रश्न का यह वास्तविक उत्तर दिया जाता है कि—

उ०—"*हृदि लिङ्गं तु योगिनाम्०*" योगियों के लिये तो मानसी प्रतिमा होती है। "*संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दम्*" वज्र, अंकुश, ध्वजा, और कमल की रेखाओं से विराजित तथा रक्त नखमण्डल की बड़ी उजियाली से हृदय के भीतर महान्धकार को नाश किये हुए भगवान् के चरणारविन्द को योगी ध्यान करें । इत्यादि अनेक पौराणिक वाक्यों के अनुसार जो परमेश्वर के साकार मूर्ति की भावना की जाती है वही ईश्वर का प्रणिधान तथा प्रणव के अर्थ की भावना और समाधि के सिद्धि का उपाय है । तथा उक्त ३ पतञ्जलि के योगसूत्रों से योगाभ्यास करने वालों के लिये उसी भावना का विधान है क्योंकि प्रणव के अकारादि वर्णों का वही अर्थ है और वही परमेश्वर की साकारमूर्ति, देवपूजन प्रकरण में पूर्व ही कही हुई सातवीं मानसी प्रतिमा है ।

अब तो यह स्पष्ट हो गया कि योगाभ्यासियों ने भी संसार दुःख रूपी मध्याह्न सूर्य के प्रताप के संताप से बहुत भीत होकर दूसरी शरण न देख कर भगवद्भक्ति रूपी कल्पलता के वितान की शीतल और सुगन्धित छाया ही की शरण लिया । और इसी से उक्त पातञ्जल योगसूत्रों के वर्णन किये हुए तात्पर्य को शाण्डिल्य महर्षि ने "*गौण्या तु समाधिसिद्धिः*" । (भ० मी० द० अ० १ पा० २ सूत्र ११) इस सूत्र से निश्चित किया है और यह सूत्र स्वप्नेश्वर भाष्य के साथ ही भगवद्भक्ति प्रकरण में पूर्व ही उद्धृत हो चुका है । यह योग के विषय में विचार है ।

अब तत्त्वज्ञान रूपी द्वितीय उपाय के विषय में यह विचार है कि तत्त्वज्ञान के क्रम से तीन साधन हैं (१) श्रवण (वेदान्तवाक्यों से आत्मा को समझना (२) मनन (युक्तियों से उसको निश्चित करना (३) निदिध्यासन (आत्मा का निरन्तर ध्यान) और इन उपायों का अधिकारी वह होता है कि जिसको नित्य अनित्य वस्तु का विवेक तथा लौकिक पारलौकिक सुखों से वैराग्य और शम दम आदि तथा मोक्ष की इच्छा ये पूर्व ही हो चुके हैं । और इनमें से भी द्वितीय अधिकार विषय वैराग्य

एवं तत्वज्ञानसाधनसम्पत्तिरप्याधुनिकेषु प्रायो न संभविनी। यत्र हि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गी० अ० ७,३)
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (अ० ७,१६)
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (अ० १२,५)

इति सकलकालपुरुषसाधारण्येन भगवतैव साक्षात्कारस्य तत्साधनानां निर्वेदादीनां च परमदौर्लभ्यमभ्युपगम्य सिद्धवन्निर्दिश्यते तत्र कैव कथा—

"कलौ सर्वे भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः।
अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः॥
कामिन्यः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे।
अस्मिन् कलियुगे घोरे लोकाः पापानुवर्त्तिनः॥
भविष्यन्ति महाबाहो वर्णाश्रमबहिष्कृताः।

भाषा

है जो कि सत्ययुग आदि में भी बहुत कठिन और दुर्लभ था जैसा कि "*मनुष्याणां सहस्रेषु०*" "*क्लेशोधिकतर०*" "*बहूनां जन्मनामन्ते०*" इन तीन अनन्तरोक्त गीतावाक्यों से तत्वज्ञान की कठिनता और दुर्लभता दिखलाने के द्वारा कृष्ण भगवान् ने स्वयं कहा है। और जब सत्ययुग आदि में भी तत्वज्ञान की ऐसी कठिनता और दुर्लभता है तो कलिकाल में तत्वज्ञान के विषय में विषय-वैराग्य और शम, दमादि रूपी श्रवणादि साधन के अधिकार की भी कथा ही क्या है? क्योंकि इस काल में मनुष्यों की दशा प्रत्यक्ष ही है। तथा पुराणों की भविष्य वाणियों में भी कलिकाल के मनुष्यों की दशा कही है कि "*कलौ सर्वे०*" कलियुग में सब मनुष्य शिश्न और उदर ही को प्रधान जानेंगे तथा अन्न का विक्रय करेंगे, ब्राह्मण वेद का विक्रय करेंगे। अर्थात् वेतन का पूर्व ही निश्चय कर अध्यापनादि करेंगे और स्त्रियाँ भग का विक्रय करेंगी। "*अस्मिन्*" हे महाबाहो! इस घोर कलिकाल में लोग पाप के कीड़े और वर्ण तथा आश्रम से बहिष्कृत तथा अल्पायु और दुर्बल होंगे इत्यादि। यह विचार तत्वज्ञान के विषय में है।

अब भगवद्भक्ति ही मोक्ष का एक मात्र उपाय अवशिष्ट रही। और उसके विषय में पूर्ण विचार इसी प्रकरण में हो चुका है अर्थात् पराभक्ति से शीघ्र ही मोक्ष होता है और उसका साधन छः प्रकार की गौणी भक्ति अर्थात् प्रतिमापूजन ही है जो कि पूर्वोक्त प्रह्लाद स्तुति के "*तत्तेऽर्हत्तम०*" इस ५० वें श्लोक में कहा है और वह प्रतिमापूजन अब भी सहज में हो सकता है और उसको सब वैदिक महाशय और उनके अनुयायी गण अब भी करते ही हैं तथा उसमें चाण्डाल योनि पर्य्यन्त सब मनुष्यों का अधिकार भी है, इसी से भगवद्भक्ति ३७ वाँ सामान्य धर्म है जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है। इससे यही सिद्धान्त है कि कलिकाल के मनुष्यों के लिये भगवद्भक्ति से अन्य कोई कल्याण का

स्वल्पायुषः स्वल्पसत्त्वाः" इत्याद्यनेकवाक्यैरनुभवसमुद्घमानार्थैरावेदितस्यमावेष्वाधुनिकेषू-पलभ्यमानेषु तत्परमार्विदौर्लभ्ये सन्देहस्यापि ।

एवं च भगवद्भक्तिरेवाधुनिकानां सर्वेषामेव निःश्रेसपर्यन्तनिखिलकल्याणकारिणी परिशिष्यते, तदङ्गं च पूर्वोक्ता गौणी भक्तिः, षडङ्गा सपर्या, सा चाधुनिकैरपि स्वनुष्ठाना। अनुष्ठीयते च सकलैरेव शिष्टैस्तवदनुशिष्टैश्च । आ निन्द्ययोनि च सर्व एवात्राधिक्रियन्ते । अत एव चासौ सामान्यो धर्म इति पूर्वप्रतिपादितमेव । एवं स्थितेऽपि आधुनिकानामेकं गौणी-भक्तिलक्षणमुर्वरितं कल्याणजीवातुं तन्तुमज्ञानादुच्छेत्तुमिच्छन् व्यायच्छमानो वेदवैनाशि-कस्तु देवपूजनोपपादनप्रकरण एव तथाऽतिदूरनिरस्तः यथा न भूयः परावर्त्स्यति—किं च स्वचार्वाकताप्रच्छादनार्थमेव अयं कतिपया मन्त्रसंहिता वेदो वेद इत्यकाण्डे काण्डे च अक्षर-मन्त्रमात्रमाम्रेडयन् निर्मायापि कतिपयान् निबन्धामासान् स्वचार्वाकस्वभावस्य दुरतिक्रम-त्वादेव न तेषु जीवेश्वरदेवपितृतीर्थपरलोकप्रचाविवेकादिसकलास्तिक्यमूलभूते वेदप्रामाण्ये द्रढीयांसमेकमपि कञ्चन हेतुं न क्वचिदुपनिबबन्ध किन्तु स्वभाष्याभासभूमिकायां वेदप्रामाण्य-

भाषा

उपाय नहीं है और ऐसी दशा में भी इस समय बचे बचाये इस प्रतिमापूजन रूपी उपाय को भी इस समय काटने के लिए व्यर्थ परिश्रम करते हुए जगत् के प्रत्यक्ष शत्रु वेदवैनाशिक महाशय तो देवपूजन के प्रकरण ही से भग्न भगाकर इतने दूर फेंक दिये गये कि पुनः कदापि उनके पलटने की आशा नहीं हो सकती। और पूर्व ही अनेक स्थानों पर यह प्रत्यक्ष दिखला दिया गया है कि उक्त महाशय चार्वाक (स्थूल नास्तिक) ही हैं, केवल छल से अपने को आस्तिक प्रसिद्ध करने के लिये दो चार मन्त्र संहिता के विषय में "वेद वेद" यह दो अक्षर का मंत्र पढ़ा करते हैं अर्थात् अवसर अनवसर देखे बिना ही वेद का नाम मात्र लिया करते हैं और अब भी इनके चार्वाकता रूपी पोल प्रत्यक्ष करने का यह प्रत्यक्ष उपाय दिखलाया जाता है कि यदि यह चार्वाक न होते तो अपने निर्मित ग्रन्थों में कहीं न कहीं वेद का प्रामाण्य अवश्य ही सिद्ध किये होते, क्योंकि सब आस्तिक सिद्धान्तों का निर्भर वेद ही पर है और वही जब नहीं प्रमाण है तब आस्तिकों के सब सिद्धान्त झूठे ही हैं । इससे यह कदापि संभव नहीं हो सकता कि जिसका हृदय कुछ भी आस्तिक हो वह अपने निर्मित दर्शन में वेद के प्रामाण्य को न सिद्ध करे। क्योंकि चार्वाक नास्तिकों का प्रथम मन्तव्य यही है कि 'वेद नहीं प्रमाण है' तो कौन ऐसा आस्तिक होगा कि दर्शन की रचना करने पर भी उक्त मन्तव्य का खण्डन कर जो वेद प्रामाण्य को सिद्ध न करे किन्तु इसी चार्वाक ही का यह काम हो सकता है कि "भोले भाले को छलने के लिये वेद वेद कहा करे और अपने ग्रन्थों में कहीं वेद के प्रामाण्य को न सिद्ध करे जिसमें कि चार्वाक लोग अपने दर्शन की युक्तियों से वेद के प्रामाण्य का खण्डन कर धीरे २ आस्तिक मत को निर्मूल कर दें" ऐसा ही काम वेदवैनाशिक ने किया है अर्थात् वैदिक दर्शन के नाम से एक अपने मनमाना दर्शन खड़ा कर अपने ग्रन्थ में कहीं वेद के प्रमाण को नहीं सिद्ध किया है । इसलिये यह वेदवैनाशिक चार्वाक नहीं हैं तो क्या हैं ? और यह तो नहीं कहा जा सकता कि अपनी वेदभाष्य भूमिका के पृष्ठ

सिद्धये "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः" इत्यादीनि वेदवाक्यान्येव "श्रुतं हरति पापानी" ति न्यायेन पपाठ। नहि तानि 'वेदो न प्रमाणमि' त्यभियुञ्जानांश्चार्वाकादीन्प्रति कथात्रयतत्त्वज्ञेन प्रमाणयितुं शक्यन्ते, न च तत्प्रामाण्यसाधने तदेव प्रमाणं भवतीति बालेनापि सुप्रतिपदमेव तेषामप्यप्रामाण्यसाधने पक्षत्वात्, न ह्यसौ मीमांसको येन वेदापौरुषेयता प्रमापकाननादिपरम्पराऽऽयातान्दुर्वारान्मानतर्ककलापानिहापि वेददुर्गसज्जने निवेदितानुपनिबध्नीयात्। नापि तार्किको येन वेदानां भगवद्वाक्यत्वे तार्किकोक्तमानतर्कोपन्यसनायापि प्रयत्नं कर्त्तुं शक्नुयात्। अयं हि "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः" इति न्यायेन पृथगेव स्वदर्शनं रचयामास। तत्र च वेदस्यैव प्रामाण्येन कमपि हेतुमुचितं दर्शयामास, तथा चैतद्दर्शनाभासविषवृक्षस्य मूलमेव मानतर्ककठोरकुठारै-

भाषा

९ में जब वेदवैनाशिक ने "*तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः*" इत्यादि वेदमंत्रों से वेद का ईश्वर-रचित होना सिद्ध कर दिया है, तब वेद का प्रामाण्य सिद्ध ही हो चुका, क्योंकि ईश्वर का वाक्य कैसे अप्रमाण हो सकता है ? क्योंकि चार्वाकों को अवसर देने ही के लिये वेदवैनाशिक ने यह और भी अनर्थ किया है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि जब चार्वाक वेदमात्र को प्रमाण ही नहीं मानते बल्कि यह कहते हैं कि—

"*त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः*" (वेद के तीन ही कर्ता हैं—भाँड़, धूर्त और राक्षस) तो ऐसी दशा में उनके प्रति "*तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः*" इत्यादि वेद ही के मंत्र कैसे वेद के ईश्वर-रचित होने में प्रमाण दिये जा सकते हैं क्योंकि वे इन मंत्रों को भी वेद होने ही के कारण भाँड़ आदि का रचित बतला कर अप्रमाण कर देंगे। और ध्यान देने की बात है कि जिस झगड़े में सब वेद ही प्रमाण वा अप्रमाण होने के सन्देह में पड़ा हुआ है उसमें जिसको थोड़ा सा भी विचार होगा वह कैसे वेद ही के वाक्य को प्रमाण दे सकता है ? और यदि वेदवैनाशिक, मीमांसा दर्शन के अनुयायी होते तब यह कहने का भी अवसर होता कि उन्होंने इस अभिप्राय से अपने ग्रन्थ में वेद का प्रामाण्य नहीं सिद्ध किया कि मीमांसा दर्शन से तो वह सिद्ध ही हो चुका है। तथा वेदवैनाशिक यदि न्यायदर्शन के अनुयायी होते तब भी यह कहा जा सकता कि न्यायदर्शन की युक्तियों से वेद का ईश्वर-निर्मित होना सिद्ध ही हो चुका है, इसी से उन्होंने अपने ग्रन्थ में वेद के प्रामाण्य को नहीं सिद्ध किया। परन्तु कौतुक तो यह है कि वेदवैनाशिक महाशय न मीमांसा दर्शन पढ़े थे, न न्यायदर्शन ही के तत्त्व ही को जानते थे तथा न उन दोनों में से किसी के अनुसारी ही थे, किन्तु "*मुरारेस्तृतीयः पंथाः*" के अनुसारी थे, इसी से दर्शनों के दो-चार सूत्रों को इधर उधर देख भाल पूछ पाछ केवल साहस मात्र से एक स्वतंत्र दर्शन ही की रचना कर बैठे और उसमें किसी स्थान में उसके मूलभूत वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए एक भी प्रमाण नहीं दिया। तो ऐसी दशा में जब उनके दर्शन रूपी जहरीले वृक्ष का वेद रूपी मूल ही चार्वाकों के कठिन कठोर कुठारों से अप्रमाण हो कर तिल तिल खण्डित हो गया तब वे यदि थोड़े काल के लिए नास्तिक न भी माने जायँ तो जब ऐसा निर्मूल दर्शन चलाने का उन्होंने साहस किया तब वह आस्तिक भी कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि यदि वे आस्तिक होते तो कदापि ऐसा नहीं करते कि वेद प्रामाण्य को विना सिद्ध किये हुए

सिलश्चः प्रकल्पितम्। यदि चायं वैदिकः स्यात् तदा कथं सर्वमूलभूतस्य स्वयं प्रस्तुतस्यापि वेदस्य प्रमाण्यमनुपपादितमेव परित्यज्य निर्वायुयात्। यदि तु तदुपपादयितुं नाशकत् तदा कथं तत्प्रास्तावीदित्यशक्यनवसरशते नातिक्रामेदितीयमुभयतः पाशारज्जुः।

अपि च—वेदता ब्राह्मणे भागे पुराणेषु प्रमाणता।
वेदवैनाशिकमतं मूलादेव निकृन्ततः॥

एवं च प्रतिमापूजनपुरःसराया गौण्या भक्तेर्न वेदवैनाशिकप्रलापसहस्रैरपि किञ्चिदपचीयते। तस्मात्—

कल्याणनगरं मोक्षदेवस्य प्रविविक्षताम्।
अकपाटार्गलद्वाःस्थं गोपुरं भगवद्रतिः॥

इति सिद्धम्।

शब्देन्दुशेखरे चैव परिभाषेन्दुशेखरे।
जटास्ये नूतनाभिख्ये व्याख्ये कृतवता कृते॥ १॥
नारायणस्य काम्यस्य सोदरे विमलोदरे।
नास्तिक्यध्वान्तविध्वंसमध्यंदिनदिवाकरे॥ २॥

भाषा

छोड़ देते और यदि उसको नहीं सिद्ध कर सकते थे तो क्यों अपने ग्रन्थों में वेद का प्रस्ताव चलाया! और यदि वेद का प्रस्ताव चला कर उसको प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए समर्थ होकर भी उन्होंने उसको नहीं सिद्ध किया जिससे कि चार्वाक को वेद के प्रामाण्य खण्डन करने का अवकाश मिला तो वेदवैनाशिक महाशय क्यों नहीं छली चार्वाक हैं! और यह भी स्मरण करना चाहिये कि—

"वेदता ब्राह्मणे०" पूर्व ही क्षुद्रोपद्रव विद्रावण प्रकरण में १०१९ प्रमाणों से सिद्ध किया हुआ ब्राह्मण भाग का वेदत्व तथा "विशेषतः पुराण प्रामाण्य निरूपण" प्रकरण में भली भाँति दृढ़ सिद्ध किया हुआ पुराणों का प्रमाणत्व, ये दोनों वेदवैनाशिक के मत का पूर्ण ही निर्मूलन कर चुके हैं। इस रीति से यह निश्चय करना चाहिये कि वेदवैनाशिक के सहस्र प्रलापों से भी प्रतिमापूजन आदि गौणी भक्तियों में कदापि अणुमात्र हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि "कल्याण०" सर्वसाधारण जो कोई, मोक्ष महाराज के कल्याण नगर में प्रवेश किया चाहे उसके लिये भगवद्भक्ति, ऐसा पुरद्वार है कि जिसमें न कोई कपाट है, न अर्गला है, न कोई दौवारिक अर्थात् द्वारपाल है कि जिससे कुछ भी बारण की शङ्का हो सके।

"शब्देन्दु शेखरे" व्याकरण के शब्देन्दु शेखर और परिभाषेन्दु शेखर नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों पर जटा नामक दो टीकाओं के कर्त्ता से निर्मित तथा नारायण काम्य का सहोदर भ्राता और पक्षपात रूपी मल से रहित तथा नास्तिकता रूपी घोर अन्धकार का विध्वंसकारी मध्याह्न सूर्य इस "सनातन धर्मोद्धार" नामक ग्रन्थ में हरिहर शर्मा और नीलकण्ठ शर्मा का छोटा भ्राता रूपी यह सामान्य कायद

धर्मोद्धारे　　हरिहरनीलकण्ठानुजन्मनि ।
प्रथमः खलु सामान्य-काण्डोऽयं पूर्णतामगात् ॥ ३ ॥

पूर्णो भाषाऽनुवादोऽस्य प्रसादकमिदं द्वयम् ।
भूयाद्भगवतोरन्नपूर्णाश्रीविश्वनाथयोः　　॥ ४ ॥

संप्रदेयाच्च विश्वेषां　विदुषामुपसेदुषाम् ।
सामान्यानां जनानां च हृदयेभ्यः सदा मुदः ॥ ५ ॥

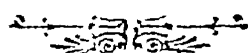
इति सामान्यधर्मनिरूपणमुत्तरार्द्धम्

इति श्री गौतममहर्षिवंशावतंसपदवाक्यप्रमाणपारावारीण सरयूपारीण श्रीमत्प्रयागदत्तद्विवेदितनूजविद्वत्प्रवरश्रीहरिदत्ततनयेन स्वपितृ-मात्राध्यापितेन श्रीनकछेदरामापरनामधेयेनोमापतिशर्मणा विरचिते सनातनधर्मोद्धारे सामान्यकाण्डः पर्यवसितः॥

भाषा

नामक प्रथम काण्ड समाप्त हो गया और इसका भाषानुवाद भी पूर्ण हो चुका । अब मैं सामान्य काण्ड और उसके भाषानुवाद की इस जोड़ी को हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूँ कि "यह जोड़ी भगवती श्री अन्नपूर्णा और भगवान् श्री विश्वनाथ की जोड़ी को प्रसन्न करे तथा अपने (इस काण्ड और इस अनुवाद के) देखने वाले पण्डितों और सामान्य जनों के हृदयों को भली भाँति सदा आनन्द किया करें" ।

॥ सामान्यकाण्ड समाप्त ॥



रामरेखाधनुष्कोट्या सरय्वा या कृता नदी ।
रामेण भूमि तत्प्राची प्रतीची चैव संगमात् ॥ १ ॥

गण्डक्याश्चापि गङ्गायाः पञ्चविंशतियोजनम् ।
अवाची पर्वतात्तद्वदुदीची सरयूतटात् ॥ २ ॥

पञ्चविंशतिगव्यूति गर्गादिभ्यो ददावसौ ।
सरयूपारसंज्ञेयं ततो भूःख्यातिमागता ॥ ३ ॥

(अवशिष्ट श्लोक ४–७ तक अगले पृष्ठ पर देखिये ।)

(क्रोम्डौ विशेषधर्माणां दर्शनानां च तत्त्वतः ।
मम निर्मितिस्सिताचास्तामत्र ग्रन्थे परावतः ॥ १ ॥

तत्रैतदुच्यतेऽस्मदैस्तौ निर्मेयौ स्तस्त्रिभिस्त्रिभिः ।
वर्णानामाश्रमाणां च ये धर्मा यान्प्रचक्षते ॥ २ ॥

विशेषधर्मास्तैवैते मान्तेतरभूनृपु ।
विशेषधर्ममश्लोऽत आर्यत्वाश्रयताश्रयः ॥ ३ ॥

गवां च महिषाणां च पशुत्वेऽपि यथा भिदा ।
गोत्वेन महिषत्वेन तथाऽऽर्यम्लेच्छयोरपि ॥ ४ ॥

आर्यत्वेन तथा म्लेच्छत्वेन नृत्वेऽपि सा मिथः ।
आर्यत्वं संव्यनक्त्यार्य-मातापितृजनिर्यथा ॥ ५ ॥

तथा विशेषधर्माश्च ये शिखाधारणादयः ।
तेऽपि व्यञ्जन्ति तद्व्यायो म्लेच्छत्वेऽप्येष निश्चितः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणत्वादिजातीनां यथा प्रत्यक्षतोदिता ।
ग्रन्थेऽत्रैव तथा बोध्या साऽऽर्यम्लेच्छत्वयोरपि ॥ ७ ॥

"शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" ।
विशेषधर्मानार्येषु सर्वेष्वेषाऽब्रवीत्स्मृतिः ॥ ८ ॥

लोकानुभवतश्चैतद्यथा ह्यपि विधर्मिणः ।
किञ्चिद्विशेषधर्मार्य-कूटस्थजनयोगतः ॥ ९ ॥

श्वपचान्तानपि नरानार्यानिवाहुरत्रजाः ।
आर्यावर्तश्च देशोऽयमार्यजातिनिबन्धनम् ॥ १० ॥

गर्गश्च गौतमश्चैव शाण्डिल्यश्च पराशरः ।
भरद्वाजः कश्यपोऽत्रिर्वत्सः कात्यायनोऽङ्गिराः ॥ ४ ॥

साङ्कृतिर्भार्गवश्चैव सावर्णिर्घृतकौशिकः ।
वशिष्ठो गालवश्चैते सर्वे वै रामपूजिताः ॥ ५ ॥

एवं साकेतभूभागमर्वाग्द्वादशयोजनम् ।
उदक्च सरयूपारं सार्धद्वादशयोजनम् ॥ ६ ॥

अन्तरा राजतितरां वाशिष्ठी लोकविश्रुता ।
धन्या सुरसरिद्धारा सरयूः पावनी किल ॥ ७ ॥

१—ये कोष्ठान्तर्गत १८ श्लोक मूल के साथ मिले हैं । अतः ये श्लोक अन्त में प्रकाशित किये गये ।

स्वसञ्ज्ञाध्वजमासज्य द्योतते द्युमणिर्यथा ।
विशेषधर्मसामान्या-भावस्तु म्लेच्छतासुहृत् ॥ ११ ॥

श्रुतिस्मृतिव्याख्यानेन करामलकवद्बुधैः ।
विशेषधर्मास्तेऽमी तु दर्शिता बहुशः स्फुटम् ॥ १२ ॥

विशेषकाण्डरचना तस्मान्नातिप्रयोजना ।
एवं दर्शनकाण्डोऽपि सर्वदर्शनसङ्ग्रहात् ॥ १३ ॥

दर्शनानां प्रचाराच्च न प्रयोजनवान्भवेत् ।
निर्मित्सामि न तौ काण्डावतस्तत्क्षम्यतां बुधैः ॥ १४ ॥

वीप्सितान् ज्ञीप्सितांश्चापि नराणां विपर्यैषिणाम् ।
चतुरो विषयान् किंतु निर्णेयान् वेद्मि साम्प्रतम् ॥ १५ ॥
अतः प्रकरणग्रन्थान् सभाषांश्चतुरो लघून् ।
तत्राद्यो विधवोद्वाहस्तत्त्वं विप्रादिभेदगम् ॥ १६ ॥

द्वितीयोऽत्र तृतीयस्तु वेदपाठाधिकारिणः ।
समुद्रयात्रा तुर्योऽत्र निबन्धांश्चतुरो लघून् ॥ १७ ॥
निर्मातास्मीति सङ्कल्प एष स्फुरति मे हृदि ।
अन्तर्याम्येष भगवान् सान्नपूर्णो महेश्वरः ॥ १८ ॥)

(भवतात् पूरकः पूर्णो विघ्नानस्य व्यपोहतु) ।



सनातनधर्मोद्धारचतुर्थखण्डस्य

शुद्धाशुद्धिपत्रिका

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२०४	३१	वश	वश
१२०५	३३	मर्हापि	मर्हापि ने
१२०८	३१	विशीण	विशीर्ण
१२११	२९	हे भीष्म राजन्	हे राजन्
१२१३	२३	भीष्म के	भीष्म
१२१५	१०	जातिप्रभं	नातिप्रभं
१२३३	५	मुटङ्क्षयते	मुट्टङ्क्षयते
१२४०	१७	वायम्	वामम्
१२४१	३३	कार्य्य	कार्य्य
१२५०	२३	विधिपूर्वक	विधिपूर्वक
१२५१	१६	प्रचक्रः	प्रचक्रुः
१२५८	१७	यस्य	तस्य
१२६२	११	निर्णीतिप्रामाण्या	निर्णीतप्रामाण्या
१२६३	९	मुक्तण्ठ	मुक्तकण्ठ
१२६६	४	युजुर्मन्त्रेणापि	यजुर्मन्त्रेणापि
,,	५	पितणां	पितॄणां
१२६७	१७	वैकरण	वैयाकरण
१२७१	५	मुनुष्या	मनुष्या
,,	१३	द्यलोक	द्युलोक
१२७२	१६	द्ध	श्राद्ध
१२७३	६	न्यायमधीशाः	न्यायाधीशाः
१२७७	९	त्वनपेक्ष्यं:	त्वनपेक्ष्यम्
१२८६	३०	यज्ञादि आदि धर्मो	यज्ञादिधर्मो
१३२२	६	प्राप्त्यभूषा	?
,,	१५	कैशास	कैलास
१३२७	१५	निपेधश्रवणाच्च	निषेधाश्रवणाच्च
१३२८	४	शाक्षात्काराणां	साक्षात्काराणां
१३२९	१६	यादपि	यावदपि
१३३५	१०	निवर्सेस्थिरा	निवसेः स्थिरा
१३३७	३	त्वद्वहुनाम्भोज	त्वद्वदनाम्भोज
१३४२	१३	भेवत्सा	भवेत्सा
१३४२	२२	स्थान विशेषु	स्थानविशेषेषु
१३४३	२७	सींघ्र	सीघ

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३४४	२७	अन्याय	अन्यान्य
१३५१	३	संपण्डितार्थः	संपिण्डितार्थः
१३५६	७	पुप्य	पुष्प
१३५९	२४	र्थात्	अर्थात्
१३६०	१५	महोदवः	महादेवः
१३६६	१८	तान	तानि
१३७२	१२	विधिवच्चक्रुः	विधिवच्चक्रुः
१३७५	२	वसिष्ठाऽय	वसिष्ठोऽय
१३८३	७	यद्विवम्	यद्दिवम्
१३८४	२५	स्याग	त्याग
१३८८	२६	भव	भय
१३८९	२७	निविघ्न	निर्विघ्न
१३९४	९	रुघिरं	रुधिरं
१३९६	२६	भीमसेन	भीमसेनने
१३९८	१५	वचनान्मम	वचनान्मम
१३९९	८	चैव	चैव
१४०३	२३	युधिष्टिर	युधिष्ठिर
१४०५	३४	घृपकेतु	धृष्टकेतु
१४१६	४	भगवद्भक्तस्तु	भगवद्भक्तेस्तु
१४२३	८	शुकाचार्योणोक्ति	शुकाचार्येणोक्ते
१४२४	१९	मरणा संभव	मरणसंभव
१४३०	२८	राज	राग
१४३३	७	फलत्वामति	फलत्वमिति
१४३८	२३	शब्दात	शब्दात्
१४४८	७	तदतव्यवहृतेः	तदव्यवहृतेः !
१४६०	५	इतधर्म	इतरधर्म
१४६३	१४	कर्मोतम-कत्वात्र	कर्मात्मकत्वान्न
१४६६	२४	प्रामाणादि	पुराणादि
१४६७	१२	तमा	ताम्
१४८१	३०	कर	का
१५१३	२१	दस्तर	दुस्तर
१५२६	७	एव	एवं